





















# ঢাকারাজ্য ও সাম্রাজ্য

১১শ খণ্ড

বর্ষ-সূচী-১৩২৮

|                                      |              |     |     |  |                  |        |
|--------------------------------------|--------------|-----|-----|--|------------------|--------|
| অক্ষয় গান                           | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত কালিদাস রায়, বি-এ                             | ...              | ২৩     |
| অনন্তরূপ                             | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত প্রাণকিশোর সাত্তাল                             | ...              | ৮৮     |
| অভিনন্দন                             | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত ভক্তিসুধা রায়                                 | ...              | ১৩০    |
| অরুণ                                 | ( গল্প )     | ... | ... | শ্রীযুক্ত প্রমথকুমার চক্রবর্তী                           | ...              | ১৫৫    |
| ধাকাক                                | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত সরোজকুমার সেন                                  | ...              | ৫৫     |
| আনন্দোৎসব                            | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ                       | ...              | ১১৬    |
| আবাহন                                | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত ত্রিপুরাশঙ্কর সেন, এম্-এ                       | ...              | ১১৮    |
| আবাহন                                | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত সরোজকুমার সেন                                  | ...              | ১৫১    |
| আরতি                                 | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত নেপালচন্দ্র চক্রবর্তী, এম্-এ                   | ...              | ৭৫     |
| আখ্যাত                               | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত জ্ঞানেন্দ্রনাথ চক্রবর্তী                       | ...              | ৪০     |
| আত্মান                               | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত নেপালচন্দ্র চক্রবর্তী, এম্-এ                   | ...              | ২৭     |
| উৎসব                                 | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত বেলা শুভ                                       | ...              | ১১৭    |
| উষারাগী                              | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত ভক্তিসুধা রায়                                 | ...              | ১১১    |
| ঋতুদের উষা                           | ...          | ... | ... | শ্রীযুক্ত রামকুমার সেন, এম্-এ, বি-এল                     | ...              | ৬      |
| একগোছা চুল                           | ( গল্প )     | ... | ... | শ্রীযুক্ত শশীকুমার রায়                                  | ...              | ১৫২    |
| কতাদন                                | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত আভ্যুতোর মুখোপাধ্যায়, বি-এ                    | ...              | ১০২    |
| কবি হায়েন                           | ...          | ... | ... | শ্রীযুক্ত জ্ঞানেন্দ্রনাথ চক্রবর্তী                       | ...              | ১২     |
| কাদিব কেন                            | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত যোগেন্দ্রনাথ চৌধুরী, এম্-এ, বি-এল              | ...              | ১৪৭    |
| কর্ত্তিমানদের পৈত্রিক ইতিহাস         | ...          | ... | ... | ...  | ...              | ১১৯    |
| গন্ধত                                | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত সত্যেন্দ্রনাথ চট্টোপাধ্যায়                    | ...              | ৯      |
| গান                                  | ...          | ... | ... | শ্রীযুক্ত বেলা শুভ                                       | ...              | ৩০     |
| গান                                  | ...          | ... | ... | শ্রীযুক্ত প্রমথকুমার দত্ত                                | ...              | ২৪     |
| গৌড়ীয় পীঠস্থল                      | ...          | ... | ... | ...  | ...              | ১৩৯    |
| চরকার গান                            | ...          | ... | ... | শ্রীযুক্ত যুগেন্দ্রনাথ বানো                              | ...              | ৪৩     |
| চিত্তগঞ্জিকা                         | ...          | ... | ... | শ্রীযুক্ত গিরিজাকান্ত ঘোষ                                | ...              | ৭৫     |
| চিত্রকর                              | ( গল্প )     | ... | ... | শ্রীযুক্ত অমর্য রায়                                     | ...              | ৪১     |
| চোখের পরিচয়                         | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ                       | ...              | ৬৪     |
| জাগরণ                                | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত ভক্তিসুধা রায়                                 | ...              | ৩৬     |
| জাত না যায়                          | ( গল্প )     | ... | ... | শ্রীযুক্ত সুরেশ চক্রবর্তী                                | ...              | ১২৭    |
| ঝুলন                                 | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত কালিদাস রায়, বি-এ                             | ...              | ৪৯     |
| ভালি                                 | ...          | ... | ... | শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ                       | ৫৫, ৮৯, ১০৭, ১৩৭ |        |
| ভাল                                  | ( সমালোচনা ) | ... | ... | শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ                       | ...              | ৬৮     |
| ভুল                                  | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত বুদ্ধদেব বসু                                   | ...              | ৬      |
| ত্রিপুরারাজ্যের উনকোটি ভীষণের পুরাতন | ...          | ... | ... | শ্রীযুক্ত শীতলচন্দ্র চক্রবর্তী, এম্-এ                    | ...              | ৬২     |
| দাসী                                 | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত ধীরেন্দ্রনাথ মুখোপাধ্যায়, বি-এ                | ...              | ১০৩    |
| দ্বীপের ব্যথা                        | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত সরোজকুমার সেন                                  | ...              | ২৪     |
| দুটি পরমা                            | ( গল্প )     | ... | ... | শ্রীযুক্ত জ্ঞানেন্দ্রনাথ ঘোষ                             | ...              | ১৮১    |
| দুর্ভাগ্যের স্বপ্ন                   | ( আলোচনা )   | ... | ... | শ্রীযুক্ত সুরেশ চক্রবর্তী                                | ...              | ১০     |
| নাটক                                 | ...          | ... | ... | শ্রীযুক্ত রায় বাহাদুর কালীপ্রসন্ন ঘোষ বিজ্ঞাপক, সি-আই-ই | ১১১, ১২১         |        |
| নারীসম্রাট                           | ...          | ... | ... | শ্রীযুক্ত নেপালচন্দ্র চক্রবর্তী, এম্-এ                   | ...              | ১৩২    |
| নেপায় লোভে                          | ( গল্প )     | ... | ... | শ্রীযুক্ত জ্ঞানেন্দ্রনাথ চক্রবর্তী                       | ...              | ১৪২    |
| পরপায়ে                              | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত আভ্যুতোর মুখোপাধ্যায়, কবিভণ্ডাকর, বি-এ        | ...              | ৪৪     |
| পাপল                                 | ( কবিতা )    | ... | ... | শ্রীযুক্ত বেলা শুভ                                       | ...              | ১৩৮    |
| প্রাকৃত্য নাট্য                      | ...          | ... | ... | শ্রীযুক্ত জ্ঞানেন্দ্রনাথ চক্রবর্তী                       | ...              | ৩০, ৬৪ |



|                              |     |     |  |     |                     |
|------------------------------|-----|-----|--|-----|---------------------|
| পুষ্পক-পরিচয়                | ... | ... | শ্রীযুক্ত দীনেশচন্দ্র রায় প্রভৃতি                   | ... | ২০,৪৭,১২০,১২৫       |
| প্রকাশ (কবিতা)               | ... | ... | শ্রীযুক্ত কুমুদরঞ্জন মল্লিক, বি-এ                    | ... | ১৩৬                 |
| প্রতীক্ষা (কবিতা)            | ... | ... | অধ্যাপক শ্রীযুক্ত পরিমলকুমার ঘোষ, এম-এ               | ... | ২৫                  |
| প্রতীক্ষা (কবিতা)            | ... | ... | শ্রীযুক্ত সরোজকুমার সেন                              | ... | ৯০                  |
| প্রস্তাবনা সঙ্গীত            | ... | ... | শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ                   | ... | ৪৮                  |
| প্রার্থনা (কবিতা)            | ... | ... | শ্রীযুক্ত কালিদাস রায়, বি-এ                         | ... | ১৮৪                 |
| প্রার্থনা অংশুর বোজক         | ... | ... | শ্রীযুক্ত গুরুদাস চক্রবর্তী                          | ... | ১৪২                 |
| প্রেমের তরু (কবিতা)          | ... | ... | শ্রীযুক্ত কালিদাস রায়, বি-এ                         | ... | ১০৭                 |
| ফাগুনে (কবিতা)               | ... | ... | শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ                   | ... | ১৮১                 |
| বরণ (গান)                    | ... | ... | শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ                   | ... | ৮৭                  |
| বাঙ্গালীর শিল্প সাধনা        | ... | ... | শ্রীযুক্ত দীনেশচন্দ্র লাহিড়ী                        | ... | ৩৪                  |
| বাণী উদ্বোধন (কবিতা)         | ... | ... | শ্রীযুক্ত আশুতোষ মুখোপাধ্যায়, কবিগুণাকর, বি-এ       | ... | ১৭২                 |
| বাদন সীকে (কবিতা)            | ... | ... | শ্রীযুক্তা বেলা গুহ                                  | ... | ৬৮                  |
| বাদলারাতেল ব্যথা (কবিতা)     | ... | ... | শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ                   | ... | ৩৩                  |
| বীণের পঙ্খ (কবিতা)           | ... | ... | শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ                   | ... | ১২৬                 |
| বেদনার বোকা (কবিতা)          | ... | ... | শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ                   | ... | ১১                  |
| বৈষ্ণব কবির রাধিকা           | ... | ... | অধ্যাপক শ্রীযুক্ত হরিশ্বর শাস্ত্রী                   | ... | ১                   |
| ব্যাপ্ত (কবিতা)              | ... | ... | শ্রীযুক্ত সরোজকুমার সেন                              | ... | ১৪৬                 |
| ব্যর্থ (কবিতা)               | ... | ... | শ্রীযুক্ত নেপালচন্দ্র চক্রবর্তী এম্-এ                | ... | ৬১                  |
| ভগবৎ প্রকাশ                  | ... | ... | শ্রীযুক্ত গুরুদাস চক্রবর্তী                          | ... | ৭৩                  |
| ভবানন্দের হারবংশ             | ... | ... | শ্রীযুক্ত সতীশচন্দ্র রায়, এম্-এ                     | ... | ১৮৫                 |
| মধ্য-ভাগত                    | ... | ... | শ্রীযুক্ত রাম পাণ গুপ্ত                              | ... | ১৭৩                 |
| মতাকাল রণভিৎ সিংহের রাজসভা   | ... | ... | শ্রীযুক্ত গুরুদাস সরকার, এম্-এ                       | ... | ৫০                  |
| মানুষ থেকে পাছ               | ... | ... | ...  | ... | ১৭১                 |
| মাগের দান (গল্প)             | ... | ... | শ্রীযুক্তা ভক্তিমুখা রায়                            | ... | ১৬                  |
| মুখচেনা (গল্প)               | ... | ... | শ্রীযুক্ত কলীদকুমার রায়                             | ... | ৯৮                  |
| মুক্ত (গল্প)                 | ... | ... | শ্রীযুক্ত নরেশ চক্রবর্তী                             | ... | ২৬                  |
| মুহুর্তের ভূগ (গল্প)         | ... | ... | শ্রীযুক্ত কলীদকুমার রায়                             | ... | ৫৮                  |
| মুখস্ত পাঠোদ্দেশ (কবিতা)     | ... | ... | শ্রীযুক্ত প্রেমধন্য সাতাল                            | ... | ১২৪                 |
| যাত্রা (কবিতা)               | ... | ... | শ্রীযুক্ত নেপালচন্দ্র চক্রবর্তী, এম্-এ               | ... | ২১                  |
| রবীন্দ্রনাথের পতিতা (আলোচনা) | ... | ... | শ্রীযুক্ত সরোজকুমার সেন                              | ... | ১০৪                 |
| লক্ষ্যপথে (আলোচনা)           | ... | ... | শ্রীযুক্ত নেপালচন্দ্র চক্রবর্তী, এম্-এ               | ... | ৩৭                  |
| শেষ নিশায় (কবিতা)           | ... | ... | শ্রীযুক্ত কুমুদরঞ্জন মল্লিক, বি-এ                    | ... | ১৫৬                 |
| সপ্তমী প্রাতে (কবিতা)        | ... | ... | শ্রীযুক্ত আশুতোষ মুখোপাধ্যায়, কবিগুণাকর, বি-এ       | ... | ২০                  |
| সাহিত্যিক-পত্র               | ... | ... | ...  | ... | ২১,৪৪,৭২,৯৪,১১৮,১৪৬ |
| সাহিত্যে স্বাধীনতা           | ... | ... | ডাক্তার শ্রীযুক্ত নরেশচন্দ্র সেন গুপ্ত, এম্-এ, ডি-এল | ... | ১৫৭                 |
| স্বপ্ন (কবিতা)               | ... | ... | শ্রীযুক্ত বসন্তকুমার চট্টোপাধ্যায়                   | ... | ১৭০                 |
| স্বর্ধ্য শতক                 | ... | ... | শ্রীযুক্ত সতীশচন্দ্র রায়, এম্-এ                     | ... | ৪৬                  |
| সেট এটোয়াইন (গল্প)          | ... | ... | শ্রীযুক্ত নালিনীমোহন রায় চৌধুরী, বি-এ               | ... | ৮১                  |
| স্বরলাপ                      | ... | ... | শ্রীযুক্তা যোহিনী সেন গুপ্তা                         | ... | ৯৫                  |
| স্বভি-পূজা                   | ... | ... | শ্রীযুক্ত যোগেন্দ্রকিশোর রক্ষিত রায়                 | ... | ১৬                  |
| স্বভার স্বপন (কবিতা)         | ... | ... | ৮ জাবেজকুমার দত্ত                                    | ... | ১৬                  |
| হাওয়া (কবিতা)               | ... | ... | শ্রীযুক্ত জগদীশচন্দ্র রায় গুপ্ত                     | ... | ১৪২                 |
| হাসিবে কেন (কবিতা)           | ... | ... | শ্রীযুক্ত যোগেন্দ্রচন্দ্র চৌধুরী, এম্-এ, বি-এল       | ... | ১৪৭                 |
| হাসির সঙগাত                  | ... | ... | শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ                   | ... | ৮৭,১১৬,১৩১          |
| হাসির সঙগাত                  | ... | ... | শ্রীযুক্ত মনোরম গুহ ঠাকুরতা                          | ... | ১৫৬                 |
| হরীকেশ (কবিতা)               | ... | ... | শ্রীযুক্ত কুমুদরঞ্জন মল্লিক, বি-এ                    | ... | ৫৭                  |



It is requested that all articles intended for publication may be sent to Professor S. N. Bhadra, Nyabazar, Dacca.

All business communications and all complaints regarding non-delivery of the Magazine should be addressed to—

*The Manager, "Dacca Review,"*  
5, Nyabazar Road, Dacca.

*N.B.*—I take this opportunity of expressing our sincere gratitude to the numerous gentlemen of light and leading who have encouraged us in this venture, either by the assurance of their warm and sympathetic support or by offering to contribute to this Magazine. Among other we may mention the names of:—

- |  |  |   |  |
|--|--|---|--|
| <p>The Hon'ble Mr. P. C. Lyon, C.S.I.<br/>         The Hon'ble Sir Harcourt Butler, K. C. I. E.<br/>         The Hon'ble Nawab Syed Sir Shamsul Huda, K. C. I. E., M.A., B.L.<br/>         The Hon'ble Sir Asutosh Mookerjee, Sastra Vachaspati Kt., C.S.I., M.A.,</p>   |  |   |  |
| <p>The Hon'ble Mr. H. LeMesurier, C.S.I., C.I.E., I.C.S.<br/>         „ Sir Henry Wheeler, K. C. I. E.<br/>         „ Mr. R. Nathan, B.A., C.S.I., C.I.E., I.C.S.<br/>         „ Mr. H. Sharp, C.S.I., C.I.E., M. A.<br/>         „ Sir N. D. Beatson Bell, C.S.I., C.I.E., I.C.S.<br/>         „ Mr. J. Donald, C. I. E., I. C. S.<br/>         „ Mr. W. W. Hornell, C. I. E., M. A.<br/>         „ Mr. W. J. Reid, C.I.E., I.C.S.<br/>         „ Mr. J. G. Cumming, C. S. I., C. I. E.<br/>         „ F. C. French, C.S.I., I.C.S.<br/>         „ W. A. Seaton Esq., I. C. S.<br/>         „ D. G. Davies Esq., I. C. S.<br/>         Ven'ble Archdeacon W. K. Firminger, M.A.<br/>         Sir John Woodroffe.<br/>         Sir John Marshall, K.C.I.E., M.A., LITT. D., F.S.A.<br/>         The Hon'ble Mr. K. C. De, C.I.E., B.A., I.C.S.<br/>         „ Mr. L. Birley C. I. E., I. C. S.<br/>         „ H. M. Cowan, Esq. I. C. S.<br/>         „ J. N. Gupta Esq., M.A. I.C.S.<br/>         „ W. L. Scott, Esq., I.C.S.<br/>         „ Sir. J. C. Bose, C.S.I., C.I.E.<br/>         „ W. A. J. Archbold, Esq., M.A., L.L.B.<br/>         „ H. E. Stapleton Esq., M.A., B.Sc.<br/>         „ Dr. P. K. Roy, D.Sc.<br/>         „ Dr. P. C. Ray, C.I.E. M.A., D.Sc. (London)<br/>         „ B. L. Choudhri, Esq., M.A., D.Sc. (Lond.)<br/>         Mahamahopadhyaya Pun-lit Hara Prasad Sastri, C.I.E.<br/>         Principal Evan F. Biss, M.A.<br/>         „ Rai Kumudini Kanta Bannerji Bahadur, M.A.<br/>         „ Rai Lalit Mohan Chatterji Bahadur M. A.<br/>         „ J. R. Barrow, B. A.<br/>         Professor R. B. Ramsbotham M. A., (Oxon).<br/>         „ J. C. Kydd, M. A.<br/>         „ W. Douglas, M. A., B. Phil., B. D.<br/>         „ T. T. Williams M. A., B. Sc.<br/>         „ Egerton Smith, M. A.<br/>         „ G. H. Langley, M. A.<br/>         „ Rai B. N. Das Bahadur, M. A. B.Sc.<br/>         „ Debendra Prasad Ghose.</p> |  | <p>Hon'ble Maharaja Bahadur of Dinagpor, K.C.I.E.<br/>         The „ Maharaja Bahadur of Cassimbazar, K.C.I.E.<br/>         The Hon. Maharaja Bahadur of Nashipur.<br/>         The „ Raja Bahadur of Mymensing.<br/>         Prof. J. N. Das Gupta, M.A., (Oxon).<br/>         The Hon'ble Sir Devaprasad Sarvadhicari M. A.<br/>         „ L. L. D. C. I. E.<br/>         „ Mr J. H. Kerr, C. S. I., C. I. E., I. C. S<br/>         „ Mr. Justice B. B. Newbould, I.C.S.<br/>         „ Nawab Syed Nawab Ali Chowdhuri.<br/>         „ Babu Ananda Chandra Roy.<br/>         „ J. T. Rankin Esq. I.C.S.<br/>         „ G. S. Dutt Esq., I.C.S.<br/>         „ S. G. Hart, Esq., M.A., I.C.S.<br/>         „ F. D. Ascoli, Esq., M.A., I.C.S.<br/>         „ J. McSwiney, Esq., M.A., I.C.S.<br/>         „ W. R. Gourlay, Esq., C.I.E., I.C.S.<br/>         „ T. O. D. Dunn Esq., M.A.<br/>         „ E. N. Blandy Esq., I.C.S.<br/>         „ D. S. Fraser Esqr, I.C.S.<br/>         Rai Jamini Mohon Mitra Bahadur.<br/>         Raja Monmotho Nath Rai Chaudhury of Santosh.<br/>         Khan Bahadur Syed Anlad Hossein.<br/>         Mahamahopadhyaya Dr. Satis Chandra Vidyabhushan<br/>         Kumar Sures Chandra Sinha.<br/>         Babu Chandra Sekhar Kar, Deputy Magistrate.<br/>         „ Jatindra M. han Sinha, Deputy Magistrate.<br/>         „ Hirendra Nath Dutt, M. A., B.L.<br/>         „ Rakhal Das Banerjee, Calcutta Museum<br/>         „ Hemendra Prosad Ghose.<br/>         „ Akshoy Kumar Moitra.<br/>         „ Jagadananda Roy.<br/>         „ Binoy Kumar Sircar.<br/>         „ Gouranga Nath Banerjee.<br/>         „ Ram Pran Gupta.<br/>         Dr. D. B. Spooner.<br/>         Kunwar Sain Esq., M.A., Bar-at-Law<br/>         „ Principal, Lahore Law College<br/>         „ Khan Bahadur Syed Abdul Latif.</p> |  |



## CONTENTS.

---

|   |     |   |     |
|---|-----|---|-----|
| 1. An Analysis of Moral Consciousness ... | ... | G. H. Langley, Esq., M. A.<br>(Prof. of Philosophy) | 145 |
|---|-----|---|-----|

---

## সূচী

|                                  |     |  |     |
|----------------------------------|-----|--|-----|
| ১। মধ্যভারত ...                  | ... | শ্রীযুক্ত রামপ্রাণ গুপ্ত ...           | ১৭৩ |
| ২। কাণ্ডনে (কবিতা) ...           | ... | শ্রীযুক্ত ত্রিপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ ... | ১৮১ |
| ৩। ছুইটি পরমা (গল্প) ...         | ... | শ্রীযুক্ত জ্ঞানেন্দ্রনাথ ঘোষ ...       | ১৮১ |
| ৪। প্রার্থনা (কবিতা) ...         | ... | শ্রীযুক্ত কালিদাস রায়, বি-এ ...       | ১৮৪ |
| ৫। ভবানন্দের মহাকাব্য হরিবংশ ... | ... | শ্রীযুক্ত সতীশচন্দ্র রায়, এম-এ ...    | ১৮৫ |
| ৬। স্বর্গস্ত ল'মৌসমি (কবিতা) ... | ... | শ্রীযুক্ত প্রমথনাথ সান্নাল ...         | ১৯৪ |
| ৭। পুস্তক-পরিচয় ...             | ... | ... ..                                 | ১৯৫ |

---



It is requested that all articles intended for publication may be sent to Professor S. N. Bhadra, Nyabazar, Dacca.

All business communications and all complaints regarding non-delivery of the Magazine should be addressed to—

*The Manager, "Dacca Review,"  
5, Nayabazar Road, Dacca.*

*N.B.*—I take this opportunity of expressing our sincere gratitude to the numerous gentlemen of light and leading who have encouraged us in this venture, either by the assurance of their warm and sympathetic support or by offering to contribute to this Magazine. Among other we may mention the names of:—

- |   |   |
|---|---|
| The Hon'ble Mr. P. C. Lyon, C.S.I.                                      | Hon'ble Maharaja Bahadur of Dinagpur, K.C.I.E.  |
| The Hon'ble Sir Harcourt Butler, K. C. I. E.                            | The " Maharaja Bahadur of Cassimbazar, K.C.I.E. |
| The Hon'ble Nawab Syed Sir Shamsul Huda, K. C. I. E., M.A., B.L.        | The Hon. Maharaja Bahadur of Nashipur.          |
| The Hon'ble Sir Asutosh Mookerjee, Sastra Vachaspati Kt., C.S.I., M.A., | The " Raja Bahadur of Mymensing.                |
|   | Prof. J. N. Das Gupta, M.A., (Oxon).            |
|   | The Hon'ble Sir Devaprasad Sarvadhicari M. A.   |
|   | L. L. D. C. I. E.                               |
|   | " Mr J. H. Kerr, C. S. I., C. I. E., I. C. S    |
|   | " Mr. Justice B. B. Newbould, I.C.S.            |
|   | " Nawab Syed Nawab Ali Chowdhuri.               |
|   | " Babu Ananda Chandra Roy.                      |
|   | J. T. Rankin Esq. I.C.S.                        |
|   | G. S. Dutt Esq., I.C.S.                         |
|   | S. G. Hart, Esq., M.A., I.C.S.                  |
|   | F. D. Ascoli, Esq., M.A., I.C.S.                |
|   | J. McSwiney, Esq., M.A., I.C.S.                 |
|   | W. R. Gourlay, Esq., C.I.E., I.C.S.             |
|   | T. O. D. Dunn Esq., M.A.                        |
|   | E. N. Blandy Esq., I.C.S.                       |
|   | D. S. Fraser Esqr, I.C.S.                       |
|   | Rai Jamini Mohon Mitra Bahadur.                 |
|   | Raja Monmotho Nath Rai Chaudhury of Santosh.    |
|   | Khan Bahadur Syed Aulad Hossein.                |
|   | Mahamahopadhaya Dr. Satis Chandra Vidyabhushan  |
|   | Kumar Sures Chandra Sinha.                      |
|   | Babu Chandra Sekhar Kar, Deputy Magistrate.     |
|   | " Jatindra M han Sinha, Deputy Magistrate.      |
|   | " Hirendra Nath Dutt, M. A., B.L.               |
|   | " Rakhal Das Banerjee, Calcutta Museum.         |
|   | " Hemendra Prosad Ghose.                        |
|   | " Akshoy Kumar Moitra.                          |
|   | " Jagadananda Roy.                              |
|   | " Binoy Kumar Sircar.                           |
|   | " Gouranga Nath Banerjee.                       |
|   | " Ram Pran Gupta.                               |
|   | Dr. D. B. Spooner.                              |
|   | Kunwar Sain Esq., M.A., Bar-at-Law              |
|   | Principal, Lahore Law College                   |
|   | Khan Bahadur Syed Abdul Latif.                  |
- 
- |   |  |
|---|--|
| The Hon'ble Mr. H. LeMesurier, C.S.I., C.I.E., I.C.S. | " Sir Henry Wheeler, K. C. I. E.               |
| " Mr. R. Nathan, B.A., C.S.I., C.I.E., I.C.S.         | " Mr. H. Sharp, C.S.I., C.I.E., M. A.          |
| " Sir N. D. Beatson Bell, C.S.I., C.I.E., I.C.S.      | " Mr. J. Donald, C. I. E., I. C. S.            |
| " Mr. W. W. Hornell, C. I. E., M. A.                  | " Mr. W. J. Reid, C.I.E., I.C.S.               |
| " Mr. J. G. Cumming, C. S. I., C. I. E.               | " F. C. French, C.S.I., I.C.S.                 |
| " W. A. Seaton Esq., I. C. S.                         | " D. G. Davies Esq., I. C. S.                  |
| Ven'ble Archdeacon W. K. Firminger, M.A.              | Sir John Woodroffe.                            |
| Sir John Marshall, K.C.I.E., M.A., LITT. D., F.S.A.   | The Hon'ble Mr. K. C. De, C.I.E., B.A., I.C.S. |
| " Mr. L. Birley C. I. E., I. C. S.                    | " H. M. Cowan, Esq. I. C. S.                   |
| " J. N. Gupta Esq., M.A. I.C.S.                       | " W. L. Scott, Esq., I.C.S.                    |
| " Sir. J. C. Bose, C.S.I., C.I.E.                     | " W. A. J. Archbold, Esq., M.A., L.L.B.        |
| " H. E. Stapleton Esq., M.A., B.Sc.                   | " Dr. P. K. Roy, D.Sc.                         |
| " Dr. P. C. Ray, C.I.E. M.A., D.Sc. (London)          | " B. L. Choudhri, Esq., M.A., D.Sc. (Lond.)    |
| Mahamahopadhaya Pundit Hara Prasad Sastri, C.I.E.     | Principal Evan E. Biss, M.A.                   |
| " Rai Kumudini Kanta Bannerji Bahadur, M.A.           | " Rai Lalit Mohan Chatterji Bahadur, M. A.     |
| " J. R. Barrow, B. A.                                 | Professor R. B. Ramsbotham M. A., (Oxon).      |
| " J. C. Kydd, M. A.                                   | " W. Douglas, M. A., B. Phil., B. D.           |
| " T. T. Williams M. A., B. Sc.                        | " Egerton Smith, M. A.                         |
| " G. H. Langley, M. A.                                | " Rai B. N. Das Bahadur, M. A. B.Sc.           |
| " Debendra Prasad Ghose.                              |  |



## CONTENTS.

---

|  |  |    |
|--|--|----|
| 1. The Chank and the Chank-Bangle Industry<br>of Bengal ... .. | ... Dr. Bainsi Prasad, 'D. SC., Curator<br>Indian Musium (late Director<br>of Fisheries, Bengal) ... | 1  |
| 2. The Spiritual Forces of the Co-operative<br>Movement ... .. | ... J. T. Donovan, M. A., I. C. S., Registrar.<br>Co-operative Credit Societies,<br>Bengal ... ..    | 14 |

---

## সূচী

|                                     |  |    |
|-------------------------------------|--|----|
| ১। বৈষ্ণব কবির রাধিকা ... ..        | ... অধ্যাপক শ্রীযুক্ত হরিহর শাস্ত্রী ... ..        | ১  |
| ২। ভৃগু ( কবিতা ) ... ..            | ... শ্রীযুক্ত বুদ্ধদেব বসু ... ..                  | ৬  |
| ৩। ঋগ্বেদের উবা ... ..              | ... শ্রীযুক্ত কামিনীকুমার সেন, এম-এ, বি-এল্ ... .. | ৬  |
| ৪। পর্কিত ( কবিতা ) ... ..          | ... শ্রীযুক্ত সত্যজিৎমোহন চট্টোপাধ্যায় ... ..     | ৯  |
| ৫। নববর্ষের স্বপ্ন ... ..           | ... শ্রীযুক্ত সুরেশ চক্রবর্তী ... ..               | ১০ |
| ৬। বেদনার বোঝা ( কবিতা ) ... ..     | ... শ্রীযুক্ত ত্রিপতিপ্রসন্ন ঘোষ ... ..            | ১১ |
| ৭। কবি হারেন ... ..                 | ... শ্রীযুক্ত জ্ঞানেন্দ্রনাথ চক্রবর্তী ... ..      | ১২ |
| ৮। স্মৃতির স্বপ্ন ( কবিতা ) ... ..  | ... শ্রীযুক্ত জীবেন্দ্রকুমার দত্ত ... ..           | ১৬ |
| ৯। মায়ের দান ( গল্প ) ... ..       | ... শ্রীযুক্ত ভক্তিসুধা রায় ... ..                | ১৬ |
| ১০। স্বাভা ( কবিতা ) ... ..         | ... শ্রীযুক্ত নেপালচন্দ্র চক্রবর্তী এম-এ ... ..    | ২১ |
| ১১। সাহিত্যিক-পত্র ... ..           | ... ... ..   | ২১ |
| ১২। অন্ধমের গান ( কবিতা ) ... ..    | ... শ্রীযুক্ত কালিদাস রায়, বি-এ ... ..            | ২৩ |
| ১৩। পুস্তক-পরিচয় ... ..            | ... ... ..   | ২৩ |
| ১৪। দ্বীনের ব্যাধা ( কবিতা ) ... .. | ... শ্রীযুক্ত সরোজকুমার সেন ... ..                 | ২৪ |

---





# THE DACCA REVIEW.

VOL. XI.

APRIL, 1921.

No. 1.

## THE CHANK AND THE CHANK- BANGLE INDUSTRY OF BENGAL.

I think, all of you are fully acquainted with that very true and witty remark of the famous historian Froude "Politics make strange bed-fellows" but I believe, it has not fallen to the lot of many of you and very happy they are, to have had its sense applicable in their own personal cases. Curiously enough, I think, its sense, leaving politics aside and giving it a much wider application to conditions and circumstances in addition to personalities, is very aptly suited to my present condition. What has a student of Natural History and Zoology to do with lectures on popular subjects? At least that was what I thought when I refused to agree to the proposal of your energetic Secretary Prof. S. N. Bhadra asking me to deliver an address on the occasion of this exhibition. His very sound reasoning followed by persistent requests and the sense of my responsibility as the

Director of Fisheries in this province with the multifarious duties attendant on this post, however, induced me to agree to his wishes with the result that I am here this evening to give you some idea regarding the mythological, historical and religious importance of the common Chank, as also to say something regarding the condition and working of the Chank-Bangle industry of this historic town; for even though chank-bangles are manufactured in other places in Bengal, Dacca undoubtedly holds the premier place and it is, I am convinced, through Dacca alone, that this once all-Indian industry has persisted in Bengal in the face of grave odds. One may indeed go a step further and say that the industry in its real form exists in Dacca only. With these few remarks we will now turn to the subject proper.

Sankh (Punjab), Sankha (name in Sanskrit literature, Bengal and other Hindi speaking provinces) and Sanku or Chanku (Tamil) are the various names applied to the dead shell of a common Indian Gastropod Mollusc



which is known amongst the Zoologists as *Turbinella pirum*. The various names given to this Mollusc by the people inhabiting different parts of India seem to be corruptions of the word *Sankha*, which, it may be mentioned in passing is a common name for other large Gastropod shells also.

The distribution of this shell at the present day is rather peculiar but offers no very interesting features. It occurs in the Indian waters in comparatively shallow places varying from two or even less, to six or seven and upto ten fathoms. A sandy bottom with a fair proportion of mud mixed in it is preferred by the Chanks, as the food of the animal which consists of Polychaete worms, Echiuroids etc. abounds in such localities, and it has been established by observations that small rocky ridges and sandy patches in between such ridges, where the worms are most abundant, are the most favourite haunts of the Chank. Turning to its Geographical distribution we find that on the west coast of India large quantities of this shell are found in Kathiawar and a good fishery is carried on at and around Dwarka which was Krishna's resort in the latter part of his life and, therefore, is held as a place of great sanctity by all the Hindus. Lower down on the west coast the Sankhs begin to appear near the southern boundary line of Travancore. Here also a small fishery is carried on. But the most important fisheries are those situated in and

around the Gulf of Manaar. Of these the fisheries of Tinnevely or Tuticorin the Ramnad and Sivaganga Fisheries and the Jaffna Fishery of Ceylon produce the largest numbers of shells at the present day. On the eastern coast though chanks are found in small numbers as high up as the mouth of the Godavari river, the main fisheries are those of South Arcot and Tanjore. Further up in the Bay of Bengal no regular survey has been carried out, and it is not possible to state with any certainty that no Chanks exist, the sea-bottom in some places is very suitable and it is possible that valuable fisheries exist on the coast round Balasore near Puri, and further east round Chittagong. The statement receives some support from the occurrence of the Chanks in large numbers in the Andamans, which goes to show that the Chank is probably widely distributed along the coast of the Bay of Bengal particularly when it is borne in mind that the Chanks found in the Andaman Islands belong to the same species as the Indian ones, only forming a distinct local race.

Taking a typical Chank shell we find that in it as in all other molluscs we can easily distinguish an apex consisting of 5 or 6 whorls, excluding the protoconch, and a large body-whorl, with an void mouth opening, which is produced into a siphonal groove for the siphon of the animal. Outside this groove an umbilical groove communicating with



the interior of the columellar region can also be made. The first whorls are very small but with age and growth the succeeding whorls increase in size round a central axis, the columella, the last whorl is the large body-whorl, so named because in it the greater part of the living animal is enclosed.

The various races to which the names *obtusa acuta*, *comorinensis globosa* and *fusus* have been given are distinguished from one another by their shape, they are globular, swollen out, compact or elongate.

The normal shells of the Sankha, it may be noted, are dextral or right handed specimens, but sometimes interesting sports or abnormalities in the form of sinistral or left handed specimens also occur. An interesting point to note is the diametrically opposite way of describing the Chanks as right or left-handed, when Chanks are described by Indians and Europeans. The European Malacologists looking at the Chank from the apex downwards describe the commonly prevalent form as dextral or right-handed, while the Indians even though they hold the ordinary Chank in their right-hand at the time of blowing it as a trumpet, looking at it from the mouth opening side describe it as *Bian varte* or left handed. The abnormal sports are, therefore, according to the Hindi speaking people *Dakshnavarte* or right-handed while the Europeans call them sinistral or left handed. These sports

have a great mythological importance which however, is dealt with further on.

In the living Chank when the animal is disturbed, it withdraws entirely within the shell and a thick horny cap or Operculum closes up the mouth opening. I do not propose giving you any details regarding the animal except by saying that the animal is very like any other Gastropod, as a whelk (*Buccinum*), only it is much larger in size. The sexes in the Chank are separate, and in this the Chank differs from other hermaphrodite forms. The males specimens are usually smaller than the female. The breeding season in Tuticorin extends from the beginning of February to the end of March. At this time peculiar egg-capsules are formed and laid in the sea. Each capsule is an elongated spirally annulated cylinder, which is divided into a large number of compartments by transverse partitions. Each of these chambers contains an egg, and the chambers through small openings in the partitions communicate with the exterior, thus allowing a circulation of sea-water within the chambers for the aeration of the developing embryos. The capsules are attached to the sea-bottom by the lower drawn out end which has at its base a broad flange shaped basal disc. In all there are about 250 partitions and the embryos on developing into young Chanks, they bore their way out into the sea through the openings mentioned above. The young specimens have the



upper whorls more distinct, and spout is more elongate with a long siphon and small mouth opening.

Probably none of you have ever seen the operation of Chanks being fished out of the sea, so a few remarks regarding it, will not be out of place. In shallow beds Chank-fishing is a fairly easy job, as in these cases the fisherman simply wades in the water picking up the Chank with the animals out of their burrows. Though to an untrained eye the brownish coloured Chanks lying in their natural surrounding are scarcely visible even in the clear waters of the sea, the expert fishermen know as to where these animals are and pick them up without any difficulty. In the case of deep-beds, however, divers alone can fish for the Chank as owing to the Chanks lying at the bottom they cannot be caught except by diving down to the bottom.

Diving is carried on in Southern India by the local Tamil divers, though a few Arab divers who originally came from the Persian Gulf for pearl-fishing and have settled down in Ceylon also work in Chank-fishing. The season for fishing in Gulf of Manaar starts about the middle of October and continues to the beginning of May when with the approach of the south-west monsoon heavy currents are produced in the Chank-beds. These currents and the heavy winds are the signals for the finish of the fishery season for the year. The divers

combine into groups of seven and hire a canoe for the season. Out of the seven men only six are the real divers, while the seventh known as the *thodai* tends the divers' lines, draws up the stone after each man dives and ties it to the gunwale for use a second time. He also looks after the bailing out of water from the boat, supplying drinking water and food to the divers and doing other odd jobs. For his services each diver pays the *thodai* in cash or in shells. At Tuticorin and round Rameshwaram where I saw the fisheries being worked, the fisheries are carried on by the Fisheries Department of Madras. A motor launch is provided in each place and this tows the fleet of the divers' canoes to the chank-beds thus making the work of reaching the beds much easier. A fisherman-pilot accompanies the launch to guide the divers to good chank-beds. Early in the morning, very often before sun-rise the whole fleet is towed off from the shore, until good beds have been reached, the divers now begin to descend from time to time to prospect the beds. When they are satisfied with the nature of the bed, the canoes are stopped and anchored and fishing begins. Each diver is equipped with only a diving stone tied to a long and strong rope and a chank collecting bag tied round the waist. The diver with this simple equipment coming on the gunwale side sits on the diving stone and as soon as he is ready, the line is allowed to run freely, the weight



of the stone carries the diver down to the bottom almost instantaneously. On reaching the bottom the diver leaves the stone which is at once pulled up into the boat by *thodai*; meanwhile the diver slowly swims over the bottom, groping for and collecting the brownish masses of chanks. The Tamil divers are very clever in tracing the chanks by following the ruts made by the slowly crawling chanks and very many of the buried chanks are obtained by the divers by following up these traces. It reflects great credit on the diving powers of these men to be able to dive so well and then to be such good trackers as they are; as no air-line or other arrangement is used for the supply of fresh air while under water, the divers do not stay there for a long time. The longest period on record is 55 seconds. Sometimes greed causes the death of the divers as they go on collecting shells for a longer time than they should and afterwards are unable to swim up to the surface. On coming up the catch is emptied into the boat and the diver sits down to rest. Every day 20-25 descents are made and if the catches are good, each diver is able to bring about a hundred chanks. A full day's fishing is over about 5 P. M. in the afternoon and the fleet of canoes now returns to the shore. In the case of Government managed fisheries the arrangement is as follows:— The Chank fishermen on their return from fishing bring the chanks to the chank-godowns where they are gauged through a board with a circular hole of  $2\frac{3}{8}$  inch in diameter. All shells that cannot pass through this gauge are passed as being of right size while the others are smaller or undersized and are confiscated. This confiscation prevents the divers from fishing undersized shells in future and is to some extent a check for the fishing of small ungrown shells. The divers' catches after the undersized shells have been removed are counted and each party paid. For the catch the head of the crew of each canoe receives payment which afterwards is equally divided amongst all of them. At the time of division of this money protracted and hot discussions go on sometimes for a long time. In one interesting case as narrated by Mr. Hornell who has done so much to elucidate and add to our knowledge of the chank a pice remained surplus. This could not be divided amongst the seven men but then no one was prepared to forego his share in it. A happy solution was, however, suggested by one of them; a Cheroot was bought for this pice and cut into seven pieces every one contentedly walking away smoking his own humble share. While the canoes are returning from the fishing beds, the divers do not sit idly but are busy in extracting the animals which they dry up and eat or sell in the Bazar. In this way practically no part of the chank is wasted. In the go-downs



the shells with the remainder of the animal are left to fly-maggots to clean up. After this the shells are sorted out into nine sizes according to their diameters and the wormed shells separated, the shells of various sizes are then stored separately in the godowns. Previously the shell produce for each year was sold every year to the highest bidder by tender system. Open sale by auction was resorted to some-time in the early eighties, but led to gross abuse of sales and was stopped after some years. Since 1910, however, tenders have been received for contracts for terms of three years and in this way the entire produce is sold for a period of three years. The Madras Fisheries Department who are in charge of this work have the sole monopoly for the fishing of shells now-a-days as they have leased the various fisheries in and around the Gulf of Madras in addition to their managing the Fisheries belonging to Government.

Coming to the legendary and historical importance of the Sankha shell we have to consider some interesting points regarding the antiquity of these customs.

The sacred Sankha of the Hindus, derives its sanctity from being one of the four emblems of Vishnu or the Saviour God of Hindu Mythology. In the various representations of this deity the other three emblems Chakra (wheel), Goda (Mace), and Padma (lotus) are represented respectively in one of the left and the two right hands, while

the Sankha is held in the other left hand. As has been mentioned already the normal specimens of the Sankha are dextral or right-handed, and are held in the right hand at the time of blowing when used as trumpets; while the Sankhas of Vishnu and his various Avatars particularly Krishna were both sinistral or left handed specimens. It is for this reason, and owing to the very rare occasions on which sinistral specimens are obtained that the sinistral sports, as one may call them technically, fetch very fabulous prices. Some are known to have been sold for their weight in gold, while good specimens even in these days fetch prices varying from Rs. 2,000 to 5,000 each. Even small and imperfect specimens are sold for Rs. 60 to Rs. 90.

In the very first Chapter of *Bhagavat Gita* the marvellous Sanskrit poem which is considered as one of the "Five Jewels" (Pancharatni) of Devanagiri literature, we find a mention of the famous *Panchajanya*, Sankh of Krishna, in the following words.

"The aged Kuru grandsire (Bhishma), the fiery-hearted, in order to cheer him (Duryodhana), blew his trumpet (conch shell), blaring out on high a lion's roar. Then suddenly the trumpets and the kettledrums, the cymbals, drums, and horns were sounded; the sound was an uproar.

Then standing in their great car, yoked to white horses, the slayer of of Madhu (Krishna) and the son of



Pandu (Arjuna) blew their celestial trumpets.

Hrishikesha blew the *Panchajanya*... Paundra."

Leaving mythology aside, what appears most probable was that both *Panchajanya* and *Sankha* of Vishnu were sinistral shells of the common Indian chank. The sinistral rarities certainly were very choice adornments for the Hindu Gods and no more fitting gifts than these could be imagined. Indeed it reflects very great credit and ingenuity of mind on the part of those who selected the symbol because nothing could be a greater emblem of purity than the sinistral chank, which is so scarce as to appear once or twice amongst millions of normal dextral chanks fished every year. Curious as it may seem, even the Jains held the chank in great esteem, for it was the emblem of the twenty second Tirthankar Nemnath. Amongst the Budhists Chanks are found in the monasteries of Tibet and the blowing of these trumpets by the monks at the time of saying their prayers is mentioned by Sarat Chandra Das and Sir Aurel Stein.

As a result of the great reverence in which the *Sankha* is held by the Hindus, we find that it plays a very important part in almost all kinds of rituals. From the earliest times the conch has been used in India for calling the people for worship, to sacrifices and other rites. For these purposes the blowing of the chank serves the same

purpose as the call of *Asan* in the case of Mohammedans and the ringing of church-bells for Christians. In temple worship the chank fulfils an important part. Both normal and sinistral forms, where available, are used in the ordinary duty of summoning the God's attention, announcing the commencement of principal rites as well as in calling the devout to worship. This is the general explanation regarding the use of the chank in temple worship but some people consider the chank to be of importance in scaring away the evil spirits from the temples. In the latter connection the blowing of chank at the time of earthquakes and eclipses of the sun and moon, is very significant. Besides being used as a blowing trumpet the chank is also used in the worship of some Gods as a vessel from which the water is poured as an offering to the God. At the times of the dedication of houses and temples also, the blowing of chanks is an important item. Some peculiar customs at the time of marriage also are interesting, two of these will be mentioned here. According to Sir Herbert Risley there is a custom amongst a section of the Bengal Brahmans which consists in a procession of seven married ladies headed by the bride's mother going round the bridegroom seven times; one of the seven ladies carries a chank and blows on it as she goes round. A similar custom in Southern India is the going of the bridegroom's sister to the bride's house



accompanied by other women, two of whom blow chank-shells as a sort of signal. The still more interesting custom is that of tying a piece of the conch-shell round the bride's neck at an auspicious hour amongst some of the west coast tribes as a sign of her marriage. Afterwards omens are taken by spinning round a chank and letting it fall; if it falls to the north the marriage will be a particularly happy one, to the south it denotes an unhappy result, whilst east and west predict an ordinary life. In some funeral rites also the blowing of the chank is an important item amongst some of the inhabitants of the north and south of India. Owing to its sanctity the sign of chank is also used for branding and for tattooing on the body. Articles made of the Sankh are also used to ward off the evil eye. The most important, however, is the use of the lacquered red chank-bangles at the times of marriage amongst the Hindus in Bengal. The richly carved and highly polished bangles prepared in this historic city of Dacca form a choice adornment for even some of the most fastidious Hindu ladies of Bengal, the poorer classes are content with less ornamental forms and the less cultured women amongst the Santhals, Maghs and Tibetans preferring strength and quantity, to artistic and finely finished articles, have heavy and crudely polished bangles for their arms; the Bhutia women as is often seen at Darjeeling do not even make bangles

and like to have the whole Sankh with the columella and top broken off on their arms.

At the present day the industry of chank-bangle manufacture is almost entirely confined to Bengal, for the chank-cutting as practised in a primitive fashion in one or two places on the coasts of Southern India is not of much importance. Almost the entire quantity of shells collected by the various fisheries along the coasts of India, is brought to Calcutta and from thence is distributed to Dacca and other places for manufacture. The chief centre is Dacca for not only is the largest quantity of raw material used up here, but a large quantity of unfinished working sections are sawn here for making into bangles in other places; besides the best bangles are also produced in the Dacca workshops. Though at the present day the chank-bangle industry and the use of bangles is mainly confined to Bengal, there are very good reasons to believe that bangle workshops were widely distributed in the south of India, in the Deccan and even in Gujrat and Kathiwar. Probably a few existed in the United Provinces and the Punjab also, but for these no definite evidence is available at present.

The legend of the marriage of Krishna with Rukmani as it is common amongst a shepherd class in Southern India, the Idaiyans, throws some light on the use of *Sakhas* by the married Bengalee ladies. According to this story Krishna



wanted to marry Rukmani, who also had set her heart on marrying the famous hero of Gokul and Brindaban. Unfortunately Rukmani's family people would not agree to this proposal and betrothed her to Sishupal. Rukmani sent a secret message to Krishna, who came just as the wedding was about to take place, and carried her away in a *Ratha*. According to Thurston who relates this legend of Idaiyans, Krishna after carrying her away placed a bangle of chank-shell on her wrist as the sign of her marriage with him. Curiously enough though the legend of the *Rakhsas* marriage of Krishna with Rukmani is common in other parts of India also, no mention is made of the bangle ceremony. Whatever else may be the interest of this legend, it certainly is an important link in the chain of evidence for the great antiquity of the chank-bangle industry and the religious importance attached to the use of these bangles by married Hindu ladies. It is also of interest to mention here that in South India Idaiyans are the only caste which at the present day require their married women to wear chank-bangles. Amongst the Bengalee ladies the wearing of the chank-bangles, however, is a very important item. Every Hindu Bengalee lady of the orthodox type is required to wear a pair of chank-bangles lacquered red and known as *Sankha*, as a visible token of her married state; just as the wedding ring is the token of marriage amongst

Europeans. Married women are expected not to take off the bangles during the life-time of their husbands, only the widows, on the death of their husbands, when discarding other kinds of jewellery broke these bangles also. Amongst the more advanced and richer classes these red bangles are being replaced by more elegantly carved and polished *Churis* and *Balis*, and in other cases by bangles ornamented with gold or set with jewels. The use of such bangles is enjoined by Hindu *Sastras*, and it is believed that their use by married women leads to the prosperity and longevity of the husbands.

The custom of the wearing red lacquered ivory bangles at, and sometimes after the marriage by Hindu brides in the Punjab and United Provinces also, is due to similar ideas. Only the chank-bangles are replaced in this case by more easily available and equally if not more elegant ivory bangles.

I will now cursorily deal with the methods of preparation of the bangles even though all of you are probably fully acquainted with the processes of manufacture as they are carried on in the Sakhari Bazar in this city.

The work of chank-bangle making may be considered under the following heads:—

- (i) Breaking of the columella and the apex with the apical septa.
- (ii) Cutting the remaining shell into sections.
- (iii) Shaping of sections into



bangles and (iv) Carving and polishing or lacquering the bangles. Each of these will now be dealt with.

(i) Good unwormed shells are taken and a portion of the outer lip of the mouth sawn or broken off, the apex of the shell is then smashed in and the septa broken by a hammer; the columella which has been already freed from the mouth-opening side thus falls out and an uneven cylindrical portion is left for the sawyer. This first stage of the preparation of the shell for cutting sections is a part of the duty of the sawyer, but as it takes a good deal of the valuable time of the sawyer, he usually has it done by one of his less skilled assistants.

(ii) The cutting of the sections is accomplished by a special type of heavy handsaw. This saw consists of a large crescentic blade with very minute vertical serrations on its cutting edge. The upper handle consisting of three pieces of cane is covered over by twine and is tied to two tangs, which are forged on the upper surface of the saw near the two ends. The shaping of the saw is effected by gentle serial tappings with a very sharp chisel all along the edge of the blade. In this way very minute but very weak vertical dentations are produced along the cutting edge. The making of the dentations in the first instance, and later at the time of sharpening requires very great skill, as the tapping must be gentle and very regular, otherwise the

resulting teeth become of unequal size, and the saw does not cut the porous shell evenly. With his saw ready the sawyer takes hold of the shell and sits down on the ground supporting his back against wooden stakes, while supporting the shell against another wooden stake; he holds it tightly between the toes of his left foot and his right heel. Sitting jammed up in this position, he balances the saw on the prepared shell, and by a vigorous right to left movement of the saw he begins cutting. As the saw cuts the shell though the position is changed until a more or less even circle of shell is cut off. In this way some of 3-5 sections are made from each shell. As the cutting of each section takes about five minutes, a skilled workman can, with difficulty, cut about 100 sections or about 20 shells a day. For this work he receives a remuneration of two to three rupees. This might be considered a fairly decent daily earning but, unfortunately it is not possible for an expert cutter to work at this rate every day. The great strain resulting from sitting crouched up in a very uncomfortable position, and the great tension on the arms and legs, as also the strain on the eyes are responsible for prolonged rests at indefinite intervals. Few expert workers only are available in this line of the work, and, therefore, good cutters are always great assets to a bangle-workshop; for not only do they provide the sections for working



into bangles in the workshop itself, but a large trade in the export of unfinished sections to other centres is also carried on. Dacca is the main centre for this work and it is there only that really expert cutters are to be found.

(iii) The sections as they come from the sawyers are not smooth and regular circles, as there is still a portion of the septa attached to the inner surface. This projection has to be removed with great care owing to the point of junction of this projection with the cut circle being the weakest in the whole section. It is accomplished by carefully and gradually slicing off the projecting ridge by means of a light sharp-edged hammer. Any other projections are also removed with the same instrument. The section is then rubbed along the two cut surfaces on a stone slab to make them quite even. Afterwards the inner surface of the section is rubbed on a wooden spindle covered all over by a coating of sand and shellac. A number of rings are placed simultaneously on the spindle, and by to and fro movements the inner surface is rubbed quite smooth and regular. This part of the work is fairly easy and is usually carried on by untrained and cheap labour. The final touches, however, are given by the expert workmen.

(iv). In finishing the simplest model is prepared by rubbing the outer face of the section along two planes, which meet each other at an obtuse angle thus

producing a ridge on the surface. This is one of the cheapest models and is in great demand by the poorer classes of Rangpur and other districts.

More highly finished and artistically carved models are prepared by carving, drilling and polishing or lacquering the bangles. The rough carving is done by the use of a small saw with serrations of a kind similar to that of the cutting saw. The difference in the small saw is that it is worked by one hand; the second hand being used for holding the bangle. With this saw, small strips are removed producing W shaped grooves round the circumference and leaving small lozenge-shaped areas on the upper surface. Further carvings consisting of loops, flowers and other kinds of wavy pattern are produced by the use of delicate files or by drilling off small portions. All this work requires great skill besides the possession of a highly trained eye on the part of the workman. Various kinds of these highly carved and polished thin bangles are known as the *Churis*. The broader type is known as the *Bala* and is beautifully polished with usually some animal's head pattern ornamenting it at one part. This distinction is, however, an artificial one as amongst the general public the two terms are often confused. Pigments are also used for ornamenting the bangles. Of these coloured bangles the red ones are prepared by lacquering with red shellac, and these are the *Sankhas* or *Sakhas* which are used as the tokens of



married state by orthodox Hindu ladies. Here it may also be mentioned that in practically all cases the proprietors of chank-bangle workshops are not the actual manufacturers. All of them employ labourers by piece work system. For this reason the workmen are mostly in very poor circumstances and the entire profits go to the rich workshop proprietors.

As has been mentioned already the bangle industry is a very ancient one, and was at one time very widely spread in other parts of India also, probably with the advent of the Mahomedans in the south and west of India the custom of wearing the chank-bangle died out in the south and with it also the industry. In Bengal at the present day the industry is a fairly flourishing one but suffers from various causes.

We have arrived now at the consideration of last yet not the least important of the various points that I have attempted to give you an idea of tonight, *viz.* the causes which are responsible for the deterioration of the industry and which have made the lot of the poor Sankh workmen much harder than it used to be.

1. The raw material, as I have stated already comes mostly from Southern India. The best shell for bangle-manufacture being the Tuticorin shells known as Tutikuti, others like the Ramesvaram varieties of Path and S shells being considered much inferior ; besides

the numbers of these shell fishes every year being rather small. Before the present tender system was introduced by the Government of Madras, the shells used to be purchased by a ring of wholesale dealers of chanks in Calcutta. This ring had their representatives in the South and on the West coast of India and secured a monopoly for the raw material by purchasing the entire output of the various fisheries. This entire produce with the exception of a small quantity exported to Chittagong, used to be imported by these wholesale dealers to Calcutta. Even when they had not combined into a syndicate before purchasing the raw product, they formed into a combination afterwards and pooled the separate purchasers and divided the same on a definite basis. In this way they were able to hold a monopoly and to dictate to both the owners of the fisheries and the trade buyers of the manufacturing towns. Since 1910, however, Messrs J. B. Dutta and Sons of this city came into the field as wholesale buyers and sent in high rate tenders for the produce of the Tuticorin and other fisheries ; and as the Madras Fisheries Department had decided to try to break the ring of Calcutta traders, they accepted these tenders. The prices in these tenders went on increasing until in 1915, the prices had increased at Tuticorin from Rs. 121 a thousand shells to Rs. 325 a thousand. It continued on like this till the fishery season of 1918-19 ; when Messrs Dutta



and Sons did not pay for and remove from the go-down of the Fishery Department, larger part of produce of that season. In the new contract after the season another firm's tenders have been accepted for three years, the price having again fallen to Rs. 215 a thousand. It is thus quite clear that the price of Rs. 325 a thousand was abnormally high and artificial, which could not be maintained even by a firm like that of Messrs Dutta & Sons. All the above facts clearly show that the industry of chank-bangles which is entirely dependent on the mercy of the wholesale buyers of raw material cannot flourish until the manufacturers have some better arrangements for obtaining the chanks. The only solution is that they should combine themselves with a Co-operative Society which could deal directly with the Fishery Department of Madras and buy from the Fishery Department the chanks at a reasonable rate. In this way the huge profits of the middlemen wholesalers would be eliminated and the raw product would be available at a much cheaper rate. I am perfectly aware that some objections were raised by the Madras authorities on a previous occasion regarding the protection policy, which term would be applicable if the Madras people preferred the tenders of the manufacturers to those of other wholesale purchasers. But I am sure that with the help of the Bengal Fisheries Department the Co-operative

Society without in any way doing away with the free trade policy of the Government, be able to get direct leases. Another source of economy would be the shipping of the produce to Dacca direct instead of Calcutta.

A very great complaint that is made from time to time and which I am convinced is the source of a great deal of loss to the manufacturers is the large number of wormed shells which the wholesale dealers mix with good shells. These shells on being cut are found to be quite useless and are the cause of a great loss of money and labour. This also could be avoided if the manufacturers were themselves the wholesale dealers.

II. The methods of preparation, ingenious and economic though they were at the time of introduction are not suited to the present times. The time and energy that is wasted by these primitive instruments is simply enormous, with the natural result that the cost of production is very high. Chank-bangles, therefore, cannot possibly compete with glass bangles which look quite as elegant and are in many cases more artistic. It is undoubted that the market for the crude type of bangles which are used by the hill tribes and the poorer classes is more or less stable for the present, still if once the glass-bangles take their fancy, this market will practically cease to exist, as probably happened in the south of India. It is, therefore, necessary to decrease the



cost of production and to improve the quality and elegance of the finished bangles in order that these chank-bangles may have a chance of standing in competition with other kinds of bangles.

The Shakhari community as a whole is very backward in education and very conservative in its ideas. It is an

urgent necessity that these conditions should be modified so that the workmen may be able to understand their position properly and try to improve and adapt themselves to the modern conditions thereby stabilizing the condition of the chank-bangle industry as well.

BAINI PRASAD.

## THE SPIRITUAL FORCES OF THE CO-OPERATIVE MOVEMENT.

Gentlemen,

I consider it a very great privilege and a piece of good fortune to be given the opportunity of addressing the staff and the students of this young University on the subject of Co-operation, for the simple reason that Co-operation will be one of the great characteristics of the economic life of the future and that there is a great deal of misapprehension about this movement in Bengal which can only be dispelled with the assistance of the educated classes when they themselves have grasped the fundamental ideas that underlie the co-operative movement.

2. The primary object of co-operation is the improvement of the economic condition of those who resort to it. In its methods it involves improvements in the social relationship of those who co-operate, and in its results it involves

an improvement in the social as well as the economic status of those who require such an improvement and practise co-operation with a view to obtain it. It is not, as is commonly supposed, the enemy of the capitalist, nor is it a mild substitute for or a first instalment of socialism or communism. Co-operation is the enemy of only one thing — waste. It aims at eliminating waste of power, of time and of money and devoting the power, time and money economized to the amelioration of the conditions of life of the co-operator. Co-operation recognizes capital and the power of capital but it never allows capital to obliterate the man, and it aspires to achieve some of the highest aims of socialism without interfering with the complete freedom of the individual.

3. Co-operation as an element of the economic life of a community is concerned with material things, things such as money and commodities. Its essence and its origin, however, are of



the spiritual order. It is based upon the doctrine of Love. • It harmonizes discordant interests and elevates them from the material to the spiritual plane. As soon as it is taken out of the spiritual plane and confined to the material the harmonized interests again clash and discord and disruption ensue. To-day, as indeed always, I desire to emphasize this and to get you to realize that you enter a co-operative society in the true spirit only if you enter it in brotherly love. It is a fact that each of you will derive considerable material benefit from a successful co-operative society. That is the reward for your faith but it is not the primary object in the ideal society. The primary object of the individual must be the good of all and there will then follow the first result of the society-the good of each. Therefore in this particular co-operative store which you are about to inaugurate I would ask each of you to remember that you are joining it not primarily for your own benefit but for the benefit of all the other students who will join it and for the benefit of your University.

4. There is a great practical co-operator, who is also a poet and a great writer, living in Ireland, whose acquaintance I have been privileged to make. His name is George Russell and he has written a great deal about Co-operation. I make no apology for quoting here an extract from a preface written by him for a book about Co-operation in

Ireland. I am confident that it will appeal to students of the temperament of Eastern Bengal students and more especially at a time like the present.

"The forces of the material world" he says "are more powerful on their own plane than the forces of light and are continually thrusting into a kind of powerless pre-eminence the religious, cultural and political ideals, ostensibly ruling the minds of men. The material forces are stronger on their own plane, but are not by their nature antagonistic to spiritual forces. The need of the body to be fed, clothed and housed is a need for which the vast majority pushes aside all cultural ideals, until it is first satisfied. The satisfaction of that need is the motive prompting all economic organization, and by virtue of that necessity which brings them into being, they war successfully with religion and culture, where these do not afford practical solutions of the economic problems of the ordinary man. The body of man is the most egoistic of all things, and in winning satisfaction for its desires its first natural manifestation is by way of economic individualism and every man is for himself and his family. Society so constituted becomes full of petty antagonisms and in the very antithesis in practice of those high spiritual principles which are everywhere theoretically accepted and which aim at the subordination of the personal to the natural and an orchestration of human activity for the common good. These



ideals so thrust aside come at last to be regarded cynically as fitting for Paradise but very unsuitable for Earth. Nothing could be more hopeful for the triumph over the minds of men of spiritual ideals than a movement which aims at superseding individualism in the economic sphere by co-operation. It may seem at first thought incongruous to associate the material activities described in this volume, with anything spiritual, but if we reflect a little we will find it is not so. The great religions had their origin in a descent from Heaven to Earth, and the incarnation in bodily form of a ray from the Divine mind, and spiritual and cultural ideas if they are to exist as real power, must in like manner descend and clothe themselves in a material form, and distribute the loaves and fishes to the multitude. The idea of nationality is a cultural idea, but a man very soon becomes cynical about nationality in practice, if his neighbour or his employer accepting the same national ideals do, in fact, relegate him to poverty in the pursuit of their own interests. The co-operative movement in large measure binds together the economic interests of Irishmen, so that purchase, manufactures and sale become less and less personal enterprise, and more and more communal or national activities. It illustrates in a practical way the truth that the personal and economic interests of the majority are served best by their incorporation in communal enterprises. So the mind of

the citizen is predisposed to subordinate his own interests, and to identify them with the interests of the nation. I believe that, whatever may be the temporary strength of other movements in Ireland, the co-operative movement, dealing as it does with the daily lives of men, must finally have an influence greater than any other in its effect upon the character of the Irish nation. It occupies itself with things men must do under whatever Government they exist, whatever religion they profess, whatever cultural interests they may have; and because it deals with the permanent human occupations the principles accepted in its organizations must affect national character in the long run most powerfully. Membership of Co-operative Societies is a practical education in economics, fitting men for public services, and by its principles, it fosters the spirit of citizenship. When the fierce passions of the hour have foamed themselves away, I am convinced that this movement will come to its own, and its principles of toleration and comradeship in work will become the dominant factors in national life?"

5. Now, gentlemen, I have asked you to keep this subject of co-operation on a spiritual plane but this will not prevent us from examining its material aspects. And of its material aspects perhaps the most important is this, that it is essentially a progressive, constructive solution of the problems which individualism and capitalism



have created in the modern world. Other solutions for these most heart-rending political, economic and social problems have been suggested but I am aware of none that have been put to the test and have shown such promising results as co-operation.

6. Another Irish writer of distinction, Patrick Macgill, has written a series of books which are almost morbid in their continued emphasis of the awful degradation of labour and the depressed classes in the British Islands. If any of you are under the impression that the people of this country are depressed and suffer more than the people of other countries I would only ask you to read these books and study the lurid pictures of "The Children of the Dead End", "Glenmornan" "The Rat Pit" and the others, and from my own personal knowledge I can assure you they are not exaggerated. The boy at the age of nine is hired out, practically sold as a slave to a master for a period of years. He develops into a harvest labourer leading a life lower than the beasts of the field, in conditions that it is almost obscene to describe, and from harvest labourer he develops into navvy in conditions that are hardly less indescribable. And the boy's own sister, a virtuous maiden, is treated likewise and meets an awful fate as an unwilling victim of prostitution in the slums of Glasgow. It is scarcely any wonder that the victims of the system which can produce these

things would rend the system from end to end, demolish it and prefer to die and to deal death to millions in the upheaval, the utter and irretrievable ruin of the society, in which such things can be. Yet I know a victim of the system, who also was sold as a slave at the age of nine, and proceeded from domestic slavery to the less apparent but more degrading slavery of the harvest labourer and the homeless navvy, not, however, to be convinced that the only solution was the complete destruction of society. This man returned from his slavery to his native home and set himself to apply constructive co-operation to the salvation of his community and on the barren mountains of Patrick Macgill's own home he built up a co-operative civilization, organizing on co-operative lines the credit and the industry of his people, the satisfaction of their needs and the distribution of their requirements, until he had created in one of the least hopeful spots in Ireland and in the world a contented, prosperous, community, educated, industrious and self-respecting, whose men obtained the full reward of their labour and the virtue of whose women remains sacred and unsullied.

7. There are 70 million Russian people said to be starving to-day and scourged with typhus and plague, 70 million people appealing in their agony to the civilized world for aid. These 70 million outraged, agonised



and starving people are the victims of the attempt to solve the problems of modern life by the destructive methods of Bolshevism revolution, anarchy and chaos in preference to the other alternative of constructive co-operation, which had already in Russia pointed the way to political, economic and social salvation by rapid and ever more rapid, orderly, progressive stages. What consolation can it be to those agonised and starving millions in Russia to-day to know that all men are equal and that the scourge of typhus and the pangs of hunger afflict alike the peasant and the peer? Revolution Bolshevism or non-co-operation or whatever other name you wish to give the process which produces anarchy, is indeed a levelling force. It levels down the highest to the lowest and makes all men equal in poverty and pain. But nowhere is humanity so degraded as to find consolation for the loss of all in the knowledge that no one else has escaped the ruin. On the other hand Co-operation is a satisfying leveller. It does not level down the highest to the lowest but levels up the lowest to the highest, and it is of such virtue that, as the ordered process of uplifting the lowest continues, the pace at which it is possible to approach equality becomes accelerated

8. All this that I have said may seem high flown, unreal and incredible but we can express it too in very ordinary language. The co-operative

paradise I described in the mountains of Donegal begun with the purchase of a bag of flour by the Rochdale Pioneers scarce 60 or 70 years ago originated the great Wholesale Co-operative Society of England, one of the largest businesses in existence and a business in which millions of English labourers have an interest to-day.

9. 'Co-operation is constructive. And it is cumulative. And it is flexible. It does not exist by destroying; and the more it creates the greater is its power for creation; and there is scarcely any form of economic activity to which it cannot be applied. From the sale of a bag of flour to a few labourers it passes to a shop, from a shop to a warehouse, from a warehouse to factories, from factories to great estates producing the raw material that is required, and from that to the line of ships that transport the raw materials to the factories. That is the progress of the big wholesale societies. Side by side with that progress goes the education of co-operators, the creation of libraries, and even now the creation of theatres. And then comes or will come the entry into Government and the final approach to the Co-operative State and the Union of Co-operative States that will be the League of Nations of the future.

10. In trying to impress upon you, gentlemen, that Co-operation is a spiritual force and a great, constructive, cumulative force applicable to every



form of economic activity and affecting greatly political and social activity we have travelled far away from the little store we are about to inaugurate in your University. I hope I have not led you to expect that, by the time you are approaching the Vice-Chancellor for the conferment of your degrees, the world will be resounding with the fame of your co-operative undertaking. Your store if it succeeds will continue to be a store for the University. It may develop from its reserves and other sources the power of greatly assisting generations of future students. For you it will be the store where you will begin by buying your books, your paper, your ink, your pencils, and perhaps later on your food and cloth. That is not all however. It will be the place where you will learn and study the application of co-operative principles to the satisfaction of your wants and learn the co-operative lessons of thrift and punctuality and self-help and self-reliance. And then, when you go forth from this University to take your part in the great work of the world, you will, I hope, have derived from your store ideas of co-operation which you will help to apply in the larger sphere to which you will be called. Frankly I welcome your store because of its propaganda value. Within the walls of this University your opportunities will be limited but once you have entered into the world your opportunities will be legion.

11. Let me give you in conclusion a few hints for the better development of your co-operative store. I have said that our movement is based upon Love, the great creative force of the Universe, and Love involves sacrifice. Self sacrifice is essential to Love and therefore to co-operation. Where co-operative societies have failed they have failed most often because the individual has imported into the society ideas which are inconsistent with it and chiefly ideas about his own self-interest. The theory of co-operation implies that a man can help himself by forgetting himself and thinking chiefly of others. That is the co-operative faith that by helping others you will help yourself and it is when you help yourself in this way that God will help you most, for remember, if men say "God help those who help themselves," God himself has said and said alike to Hindu, Musalman, Buddhist, Jew and Christian "Love one another." You will be called upon to make sacrifices for your society then and if you are not prepared to make sacrifices you will be doing yourselves and your fellow students a greater benefit by remaining outside the society than by joining it.

11. Next you must be loyal to your co-operative store. If you have faith in anything you will be loyal to it. If you have not faith in the co-operative store you should not join it. The test of your faith in it will be your loyalty to it. A co-operative store of loyal



members must succeed for the simple reason that it has a ready market for its goods. When a trader sets up in business he has to attract customers and thus get a market for his goods. The great advantage a co-operative store, properly run, possesses over the trader, is that it automatically creates its own market, its own customers. And it is deception on the part of a man to join a co-operative store without any intention of giving his custom to that store. Everyone who joins the store believes that everyone else who joins it will buy from the stores. Therefore when one of you joins he is inducing others to join in the belief that the business of supplying his wants will go to the store. If he does not intend that the store should get that business he is deceiving the others and inducing them to join a concern which has not the prospects it appears to have. This indeed is a very important question, the question of being loyal to your store. Just ask yourself "On whose custom is the Store to thrive if not on the custom of its own members?" The only reply to that should be a declaration from you that you will purchase all obtainable necessities from the store.

12. In other pamphlets of the co-operative department, which will be placed before your committee, instructions will be given in detail in regard to the management of the store and you must allow your committee a free hand

to apply these instructions and utilize the experience of co-operative societies throughout the world in order to make this store a success. You must not expect too much from your store and above all you must not expect it to sell goods to you on credit or cheaper than the market rates. Apart from the fact that credit is an expensive commodity and that it will prevent your store from giving you its full benefits I would specially emphasize the undesirability of encouraging students to get into debt for their requisites. Better they should go without or forego something less necessary than that they should learn the evil habit of buying goods on credit.

14. I cannot too strongly emphasize the necessity of selling goods at market rates. The reason of this is clear. How are market rates fixed? They are generally fixed so as to ensure that the dealer will not make a loss and will probably make a profit on his transactions. Now the dealers who fix market rates are experts and there are many of them competing with each other. Therefore they fix the rate at a price which will give them a profit but if this is too high a competitor will under-sell them. You may take it therefore that the market rate is the rate at which the experts think it safe to sell, and you, who are amateurs, must be guided by the experts. If the experts at the end of the year find they have a profit they will put it in their own pockets. If your store, following the experts,



make that profit then the Committee call you together and, after putting an agreed sum to reserve, distribute the rest of the profit to you as rebates in proportion to your purchases. This is tantamount to selling cheaper but you must not anticipate it. You must wait till the end of the year, or the term or the session or whenever the store closes its accounts. Another advantage of this is that at the end of the year you will find you have saved and accumulated the amount of these rebates and you will get suggestions of thrift.

14. And now remember that one of the greatest economic virtues is thrift. Therefore save your rebates. Do not spend them foolishly. Leave them in the store where they will accumulate and carry interest until you are leaving the University. And save not only your rebates but whatever else you can in the course of the year and deposit that too in the store, thereby doing yourselves good while helping the store and, through the store, your fellow students.

15. Now let me sum up briefly what what I have told you. I have said that there is something spiritual about co-operation and asked you to endeavour to keep it in the spiritual plane. I have told you it is based upon love and self-sacrifice. I have told you it is one of the greatest, modern construc-

tive, economic forces, cumulative in its results, with its power for good increasing with every fresh development and I have explained that it is so flexible as to be applicable to practically every form of economic activity and that it can influence for good the social and political conditions of our existence. I have asked you while realising the tremendous possibilities of the co-operative movement not to expect too much all of a sudden from your store. I have asked you to proclaim your faith in co-operation and to prove that faith by being loyal to your store. I have asked you to make such sacrifices as are necessary for your store, to give your committee a free hand, not to ask for credit or for rates below the market rates, fixed by the laws of supply and demand and by expert dealers, and I have begged of you to be thrifty. If I have not addressed you and appealed to you in vain I have done something very considerable for the advancement of the greatest economic movement of modern times in the province of Bengal.\*

J. T. DONOVAN.

\* An address delivered before the students of the University of Dacca.







# তাকা রিভিউ সাম্মিলন

১১শ খণ্ড }

তাকা—বৈশাখ, ১৩২৮।

১ম সংখ্যা।

## বৈষ্ণব কবির রাধিকা।

প্রেমলক্ষণা ভক্তির চরম উৎকর্ষ দেখাইবার জন্যই  
বৈষ্ণব কবিগণ রাধার চরিত্র সৃষ্টি করিয়াছেন। রাধা  
শিশুকাল হইতেই তাহার জীবন সর্বত্র শ্রীকৃষ্ণের চরণ  
সার করিয়াছিল। চণ্ডীদাসের রাধা বলিতেছেন,—

“বধু হে নয়নে লুকায়ে ধোব।

প্রেম চিন্তামণি রসেতে গাঁথিয়া

হৃদয়ে তুলিয়া লব ॥

শিশুকাল হৈতে আন নাহি চিতে

ওগদ করেছি সার।

ধন জন মন জীবন যৌবন

‘তুমি বে গলার হার ॥

শরনে স্বপনে নিজা আগরণে

কভু না পাসরি তোমা’।

অবলার ক্রটি হয় শত কোটি

সকলি করিবে ক্ষমা ॥”

রাধাকৃষ্ণের আত্মা একই, কেবল দেহই ভিন্ন।  
“অহং বহুস্তাং প্রজায়ের” এই শ্রোত প্রতিজ্ঞা পালনের  
জন্যই লীলার উদ্দেশে ভিন্ন ভিন্ন দেহের আবির্ভাব।

তাই, জ্ঞানদাস রাধার মুখ দিয়া বলাইয়াছেন,—

“শিশুকাল হৈতে বন্ধুর সহিতে

পরানে পরানে লেহা।

না জানি কি লাগি কো বিধি গঢ়ল

ভিন ভিন করি দেহা ॥”

কৃষ্ণের সহিত রাধার এই বে প্রাণে প্রাণে ভালবাসা,  
শিশুকাল হইতেই তাহার স্রুতনা হইয়াছিল। এ কিরূপ  
শিশুকাল?—বে দিন রাধা সত্যিকামন্দিরে স্বাতৃগর্ভ  
হইতে ভ্রমিষ্ট হইল, সেই জন্ম মুহূর্ত হইতেই সে হৃদয়-  
দেবতার কমনীয় স্পর্শে অন্তরে অনির্বচনীয় সুখানুভব  
করিল—হাসিয়া কাদিয়া মুজিত নয়ন উন্মীলিত করিয়া  
প্রিয়তমের মুখের পানে চাহিয়া রহিল। রাধা তাহার



এই শৈশব-রহস্য একদিন মর্দসখীর নিকট খুলিয়া  
বলিয়াছিল,—

“তুমি গো বরষ-সই

যখন আমার জনম হইল

নয়ন দুদিয়া রই ॥

দিতে ক্ষীর সর জননী আমার

নয়ন দুদিত দেখি ।

জননী আমার করে হাটাকার

কহিল সকলে ডাকি ॥

তুমি সেই কথা জননী বশোদা

বঁধুরে লইয়া কোরে ।

আমারে দেখিতে আইলা তুরিতে

হৃতিকা মন্দির ঘরে ।

দেখিয়া জননী কহিছেন বাণী

এই কি ছিল কপালে ।

করিয়া সাধনা পেলেম অন্ধকতা

বিধি এত হুথ দিলে ॥

উঠ উঠ বল করে ঘ'রে তুলি'

বসান যতন ক'রে ।

হেনই সময়ে মায়ে তেয়াজিয়ে

বহু পরশিল মোরে ॥

পারে দিবে হাত যোর প্রাণনাথ

অন্তরে বাঢ়ল সুখ ।

হালিয়া কাঁদিয়া আঁখি প্রকাশিয়া

দেখিছ বঁধুর মুখ ॥”

জননী বশোদা, রাধাকৃষ্ণের অনাবিল প্রীতি-বন্ধনে  
চিহ্নে অভিষাঙ্গ আনন্দ অমৃতব করিতেন । একদিন  
সকালবেলা শিশু রাধিকা পথে খেলা করিতেছিল,  
বশোদা আদর করিয়া তাহাকে বাড়ীতে লইয়া গেলেন ।  
কৃষ্ণের মিত্র রূপের ছটার রাধার প্রাণ জুড়াইয়া গেল ।  
কি-জানি-কি-এক নবভাবের অহুপ্রাণনার বশোদা  
তাহার কিশোর কৃষ্ণের বামপার্শ্বে রাধিকাকে বস-  
াইলেন এবং একদৃষ্টে এই সুগল বৃত্তির অপকল্প রূপ  
নিরীক্ষণ করিতে লাগিলেন । তড়িৎবিজড়িত নব  
জলধরের কায় এই সুন্দর মিলন দেখিয়া বশোদা

দিবাকরের নিকটে বর প্রার্থনা করিলেন এবং অশ্রু-  
চন্দন, কস্তুরী, কুঙ্কম প্রভৃতি বিবিধ উপকরণে রাধি-  
কার সোণার অঙ্গ সাজাইলেন, আবার বাইবার সময়ে  
তাহার আঁচলে ক্ষীর, ঘোয়া, নাড়ু বাঁধিয়া দিলেন ।  
এদিকে রাধার মা সকাল হইতে মেরেকে দেখিতে না  
পাইয়া চারিদিকে খুঁজিয়া বেড়াইতেছেন । রাধা বাড়ী  
আসিতেই তাহার আঁচলে ঐ সব খাবার জিনিস দেখিয়া  
জিজ্ঞাসা করিলেন,—

“প্রাণনন্দিনি রাধা বিনোদিনি

কোথা গিয়াছিল তুমি ।

এ গোপনগরে প্রতি ঘরে ঘরে

খুঁজিয়া ব্যাকুল আমি ॥

অপোর চন্দন কস্তুরী কুঙ্কম

কে রচিল তোর ভালে ।

কে বাঁধিল হেন বিনোদ লোটন

নব মল্লিকার মালা ॥

অলকা তিলক ললাটে ফলক

কে দিল চম্পক দাম ।

জানদাস কহে সব বিবরণ

কহ জননীর ঠান ॥

রাধা তখন জননীর কাছে সমস্ত বৃত্তান্ত খুলিয়া-  
বলিল,—

“মাগো গেহু খেলাবাস তরে ।

পথে লাগি পেয়ে এক গোয়ালিনী

লৈয়া গেল মোরে ঘরে ॥

গোপরাজবাণী নন্দের গৃহিণী

বশোদা তাহার নাম ।

তাহার বেটার রূপের ছটার

জুড়ায় মোর প্রাণ ॥

কি হেন আকৃতে তাঁর বাম ভিতে

লৈয়া বসায়ল মোরে ।

এক দিঠে রহি তাহার আমার

রূপ নিরীক্ষণ করে ॥



বিজুর্তা উজোর মোর অঙ্গধানি  
সেহ নব জলধর ।

সুখেল দেখিয়া দিবাকর ঠাক্রি  
কি হেতু মাগল বর ॥

তবে যোর গোরা গাখানি মালিয়া  
নাসাবেশ বনাইয়া ।

হরষিত যোরে পাঠাইয়া দেখ  
এ সব আঁচরে দিয়া ॥

যশোদার ভায় রাধার জননীও কৃষ্ণের সহিত  
তাহার কস্তার এই শুভ প্রীতি-বন্ধনে অন্তরের অন্ততলে  
একটা নিগূঢ় প্রীতি অমুভব করেন। তিনি যেহের  
মুখে সমস্ত কাহিনী শুনিয়া মুচকিয়া হাসিলেন,—  
তাহার হৃদয় আনন্দের সুধারসে ভরিয়া উঠিল।—

“কিহের কাহিনী শুনি গোয়ালিনী,  
মুচকি মুচকি হাসে ।

রতি সুধারস হিয়ায় বরিষে  
কহে কবি জ্ঞানদাসে ॥”

কৃষ্ণকে দেখু চরাইবার জন্ত বনে পাঠাইয়া যশোদার  
মন যখন অত্যন্ত অস্থির হইয়া উঠিল, তখন তিনি  
রাধিকাকে আনিয়া কোলে করিতেন, রাধার হাতে  
ধরিয়া বলিলেন, “তুমি আমার তোমার মায়ের মতন  
মনে করিবে, এবাড়ী ও আমাদের বাড়ী সমস্তই  
তোমার।”—

“কান্থরে পাঠাইয়া বনে যশোদা বিবাদ-মনে  
আসিয়া রাধিকা করি কোরে ।

হৃগ্ধে আলুইছে গা মুখে না নিঃসরে রা  
বসন ভিজিয়া গেল লোরে ॥

পদ পদ স্নরে রাঙ্গী কহরে বিবাদ বাণী  
ধরিয়া রাধার হুচী করে ।

কৃত্তিকা সমান হেন আমারে জানিবা যেন  
সে ঘর এ ঘর সব ভোরে ॥”

রাধাকৃষ্ণের মিলনে সাধারণ লোকে অকারণ সিন্দা  
করে বলিয়া যশোদা আক্ষেপ করিয়া রাধাকে  
বলিয়াছেন,—

“কি আর করিব সাধ সকলে পড়িবে বাদ  
দিনেক রাধিতে নারি তোমা ।

এমনি বিষম লোক জীয়ে পড়ায় লোক  
তিলেক নাহিক করে ক্ষমা ॥”

রাধা একদিন যমুনায় স্নান করিয়া আসিতেছে,  
সম্মুখেই দেখিল শ্রীকৃষ্ণ । গুরুজনেরা সঙ্গে রহিয়াছেন,  
কেমন করিয়া হৃদয়-দেবতার মুখের পানে চাহিবে,  
কাজেই সে লজ্জায় নতমুখী হইল । কিন্তু রাধা ত সে  
সুখামাধা মুখ না দেখিয়া থাকিতে পারে না, তাই  
সে এক চাতুরী খেলিল । সকলকে পশ্চাতে রাখিয়া  
সে ভাড়াভাড়ি আগে চলিয়া গেল এবং ফিরিয়া সকলকে  
ডাকিবার ছলি আড়-নয়নে কৃষ্ণকে দেখিতে লাগিল ।  
কিন্তু এ দেখাতেও তাহার সাধ মিটিল না । সে গলায়  
মুক্তাহার ছিঁড়িয়া রাস্তার ছড়াইয়া দিল এবং ডাকিয়া  
বলিল, “ওপো আমার হার ছিঁড়িয়া গেল ।” সকলে  
তখন নতমুখে একটি একটি করিয়া হারের মুক্তা  
কুড়াইতে লাগিল, আর রাধা অনেকক্ষণ ধরিয়া তাহার  
জীবন-সর্বস্বকে দেখিয়া লইল।—

“নাহি উঠল তীরে রাই কমলমুখী  
সম্মুখে হেরল বর কাণ ।

গুরুজন সঙ্গে লাজে ধনী নতমুখী  
কৈছনে হেরব বয়ান ॥

সাধি হে অপরাধ চাতুরী গোবী ।  
সবজন তেজিয়া আশুসরি' ফুকরই

আড়বদহ উহি ফেরি ।  
উহি পুন মোতিহার টুটি ফেলন

কহত হায় টুটি গেল ।  
সবজন এক এক চুনি' সঞ্চক

শ্রাম দরশ ধনী ফেল ॥”  
সেই যে যমুনায় তীরে রাধা, কৃষ্ণকে দেখিয়া

আসিল, তদবধি তাহার অন্তরে এক দারুণ বেদনার  
স্রষ্টি হইল । সে বিরলে একাকিনী বসিয়া থাকে,  
কাহার কথা শুনে না, স্থির নেত্রে যেহের পানে চাহিয়া  
কি-বেন ভাবে । আর তাহার আহারে কুটি নাই,



চোখে ঘুম নাই, হৃদয় ব্যাকুলতার তাহার প্রাণ অস্থির  
হইয়া উঠিল।—

“রাধার কি হ’লো অন্তরে ব্যথা।

বসিয়া বিরলে থাকরে একলে  
না শুনে কাহার কথা।

সদাই বেয়ামে চাহে মেঘপানে  
না চলে নয়নের তারা।

বিরতি আহারে রান্না বাস পরে  
বেশম যোগিনী পারা।”

কৃষ্ণের সেই ভুবনমোহন রূপের ছটায় তাহার নয়ন ও  
সেই বধুর মুরলীর স্নেহে তাহার অংশ ভরিয়া গেল;  
সে তখন আর নিজের অসুখও শুনিতে চাহে না।—

“রূপে ভয়ল দিঠি গোড়রি পরশ মিঠি  
পুলক না তেজই অঙ্গ।

মোহন মুরলী রবে প্রীতি পরিপূরিত  
না শুনে আপস পরসঙ্গ।”

রাধা যে দিকে চায়, সকলই যে শ্রামের দেখিতে  
লাগিল,—

“পুলকে আকুল দিক্ নেহারিতে  
সব শ্রামের দেখি।”

তখন তাহার “চৌদিকে কৃষ্ণের মূর্তি করে বলমল।”  
রাধার ধ্যান যোগ এমনই চরম সীমার উপনীত হইল  
যে, সে তখন যোগিগণের একান্ত হ্রাপ কৃষ্ণকে  
সম্মুখে করিয়া কখনও বিলাপ করে, কখনও  
হাসে, কখনও বা কাঁদে।—

“ধ্যান লয়েন পুরঃ পরিকল্পা ভবন্তমভীষ হ্রাপং।  
বিলম্বতি হসতি বিবীড়তি রোদতি চক্ৰতি দুইতি ভাপং।”  
রাধা ভরে আর ঘুমায়ে না, কি জানি, যদি ঘুমে  
ঘোরে আসিয়া সে কিরিয়া যায়।—

“সুই আই ভয় মনে বড় বাসি।

অচেন নাহি থাকি আগি বিবানিশি।

অলস আইল নিদ যদি আইসে ইথে।

শরম করিয়া থাকি জ্বল দিয়া বাথে।”

রাধা, কৃষ্ণকে লইবার জন্য যে এত ব্যাকুল হইল,

কিন্তু তবু তিনি তাহাকে ধরা দিলেন না। রাধা বড়  
হুঃখেই সখীকে বলিয়াছিল,—

“সুই কেননে ধরিব দিয়া।

আমার বঁধুয়া আন বাড়ী যায়  
আমার আনিয়া দিয়া।”

তথাপি রাধার “কুলশীল বস্ত ছিল, মনে লেগে  
সব গেল, দেখিয়া বঞ্চেরক সেই রূপ।” রাধা তখন  
সেই হৃদয়ের অবিদেবতাকে পাইবার জন্য অতি-  
সাহসি হইল। সে কোনও বাধাবিধ না মানিয়া—পথ  
বিপথের কথা চিন্তা না করিয়া “একলি করল পরাণ।”  
পাছে অলঙ্কারের ভারে বাইতে বিলম্ব হয়, সে জন্য  
সে কণ্ঠের হার, চরণের মঞ্জীর, সব খুলিয়া ফেলিল।  
এমন কি সে নিজের স্তনদ্বয়কেও তার বলিয়া মনে  
করিল।—

“তেজল যণিময় হার।

উচ কুচ মানয়ে ভার।”

অতিসারিণী রাধা পথে জ্বলন্ত দেখিয়াও ভয় পাইল  
না—আশ্রয়গোপন করিবার জন্য হাত দিয়া কণীর  
মাঝার মণি ঢাকিয়া ফেলিল। বাহার চরণ, স্থল কম-  
লের মত কোমল, ধরনীতলের স্পর্শেও বাধা ব্যথিত  
হইয়া পড়ে, আজ সেই রাধা, কৃষ্ণদর্শনের হৃদয় লাল-  
সায় কষ্টকরম শব্দট পথে নিঃশব্দে চলিতে লাগিল —

“ভীতক চিত জ্বলন্ত হেরি যো ধনী  
চমকি চমকি ঘন কাঁপ।

অব আঁধারারে আপন ভয় কাঁপই  
কর দেই কণি-মণি কাঁপ।

\* \* \* \* \*

যো পদতল ধল কমল স্নেহমল  
ধরপি পরশে উপতক।

অব কষ্টকরম সফট পথ হি  
আঁত ভাও বিপক।”

এত কষ্টে—

“বন্দাবনে বাইয়া রাই চারিদিকে চায়।

মাধবীলতার তলে দেখে শ্রামরায়।”

কৃষ্ণ তখন অগ্রসর হইয়া তাহার একান্ত ভক্ত



রাধাকে সাধরে হৃদয়ে ধারণ করিলেন, নিজের আশ্রয় উপরে বসাইয়া মুখের দিকে চাহিয়া রহিলেন, নিজের হাতে তাহার চরণদ্বয় মুছাইতে লাগিলেন । ভক্তাধীন আশ্রয়স্থল সজল নলিনীগজ বৃক্ষ বীজন করিতে করিতে রাধিকাকে পথের কষ্টের কথা জিজ্ঞাসা করিলেন । রাধা উত্তরে বলিলেন,—

“মাধব, কি কহব ঐকববিপাক ।

পথ আগমন কথা কত না কহিব হে  
বাদি হয় মুখ লাখে লাখ ॥”

কিন্তু জীবন-সর্বস্ব,—

“তুয়া দরশন আশে কুহ নাহি জানহু  
চির দুখ অব ছরে গেল ।”

তখন দুইজননের দর্শনের আবেশে দুইজনই বিভোর হইলেন, দুইজননেরই প্রেমসিদ্ধ উখলিয়া উঠিল, শরীর বন্দীত হইল, চক্ষে আনন্দাশ্রু বহিতে লাগিল । কৃষ্ণ, রাধাকে বলিলেন,—

“তুমি মোর লগ তপ তুমি মোর ধান ।  
তুমি মোর ভক্ত মন্ত্র তুমি হরিনাম ॥  
তোমার লাগিয়া বৃন্দাবন করিলাম ।  
গাইতে তোমার গুণ মুরলী শিখিলাম ॥  
চৌরাস্তা কোশ এহ বৃন্দাবনের সীমা ।  
বত কিছু লীলাধেলা তোহারি মহিমা ॥  
জানে সব ব্রজজন জানে ব্রজাঙ্গনা ।  
সবে জানে তব মন্ত্রে আমি উপাসনা ।”

এত আদর এত ভালবাসা সব ছাড়িয়া এই কৃষ্ণই আবার গোকুল শূন্য করিয়া মথুরায় চলিয়া গেলেন । রাধার মাথায় বজ্র ভাঙিয়া পড়িল । রাধা কৃষ্ণের বিরহে অস্থির হইয়া সখীকে বলিলেন ।

“কি করিব কোথা বাবো সোয়াধ না হয় ।  
না যায় কঠিন প্রাণ কিবা লাগি রয় ॥  
পিন্নার লাগিয়ে হাম কোন্ দেশে বাবো ।  
রজনী প্রভাত হৈলে কার মুখ চাবো ॥”

কৃষ্ণ বাইনার সময় বলিয়া গিয়াছিলেন, “আমি কাল আসিব ।” তাই রাধা প্রভাত হইতেই রাধা সকলকে জিজ্ঞাসা করিতে লাগিল “ওগো বলনা তোমরা, কাল কবে ?”

“ভেল পরভাত পূজই সবহ ।  
কহ কহ রে সখি কালি কবহ ॥”

আরাধ্য দেবতার বিচ্ছেদে রাধা পাগল হইয়া পেল । রাধা,—

যে করে কান্নার নাম ধরে তাঁব পায় ।  
সোণার পুতলো যেন ধুলায় লুটায় ॥  
পুছরে পিয়ার কথা হল ছল আঁখি ।  
তুমি কি দেখেছ কালো কহনারে সখি ॥”

রাধা কৃষ্ণের ভাবে এমনট বিভোর হইয়া পড়িল যে,—

“লিখতি চুখতি জলধর কল্পম্ব ।  
হরি রূপ গত ইতি তিমির মনঃস্ব ॥”

হরি আসিয়াছেন মনে করিয়া সে তিমির রাশিকেই আলিঙ্গন ও চুষন করিতে লাগিল । এইরূপ কৃষ্ণ চিন্তা-ময় তপস্কারী প্রভাবে—তাবোলাটের আবেশে রাধা, কৃষ্ণকে সম্মুখে বিরাজমান দেখিল । সে তখন প্রাণ-প্রিয়কে সম্বোধন করিয়া কহিল,—

“তন তন ওহে পরাণ-পিয়া ।

বহদিন পরে পাইয়াছি লাগ  
আর না দিব ছাড়িয়া ॥”

“বধু হে আর কি ছাড়িয়া দিব ।

এ বুক চিরিয়া যেখানে পরাণ  
সেখানে তোমারে ধোব ॥

ও চাঁদবদন সদা নিরখিব  
মুখ না চাহিব আর ।

তোমা হেন নিধি যিলাওল বিধি  
পুরিল মনের সাধ ॥”

“বধু তোমার গরবে গরমিলী আমি  
রূপসী তোমার রূপে ।

হেন মনে করি ও হুটী চরণ  
সদা লইয়া রাখি বৃকে ॥

অস্ত্রের আছরে অনেক জনা  
আমার কেবল তুমি ।

পরাণ হইতে শত শত গুণে  
প্রিয়তম করি মানি ॥”

রাধা অবশেষে তাহার হৃদয়-ধন কৃষ্ণকে বলিল

“ধন জন পেহ দেখে সকলি তোমার ।  
জানদাস কহে ধনি এই সবে সার ॥

শ্রীহরির শাস্ত্রী ।



## তৃপ্ত ।

যাহা কিছু তুমি দিগেছ হে মোরে  
সেই ভালো মোর সেই ভালো ;  
বন্ধ রেখেছ আঁধারের ঘোরে  
সেই আলো মোর সেই আলো ।

দুঃখের সাগরে লভেছি জীবন  
সেই সুখ ওগো সেই সুখ ;  
বিরহে তোমার রচিয়া মিলন  
ভরে বুক মোর ভরে বুক ।

নিরাশার শুধু বুক দেহ ভরে  
সেই আশা মোর সেই আশা ;  
নূকের অলস-লড়তা-অধরে  
সেই ভাষা মোর সেই ভাষা ।

নিঃস্ব করেছে আলোক সভায়  
সেই ভালো মোর সেই ভালো ;  
তুমি আছ মোর রিক্ত হিয়ায়  
সেই আগো মোর সেই আলো ।

শ্রীবুদ্ধদেব বসু

## ঋগ্বেদের 'ঔষা'

“ঔষার মাধুরী সম অনবগুণ্ঠিতা, তুমি অকুণ্ঠিতা”

—রবীন্দ্রনাথ

আদি কবি, আদিম সত্য, ঋগ্বেদের ঋষিগণ উজ্জল  
মধুর প্রাকৃতিক বৃক্ষাবলি দেখিয়া মুগ্ধ হইতেন । মহান,  
রোচনান হৃদ্য হইতে আরম্ভ করিয়া, গ্রহ, নক্ষত্র চন্দ্রমা,  
বাত বৃষ্টি মেঘ পর্যন্ত সকল প্রাকৃতিক বৃক্ষ ও ঘটনাগুলিকে  
দেবতা বোধে ঋক্ মন্ত্রে স্ততি করিয়াছেন

বিষয়ের গাভীর্ষ অতুলসারে দেবরাজ ইন্দের উদ্দেশে  
রচিত স্তব্ধ গুলি যেমন উদাত্ত গভীর, তেমনই ভাব ও  
ভাষার অতুলনীর । সেইরূপ পৃথিবী ব্যাপক আকাশ  
অথবা বরুণ দেবের স্ততিও বিচিত্র মনোহর ও ভাবের  
গাভীর্ষ সূচক । মরুদগ্গণ এইরূপে বর্ণিত হইয়াছেন :—

“ব সৈজ্জরতি পর্তান্ন তিরঃ সমুদ্রমর্শবন্” :—

যাহারা “বিচকলে মেঘমালা, অতুলিধি বিকোভে  
সাগর”

অথবা—“জ্যোতির্শ্বর লোকে ধারা সূর্য্যোপরি নিবসে  
উজ্জল”

কিধা—“অশুবর্ষী, উগ্রধারা অথ নম্র ধরি মহাবল,

এস অগ্নি, লয়ে বরুণের দল”

৭৭ ২ | ১৯ স্তব্ধ

যে যেখের গুরু গর্জনে বর্ষার নীল অরণ্যানী শিহরিয়া  
উঠে, সেই মেঘ-দেবতাকে ঋষি উদ্দাত্ত অথচ মধুর ভাষায়  
আহ্বান করিতেছেন । পাঠক দেখিবেন শব্দ ও ভাব  
সম্পাদে ইহা লগ্নতের অল্পভম শ্রেষ্ঠ কবিতা :—

“রথী ব কশরা স্বা অভিক্রিপ  
ম্রাবি হুতান্ কুণুতে বর্ষা অহ ।  
দুরাং সিংহস্ত স্তনধা উদীরতে  
বৎ পর্জন্তঃ কুণুতে বর্ষানন্তঃ ॥ ১

প্রবাতা বাস্তি পতয়ন্তি বিদ্যাতঃ  
উদোষধী জিহতে পিষতে অঃ ।

ইরা বিশ্বস্ত ভুবনার জারতে  
বৎ পর্জন্তঃ পৃথিবীং রেতসাহবতিঃ ॥ ২

বস্ত ব্রতে পৃথিবী নং নমীতি  
বস্ত ব্রতেশকবৎ জতুরীতি ।  
বস্ত ব্রতে ওষধী বিশ্বরূপাঃ  
স নঃ পর্জন্তঃ মহি শর্শ্ব বহিঃ ॥ ৩



অভিক্রম্য স্তনয় গর্ভ মাধাঃ

উদয়তা পরিদীয়া রথেন ।

দৃতিং সূকর্ষ বিবিতং ব্রহ্মণঃ

সমা তবন্ত্ব হতো নিপাদাঃ ॥” ৪

ঋগ্বেদ ৫ । ৮৩ হুক্ত ।

অর্থ :—রথী বধা কশাঘাতে, তাড়ায় অথেষে তার,

যেথ চলে আকাশ হাপিরা,

হুয় বনান্তর হ’তে সিংহের গর্জন সম

ঘন-রব আসিছে ভাসিরা । ১

প্রচণ্ড পবন বহে, ঝলকে বিজুলীলতা,

বন জাগে, ঝরে জলধারা

সলিলে দ্রাবিত মহী, পৃথিবী তর্পিত

(অন্ধকারে লুপ্ত চন্দ্র তারা) । ২

বাহার আদেশ লভি, মহী জলতার নত

পশুপাল অধেষে বিচরে,

বাহার আদেশে উঠে, ওষধিরা শত শত

হে পক্ষী ! দেহ সুখ-ভারে । ৩

গর্জ গর্জ হে পর্জন্ত ! জলদের রথে চড়ি,

গর্ভবতী হোক্ আদি ধরা,

বারিদের চন্দ্র ধলি ; ধুলে দেও মুখ, তার

উচ্চ নীচ হোক্ একাকার । ৪ ।

এই ত গেল গুরু গভীর চিত্রাকনে বৈদিক ঋষির

উদাত্ত ভাষা । কিন্তু ঋষি বধন উবার অগ্নান মাধুরীর

সমুদীন হইয়াছেন, প্রণয়ী যেমন যুবতী বধুর নিকট

আত্মহারা হইয়া গতমুখে তাহার প্রশংসা করিয়া থাকে

ঋষির ভাষাও তখন প্রেম-সরস মধুময় হইয়া উঠিয়াছে ।

বস্তুতঃ ঋগ্বেদে উবা-হুক্তগুলি আদি কবির, প্রেমোচ্ছাস-

ময়ী ভাষা । উহাই তাহার love lyric বা প্রেম-পীতি-

অনাবিল নৈলব্ব্যের সমুৎপে, “সুন্দরী রূপসী” উবার সমক্ষে

ঋষির কবিত্বের উৎস ছুটিয়াছে । কত ছন্দে, কত

উপহার, কত আবেগভরে আদিম ঋষিকবি উবার

রূপবর্ণনা করিয়াছেন তাহার ইয়ত্তা নাই । আশরা

করেকটা মাত্র সর্বোৎকৃষ্ট উবা-হুক্তের দ্বোক তুলিয়া

পাঠকবর্গকে উপহার দিতেছি :—

১। অধিপেশাংস বপতে বৃহুরিব

অপোগুঁতে বক্ষ উশ্বেব বর্জহং ।

জ্যোতিবিশ্বৈ জুবনায় কণ্ডতী

গাবো ন ব্রহ্ম বুবা আবর্তমঃ ॥

ঋ ১০ । ৯২ । ৪

অর্থ :—নর্ভকীর মত উবা, সাজে নব পেশোয়ালে ;

অলঙ্কৃত শোভন উরস ;

পীনোদী গাতীর দল ধায় বধা গোচারণে,

শুভ্র আলো ছুটে দিশি দশ ।

২। পুনঃ পুন জায়মানা পুরাণী

সমানং বর্ণমভি শুভ্রমানা ।

যয়ীব ক্রমু বিজ আমিনানা

মর্তস্ত দেবী জরয়ন্তী আহুঃ ॥ ঋ ১০।৯২।১০

অর্থ :— চির পুরাতন অঞ্চ নূতন

নাই অবলিন রূপের ক্ষয়

ব্যাধ বধু বধা নাশে পাখীকুল

নাশে নয়কুল আয়ু সমুদয় ।

৩। এষ দিবো দ্বিহিতা প্রত্যদর্শি

বৃচ্ছন্তী যুবতিঃ শুক্রবাসাঃ ।

বিশ্বেস্তেশানা পার্শ্ববস্ত বনঃ

উবো অস্তেহ স্তব্ধে বৃচ্ছ ॥ ঋ ১০।১০৭

অর্থ :—আকাশ-দ্বিহিতা উবা, এস ধন রাশিল’রে

শুক্রবাসা যুবতীর মত,

বিশ্ব জগতের ধন তোমারি অধীন দেবী ।

আন তুমি ধন মান বত ।

৪। সূর্য্যো দেবীযুবনং রোচমানাং

মর্য্যো ন বোষা মধেতি পশ্চাৎ ॥ ঋ ১০।১৫।২

অর্থ :—প্রেমভরে যুবা যেমন তরুণীর অঙ্গসরণ করে

সেইরূপ তপন দেব সুন্দরী, দীপ্তিবাণিনী উবার অঙ্গগমন

করিতেছেন ।

[ এখানে গ্রীক পুরাণের আপলো ও ডেকনির কাহিনী

স্মরণীয় ]

৫। কস্তোর তথা শানাদানা এবি

দেবি দেব মিরক মানব্ ।



সংসারনা সুখতিঃ পুরস্তাৎ

আবির্ভবাসি কুসুমে বিভাতী ॥ ৭৫ ১।১২৩।১

অর্থঃ—পতি পাশে দ্বিতমুখী তরুণীর মত  
অনাবৃত দেহ উন্মাদ করিছে প্রকাশ  
তপনের পাশে খুলি জ্যাতিমধ্ব বাস,  
কমনীর কস্তা সম সদা পতি রত ॥

৬। স্নসংকশা মাতৃ মুঠেব যোবা

আবিস্তবৎ কণুবে দুষে কন্ম ।

ভদ্রাঙ্কমুখো বিতরং বৃদ্ধ

ন তন্তে অস্তা উবসো নশত ॥ ৫১

অর্থঃ—জননীর প্রসাধিতা, তরুণী কস্তার মত,  
পতি পাশে সুখে আসি তুমি,  
দেহের সুখমা রানি, প্রকটিত অরি উবে ।  
এস চির কল্যাণের তুমি ।

৭। অত্রাতের পুংস এতি প্রতীচী

পর্জীক রিব সময়ে ধনানাম্ ।

জায়ের পত্য উশতী সুবাসা

উবা হ্রেষেব নিরিবীতে অলঃ ॥ ১।১২৪।৭

অর্থঃ—ভেয়োগি স্রম, কস্তা ভ্রাতৃহীন

আসে বধা লোক মাংস

রথাক্ষত বীর, ধন লাভ তরে

সাজে বধা নানা সাজে,

তন্ত্র বাসা বধু, আসি পতি পাশে

খোলে বধা রূপ রানি,

ভেমনি আকাশে, উদে উবাংলা,

মধুর মধুর হাসি ।

৮। দ্যতত্ব ধামানং ব্রহ্মতী মৃতেন

ঋতাবরী মরুপল্লং বিভাতীং ।

দেবী সুখলং অংগবহতীং

এতি বিপ্রাসো মতিভি জরন্তে ॥ ৫।৮০।১

অর্থঃ—সমুজ্জল রথাসনে রক্ত দীপ্তিময়ী,

সুখ্য সহচরী

উবারে আচ্ছাদন করে বজ্র ঋষিকেরা

বহুভক্তি করি' ।

৯। উপো অধ্বনি শুদ্ধাবো ন বন্ধঃ

নোবা ইবাধি রক্তত প্রিয়ানি

অগ্নস্ব সসতো বোধরন্তী

শব্দভাংগাং পুনরেন্দ্রীণাম্ ॥

অর্থঃ—প্রকটিয়া যেত বন্ধ রাক হংসমত

জলচর ; সাধি প্রিয় “নোবা” ঋষি প্রায় ;

জাগাইয়া নিজাকুল প্রাণিকুল মত

অগ্নপাণি মাতৃসমা ; উবা শোভাপায় ।

এইরূপে কিরণ মালিনী মনোহারিণী উবার রূপগান  
করিত। বৈদিক ঋষিগণ আপনাদিগকে পৌরবাসিত  
মন্তে করিতেন এবং বশিষ্ঠ, কথ, গোতম বংশীয় কবিগণ  
উবাসক্ত লিখিয়া জগতে অমরকীর্তি রাখিয়া গিয়াছেন।  
অজ্ঞাপ্ত দেবগণের নিকট ঋষিরা ধন পুত্র, শত্রু নিপাত,  
রথাসম্বর্ণ কামনা করিয়াছেন কিন্তু উবাসক্তে প্রধানতঃ  
কেবল উবার রূপ বর্ণনা করিয়াই তাঁহারা সন্তুষ্ট।  
স্বাক্ষার অঙ্ককারে পৃথিবী যেন মুছিয়া গেল, জীবনের  
চিরুণ্ডি যেন কোথায় বিলুপ্ত হইল, ইহা ভাবিয়া  
বোধ হয় আদিযুগের সভ্য মানব একটুকু ভীত ও  
বিষম হইয়াছিলেন, তাই উবাসহ সূর্য্যের পুনরুদয়ের  
প্রভাত সঙ্গীত গাহিলেন :—

“কেতুং কৃষ্ণকেতবে পেশো মর্য্যা অপেশমে

সমুর্ভতিরজারেষাং ।” ৭৫ ১ মন্তল ।

অর্থ,—অচেতনে দিয়া প্রাণ রূপহীনে রূপ দান,

উবা সহ উদিলে অরূপ ।

সম্ভবতঃ অজিরোগোজের কোন ঋষি অথবা ঋষিগণ  
সর্ব প্রথম উবাসক্ত, অথবা উবাকাব্যে রচনা করিয়া  
ছিলেন। তাঁহারই দৈবী প্রেরণায় (inspirationএ)  
প্রথম উবাসক্ত রচিত অথবা ‘বৃষ্ট’ হইয়াছিল। তাই  
বশিষ্ঠ তাঁহাকে স্মরণ করিয়া প্রশংসা গাহিতেছেন :—

ত ইদেবানং সমমাদ আসন্ :

ঋতাবানঃ কবয়ঃ পূর্ব্যাসঃ ।

গৃহং জ্যোতিঃ পিতরো অধ্বিনন্দন্

সত্যমহা অলনয়মুবাশন্ ॥ ৭৫ ১। ১৬। ৪

অর্থঃ—আদি কবি দেব-ভূলা আদিরসগণ

বেদ-বিজ্ঞ বজ্রলীল, ভয়সিদ্ধ হ’তে—



লভিলা সে মহা জ্যোতিঃ কিরণ কিরীটী,—

উবা নাম তার, স্ততি রচিলা বিস্তর ॥

উবার মাধুরীই প্রাচীনকাল হইতে আজ পর্য্যন্তও  
রূপে রূপে তাহাকে প্রিয়তম করিয়া রাখিয়াছে। তাই  
এখনো বাহা কিছু স্মরণ মধুর কান্ডকোমল তাহারই  
সহিত উবার নাম জড়িত। আমরা একটি মাত্র উদাহরণ  
দিয়া প্রবন্ধ শেষ করিব :-—শ্রীমদ্ভাগবতে বাণরাজ-  
দুহিতা উবার কাহিনী বর্ণিত আছে। ইনি কুমারী  
অবস্থায় কৃষ্ণ পৌত্র অনিরুদ্ধের সহিত স্বপ্নে মিলিত  
হইয়াছিলেন। নিজা-ভঙ্গে শ্রানকান্ত তরুণ যুবাকে  
দেখিতে না পাইয়া বিষম মনে দিনযাপন করিতেছেন,

এমন সময় সখী চিত্রলেখা যোগবলে অনিরুদ্ধকে শূন্য-  
পথে আনাইয়া উবার সহিত প্রকৃত মিলন করাইয়া  
দিলেন। পরে অশুররাজ বাণ অস্তঃপুরচরণের যুগে  
কস্তা-দুষণের সংবাদ পাইয়া অনিরুদ্ধকে কারারুদ্ধ করি-  
লেন। উবা তাহা শুনিয়া—

“উবা ত্বংশ শোক বিবাদ বিহ্বলা—

বদ্ধং নিশায়াশ্রকলাক্ষ্যারৌদ্রীসীৎ ।”

[অত্যন্ত শোক বিহ্বলা উবা অনিরুদ্ধ কারারুদ্ধ  
হওয়া সংবাদে অশ্রুধোচন করিতে লাগিলেন]  
অনন্তর বাণ-ক্লেবের যুদ্ধের পর উবা বিবাহ বন্ধনে  
চিত্ততরে অনিরুদ্ধের সহিত মিলিত হইয়াছিলেন।

শ্রীকামিনীকুমার সেন ।

## গর্বিত ।

( ১ )

তোমার ছায়ায় কালাল হইতে পারি  
আমার ভবনে কালাল আমি তো নই ;  
তোমার নয়নে ঠাই নাহি পেতে পারি  
আমার হৃদয়ে অধিরাজ আমি রই ।

( ২ )

জীবনের মাঝে সকলের পিছে থাকি  
বরণ আমাকে অমর করে যে দেয় ;  
আশার আলোকে চক্ষু মুদ্রিয়া রাখি  
হতাশা আমাকে বরণ করিয়ে নেয় ।

( ৩ )

আলোকের মাঝে যদিও পাইনে পথ  
আঁধারের মাঝে চলে বাই অবহেলে ;  
দিনের ধূলায় কুণ্ঠিত মনোরথ  
উবাও নিশীথে স্বপ্ন পিছনে ফেলে ।

( ৪ )

আঁধি জলে যবে সাধাসাধি অনিবার  
ভগ্নো নিষ্ঠুর কাঁদারে ফিরায়ে দাঁও ;  
বিজনে বধন অভিমান হাহাকার  
অনাহুত এসে কোলেতে ভুলিয়ে নাও ।

শ্রীসতীশ্রমোহন চট্টোপাধ্যায় ।



## ‘নব বর্ষের স্বপ্ন’।

(আলোচনা)

গত ১৩২৫ সালের অগ্রহায়ণ মাসের ‘ভারতবর্ষে’ ‘পুস্তক পরিচয়’ বিভাগে শ্রীমতী সরলা দেবী প্রণীত ‘নববর্ষের স্বপ্ন’ পুস্তকখানির পরিচয়দাতা লিখিয়াছেন,— “এখানি আটআনা সংস্করণ গ্রন্থমালার অষ্টবিংশ গ্রন্থ। লেখিকা মহোদয়রা বাঙ্গলা সাহিত্য ক্ষেত্রে বশস্বিনী। তিনি যখন ‘ভারতী’ পত্রিকার সম্পাদন করিতেন সেই সময় উক্ত পত্রে যে সমস্ত মনোরম গল্প লিখিয়াছিলেন তাহারই কয়েকটি এই গ্রন্থে প্রকাশিত হইয়াছে। গল্পগুলি অতি সুন্দর; লেখিকা মহোদয়র প্রাণংসা অনা-বশত—তাহা বাঙ্গালী পাঠক মাত্রেই পরিচিত। আমরা সকলকেই এই সুন্দর পুস্তকখানা পাঠ করিতে অনুরোধ করি।” ‘ভারতবর্ষে’ প্রকাশিত এইরূপ প্রাণংসার আকৃষ্ট হইয়া সেইদিনই আমাদের লাইব্রেরির জন্য একখানি ‘নববর্ষের স্বপ্ন’ পাঠাইবার জন্য অর্ডার দিই।

পুস্তকখানি আসিলে পর সেখানি পাঠ করিয়া বিম্বিত হইলাম; বিম্বিত হইবার একটু কারণও আছে সেই জন্যই এই ক্ষুদ্র প্রবন্ধের অবতারণা।

১২৩১ সালে ‘ভারতী ও বালক’ (বর্তমান ভারতী পত্রিকার নাম তখন ভারতী ও বালক ছিল) আখিনি সংখ্যার নির লিখিত বিজ্ঞাপন মুদ্রিত ছিল। “ভারতীর পাঠক পাঠিকাগণের অরণ থাকিতে পারে গত বৎসরের অগ্রহায়ণ মাসের ভারতীতে ইংলণ্ড হইতে বিস্ মরিস্ ‘বিলাতের সচিব সংবাদপত্র ও তাহার কার্যাগালী নামক যে প্রবন্ধ লিখিয়া পাঠাইয়াছিলেন তাহাতে ‘জেন্টল উম্যান্ নামক পত্রিকার সম্প্রতি যে নূতন একটি বিষয় পরীক্ষিত হইয়াছে তাহার বিবরণ দিয়া ছিলেন। তাহা এই—

“এক সংখ্যা পত্রিকার একটি উপভাসের প্রথম অধ্যায় প্রকাশিত হয়, এবং সম্পাদক বহাশর বিজ্ঞাপন দেন যে বাহার ইহার দ্বিতীয় অধ্যায় লিখিয়া পাঠাইবেন তাহার

মধ্যে বাহার লেখা সম্পাদক সর্বাপেক্ষা অধিক উপযোগী বলিয়া বিবেচনা করিবেন তাহাকে পুরস্কার দেওয়া যাইবে। কয়েক সপ্তাহ ক্রমাগত এইপ্রকারে কার্য্য হইয়া এ উপভাসটি সম্পূর্ণ হয়। পরে প্রথম উপভাস লেখকের উপভাসের সহিত বিভিন্ন লেখকগণের উপভাস মিলাইয়া দেখা যায় যে প্রথমখানির অপেক্ষা দ্বিতীয়খানি ভাল হইয়াছে। এই প্রথম বোধ হয় একটি উপভাসের প্রত্যেক অধ্যায় ভিন্ন ভিন্ন লোক কর্তৃক লিখিত হইয়াছে।

“আমরা ইচ্ছা করিয়াছি ভারতীতে একটি উপভাসের প্রত্যেক অধ্যায় একরূপে বিভিন্ন লোকের দ্বারা লিখাইয়া পরীক্ষা করিয়া দেখিব কিরূপ দাঁড়ায়। ‘নববর্ষের স্বপ্ন’ নামক একটা উপভাসের প্রথম অধ্যায় এবারে প্রকাশিত হইল। আগামী ২০ই আখিনের ভিতর বাহার ইহার দ্বিতীয় অধ্যায় লিখিয়া পাঠাইবেন, তাহাদের মধ্যে বাহার লেখা সর্বোৎকৃষ্ট হইবে তাহাকে শ্রীমতী স্বর্নকুমারী দেবীর চারিখানি গ্রন্থ উপহার দেওয়া যাইবে—‘দীপনির্দান’, ‘হৃঙ্গলীর ইমামবাড়ী’, ‘পাখা’ ও ‘বসন্ত উৎসব’। উপভাস লেখক পাঁচ অধ্যায়ে তাহার উপভাস সমাপ্ত করিয়া আমাদের নিকট রাখিয়া দিয়াছেন; সুতরাং দ্বিতীয় উপভাসখানিও পাঁচ অধ্যায়ে সমাপ্ত হইলেই ভাল হয়, প্রত্যেক অধ্যায়ের লেখকগণ তাহার প্রতি দৃষ্টি রাখিবেন। এইরূপে বিভিন্ন লোকের দ্বারা লিখিত উপভাসখানি শেষ হইলে আমরা প্রথম উপভাসখানি সমস্তটা একেবারে এক সংখ্যায় প্রকাশ করিব।”

তৎকালিক ‘ভারতী ও বালক’ পত্রিকার ‘নববর্ষের স্বপ্নের’ প্রথম পরিচ্ছেদ প্রকাশ হইবার পর নিরলিখিত পরিচ্ছেদগুলি নিরলিখিত লেখকগণ কর্তৃক লিখিত হইয়াছিল।—



দ্বিতীয় পরিচ্ছেদ

শ্রীঅঃ—

লেখিকা হয়ত ইহা বলিতে পারেন যে, গল্প গুলি

তৃতীয় পরিচ্ছেদ

{ শ্রীদীনেশকুমার রায় ও  
শ্রীশ্রীকৃষ্ণ বসু

ভারতী ও বালকের পুরস্কারের গল্প, উহাদের সমস্ত স্বত্বই

চতুর্থ পরিচ্ছেদ

শ্রীনগেন্দ্রনাথ ঘোষ

তাহার অধিকৃত । ‘ভারতী ও বালকের’ বিজ্ঞাপনে এমন

পঞ্চম পরিচ্ছেদ

শ্রীমতী সরলা দাসী

কিছু লেখা ছিলনা যে সেই পরিচ্ছেদগুলির লেখকের স্বত্ব

বা নান্যোন্মেষ থাকিবেনা । দ্বিতীয় পরিচ্ছেদের লেখক

পুরস্কারও পান নাই । এসবন্ধে দ্বিতীয় পরিচ্ছেদের

প্রারম্ভে নিম্নলিখিত রূপ সম্পাদকীয় মন্তব্য প্রকাশিত

হইয়াছিল ।

এই সমস্ত পরিচ্ছেদগুলি ‘ভারতী ও বালক’ পত্রিকার  
ক্রমশঃ প্রকাশিত হইয়াছিল । শ্রীকৃষ্ণদাস চট্টোপাধ্যায়  
এও সন্সের আর্টআনা সংস্করণ গ্রন্থমালার অষ্টবিংশ  
গ্রন্থ ‘নববর্ষের স্বপ্নের’ ‘নূতনধরণে’ পঞ্চম পরিচ্ছেদ মূত্রিত  
হইয়াছে তাহা উপরোক্ত লেখকগণের রচিত ; কিন্তু  
গ্রন্থবর্তী শ্রীমতী সরলাদেবী মহোদয় ইহাদের নাম  
গন্ধও করেন নাই । পুস্তকের প্রারম্ভে এই বিষয়ের  
একটা উল্লেখ থাকিলে কিছুমাত্র ক্ষতি হইত না । এমন  
কি, এ গল্পগুলি পূর্বে যে ‘ভারতী ও বালকে’ প্রকাশিত  
হইয়াছিল তাহারও কোন উল্লেখ নাই ।

“চারিজন পাঠক ‘নূতন ধরণের’ উপস্থাপনের দ্বিতীয়

পরিচ্ছেদ লিখিয়া পাঠাইয়া ছিলেন, তাহার মধ্যে শ্রীকৃষ্ণ

অ—র লেখাপ্রকাশ যোগ্য হইয়াছে, কিন্তু তাহার লেখা

নির্দিষ্ট সময়ের পর আমাদের হস্তগত হওয়াতে তিনি

পুরস্কার পাইলেন না । অত্র তিনজনের মধ্যে দুবড়ী

নিবাসী শ্রীকৃষ্ণ অ—র লেখা সর্বোৎকৃষ্ট হওয়াতে তাহাকে

প্রতিশ্রুত পুস্তকখণ্ডগুলি প্রেরণ করা হইয়াছে । শ্রীকৃষ্ণ

অ—র—রচনা নিয়ে প্রকাশিত হইল !”

লেখিকা বঙ্গসাহিত্যে যশস্বিনী, তিনি বহুকাল  
একখানি মাসিক পত্রিকার পরিচালনা করিয়াছিলেন ।  
আমাদের মনে হয় ‘নূতন ধরণের’ চারিটা পরিচ্ছেদ  
ইহাদের লিখিত সেই লেখকগণের নাম উল্লেখ করিলে  
গ্রন্থকর্তা মহোদয়ার যথেষ্ট কিছুমাত্র হানি হইত না ।  
বঙ্গ সাহিত্যে যিনি সম্রাট বলিয়া খ্যাত সেই বঙ্কিমচন্দ্রও  
তাঁহার ‘কমলাকান্তের দপ্তরে’ যে ছ’একজন বঙ্গুর  
রচনা নিবিষ্ট ছিল তাহা সমাদরে উল্লেখ করিয়াছিলেন ।

সুতরাং আমাদের গ্রন্থকর্তা মহোদয়া সেই পরি-

চ্ছেদগুলির যথার্থ লেখকগণের যে নামোন্মেষ করেন নাই

ইহা সঙ্গত হইয়াছে বলিয়া আমাদের মনে হয় না । আমরা

আশাকরি পরবর্তী সংস্করণে এই ক্রটি সংশোধন দেখিতে

পাইব ।

শ্রীশুরেশ চক্রবর্তী ।

## বেদনার বোঝা ।

ধরদীর বুক ভলি

মধুসূদ গেছে চলি

ছিঁড়িয়া মায়াব ডোর

গেলে চলি প্রিয়ে বোর,

সুখরিয়া বন-আর গাহেনা ত পিক ;

হাটাকার বহি বুক পড়ে আছে আল ;

ভেঙেছে কুলের মেলা, টুটে গেছে হাসি-খেলা,

নাহি সেই প্রেম-মধু, নিদাশের জালা শুধু

বেদনার স্রব জাগে বিরি চারিদিক্ ।

অনলের শিখা ঢালি হানিতেছে বাজ ।

শ্রীশ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ ।



## কবি হারেন

কবিধ খ্যাতিতে হারেন অগণিত্য হইয়াছেন। সঙ্গীত ও প্রাদেশিকতা ইহার মোটেই ছিলনা। গেটের ভায় ইনিও স্বাধীনতা ও আত্মার সার্বজনীন প্রসারের উপাসক ছিলেন। গেটের ভায় ইনিও নেপোলিয়ানের একজন ভক্ত ছিলেন।

বাল্যে হারেন অস্ত্রাজ আর্মেনের ভায় করাসীর বিজয়-বার্তা আনন্দের সহিত শুনিতেন। হারেন নেপোলিয়ানের এইরূপ বর্ণনা করিয়াছেন :—

“তিনি তাঁর শাদাসিধে সবুজ পোষাক পরে, অগ-  
ধিখ্যাত টুপিটা মাথায় তিরে, সাদা ঘোড়ায় চড়ে ধীরে  
ধীরে চলছিলেন—আর মাঝে মাঝে ডান হাতে ঘোড়াটার  
ষাড় চাপড়ে আদর করছিলেন। আমরা গ্রীক ও রোমান  
শিল্পাভিযাত্রী প্রস্তর-খোদিত তাঁর যে মূর্ত্তি দেখি, তাঁর বর্ণ  
তেমনি ছিল ও তাঁর মূর্ত্তিরও তেমনি শাস্ত ও গভীর ভাব  
ছিল।”

কেহ ভাবেন, হারেন আর্মেনীর সাহিত্য-রাজ্যে কি  
করিয়া সর্বশ্রেষ্ঠ লেখকদের সমান আসনে বসিবার দাবী  
করেন? গেটের লেখার দার্শনিকতা ও নাটকীয় ঘটনার  
বিচিত্র সমাবেশ আছে, কিন্তু হারেনের বিচিত্র রসোজ্জল  
হাস্যরাশি ও অপূর্ণ কবি-প্রতিভা চিরদিন তাঁহাকে  
বিশ্বের সাহিত্য-সমাজে উচ্চস্থান দান করিবে।

এমনি দ্বন্দ্ব ছিল ইঁহার যে, একটা পংক্তিতে পাঠকের  
চোখে অশ্রু বহাইতে পারেন, আবার মিঠে-কড়া চাবুকে  
হরষ করিতেও ইনি কষ ওস্তাদ ছিলেন না।  
হারেন প্রকৃতির অতি নিকটে বাইতে পারিতেন এবং  
প্রকৃতির গুহ্যতম অংশেরও সমস্ত নিরাকরণ করিয়া  
গিয়াছেন।

নেপোলিয়ানের প্রতি হারেনের শ্রদ্ধা ও ফ্রান্সের উপর  
ভালবাসার লব্ধ আর্মেনিয়া তাঁহাকে ভাল চোখে দেখেন  
না। তিনি আর্মেন ছিলেন ও আর্মেন ভাবতেই লিখিয়া-  
ছিলেন বলিয়া করাসীরও তাঁহাকে শ্রীতির চোখে দেখেন  
না। তিনি ইহুদী ছিলেন বলিয়া খৃষ্টানেরা তাঁহাকে

অপছন্দ করেন, এবং পরে তিনি খৃষ্টান হইয়াছিলেন  
বলিয়া ইহুদীরাও তাঁহাকে ঘৃণা করেন।

অনেকে হারেনের অসাধারণ প্রতিভা ও কার্যাবলী  
ছাড়িয়া তাঁহার উজ্জ্বল-প্রতিভার দিকই দেখেন। তাঁহার  
বলেন যে ইঁহার জীবন ও বাল্য রচনা বড়ই অসংবত।  
সেন্সপিয়রকে যেমন তাঁহার সুন্দর লেখা প্রকৃতি  
ধরিয়াই বিচার করিতে হয় হারেনকে কেহ তেমন ভাবে  
বিচার করেন না। সৎসাহিত্য হিসাবে ধরিতে গেলে  
কে গেটের দ্বিতীয় ভাগ লইয়া বিচার করিতে বসিবেন?  
স্বর্গের সম্বন্ধেই বা কে তাঁর ‘St. Ronans Well’ পড়িয়া  
শেষ অভিমত দিবেন।

হারেনকে গেটের পাশে বসাইয়া সিলারের উপরে  
ধরিয়া বিচার করা উচিত। কারণ সিলার অগতের  
চেয়ে আর্মেনীর বেশী ছিলেন।

উত্তর আর্মেনীতে হারেন বংশ অতি ধনশালী ছিল।  
এক শ্রামসন হাইন ব্যতীত অপর সকলেই ব্যবসার ও  
ব্যাকের কার্যে অগাধ অর্থ উপার্জন করেন। শ্রামসন  
হারেন দিল-খোলসা মেজাজের লোক ছিলেন। বেশ  
অনায়াসে তিনি বিপুল অর্থ অর্জন করিয়াছিলেন।  
বাণিজ্যের চেয়ে তাঁর সৌন্দর্যের দিকেই বেশী  
কোঁক ছিল। শ্রামসনের চেহারা অতি সুন্দর ছিল এবং  
ইনি একজন সুন্দর বংশীবাদক ছিলেন। তাঁহার রূপে  
এবং সঙ্গীতে মুগ্ধ হইয়া একজন ধনাঢ্য ডাক্তারের প্রতিভা-  
শালিনী সুন্দরী ছুতিয়া তাঁহার সহিত পরিণয় পাশে বদ্ধ  
হন। শ্রামসন ও তাঁহার প্রেমপাত্রী ভালবাসিয়াই পরিণয়  
পাশে বদ্ধ হন, এবং এই বিবাহে উভয়ে বিপুল সম্পত্তির  
অধিকারী হন। বিবাহের পর ইঁহাদের আবাসস্থান  
ডুসেলডরকে পরিবর্তিত হয় এবং এই স্থানেই ইঁহাদের  
প্রথম সন্তান হেনরিক হারেন জন্মগ্রহণ করেন।

হারেনের মাতা অপূর্ণ প্রতিভাশালিনী নারী ছিলেন।  
হারেন মাতার সম্বন্ধে একস্থানে লিখিয়াছিলেন—আমার  
উন্নতির মূলে আমার মা ছিলেন। আমার পড়াশুনা



সব বিষয়ের তত্ত্বাবধান তিনি নিজে করিতেন, বোধ হয় আমার ভ্রমের পূর্বেই ছেলের শিক্ষা-প্রণালীর একটা কল্পনা তিনি করিয়া রাখিয়াছিলেন।

হারেনের মাতা তাঁহার ইচ্ছা কার্যে পরিণত করিতে বহু বাধা পাইয়াছিলেন। এই বালক তাহার নিজের ইচ্ছানুসারেই চলিত। তাহার মাতার উচ্চ কল্পনা কোন কাজেই লাগিত না। হারেনের মাতামহও হারেনের শিক্ষার হাত দিয়াছিলেন কিন্তু তাঁহার বাধাধরা নিয়ম হারেনের পক্ষে কোন কাজে লাগে নাই।

আমাদের বিশ্বাস হারেনের সৌন্দর্য্য-প্রিয় বংশীবাদক পিতাই এই ভাবপ্রবণ বালক-রূপে তাবরাণি ফুটাইয়া দিয়াছিলেন। হারেন লিখিতেছেন :—‘জগতে সকলের চেয়ে আমার বাবাকেই আমি বেশী ভালবাসিতাম। এই পঁচিশ বৎসর পরেও আমার ভ্রম হয় যে, বাবা কি সত্যই মারা গিয়াছেন। এমন রাজি কদাচিৎ গিয়াছে যে বাবার কথা আমি চিন্তা করি নাই।’ পিতামাতা উভয়ের নিকট হইতেই বালক ধর্ম্ম সম্বন্ধে উদাসীন ভাব অবলম্বন করিতে শিক্ষা পাইয়াছিলেন, তাঁহার পিতার ধর্ম্মবিশ্বাস বলিতে কিছু ছিলনা, মাতাও ভলটেয়ার ও রুসোর মতাবলম্বী ছিলেন।

বাল্যে হারেনের মাতাকে তাঁহার মাতামহ ল্যাটিন পড়াইতেন। যেহেতু পড়িতে পড়িতে সমালোচনায় পিতাকে চমৎকৃত করিয়া দিতেন। পূর্বে যখন ইনি ক্রামসন হারেন কর্তৃক বাঁশীর রবে আকৃষ্ট হন তখন খুবই ভাবপ্রবণ ছিলেন। পরে মধ্যবয়সে সখের কোন জিনিসই ইনি প্রীতির চক্ষে দেখিতেন না। হারেনের বাল্যের পাঠ-পিপাসা তাঁহার পিতৃব্যের বিদ্যুত পাঠাগারে নিবারণিত হইয়াছিল। হারেন এই পাঠাগারের নাম দিয়াছিলেন Noah's Ark’।

হারেনের বাল্য-জীবন সুখেই অতিবাহিত হইয়াছিল। তিনি কয়দা ও হিক্তাভায় উন্নতি লাভ করেন ও আর্মেন রচনা-রীতি সম্বন্ধে অল্প বয়সেই দক্ষতা লাভ করেন। সতের বৎসর বয়সে তার জুবন-বিখ্যাত সঙ্গীত ‘The Two Grenadiers’ রচিত হয়। বদিও পাশ্চাত্যের প্রত্যেক সঙ্গীতজ্ঞ কর্তৃক ইহা গীত হইয়া আসিতেছে, তথাপি এপর্ব্যন্ত ইহার উপযুক্ত অমূল্য হয় নাই।

এপর্ব্যন্ত হারেনের জীবনে যৌবন-মূলত কোন ভাব প্রবেশ করে নাই। এতদিন হৃষ্যের আলো, চাঁদের স্নেহ ও উত্তম পুস্তক পাঠ, ইহাতেই হারেন মগ্ন ছিলেন। এর পরে হারেনের জীবনে পরিবর্তন আসে, পরিবর্তনটা অদ্ভুত ধরনের। পূর্বেই বলা হইয়াছে হারেনের মাতা কল্পনা ও অন্ধ বিশ্বাসের যে কোন জিনিসকেই স্বণা করিতেন। কিন্তু তাঁর ছেলের চারিদিকে বালক বালিকাগণ, ভৃত্যসকল ও আরও অনেক অতি-প্রাকৃতিক বিশ্বাস ঘেরিয়া ছিল এবং হারেনের কল্পনাও যে শুধু লেখাতেই বিকাশ পাইতেছিল তাহা নহে, নিত্য জীবনেও তাহার কল্পনার বিকাশ ঘটিতেছিল।

একদিন ডুসেলডরফের কোন রমণী হারেনের বর্ণের সহিত আকাশের বর্ণের তুলনা করিয়া তাঁহার অশেষ সুখ্যাতি করে। হারেন সেই বৃদ্ধা নারীর পুত্র পৌত্রকে কুৎসিৎ বলিয়া অত্যন্ত স্বণা করিতেন। বৃদ্ধার এই সুখ্যাতিতে হারেনের মনে হইল, সে বোধ হয় তাহাকে কু-বৃত্তি দিল। হারেনের পুরাতন আয়া তাহাকে বুঝাইয়াছিল যে যদি এই কু-বৃত্তি নিবারণের উপায় না করা যায় তবে হারেনের বড় কৃতি হইবে। তাহারই পরামর্শ অনুসারে হারেন গোচিন নামে এক তাইনী নারীর নিকট গেলেন, এই তাইনী ডাচ সীমান্তের গচ্ প্রদেশে জন্মগ্রহণ করে এবং ছ’বার দুইজন জন্মানের পাণি গ্রহণ করে। এই নারীর বংশের পেশাই ছিল বাছ বিত্ত। এই লক্ষ্য সকলেই তাহাকে ভীতি ও স্বপ্নার চক্ষে নিরীক্ষণ করিত। গোচিন তাহার নির্জন গৃহে হারেনের কু-বৃত্তি নাশানোর লক্ষ্য নানা প্রক্রিয়া আরম্ভ করিল। সে হারেনের মস্তকের মধ্য ভাগ হইতে কয়েক গাছি চুল লইয়া বার কত বৃদ্ধাজুর্জের ঠোকর দিয়া নানারূপ অদ্ভুত তুচ্ছতা, ঝড়-তুচ্ছ করিতে লাগিল। হারেন এই নারীর সম্বন্ধে কবিতার লেখেন :—

“She was a native of Musterland  
And had a stock most splendid  
Of Ghostly legends horrible  
Her tales and songs ne’er ended,



My heart would leap as the ancient dame  
Told tales of the Old kings daughter  
Who sat alone on the barren heath,  
With her golden hair about her."

এই নারীর গল্প ও সঙ্গীতে আকৃষ্ট হইয়া হারেন তাহার বাড়ী বাইতেন। হারেন বলিতেছেন—‘এই ভাইনীর মায়ার পড়িয়াই যে আমি তাহার বাড়ী যাইতাম তাহা নয় কিন্তু যেমোহে পড়িয়া তিনি যাইতেন সে ত্যাগ কাহারও সহজ-সাধ্য নহে এবং ইহার তাড়নায়ই নবীন যুবক অল্প পথে ধাবিত হইয়াছিলেন। এই ভাইনীর একটি নাতনী ছিল, সে তাহার দিদিমার শিষ্টাটিরই সমবয়স্ক। এই বালিকার সম্বন্ধে হারেন বলিতেছেন—‘সে কসেট কিম্বা নীচে পরিবার বিশেষ কোন জামা ব্যবহার করিত না। তাই তার আঁট-সাঁট গাউনটি খোদিত মূর্তির অঙ্গাবরণের মত দেখাইত। কিন্তু মার্কেলে গড়া প্রতিমূর্তির সঙ্গে তার মূর্তির তুলনা হয় না, কারণ তাহাতে যেন প্রাণ মূর্তিমতী হইয়া উঠিত। প্রতি চরণ-ভঙ্গীতে দেহ সৌন্দর্য্য তার ছন্দে ছন্দে বাজিয়া উঠিত, আশ্রায় সঙ্গীত যেন বিশ্ব-স্বরে মূর্ছনা দিয়া যাইত। এমন কমনীয় ছাঁচে তোলা মুখছবি আমি অল্প কোন নারীর দেখি নাই। তাহার বর্ণ ছিল ধবধবে সাদা, কিন্তু সে যেন প্রতি মুহূর্তেই পরি-বর্তনশীল। তাহার বড় বড় গভীর কৃষ্ণবর্ণ চক্ষুঘর সদাই যেন কি জিজ্ঞাসা করিতেছে আর যেন উত্তরের প্রতীক্ষায় রহিয়াছে। লাল ধনুর মত ঠোঁট দুখানি আর শুভ্র দন্ত-পাঁতি শোভিত তার মুখখানি যেন বলিতেছে, ‘বোকা তুমি কি খুঁজিয়া মরিতেছ?’ চুল ভলি ছিল তার রক্তের মত লাল, স্বচ্ছ দেশের নীচে সেই ঘন-কৃষ্ণিত কেশরাশি অনেকদূর পর্যন্ত ছড়াইয়া পড়িয়াছিল। চিবুকের নীচে কৃষ্ণিত কুণ্ডল-গুচ্ছ দু’পাশে এলাইয়া থাকিত। যখন সে এমনি ভাবে থাকিত তখন মনে হইত যেন তার ছিন্ন ঐবার চারিপাশে রক্তের চোট তরকারিত হইয়া রহিয়াছে।’

‘যখন সে বীরে বীরে কথা কহিত, তখন বোধ হইত তাহার স্বর বেশ জড়াইয়া গেল। কিন্তু একবার একটু উচ্ছ্বসিত হইয়া উঠিলে যেন হইত সঙ্গীত যেন চলিয়া

পড়িতেছে। আমার একেবারে মুগ্ধ করিয়া ফেলিত— কারণ সে স্বর আমার নিজের মত। সে যখন কথা কহিত আমি চমকিয়া উঠিতাম—যেন আমি নিজেই কথা বলিতেছি—যখন গান গাইত আমি স্বপ্নে ডুবিয়া থাকিতাম—যেন আমার নিজেরই গান শুনিতেছি।’

কল্পনা-প্রবণ হারেন যে এইরূপ সৌন্দর্য্যশালিনী নারীতে আকৃষ্ট হইবেন ইহাতে আশ্চর্য্য হইবার কিছু নাই। বালিকার নাম ছিল যোশেকা, ডাক নাম ছিল সেকছেন। সেকছেন তাহার বাল্যের অনেক স্মৃতিকথা হারেনকে বলিয়াছিলেন। একটি তার আটবৎসর বয়সের কথা, তখন সেকছেনের পিতামহ জীবিত, সে ছিল জ্ঞানদ। একদিন সন্ধ্যাবেলার জন বার লোক তাহাদের বাড়ী আসিল, প্রায় সকলেই বৃদ্ধ। পরিধানে তাহাদের পুরাতন করাসী পরিচ্ছদ, কোবে তরবারী। এ সব জ্ঞানদদের একটা সম্মিলনী। তাহারা সব ইউরোপের বিভিন্ন প্রদেশ হইতে জড় হইয়াছিল। বহুদিন পরে তাহাদের সাক্ষাৎ তাই বহুক্ষণ পরস্পরের হাতে হাত রাখিল, কিন্তু কথা অল্পই বলিল। অবশেষে তাহারা অপরের চূর্ব্বোধ্য ভাষার কথোপকথন করিতে লাগিল। রাজিতে গৃহ-স্বামী সব যোগাড়-যন্ত্র করিয়া তাহার সহকারী দিগকে অস্ত্র পাঠাইল। তারপর ভৃত্যকে তিন ডজন ভাল মদ আনিবার আদেশ করিল। সেকছেনের উপর টেবিলে রোপ্যপাত্র সাজাইবার ভার পড়িল। সাজান হইয়া গেলে সেকছেনের পিতামহ তাহাকে কর্কশ ভাবে নিজ ক্ষুদ্র কক্ষে বার বন্ধ করিয়া শুইবার আদেশ করিল। বালিকার মনে বড় কোতূহল হইল। সে সত্তর্পণে তাহার কক্ষ হইতে বাহির হইয়া এমন জায়গায় দাঁড়াইল যে স্থান হইতে কিছু শোনা যায় না অথচ সবই দেখা যায়। সকলের আগে তাহার পিতামহ প্রবেশ করিল, তাহার পশ্চাতে আর সকলে আসিয়া একে একে টেবিলের চারি পাশ ঘিরিয়া বসিল। আলো জলিতেছিল, তাহাদের মুখগুলো সব সাদা পাথরের মত শব্দ দেখাইতেছিল। প্রথমে সকলে প্রার্থনা করিল, তাহার এক বর্ণও বোঝা গেল না। পরে সকলে এক রোপ্য পাত্র হইতে পান করিল। পরে গভীর ভাবে হস্তকম্পনে অভিবাচন করিল।



পরে সেকছেনের পিতামহ একটা বক্তৃতা করিল, সেকছেন তাহার কিছুই বুঝিতে পারিল না। বক্তৃতার পরে সব বুড়োর দল কারা সুরু করিল। ঘটনাটি দেখিতে বিশ্বাস-কর কারণ দেখিতে তাহার নিরেট পাখরের মত কঠিন কর্কশ, অথচ শিশুর মত তাহাদের চোখ দিয়া অশ্রু করিতে লাগিল! পরে তাহার সকলেই উঠিয়া তরবারী হাতে লইয়া অশ্রাবরণ খুলিয়া সেকছেনের পিতামহের সঙ্গে বাহির হইয়া পড়িল। একটা গাছের নীচে আসিয়া কোদালী দিয়া একজনে একটা গর্ত খুঁড়িল, সেকছেনের পিতামহ একটা বাঁধা জিনিস গর্তে ফেলিয়া দিয়া গর্ত বন্ধ করিতে লাগিল।

নিশীথে এই কবর দেওয়ার কাণ্ড দেখিয়া সেকছেনের বড় ভয় হইল, সে পলাইয়া তাহার ঘরে ঢুকিল। পরদিন সকলেই তাহার স্বপ্ন বলিয়া মনে হইতে লাগিল, কিন্তু যখন সে গাছের নীচে মাটি দেখিল তখন সব সত্য বিবাস হইল। পাঁচ বৎসর পরে সেকছেন একথা প্রথম প্রকাশ করে। সেকছেনের দিদিমা ইহাতে ভীত হইবার লোক ছিল না, সে বরঞ্চ একথা শুনিয়া ভারী খুসী হইয়াছিল। সে ইহার এইরূপ ব্যাখ্যা করিয়াছিল—গর্তে হেলে, বিড়াল কিম্বা ধনরত্ন রাখা হয় নাই। তাহার পিতামহের তরবারী বাহাধারা শতশত অপরাধীর মন্তক ছেদিত হইয়াছে তাহাই এই গর্তে রাখা হইয়াছিল। জ্ঞানীদের নিয়ম ছিল এক তরবারি দ্বারা শত অপরাধীর মন্তক বিচ্যুত হইলে আর তাহা ব্যবহার করা বা নিকটে রাখা নিষেধ। কারণ তখন তরবারীর মধ্যেও একটা আত্ম-বোধ আসে এবং সে শান্তি চায়। সেই গ্রামেই ডাইনী তরবারী তুলিয়া তার অপরাধের তাকতুকের জিনিসের মধ্যে তুলিয়া রাখে।

সেকছেন হায়েনের কাছে যে সমস্ত গান গাইয়াছিল স্রীর মধ্যে ছুটি মাত্র হায়েনের মনে ছিল। হায়েন এগুলি কোন পুরাতন সংগ্রহের মধ্যে খুঁজিয়া পান নাই।

এই সময় তাঁহার উভয়েই মানবত্বের ও নারীত্বের উপকণ্ঠে আসিয়া দণ্ডায়মান হইয়াছিলেন। একদিন সেকছেন একটি গান গাইতেছিলেন, গানটির শেষ পদ গাইবার সময় উচ্ছ্বাসে কিভাবে তাহার কণ্ঠ রোধ হইয়া

আসিতেছিল, হায়েন তাহা লক্ষ্য করিয়া হঠাৎ কান্নিয়া ফেলিলেন। ছ'জনে ছ'জন্যর বাহপাশে বদ্ধ হইলেন। এই তাহাদের প্রেমের প্রথম উচ্ছ্বাস, হায়েন তাহাকে গান ছুটি লিখিয়া দিতে বলিলেন, সেকছেন বলিলেন—‘লিখে দেব, কিন্তু কালী দিয়ে নয়।’ তখনই তরবারী দিয়া তাহার হাত হইতে রক্ত বাহির করিয়া সেই রক্তে গান লেখা হইল। হায়েন তখন তাহাকে পিতামহের তরবারী খানা দেখাইতে বলিলেন। সেকছেন সেই রক্ত তরবারী বাহির করিয়া শুভ্র স্তপোল বাহতে ধরিয়া গাইতে লাগিলেন :—

“Say will you hang on lofty tree.

That is a guerdon from the Lord.”

এই কথার উত্তরে হায়েন সেকছেনের পাশে চাহিয়া বলিলেন :—

‘I will not kiss the naked sword, but I will kiss Red Sefchen.’

এইরূপে উভয়ের মিলন সজ্জাটি হইল।

কতদিন এই প্রেম-ব্যাপার চলিয়াছিল সে বিষয়ে বিশেষ কিছু জানা যায় না। সেদিন তাঁহার পুস্তকের যে সংস্করণ বাহির হইয়াছে তাহার সম্পাদক গোস্তাভ কার্পেলনও কবির কথার উপর নূতন কিছু বলিতে পারেন নাই। বাহা হোক সেকছেনকে আজীবন তিনি ভালবাসিয়াছেন। তাহার প্রভাব আজীবন কবির উপর ছিল, তাহার স্মৃতি ও পল্লীকাহিনী হায়েনের অনেক গীতি-কবিতাতেই প্রস্ফুট। যত উচ্চ কল্পনার তাঁহার কবিতা উঠিয়াছে তাহার অধিকাংশই সেকছেনের জন্ত অথবা তাহার স্মৃতির প্রভাবে। আশ্রয় এই কবিতা-গুলির নাম করিতে পারি :—

“A Dream of fearful Mystery”. ‘Head-long madness stirs my blood,’ ‘I came from the house of my mistress.’

প্রথম চূষন-স্মৃতিতে তিনি লিখিয়াছেন :—

“In that moment there flared up in me one of the first flames of these two passions to which my later life has been devoted, the



love of fair woman and the love of the French Revolution, with which I was also seized in the struggle with the feudal landlords. I kissed her in scorn of society and of all its gloomy prejudices."

হায়েনের অপরাপর প্রেম-ব্যাপার বর্ণনা করিতে

পেলে শতপৃষ্ঠায়ও কুলাইবে না। কিন্তু জীবন-সারাহুও তিনি এই প্রথম প্রেমের স্বপনকেই বেশী ভাবে আঁকড়িয়া ধরিয়াছিলেন।

হায়েনের কবি-জীবনের চেয়ে তাহার প্রেম জীবনের আলোচনাই অধিক করিলাম। বারাস্তরে তাহার কবি-প্রতিভার আলোচনা করিবার প্রয়াস পাইব।

\* শ্রীজ্ঞানেন্দ্রনাথ চক্রবর্তী

## স্মৃতির স্বপন।

অস্তর বাহির যোর পূর্ণ করি তুমি একদিন  
ছিলে হেথা প্রেম-রাণী, তোমা মাঝে হইয়ে বিলীন  
করিতেছিলাম পান তৃষ্ণাতুর হৃদয় ভরিয়া  
ত্রিলোক বাহিত কিবা অফুরন্ত অপূর্ণ অমিয়া!

ছিল আশা প্রাণে প্রাণে জন্ম জন্ম এমনি আমার  
বসন্তের বার্তা বহি' কেটে বাবে পুলকে অপার!  
কে জানিত নিদাঘের বিষদাহী তপ্ত বিষখাস  
মোর কণ্ঠ ফুলমালা অকস্মাৎ করিবে গো গ্রাস!

নিত্য নব গান রচি' কি আনন্দে তোমায়ে সজনী,  
একান্তে বসিয়া সদা শুনাতিম দিবস রজনী;  
বরষিত মধু বুঝি! স্মিতহাসি-কটাক তোমার  
আয়হারা ভক্তে তব দিবে যেত দ্বিবা পুরস্কার।

তুমি আজ বিষ্বাতীতা, হায় দেবী, তোমার সকলি  
স্মৃতির স্বপন মোর—মরমের শোণিত অঞ্জলি!

শ্রীজীবেন্দ্রকুমার দত্ত।

## মায়ের দান।

১৭ই চৈত্র।—আজ ভোরে অরুণের নিমন্ত্রণ  
পেয়ে ভবানীপুর তাদের বাসায় গিয়েছিলুম। দিনটা  
বেশ আনন্দেই কাটল; কিন্তু কি আশ্চর্য্য এই অরুণ,  
সারা দিন রাত আছে শুধু ক্ষুণ্ণ আর আবেদন নিয়ে।  
ছুৎ কষ্ট দূরে থাক—চিন্তা ভাবনার রেখাটিও বুঝি কোন  
দিন তার মনের কোণে দাগ কাটতে পারেনি। ছ'বছর  
ধরে এম্-এ, তে ফেল করলে, কিন্তু কৈ তার মুখে  
এতটুকু আক্ষেপও যদি কোন দিন শুনতুম! তার পর  
পড়া-শুনো? তার সঙ্গে অরুণের আজকাল কিছু  
সম্পর্ক আছে বলে'ত মনে হয় না। ছনিয়ার কারু ভরই

সে রাখেনা। হাসি আর আয়োদেই দিন কাটায়!—  
যাক সে কথা,—বড় মামুদ, ঘরের ভেতর বাল্ল ভরা টাকা,  
আমাদের মত পাশ করে' কেরানীগিরির ভাবনা তো  
আর তাকে ভাবতে হয়না।

২০শে চৈত্র।—হায়রে অদৃষ্ট! আজ জাবার পিসী-  
মার চিঠি এসেছে,—লিখেছেন—'মিনতিকে আর রাখা  
যায় না, লোকে বড় মন্দ বলছে, শীগ্‌গিরই তার বিয়ের  
যোগাড় করতে হবে।' প্রাইভেট টুইলনি করে' মেলের  
ধরচ দিয়ে পড়া চালাচ্ছি, তাই থেকে আবার পিসী-  
মাকেও ধরচ পাঠাতে হয়। ভাগ্যিস অরুণের ছোট



ভাইটীকে পড়াতে গিয়েছি, তাই না পণ্যর টাকার বদলে অস্বাচিত ভাবে পরিশ্রমের ডবল দিয়ে আমার দরিদ্র সংসারটী প্রতিপালিত হয়ে যাচ্ছে ; এর মধ্যে পিসীমা বলেন বোনের বিয়ে দিতে । বরের দল কি টাকা ছাড়া কথা কর ? আর তাই বা যদি কেউ ছাড়ে, বিয়ের খরচা সেইবা আমি কোথায় পাব ? অরুণের কাছে সাহায্য চাইব কি ? ক্ষতি নেই, সে জন্মদার আমি দরিদ্র । তার কাছে ভিক্ষে চাইতে লজ্জা কি ?—কিন্তু ছি, কলকতা এসে অবধি তার সঙ্গে আমার পরিচয়,—তার মত সজদয় বন্ধু পাওয়া ভাগ্যের কথা বটে, কিন্তু ভিক্ষকের মত তার দয়া ভিক্ষে চাইব কি করে ? বোন আজন্ম আইবুড়ো থাকে ক্ষতি নেই ভবুও অত নীচ হ'তে পারব না ।

২৩শে চৈত্র ।—পড়া ছেড়ে দেব ভাবচি, কি করি আরতো উপায় নেই । পিসীমা যে বাস্তব করে' তুললেন দেখছি । আজও তাঁর চিঠি এসেছে । একবার অরুণকে সব কথা খুলে বলবার ইচ্ছে ত ছিল কিন্তু কি জানি সে কি মনে করবে আবার ।

২৭শে চৈত্র ।—নাঃ পড়া বুকি ছাড়া হল না । আজ আবার আবার ছাত্র গ্রন্থের জন্মদিন উপলক্ষে অরুণ এসে জোর করে' তাঁদের বাড়ী নিয়ে গিয়েছিল । তার কি একটা শক্তি—কোন মতে তাকে কিছু গোপন করবার যো' নেই । তার দৃষ্টি যেন একেবারে অন্তরের অন্তস্থলে গিয়ে প্রবেশ করে । কোন কথা লুকোতে পারলুম না, নিজের সব কথাই খুলে বললুম । সে তো হেসেই উড়িয়ে দিলে । তারপর আবার তার মাকে নিয়ে এল । কি সুন্দর রেহময় মূর্তি তাঁর ! ছেলে বেলায় মাকে হারিয়েছি তাই একটা মেহের ক্ষুধায় যেন অন্তরটা শূন্য ছিল কিন্তু আজ এই মাতৃ-মূর্তিতে আমার সমস্ত প্রাণধান্য ভরে উঠেছে । আমার সমস্ত লজ্জা সম্বোধন করে দিয়ে মায়ের মতন কত উপদেশই যে দিলেন, কি মেহ মাথা তাঁর প্রত্যেকটি কথা—আমার তপ্ত প্রাণটা যেন জুড়িয়ে গেছে ।

১লা বৈশাখ ।—আজ নব বর্ষের মিলনানন্দে যোগ দিতে অরুণের বাড়ী গিয়েছিলুম কিন্তু বয়ে নিয়ে এলাম

একটা আকুল আত্মজ্ঞার অতুপ জ্বালা । আজকের এই জন-সমাগমের মধ্যে অরুণদের পরিবারের ভেতরেই যে এমন একটা নূতন আলো এক সঙ্গে আমার চক্ষু মন বাঁধিয়ে দেবে আগেতো তা ভাবিনি । যদি আগে জানতুম তার সঙ্গে দেখা হ'লে এমন একটা অস্বস্তি বৃকে নিয়ে কিরতে হবে তবে বুকি অরুণের মত অনুরোধ উপেক্ষা করেও ফিরে আসতুম । অরুণ তার আনন্দের ভাগ দেবার জন্যেই তার বন্ধু হিমাদেবীর সঙ্গে আমার আলাপ করিয়ে দিলে, কিন্তু যদি সে বৃকত আনন্দের বদলে জহরতের উজ্জ্বল আলোক দরিরের চক্ষে শুধু একটা আত্মজ্ঞার আগুনই জ্বলিয়ে দেয়, তবে বুকি সেও এমনটা করত না । যা এসে বললেন 'পঞ্চল, হিমা আমার মেয়ের মতন । ওর বাপ মা কেউ নেই, ছেলে বেলা থেকে আমিই ওকে মানুষ করছি আর তাই আমার ইচ্ছে বাইরের লোকের কাছে না দিয়ে চিরদিনের জন্য ওকে আমার করেই রাখি । আমার বিশ্বাস তাকে ওরও মঙ্গলই হবে । কেমন ? এতে তুমি কি মনে কর ?' আমিও হেসে খুব গোপনেই তাতে সায় দিয়ে এলুম কিন্তু আমার মনটাও সেই সঙ্গে সায় দিয়েছিল কি ?

৬ই বৈশাখ ।—মার ও অরুণের একান্ত অনুরোধে পড়েই ক'দিন ধরে তাঁদের বাসায় আশ্রয় নিয়েছি । কত স্বস্তি, কত আদর পাচ্ছি । হাস্যরে ! আমার মত হতভাগ্যের পক্ষে এ যে স্বর্গস্থল ।

১০ই বৈশাখ ।—কালের মধ্যে আমার কাজ তো শুধু গ্রন্থনকে পড়ানো । অরুণের যেন তাও ভাল লাগছে না । সে আমাকে ঠিক তারই মত করে তাঁদের পরিবারের একজন করে রাখতে চায় । আমি তাকে বললুম 'ভাই ! মাতৃহীনকে মায়ের ভাগ দিয়েছ, আমি দরিদ্র তুমি আমার আশ্রয় দিয়েছ, আর যা দিচ্ছ তার তো তুলনা নেই । এর বেশী আর কি মানুষ চাইতে পারে ?' আমার কথা শুনে সে তো হেসেই আকুল । হাসিটা যেন তার রোগ, বলে 'ধামো ভাই ! তোমার বন্ধুতার হাত থেকে আমার বাঁচাও । তুমি আমার মাকে যা বলছ, তবে মায়ের দান যা কিছু গ্রহণ কর্তব্য এত



সকোচ কেন? কেবল ওরকম বখাষী করলে কিন্তু মা'র কাছে অভিযোগ হবে, তখন বিচারে যে আমিই ডিক্রী পাব তা বোধ হয় বুঝতেই পাচ্ছি।" আমিও নিরীক। তার কাছে বেশী কথা কইতে গেলে সে আমাকে একেবারেই চুপ করিয়ে দেয়।

১০ বৈশাখ।—আচ্ছা, অরুণ তো আমার অন্তরঙ্গ বন্ধু কেনেই সব কথা আমার কাছে তেলে দেয়, এত-টুকুও কপটতা নেই। তার স্বভাব সরল মনটি যেন শিশুর মতই স্নান্দর, আমার প্রতি তার অগাধ ভালবাসা, অসীম বিশ্বাস। কিন্তু আমি ভাবছি আমি কি তার যোগ্য? আমি যে মনে মনে কত বড় বিশ্বাসঘাতক সেতো তা' জ্ঞানও জানতে পারেনি। বিবাহের বলে আজ বোর্ডিং থেকে হিমাদেবী এসেছিলেন, তার সঙ্গে গল্প করতে গিয়ে আমার সামনে আমার নামেই অভিযোগ। 'কেন বাপু! তোমাদের আশ্রিত হ'য়ে এককোণে পড়ে' আছি আমি, আমার টেনে নিয়ে জত করে লজ্জা দিবার তোমার কি দরকার ছিল? কি ভাবলেন উনি? হয়ত আমার প্রতি একটা বিরাট দ্বন্দ্ব তার মনে জেগে উঠেছিল। কিন্তু কৈ? তার ঐ স্নান্দর চোখ দুটির মধ্যে তেমন ভাব তো দেখেনি না। আমার ওরকম লজ্জিত দেখে তার দৃষ্টিতে যেন একটা করুণ ভাবই ফুটে উঠেছিল। লক্ষ্য করলুম হাসিটিও বড় রান। কিন্তু ওগো আমি কি তোমার যোগ্য? আমি যে বড় অধম। তোমার কাছে যে আমি কত নীচ সে কি তুমি বুঝে দেখেছ? অমন করে আর কখনও আমার পানে চেয়েনা, বেশী দয়া তো সহ হবে না।

১৬ই বৈশাখ।—দুদিন ধরে' ভাল করে প্রহ্ননকে পড়াতেও পারিছিনে, মনটা যেন তাঁর জালায় অহর্নিশ জ্বলছে। কোন মতেই শান্তি পাচ্ছিনে। প্রহ্নন গিয়ে থাকে কি বলেছে, যা এসে গারে মাথায় হাত বুলিয়ে কত কথাই জিজ্ঞেস করলেন। তাঁকে বললুম 'বোনের বিয়ের চিন্তায় মনটা ভাল নেই।' তিনি অশ্রুি আশ্রাস দিয়ে বললেন—'কোন ভাবনা নেই বাবা। তুমি শুধু একটি ভাল বয়ের সন্ধান কর, তাঁকার এক আটকাবে না।'

তার পায়ের ধুলো মাথায় নিয়ে আমি নিরীক হ'য়ে দাঁড়িয়ে রইলুম। হা ভগবান! এত মেহের প্রতিদান আমি কি দেব?

২৫শে বৈশাখ।—ওগো! একি করলে তুমি? কেন আমার সহানুভূতি দেখালে? তুমি যে দেখছি আমার পাগল করে দেবে। অরুণ যে আমার বন্ধু, এতদিন তো তাকে অকৃত্রিম ভালইবেসেছি এখনো বাসি হয়ত। কিন্তু তার সেই ভাগ্য দেখে যে আজ হিংসে হচ্ছে। সে তো 'বিজ্ঞে বুদ্ধি কিছুতে আমার বেশী নয়, তবু সে আমার অনেক উঁচুতে। আমি দরিদ্র, সে রাজা, আমি ভিক্ষুক, সে দাতা। আর হিমা? তুমি তার ভাবীপত্নী, কিছুদিন পর তুমি তার সুখ-সৌভাগ্য চতুর্ভুগ বৃদ্ধি করে রাজরাজী হবে তখন তুমিই বা এই দরিদ্র ভিক্ষুককে কি চোখে দেখবে কে জানে? কিন্তু তবে তুমি আজ আমার পানে অমন করে' চাইলে কেন?—কেন এমন মেহ-করুণায় বুলে—তোমার আর আমার অবস্থা প্রায় একই রকম।' অরুণ হেসেই কথাটা উড়িয়ে দিয়ে বললে—'আর আমি?' হিমা বললে—'তুমি অরুণদা, তুমি আমাদের অনেক উঁচুতে।' অরুণ আবার হেসে উঠল 'বটে। আমিই বুঝি এর দলছাড়া হ'য়ে পড়লুম? আচ্ছা রে'সো—আমি নাকে ডেকে এলুমি সব বীমাংসা করে নিচ্ছি? সে হয়ত ভেবেছিল তার হাসির প্রোতে আমাদের সমস্ত বেদনা একেবারে ভেসে যাবে, কিন্তু আমার অশান্ত মনটা যেন তাতে আরো অস্থির হ'য়ে উঠল। কোন মতে তার কাছ থেকে দূরে চলে নিয়ে আঁককের লত বেঁচেছি।

২৩শে বৈশাখ।—মার কাছে বুঝি সব প্রকাশ হ'য়েই পড়ে। অরুণ যে পাগল করে তুললে দেখছি। আমি জানি অরুণ হিমাকে ভালবাসে। আমার এমন হৃৎসাহ-সের কথা জানতে পারলে মা কি আমার ক্ষমা করবেন? শুনলুম দুদিন ধরে হিমার শরীর অস্থির। কিন্তু কাছে গিয়ে দেখে আসতে সাহস হয় না। কি জানি যদি মনের লুকোনো কথা তার কাছে প্রকাশ হয়ে পড়ে। তার চোখের দৃষ্টি টুকুর কাছে আমি আত্ম সন্মরণ করতে



পারিনে। ওই করুণ মহামুভূতিপূর্ণ হাসি টুকু আমার মাভাল করে তোলে।

২৬শে বৈশাখ।—ছি ছি, একি স্থল! মা, তুমি একি করলে এবে আমি ভাবতেও পারিনে। হিমার এ যে বড় অস্তায়। দু'দিন বাদে ছেলের বৌ করবেন, তাঁর এত আশা হিমা সব ভেঙে দিলে। কি করে সে এমন কথা মাকে জানালে। মা আমার ডেকে বললেন—‘পঞ্চক, আজ আমি বড় একটা ভুলের হাত থেকে রক্ষা পেয়েছি। হিমাই আমার এবার বাঁচিয়েছে। নইলে এই ভুলের প্রায়শ্চিত্ত সারা জীবনেও আমার হতো না। যাক, এখন তুমি তোমার পিসীমা আর বোনকে লিখে দাও আমার হিমাকে আমি তোমায় দিচ্ছি। লজ্জিটি। এতে অমত কোর না বাবা? শুনে আমি স্তম্ভিত হয়ে গেলুম, বললুম ‘না মা—এ কখনও হতে পারেনা। এত বড় অর্থ আমি হতে পারবনা,—আর তা ছাড়া অরুণের বন্ধুত্বই আমি চাই, তার বেশী আর কিছু আমার প্রার্থনীয় নয়।’ আমার মাথার হাত বুলিয়ে তিনি বললেন ‘অরুণকে আমি জানি বাবা, সে তোমার আলস্যের বন্ধু হ’য়েই রইবে। আমি তার মা তাই আজ তোমারও মা। তাকে আমি সব বলছি, সে হয়ত নিজেই তোমায় একথা জানা’ত কিন্তু ক’দিন ধরে শরীরটোও তার ভাল নেই তাই কোথায় বেড়াতে গেছে।’ এখন বুঝলুম কেন অরুণ দু’দিন ধরে আমার সঙ্গে দেখা করেনি’ বেড়াতে যাবার সময় আমার সঙ্গে ডাকেনি। কিন্তু মা! তুমি মা হ’য়ে ঐ শিশুর মত সরল—যে তার সবুজ ময়লাময়লা একান্তে তোমার হাতে সঁপে দিয়ে নিশ্চিন্ত রয়েছে সেই ছেলের মনে এমন বেদন দেবে? ঠিক এই কি তোমার কর্তব্য? এমন সময় অরুণ এসে মাকে প্রণাম করে বললে ‘এই দেখ মা, আজ আমি সেবা-সমিতিতে নাম লিখিয়ে এলাম। তুমি শুধু বল আমি কাজের ছেলে নই, এই দেখবে এবার একেবারে মজা কাজের লোক হ’য়ে দেখে কিরব, বুঝলে মা?’ মার মুখপানে চেয়ে সে হেসে উঠল। কি সরল আনন্দময় সে হাসি। এত-টুকু বিষাদের লেশ মাত্রও তাতে নেই। আমিও মাকে

প্রণাম করে বললুম ‘মা, আমার তুমি ক্ষমা কর।’ মা কিছু বলবার আগেই অরুণ হাসতে হাসতে আমার হাত ধরে’ টেনে বাইরে নিয়ে গেল, আর কিছু বলা হল না।

২৮শে বৈশাখ।—কি যে করি ভেবেই পাইনে। মা তো ব্যস্ত করে’ তুলেছেন। কদিন ধরে’ অরুণও বাসায় নেই, সেবা-সমিতির সেবকদের সঙ্গে কোথায় যেন গিয়েছে। আজ ভোরে তার চিঠি পেয়েছি, লিখেছে—‘তাই, এই নূতন কাজে ত্রুটি হ’তে পেরে মনে মা’ আনন্দ পাচ্ছি সে আর কি লিখব? মা যে এমন একটা আনন্দের মধ্যে আমার এনে দেবেন আগে তা’ বুঝতে না পেরে সত্যিই মনে বেদনা অনুভব করেছিলুম, কিন্তু আজ বুঝেছি আমি একটা সুন্দর কুল দেখে কাঁটাঘনের ভেতর ঢুকে মরতে গিয়েছিলুম অমনি মা এসে আমার একটু আশ্বাস করেই একটা সুন্দর অনাবিল বন্ধু আলোকের মধ্যে নিয়ে এলেন। তাই তোমার কাছেও আমার অনুরোধ মা’র কথা অবহেলা ক’রো না। আমি সব সইতে পারি কিন্তু আমার মা’র অপমান সইব না বুঝলে। মা’র অব্যর্থ হ’লে তোমার সঙ্গে আমার জন্মের মত আড়ি।’ আমি অবাক হ’য়ে ভাবলুম সেই আনন্দ-প্রিয় সুখ-প্রয়াসী অরুণ কেমন করে’ মায়ের কাছে আত্মসমর্পণ করেছে, কিন্তু আমিই কি আর এমন হ’তে পারিনে।

২৯শে বৈশাখ।—মাকে চিঠি লিখে গ্রন্থনকে দিয়ে পাঠিয়ে দিলুম। লিখেছি—মা, অপরাধ মার্জনা ক’রো। আশীর্বাদ কর যেন তোমার ছেলের উপযুক্ত হ’তে পারি। এবিয়ে তো আমি কিছুতেই কর্তৃত্ব পারিনে বিশেষ আমার বোনটি এখনও অবিবাহিত। তার বিয়ের চেষ্টাই কর্তৃত্ব হবে আমাকে আগে। দেখি মা কি জবাব দেন।

২রা জ্যৈষ্ঠ।—খবরের কাগজে বেড়িয়েছে অরুণের অসীম সাহসের কথা। কেমন অমিত বলে সে একজন শুভার হাত থেকে দুটি অসহায় রমণীকে রক্ষা করেছে। শত শত লোকের ধন্যবাদ আজ তার মাথার পুষ্পাঙ্কিত করছে। পড়ে আনন্দও হচ্ছিল যখন লজ্জাও ভতখানি



এসে বুকটা অধিকার করেছিল। মার মুখের শাস্ত জ্যোতিঃটীর মধ্যে আক বেন একটা ঔজ্জ্বল্য ফুটে উঠেছে। হিমাও খুব জোর করেই বলতে গেল 'দেখুন পক্ষজ বাবু! অরুণকে ছেলেবেলা থেকেই জানি সে যে খুব একটা কাজের লোকই হবে সেটাও একেবারে নিশ্চয়।' কিন্তু কথার শেষে মা'র মুখপানে তাকিয়ে তারও মুখখানি লজ্জায় নত হয়ে গেল।

৮ই জ্যৈষ্ঠ।—আজ অরুণ এসেছে। বাড়ীময় একটা আনন্দের সাড়া পড়ে গেছে। সে যখন বিজয়ী বীরের মত এসে মা'র পায়ে প্রণাম করে বললে—'মা, এতদিন তোমার কাছ ছাড়া থেকে কত বীরত্ব প্রকাশ করে এলাম তার পুরস্কার আমায় তুমি কি দেবে বলত?' স্নিগ্ধোজ্জল গাঙ্গি হেসে মা তার শিরঃশূন্যন করে 'অশ্রু-সজল চক্ষে বললেন 'ওরে সে একটা খুব বড় রকম পুরস্কারই তোকে আমি দেব, কিন্তু তার আগে হিমার বিয়ের যোগাড় করতে হবে।' আমার পানে তাকিয়ে বললেন 'আর বুঝলে পক্ষজ! তোমার বোনকে আনতে আমি লোক পাঠিয়েছি, শীগ্গরই সে এসে পৌঁছুবে বোধ হয়। শুনে আমি আশ্চর্য্য হ'য়ে গেলুম।

১০ই জ্যৈষ্ঠ।—মিহু এসেছে, বুকেছি মা আমার চিঠির জবাব এইবার একটা কিছু দেবেন। কিন্তু কি যে দেবেন তাই ভাবছি। এদিকে তো বাড়ীময় বিয়ের সাড়া পড়ে গেছে। প্রহসনও পড়তে আসে না, কি করেই যে সন্ধ্যাটা কাটাই। অরুণ তো আছে কাজ নিয়ে ব্যস্ত।

১৫ই জ্যৈষ্ঠ। আমার বিয়ে তো হ'ল। এতদিনের আকুল আকাঙ্ক্ষা পূর্ণ হ'ল কিন্তু মনে ভূগুণি পেলাম কি? ভাল করে' অরুণের মুখের দিকে তাকিয়ে কথা কইতে পারিনে। সেদিন যখন সকলের আশীর্বাদ শেষ হ'য়ে গেল, অরুণ এসে একটা আংটা আমার হাতে পরিয়ে দিলে বললে 'তাই, আজ তুমি যে রত্ন লাভ করলে তার কাছে আমার উপহার

নেহাৎ অযোগ্য হ'লেও বছর দান তোমার কাছে উপেক্ষিত হবে না জানি, তাই এই স্মৃতি চিহ্নটি দিতে এসেছি।' লজ্জায় আমি একটাও কথা কইতে পারলুম না, শুধু তার স্নেহ-শীতল হাতখানি চেপে ধরলুম। হায়রে! এত দয়া, এত আত্মত্যাগের প্রতিদান যে জীবন বিনিময়েও হয় না।

২৪শে জ্যৈষ্ঠ।—হাঁ ভগবান! অমুশোচনায়, লজ্জায় আজ বেন জগতের আড়ালে লুকিয়ে যেতে ইচ্ছে করছে। বোনের বিয়ের জন্য সামান্য ভিক্ষে করতে সন্ধ্যা হ'চ্ছিল, আর আজ? হিমা যখন কথায় কথায় আজ মিহুর কথা তুললে অমনি মা যেন কি ভেবে অকস্মাৎ অত লোকের মধ্যেই বললেন—'তোর পুরস্কার যে আজও দেওয়া হয়নি অরুণ, হা' মনে আছে তো! দেখ, কি অমূল্য রত্নই আমি তোর জন্য এনেছি।' মিহুর হাত ধরে এনে তিনি অরুণের সামনে দাঁড়ালেন। প্রথমটা একটু বিস্মিত একটু স্তম্ভিত হ'য়েই অরুণ যেন সরে দাঁড়াল। হঠাৎ তার হান্তোৎক্লেশ মুখখানির ওপর কিসের যেন একটা ছায়া পড়ে গেল। তার মাথার হাত রেখে মা ডাকলেন 'অরুণ!' অরুণ নত হ'য়ে মা'র পায়ে হাত রেখে ধীরে ধীরে বললে 'মা, আমি তো কখনও তোমার অবাধ্য হইনি, আজও হ'তে পারব না। তুমি আমায় আশীর্বাদ কর।' কথা কইতে তার গলার স্বর কাঁপছিল। আমি আর থাকতে পারলুম তা। তার হাত ধরে' বললুম 'তার আগে ভেবে দেখ তাই তুমি সুখী হবে তো?' মিহু হেসে সে বললে 'সে কি ভাই, অসুখী হব কিসে?' এ যে আমার মায়ের দান। তার আশীর্বাদ মাথায় নিয়ে, তাঁর দান আমি হাসিমুখে বুকে তুলে নেব।' আমার অবশ হাতখানি ধরে টেনে সে আমায় বাইরে নিয়ে গেল।



## যাত্রা

বাদল রাতি নিকষ-ঘন কালো,  
আঁধার-গেহ নিবেছে সব আলো ।—  
মন ছিল না কোনই কাষে  
বসেছিলাম তাদের মাঝে,  
একটা সঙ্কল করুণ দিষ্টি আগছিল যে ভালো ;  
চেয়ে দেখি আর বেলা নাই ডুবল দিনের আলো ।

গ্রাম ছেড়ে এই বিজন দূর বনে  
আজকে দেখা হবে বা কার সনে ।  
শুকনো পাতার মর-মর  
পরাণ কাঁপে ধর ধর,  
উতল হাওয়া কাঁদে আকুল মেঘের গরজনে,  
গ্রামের রেখা মিলিয়ে গেল বিজন দূর বনে ।

যাত্রা আমার কেন্ যে সকাল বেলা,  
কোন লগনে ভাসিয়ে ছিলাম ভেলা ;  
ছায়া শীতল পন্নী বাটে  
সুদূর ঐ শ্রামণ মাঠে

ভেবেছিলাম দণ্ডদ্বয়ক দেখব তাদের মেলা,  
অশ্রুহাসির মাঝখানে মোর কাটল সকাল বেলা ।

সাঁজের মেঘে বনিয়ে এল বারি,  
ভাঙল মেলা ধরল তারা পাড়ি ;  
বোকাই তাদের তরীর 'পরে  
স্থান ছিলনা আমার ভরে,  
চেউয়ের পরে পাল ভরে ঐ ছুটুপ নায়ের সারি ;  
জীব ভেলা রইল পরে কখন বা সেই পাড়ি ।

শ্রাওন ধারার বরঝরাপি গানে—  
কতই কথা আগিয়ে তোলে গ্রাণে,  
অশ্রু হাসির বেচা কেনা,  
কাজের দিনে পাওনা দেনা,  
আমার তরী বোকাই হ'ল তোমার দুখের দানে  
গ্রাণের সাড়া পেলেম আজি বাদল ধারার গানে ।

শ্রীনেপালচন্দ্র চক্রবর্তী ।

## সাহিত্যিক-পত্র ।

( স্বর্গীয় রায় বাহাদুর কালীপ্রসন্ন ঘোষ বিজ্ঞানাগর,  
সি-আই-ই, মহোদয়ের নিকট লিখিত । তদীয় পৌত্র  
শ্রীযুক্ত ত্রিপতিপ্রসন্ন ঘোষ মহাশয়ের নিকট প্রাপ্ত । )

শ্রীযুক্ত অন্ততলাল বসুর পত্র ।

শ্রীশ্রীহর্গা সহায় ।

প্রজ্ঞানন্দ কালীপ্রসন্ন বাবু—

আপনার বাড়ীর বিপদের কথা শুনিয়া সান্ত্বিত  
দুঃখিত হইলাম, সন্তানগণের পীড়ার দ্বারা আমি  
মিলে জালাতন হইরাছি সুতরাং আপনার মানসিক  
কষ্ট মনের সঙ্গে অনুভব করিতে পারিতেছি । কাল  
লক্ষ্যার সময় হইতে নিজের একটু অর বোধ হইরাছে,

নিকটে পুরাতন অরে লক্ষ্যরিত দুইটা ছোট পুত্র রহিয়াছে  
কি করিব কষ্ট ভোগেও ঈশ্বরের গৃহ ইষ্ট অভিপ্রায়  
অনেক বার মিলাইয়া পাইরাছি, তাই Thy will be  
done দয়াময়ের চরণে নিবেদন করিয়া কতদিনে এই  
কর্মক্ষেত্রের apprentice পিরির মেঘদাদ দুর্গাইবে পণনা  
করিতেছি । আমার বোধ হয় পরোপকার পার্শ্বিক বর্ষ  
কর্মের শ্রেষ্ঠ, “দীননাথ” অপেক্ষা শ্রীভগবানের মধুর নাম  
আমি জানি না,তোষামোদ শিষ্টাচারের কথা নয়,আপনার  
এই কালীপ্রসন্ন ঘোষ-জীবন পরোপকারের লক্ষ্য—  
আকাশ বর্ষণে জলধি হৃদয়েও জলসঞ্চয়ের প্রয়োজন  
হয়—আপনার করুণাপূর্ণ হৃদয়ও তাই সদা আর্দ্র রাখিব



জন্ত বোধ হয় সংসারে একটা না একটা করুণ কাব্যের অভিনয় মধ্যে মধ্যে হইয়া থাকে। দুঃখ-শোক ক্লেশ-দায়ক বটে কিন্তু বুঝি একেবারে অপ্রিয় বা অভ্যাজ্য নয়, তা না হইলে সহস্র সহস্র লোকে অর্থ দিয়া কেন tragedy দেখিয়া চক্ষের জল ফেলিতে আসে ?

প্রথম যে করখানি পুস্তক পাঠাইয়াছি তাহা ভাষা সংশোধনার্থ আমার নিজের প্রয়োজনে, পরে শ্রীযুক্ত রাজা বাহাদুরের, মহাশয়ের ও সভার পুস্তক একত্রে ৪ সেট পাঠাইয়াছি।

\* \* \*

একটি মুখনল প্রস্তুত করাইয়া পাঠাইতেছি। সদয় হইয়া স্রবণার্থ সহচর করিয়া রাখিলে সাতিশয় সুখী হইব। ইতি ১০ই ফাল্গুন ১৩০১।

স্নেহপ্রার্থী—অমৃত

৬ কৃষ্ণচন্দ্র দেব শর্ম্মার পত্র

( ভূতপূর্ব বঙ্গবাসী-সম্পাদক )

বৈদ্যনাথ—দেওঘর।

পরম শুভানীর্বাদ প্রীতিপূর্বক নিবেদন—

দাদা মহাশয়, কল্যাণ আপনাকে এক পত্র লিখিয়াছি। পরে অস্ত্র আপনার ঘেহ-ভালবাসাপূর্ণ একখানি পত্র পাইলাম। যখন আপনার অকৃত্রিম মেহের কথা স্রবণ করি তখন কি লিখিব ভাবিয়া পাই না। আপনি বোধ করি এতদিনে বৃষ্টিতে পারিয়াছেন যে প্রাণের প্রদ্বা ও ভালবাসা কুটিয়া বলা আমার অভ্যস্ত নহে। তাই আমি আপনাকে তেমন করিয়া পত্র লিখিতে পারি না। বলা বাহুল্য আমি আপনার প্রীতির আকর্ষণে আকৃষ্ট হইয়া সদাই প্রীতি-প্রসূর থাকি।

পূর্ববঙ্গের শিল্প সম্বন্ধে আপনার প্রবন্ধ বড়ই প্রীতিপ্রদ হইয়াছে। আমার যে হইয়াছে, তাহা বলিবার প্রয়োজন নাই, অধিকন্তু যে উঁহা পড়িয়াছে, সেই দশমুখে তাহার প্রশংসা করিয়াছে। দেশীয় শিল্প-সাহিত্যের চর্চ্চাই বঙ্গবাসীর প্রাণের চেষ্টা। বলা বাহুল্য এ প্রবন্ধ বঙ্গবাসীর প্রাণেই প্রাণ ঢালিয়া দিয়াছে।

“ঢাকাপ্রকাশের” শ্রীযুক্ত গুরুগঙ্গা আইচ, তাঁহার প্রণীত একখানি “নিদর্শন” বঙ্গবাসীতে সমালোচনার জন্য আমাকে পাঠাইয়াছেন। সে খানি কি পাঠাইব ? আপনিও একখানি অবগত পাইয়াছেন বলিয়া, তাহা আজিও পাঠাই নাই। আইচ মহাশয় আমাকে যে পত্র লিখিয়াছেন, তাহা এই সঙ্গে পাঠাইলাম। আপনি সুবিধা এবং সাবকাশ মত “নিদর্শনের” বাহা হয় একটা কিছু করিয়া দিবেন। আইচ মহাশয় আপনার অমুগত বলিয়াই আমার ধারণা।

শ্রীযুক্ত যোগেন্দ্রনাথ বসুকে আপনি যে পত্র লিখিয়া ছিলেন, তাহা পাঠাইলাম। যেরূপ ভাল বিবেচনা করেন করিয়া দিবেন। মাইকেল চরিতের ২য় সংস্করণ অতি দ্রুতবেগে মুদ্রিত হইতেছে। মাইকেল সম্বন্ধে আপনি বাহা জানেন, তাঁহাকে একটু সম্বরে লিখিবেন।

শ্রীযুক্ত রাজনারায়ণ বসু মহাশয় অতি সুন্দর লোক। তাঁহার সহিত আলাপ করিলে প্রকৃতই আনন্দ লাভ হয়। হিন্দু ধর্ম্মশাস্ত্রের প্রতি তাঁহার প্রগাঢ় ভক্তি ও শ্রদ্ধা। আমি দুই তিন দিন তাঁহার ওখানে গিয়াছি। আপনার কথাও বলিয়াছি। তিনিও একদিন আমার বাসায় আসিয়াছিলেন। বার্লুকোর দরুণ তিনি ক্রমে হীনবল হইয়া পড়িতেছেন। তাঁহার মতন অভিজ্ঞ লোক আজকাল ভুলভ। আমরা একরূপ ভাল আছি। \*

\* \* ইতি সন ১৩০১। ৭ই ভাদ্র।

দেহামুগত অমৃত

কৃষ্ণচন্দ্র দেব শর্ম্মা।



## অক্ষয়ের গান

তোমার কণ্ঠে যেই সুর বাজে নিশিদিন

কেমনে লভিব তার ?

আমার কণ্ঠ চিরকুণ্ঠিত দীনহীন

সদা লাগে মরে' যায় ।

আমি—অতি অভাজন চির মূঢ়মতি

নহে এসলা জননী তারতী

তোমার কণ্ঠে বীণাপানি রহি সমাসীন

নিখিলের পূজা পায় ।

মম—আচ্ছ বাচ্ছ করে প্রাণের আকৃতি

মাগে বৃচ্ছ না আকুল কাকুতি

প্রকাশিতে স্বরে আমার কণ্ঠ চিরকীর্ণ

করে উঠে হায় হায় ।

তুমি—গাও সত্য মাঝে আমি গৃহ কোণে

তুমি গাও সুরে আমি গাই মনে ;

আমার কণ্ঠ তব বালাবধু—কৃপাবীম

শুধু মার্জনা চায় ।

শ্রীকালিদাস রায়

— ১ —

## পুস্তক-পরিচয় ।

চির-অপরাধী—( উপভাস ) শ্রীযুক্ত মাণিক-চন্দ্র ভট্টাচার্য্য প্রণীত । ২০১ কর্ণওয়ালিস স্ট্রীট, কলিকাতা হইতে গুরুদাস চট্টোপাধ্যায় এণ্ড সন্স কর্তৃক প্রকাশিত । মূল্য দেড় টাকা ।

কথা সাহিত্যের পাঠক পাঠিকার নিকট মাণিক বাবু সুপরিচিত । তিনি ভারতবর্ষ, ঢাকারিতিউ ও সম্মিলন, মানসী ও মর্ষবাণী প্রভৃতি কাগজে বহু সুখ-পাঠ্য পন্ন লিখিয়া ইতঃপূর্বেই যশস্বী হইয়াছেন ।

“চির-অপরাধী” যখন মানসী ও মর্ষবাণীতে ধারাবাহিক রূপে প্রকাশিত হইতেছিল তখন আমরা যথেষ্ট আগ্রহের সহিত উহা পাঠ করিতাম এবং আজ পুস্তকাকারে সে উপভাস থানা পাইয়া ভূপ্তির সহিত পুনরায় উহা পাঠ করিলাম । মাণিক বাবুর লিখন-ভঙ্গী সহজ ও সুন্দর, ভাষা তটিনীর মত সরস তর বেগে ছুটিয়া বাইতেছে, কোথাও কোন কৃত্রিমতা নাই । ‘ক্রোপদী’, ‘দ্ব্যস্তিক’ প্রভৃতির চিত্র খুবই সজীব হইয়াছে । অব্যাবহিক বা অলৌকিক চিত্র আঁকিবার প্রয়াস মাণিক বাবুর নাই বলিয়াই তাঁহার লেখা সকলের নিকট আকৃত হয় ।

আজকাল অনেক পুস্তকই মা-বোনের হাতে দিতে সাহস হয় না, কিন্তু “চির-অপরাধী” অকুণ্ঠিত চিত্তে সকলকেই পড়িতে দেওয়া বাইতে পারে ;—এদিনে ইহা কম প্রশংসার কথা নহে ।

—শ্রীপতি—

‘ভাষা ও সুর’ । ( কবিতার বই )—শ্রীশ্রী-ভোষ যুগোপাধ্যায়, বি-এ, প্রণীত । ইহাতে ছোট বড় বহু কবিতা প্রকাশিত হইয়াছে ; মনে হয় বেন লেখক যতগুলি কবিতা এ পর্যন্ত রচনা করিয়াছেন তাহার প্রায় সমস্তগুলিই এই পুস্তকে স্থান পাইয়াছে । এতগুলি কবিতা এক সঙ্গে পুস্তকাকারে প্রকাশ না করিয়া লেখক মহাশয় যদি বাছিয়া বাছিয়া কয়েকটি সুন্দর কবিতা সন্নিবেশিত করিতেন, তাহা হইলে পুস্তকের কণ্ঠের বৃদ্ধি না পাইলেও সৌন্দর্য্যটুকু ফুটিয়া উঠিত । কবি, জীবন-মোহনের সুখরূপে বিতোর হইয়া যে কয়েকটি কবিতা লিখিয়াছেন, তাহা মোটের উপর উপভোগ্য হইয়াছে । কিন্তু যখন তিনি,

“কিছু নাই, কিছু নাই

শুধু ছাই, শুধু ছাই,



ছাই হ'য়ে যায় জীবন, যৌবন  
ছাই হ'য়ে যায় মানবের মন,  
ছাই হ'য়ে যায় প্রণয় রতন,  
কৈদে কৈদে ছুটে বাই।—

বলিয়া হা-হতাশ করেন, তখন উহা নিতান্তই  
অসহ্য হইয়া দাঁড়ায়। “সব বাক্” শীর্ষক কবিতাটিতেও  
'বাক্'এর প্রাচুর্য্য একেবারে জাক্ ধরিয়া রহিয়াছে।  
“প্রকৃতির বধ্য দিয়া”—প্রভৃতি কবিতাগুলি ও হরিত্তিক্তি  
বিষয়ক কয়েকটি কবিতা একেবারে বার্থ প্রয়াস।  
তবে লেখকের—দুরহিতে, ‘শিক্ষা’, ‘ভূমিও’, ‘মোহ’,  
‘সাকী’, ‘অপ্নের মত’, ‘দেখিতে দেখিতে’, ‘তবুও’ এবং  
‘উপহার’ ইত্যাদি কয়েকটি কবিতা কবির সম্পদে  
উজ্জল। ‘তবুও’ কবিতাটিই সর্কাপেক্ষা মধুর। এই  
স্থানে কবিতাটির কতকাংশ উদ্ধৃত করিয়া দিলাম।

“তবুও ত একদিন বেসেছিলে ভাল,  
তবুও ত একদিন ঢেলেছিলে আলা  
আমার এ কবি-প্রাণে। তবু একদিন  
সমস্ত উপেক্ষা ঘৃণা পারেনি মলিন  
করিতে তোমার প্রেম। কুৎসা নিন্দা গ্রানি

অকাতরে বুকপেতে লয়েছিলে রাপি,  
আমার লাগিয়া।”

কবি-প্রেমের নির্মল-মাধুর্য্য দেখাইতে গিয়া যখন  
কবি বলিতেছেন,—

“চাহিনা বুঝিতে

ভাল কিম্বা মন্দ ছিলে। চাহিনা জানিতে  
প্রতারণা করেছিলে প্রণয়ের নামে?  
আমি ভালবেসেছিছ, প্রেমে—নহে কামে  
এইটুকু বুঝি শুধু!

প্রেমের নয়নে আমি—কবির নয়নে  
তোমারে বাসিব ভাল জীবনে মরণে।”

তখন উহা স্বদয়ে একটা অনাবিল আনন্দের উৎস  
জাগাইয়া তোলে।

পরিশেষে কবিকে ছন্দের প্রতি বিশেষভাবে অব-  
হিত হইতে অজরোধ করিতেছি। তাঁহার ছন্দের সহজ  
রাগিনীটি মাঝে মাঝেই বাধা প্রাপ্ত হইয়া অনেক স্থানে  
রসভঙ্গ ঘটাইয়াছে।

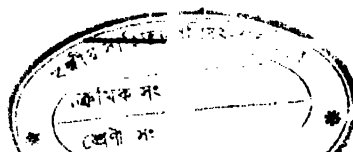
—দীনেশ—

## দীনের ব্যথা

দিনের পরে দিন চলে যায় নাইকো সুখের আশ,  
সন্ধান ভাবেই রোজ জলে ঝাটুছি বারোমাস,  
ধনী তক্ত গড়েই মোদের রক্ত করি ক্ষয়,  
অত্যাচারের দহন-আলায় নয়ন ধারা বয়।  
চলুতে নিতি প্রলয় লীলা মত্ত ভুবন মাঝে,  
হাঙ্গামারের তপ্ত নিশাস্ দিগিদিকে রালে,  
দুগ্ধ বারা তপ্ত কড় নয়কো আপন বলে,  
লুটায় কত ঘৃণা-জীবন তাদের চরণ তলে,

হলাহলের তীব্র-বেদন অনুছে শুধু তার  
রাজার রাজা তোমার প্রজা বাদেক বিচার চায়।  
বড়র সদাই চিত্ত উদার সত্য কিণো তাই  
মিথ্যা সবই মোদের বেলা হুঃখ দরদ নাই।  
চিরন্তনী সুখের পাখা পাইতে শুধুই আসা  
মরণ ব্যাধার দঙ্কহাদি, নাইকো সুখে ভাষা,  
আর কতকাল এমনিভাবে সইগো অপমান,  
জাগতে মোদের দাও শক্তি দয়াল ভগবান।

শ্রীরোজকুমার সেন।





It is requested that all articles intended for publication may be sent to Professor S. N. Bhadra, Nyabazar, Dacca.

All business communications and all complaints regarding non-delivery of the Magazine should be addressed to—

*The Manager, "Dacca Review,"  
5, Nayabazar Road, Dacca.*

*N.B.*—I take this opportunity of expressing our sincere gratitude to the numerous gentlemen of light and leading who have encouraged us in this venture, either by the assurance of their warm and sympathetic support or by offering to contribute to this Magazine. Among other we may mention the names of:—

- The Hon'ble Mr. P. C. Lyon, C.S.I.  
The Hon'ble Sir Harcourt Butler, K. C. I. E.  
The Hon'ble Nawab Syed Sir Shamsul Huda, K. C. I. E., M.A., B.L.  
The Hon'ble Sir Asutosh Mookerjee, Sastri Vachaspati Kt., C.S.I., M.A.,
- The Hon'ble Mr. H. LeMesurier, C.S.I., C.I.E., I.C.S.  
" Sir Henry Wheeler, K. C. I. E.  
" Mr. R. Nathan, B.A., C.S.I., C.I.E., I.C.S.  
" Mr. H. Sharp, C.S.I., C.I.E., M.A.  
" Sir N. D. Beaton Bell, C.S.I., C.I.E., I.C.S.  
" Mr. J. Donald, C. I. E., I. C. S.  
" Mr. W. W. Hornell, C. I. E., M. A.  
" Mr. W. J. Reid, C.I.E., I.C.S.  
" Mr. J. G. Cumming, C. S. I., C. I. E.  
" F. C. French, C.S.I., I.C.S.  
" W. A. Seaton Esq., I. C. S.  
" D. G. Davies Esq., I. C. S.
- Ven'ble Archdeacon W. K. Firminger, M.A.  
Sir John Woodroffe.  
Sir John Marshall, K.C.I.E., M.A., LITT. D., F.S.A.  
The Hon'ble Mr. K. C. De, C.I.E., B.A., I.C.S.  
" Mr. L. Birley C. I. E., I. C. S.  
" H. M. Cowan, Esq. I. C. S.  
" J. N. Gupta Esq., M.A. I.C.S.  
" W. L. Scott, Esq., I.C.S.  
" Sir. J. C. Bose, C.S.I., C.I.E.  
" W. A. J. Archbold, Esq., M.A., L.L.B.  
" H. E. Stapleton Esq., M.A., B.Sc.  
" Dr. P. K. Roy, D.Sc.  
" Dr. P. C. Ray, C.I.E. M.A., D.Sc. (London)  
" B. L. Choudhri, Esq., M.A., D.Sc. (Lond.)
- Mahamahopadhyaya Pundit Hara Prasad Sastri, C.I.E.  
Principal Evan E. Biss, M.A.  
" Rai Kumudini Kanta Bannerji Bahadur, M.A.  
" Rai Lalit Mohan Chatterji Bahadur, M. A.  
" J. R. Barrow, B. A.  
Professor R. B. Ramsbotham M. A., (Oxon).  
" J. C. Kydd, M. A.  
" W. Douglas, M. A., B. Phil., B. D.  
" T. T. Williams M. A., B. Sc.  
" Egerton Smith, M. A.  
" G. H. Langley, M. A.  
" Rai B. N. Das Bahadur, M. A. B.Sc.  
" Debendra Prasad Ghose.
- Hon'ble Maharaja Bahadur of Dinagpor, K.C.I.E.  
The " Maharaja Bahadur of Cassimbazar, K.C.I.E.  
The Hon. Maharaja Bahadur of Nashipur.  
The " Raja Bahadur of Mymensing.  
Prof. J. N. Das Gupta, M.A., (Oxon).  
The Hon'ble Sir Devaprasad Sarvadhicari M. A.  
" I. L. D. C. I. E.  
" Mr J. H. Kerr, C. S. I., C. I. E., I. C. S.  
" Mr. Justice B. B. Newbould, I.C.S.  
" Nawab Syed Nawab Ali Chowdhuri.  
" Babu Ananda Chandra Roy.  
" J. T. Rankin Esq. I.C.S.  
" G. S. Dutt Esq., I.C.S.  
" S. G. Hart, Esq., M.A., I.C.S.  
" F. D. Ascoli, Esq., M.A., I.C.S.  
" J. McSwiney, Esq., M.A., I.C.S.  
" W. R. Gourlay, Esq., C.I.E., I.C.S.  
" T. O. D. Dunn Esq., M.A.  
" E. N. Blandy Esq., I.C.S.  
" D. S. Fraser Esq., I.C.S.
- Rai Jamini Mohon Mitra Bahadur.  
Raja Monmotho Nath Rai Chaudhury of Santosh.  
Khan Bahadur Syed Aulad Hossein.  
Mahamahopadhaya Dr. Satis Chandra Vidyabhushan  
Kumar Sures Chandra Sinha.  
Babu Chandra Sekhar Kar, Deputy Magistrate.  
" Jatindra Mohan Sinha, Deputy Magistrate.  
" Hirendra Nath Dutt, M. A., B.L.  
" Rakhal Das Banerjee, Calcutta Museum.  
" Hemendra Prosad Ghose.  
" Akshoy Kumar Moitra.  
" Jagadananda Roy.  
" Binoy Kumar Sircar.  
" Gouranga Nath Banerjee.  
" Ram Pran Gupta.  
Dr. D. B. Spooner.  
Kunwar Sain Esq., M.A., Bar-at-Law  
Principal, Lahore Law College  
Khan Bahadur Syed Abdul Latif.



## CONTENTS.

|  |  |                              |
|--|--|------------------------------|
| 1. The Tanning Industry in Bengal          | ... B. M. Das, (of the Research Institute                    | Calcutta). ... 23            |
| 2. Notes on Sabhar the Traditional Capital | of Raja Harish Chandra ... Harendra Nath Ghosh, Head Master, | Sabhar, H. E. School. ... 39 |

## সূচী ।

|                              |         |  |        |
|------------------------------|---------|--|--------|
| ১। প্রতীকা (কবিতা) ...       | অধ্যাপক | শ্রীযুক্ত পরিমলকুমার ঘোষ, এম্-এ                  | ... ২৫ |
| ২। সূক্তি (গল্প) ...         | ...     | শ্রীযুক্ত সুরেশ চক্রবর্তী                        | ... ২৬ |
| ৩। গান ...                   | ...     | শ্রীযুক্ত বেলা শুভ                               | ... ৩০ |
| ৪। পান্ডিত্য নাট্য ...       | ...     | শ্রীযুক্ত জ্ঞানেন্দ্রনাথ চক্রবর্তী               | ... ৩০ |
| ৫। বাঙ্গালার ভাষা (কবিতা)... | ...     | শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ               | ... ৩৩ |
| ৬। বাঙ্গালীর শিল্প-সাধনা     | ...     | শ্রীযুক্ত দীনেশচন্দ্র লাহিড়ী                    | ... ৩৪ |
| ৭। জাগরণ (কবিতা)...          | ...     | শ্রীযুক্ত ভক্তিনুধা রায়                         | ... ৩৬ |
| ৮। লক্ষ্যপথে (আলোচনা)        | ...     | শ্রীযুক্ত নেপালচন্দ্র চক্রবর্তী, এম্-এ           | ... ৩৭ |
| ৯। আঁধারে (কবিতা)...         | ...     | শ্রীযুক্ত শচীন্দ্রনাথ কল                         | ... ৪০ |
| ১০। চিত্রকর (গল্প) ...       | ...     | শ্রীযুক্ত অমিতা রায়                             | ... ৪১ |
| ১১। চরকার গান ...            | ...     | শ্রীযুক্ত যুগেবা বানো                            | ... ৪৩ |
| ১২। পরপারে (কবিতা) ...       | ...     | শ্রীযুক্ত আভ্যুতৌষ মুখোপাধ্যায়, কবিগুণাকর, বি-এ | ... ৪৪ |
| ১৩। সাহিত্যিক-গল্প ...       | ...     | ...  | ... ৪৪ |
| ১৪। স্বর্গা শতক ...          | ...     | শ্রীযুক্ত সত্যীশচন্দ্র রায়, এম্-এ               | ... ৪৬ |
| ১৫। পুস্তক-পরিচয় ...        | ...     | ...  | ... ৪৭ |
| ১৬। প্রভাবনা-সঙ্গীত ...      | ...     | শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ               | ... ৪৮ |





# THE DACCA REVIEW.

VOL. XI.

MAY & JUNE, 1921.

No. 2 & 3.

## THE TANNING INDUSTRY IN BENGAL.

It is now recognised on all hands that if we really want to enrich India and provide our countrymen with honest means of livelihood we must develop her resources and start industries. Hides and skins are one of the most important resources of our country.

Hides and skins, important resources of the country, need of their development.

There are 180 million cattle and 87 million goats and sheep in India. Although exact figures are not available to show how many of these are annually slaughtered or die a natural death, it is certain that total product of hides and skins in India is considerable. Dacca is particularly noted as a centre of hide trade. Hides of cow and buffalo and goat skins from all parts of Eastern Bengal are sent here for sale. Hence they are known in the trade as "Daccas". The Dacca cow hides were once great favourites of the Germans. They used to produce from them leather of

very good quality. The goat skins of Dacca are perhaps the best in the world according to the verdict of the American tanners who are the most experienced in the tanning of goat skins.

So these valuable raw materials are lying at our door, but what have we done to them? Why, totally neglected them. To the Hindus, who constitute the bulk of the Indian population, raw hides and skins are abomination. The very sight of a slaughtered cow gives a rude shock to their religious sentiments and even the touch of those who deal in hides and skins, viz., chamars and muchis, is considered by many as pollution which can only be sanctified by a dip in the river. Under these circumstances these raw materials have been left from time immemorial in the hands of an illiterate depressed class. Neither the trade in raw hides, nor the art of tanning could hence develop until the attention of foreign countries was drawn towards them. If we have been indifferent from our extreme religiosity



and snobbish sentiments other nations have got their senses about them and saw in the Indian hides and skins vast potentialities and set about in right earnest in their exploitation,

Formerly in India hides and skins were the property of the village charmar, who flayed the dead animal and used to tan the hide or the skins to supply the local needs for leather. But as these needs were limited much of the available raw materials was uncared for and wasted.

But the demand by the foreign countries created an export trade in hides and skins which kept on flourishing steadily. This led to an in-

Export of hides and skins.

crease in their value. Statistics available show that in

1846 the average value of an Indian cow hide was only 0-7-5 and of a skin 0-3-2 while in 1912-13, the average value of a cow hide rose to Rs. 6-0-0 per hide and that of skin Re. 1-9-6. This gave an impetus to the better care and collection of hides and skins and the volume of export increased by leaps and bounds. In the year 1913-14 about 12 crores rupees worth of raw hides and skins were exported from India out of which 75 percent was shipped from Bengal.

Hides usually refer to the undressed skins of big animals *e. g.* Buffalo, Cow etc., and skins to those of smaller ones, *e. g.* calf, goat, sheep etc. Only those hides and skins whose supplies are abundant and

Curing of hide and skins.

regular are of interest to the tanning industry. They are naturally derived from the domestic animals which are bred and reared in every country for farming and food.

In India buffalo hides, cow hides, goat skins, sheep skins and also a certain amount of calf skins are available. Out of these cow hides and goat skins are most plentiful and important.

Hide and skins must all be preserved before export. This is called curing. Usually 3 methods of curing, known as (1) wet salting, (2) dry salting and (3) drying, are practised in India.

In wet salting hides are rubbed with common salt on the flesh side. This method is used, when they are meant for local consumption and hence need be preserved for short time only, say a month or so.

But for longer preservation for export, in which case hides and skins have to be kept several months and to pass through the tropics during transit, before they came to the hand of the tanner, more thorough curing is necessary.

This is done by dry salting or drying. In dry salting the hides and skins are rubbed on the flesh side with a thick solution of locally available salt called khari salt and dried out. This rubbing of salt and drying are repeated 2 or 3 times and to the final coat of the salt a little chalk or kaolin is mixed which makes the flesh appear nice and white. This method of curing known



also as "Plaster curing" is in vogue mostly in Bengal. The selection of hides and skins known as Daccas and Meherpurs are cured in this way. Most of the goat skins for export are also dry salted.

In the Punjab, United Provinces and Bihar, hides for export are cured by drying. They are stretched out on Bamboo frames lengthwise and dried in the sun. The dried hides are known as "Flints" as they are very hard. Before shipment they are dipped in a solution of white arsenic to disinfect them and also to preserve them from the ravages of insects etc. The hides are then known as Arsenicated hides.

The study of this export trade serves a useful purpose. It helps us to realise the value and importance of the Indian hides and skins and also gives us an insight into the best method of their utilization. In normal times i. e. before the war, almost all the European countries United States, Canada and other British Colonies used to import hides and skins from India and if we trace the exported goods to their destination we find that almost  $\frac{2}{3}$ rd of the cow hides used to go to Germany and Austria and  $\frac{1}{3}$ th of the goat skins to United States. An enquiry into the Leather industries of these countries at once reveals to what use they put the Indian raw materials.

From such an enquiry we know that it was mainly with Indian cow hides known in Europe as Indian kips, that

the Germans succeeded in building up a flourishing leather industry. They were so eager to secure all the kips specially those of Dacca and Agra to themselves, that before the war about half a dozen German firms formed a combine and controlled the entire cow hide trade in Calcutta. No one else was allowed into their ring. They contrived to secure all the best hides and ship them to Hamburg, Bremen and Trieste whence they were distributed among German and Austrian tanners.

Out of the high grade Indian kips the Germans used to make high class leather known as box sides. The inferior quality of kips was finished into low grade leathers. The box hides being a cheap substitute for more expensive box calf found a ready market. England used to import large quantities of German box hides made from Indian kips along with German box calf. As a matter of fact Northampton and Leicester shoe manufacturers depended largely on German box leathers. The annual British import of German box leather before the war amounted to much over a crore of rupees (actual figures for 1914. Rs. 1, 28,00,000).

The same thing was happening with goat skins perhaps in a more intense degree. Here instead of the German the Cute Americans were in the field. They controlled the Indian goat skins trade and with Indian goat skins they have built up huge glace kid industry in America. For American glace kid

Lessons to be  
learnt from the  
export trade.



too, England is one of the principal markets. The British import of the American glaze kid amounted in prewar days to about £ 2,349, 294 sterling or 3½ crores of rupees annually,

Seeing to what an enormous extent our raw hides and skins are worked abroad and how other nations chiefly those who can not even claim to be Britishers are turning them into veritable mines of gold, are we not justified in our aspiration that we too, should have a share in producing wealth out of our resources and by doing that in our own country provide a good portion of our hungry millions with employment and means of livelihood? Why should we for ever rest contented by simply exporting raw materials to be worked up abroad? It is up to us now to treat our raw materials locally and export the finished articles.

The world cannot yet do without Indian hides and skins. If the foreign countries depend so much upon our raw materials it is not unnatural to expect that they would depend all the more upon our finished leather if we could only manage to tan and export them abroad. It is hence to our best interests to develop the tanning industry in India.

Now the problem before us is how to do it? The essentials for an industry are, I think (1) Raw materials (2) Expert knowledge (3) Capital and (4) Organi-

zation. Let us take our stock of these fundamentals for the industry of tanning.

As regards raw materials, perhaps no country is so much self-contained for any industry as India is for tanning; hides and skins here are enough and to spare and the Indian forests and mines teem with vegetable as well as mineral tanning Materials.

Regarding expert knowledge, to get an adequate idea of the nature and amount of technical training and experience required for this, the modern tanning methods as practised by the successful tanners in Europe and America must be considered. So I must digress for a while to treat this aspect of the subject.

The processes of tanning that are in vogue at the present time are not the work of a short time. They have evolved to their present stage through thousands of years of practice and experience. There must have been innumerable forgotten failures and trials, only the fittest of which have survived and been handed down to us.

No human art or occupation can indeed claim such an antiquity as the art of leather manufacture. It is surely much older than agriculture, for it is now universally recognised that long before our race learnt to till the soil, it used to live by hunting. And it must have occurred to the primitive hunters to use the fur skins of the animals they bagged for clothing as

Need of developing tanning in India.

Evolution of modern tanning

How to develop tanning.



protection against cold and wet. The use of furs for this purpose is also represented in our Hindu Mythology. Siva, the god of the Non-Aryans is always represented as wearing tiger skin and the Rishis of old, who used to live in the woods, are described as seated on deer skin.

It must have been noticed by the primitive hunter that raw skins rot and decay if kept as such, and although drying would preserve it, it made the skin too hard to be used with convenience. Hence he must have tried to soften the skin while drying by applying the grease of the very animal whose emollient action he must have at first discovered on his own skin. Thus the early method of preserving skins, which may be called the precursor of modern tanning, originated among the wild tribes in prehistoric time. And this method of tanning with grease is practised even now in a modified form and is known as oil tannage by which the well known Chamois leather is made.

The use of vegetable matters such as barks, fruits and leaves of trees for tanning is of much later origin and that of mineral substance such as alum and salt belong to a still later date while the application of chrome salt for tanning is quite a modern invention. But this does not complete the list, Recent researches have shown that many chemical e.g. Formaldehyde, quinone colloidal precipitate of many hydroxides, sulphides, phosphates, silicates finally precipitated

ultra marine, basic salts of iron, tungsten and molybdenum can convert hides and skins into leather. At the sametime successful attempts have been made to replace the time-old vegetable tannins by synthetic tanstuffs. I feel proud to say that the first synthetic tanstuff was made at the Leather Industries Laboratory at Leeds by my Professor Dr. Edmund Stiasny shortly before the last war. This material which is called Neradol, has broken new ground in the field of applied chemistry. It is perhaps the harbinger of a host of other synthetic tannins as Perkin's Mauvine was of the synthetic aniline dyes, and it may not be long before we see the same thing repeated in tanning as has been the case in the dyeing industry, viz an almost complete replacement of natural tanning materials by the synthetic tanstuffs. It has opened up a new vista of research for the industrial chemist and both fame and fortune await the successful workers in the field.

Western scholars have discovered that tanning attained considerable development in ancient Egypt. An Egyptian Granite Carving represents leather dressers at actual work. It is now in Berlin Museum and is believed to be about 4000 years old. The ancient Egyptian art of mummy making was really a sort of tanning and mummies have been discovered which are about 4000 years old. Gilt and embossed leather straps have been found on a mummy of the 9th Century B. C.



In Europe tanning seems to have been practised by the ancient Greeks and Romans but its development was slow and the art remained practically stagnant till 19th Century. From the early times, throughout the middle ages and till the last decade of the 19th century the principal method used was that of tanning by vegetable matters. Methods were all rule of thumb, the principles underlying them were not well understood and much secrecy was observed by successful manufacturers. The whole art was in short empirical.

But science which has resuscitated so many human arts from the gloom of empiricism was not long unmindful of the art of leather making. Chemical, Physical and Bacteriological sciences soon explained many an unseen phenomenon of tanning and clearly exposed the principles underlying the art. Mechanical engineering replaced many slow, though some skilled hand labours by many time-and-labour saving machinery. Empirical rules, rule of thumb ways and the so called trade secrets were swept before the flood of scientific knowledge. The modern art of tanning is now almost an exact science and leather manufacture a chemical industry.

For the proper comprehension of modern tanning the anatomical structure and the chemical constitution of a hide should be understood.

A hide or skin consists mainly of 4 layers. (1) The topmost layer containing the hair is called epidermis,

(2) Next to it is the Hyaline layer which is extremely thin and subtle and which forms the grain or glossy surface of the tanned leather. (3) Next to it is the corium or true skin. (4) The last layer at the bottom and lying next to the body of the animal is the fatty layer call "Panniculous adiposus."

All these layers are composed of protoplasmic cells or their products. The epidermis consists of flattened cells and as there are no blood corpuscles in the epidermis these cells do not receive much nourishment and consequently get dried up some of which ultimately come out as scurfs and dandruffs. Hair, horn and nail are merely "Specialised products" of the epidermis. The epidermis also contains the fat or sebaceous and the sweat glands.

Now, all these epidermal structures belong to the class of protein known as keratin ; Keratins may best be described as coagulated albumen similar to hard boiled white of egg. Dilute acids and boiling water have no action on them, but they are softened by dilute alkali and are attacked and dissolved by alkaline sulphides.

The corium or the true skin on the other-hand consists mainly of gelatinous fibres which are the products of the cells. The fibres are usually in the form of bundles. While these fibre bundles could be teased into separate fibres, each individual fibre again is composed of several smaller fibrils. In the skin these



fibres are present as felted mass held together by a gummy substance. Towards the surface, the fibres are more compactly felted and present the appearance of the surface of broad cloth. On top of this is spread like a thin film of glaze, the glassy, the hyaline layer.

The gelatinous fibres which are also called white fibres of the skin are chemically quite different from the keratin of the epidermis. The white fibres are composed of "Collagen." This collagen is softer protein than keratin and unlike keratin it is dissolved by boiling water forming gelatin. In cold dilute acids and alkalies it only swells and comes back to the original volume on neutralisation. Neither dilute alkalies nor alkaline sulphides have any solvent action on them.

The last layer called the fatty layer is membranous containing some fat cells. This is attacked by dilute alkalies.

To the tanner the middle layers viz, corium and the glassy layer are only important as these alone go to form leather. The other layers viz the epidermis at the top and the fatty layer at the bottom must be entirely removed before tanning could be commenced.

The process of tanning may broadly be divided into 3 stages.

- (1) Operations preliminary to tanning.
- (2) The tanning proper.
- (3) The dressing or finishing of the tanned leather.

(1) The operations preliminary to tanning have for their objects (a) the

removal of the epidermis and the fatty layer and (b) the bringing of the leather forming corium fibres into a condition in which they can easily absorb the tanning agent and form leather of the desired quality.

From what has been said previously about the constitution of the hide it will be clear that dilute alkali and alkaline sulphide will help in the removal of the epidermal layer and the alkali saponifying the fat will also remove the latter. Hence from very olden times lime water, a dilute and mild alkali, has been used for this purpose and in modern times its action is sharpened by alkaline sulphides.

As the tanner may get the hides and skins in different conditions viz (1) green or fresh, shortly after flaying (2) wet salted (3) dry salted and (4) dried, he must bring the hides back into the natural supple condition of a fresh hide before putting them into lime. This is done by soaking in water previous to tanning.

Hence the preliminary operations may be divided into the following four processes :—

(1) Soaking (2) Liming (3) deliming and pickling, each of which has got definite functions to perform.

(1) **Soaking** :—Its object is to cleanse the hide by removing the adhering dung, dirt, blood and also to soften the dry salted and dried hides; the soaking usually consists in washing the hides in 2 or 3 changes of water,



in the former case to remove the adhering dung and blood and in the latter also the salt which was used for curing.

For dry salted and dried hides soaking must be of considerably longer duration. In winter, it requires at least 48 hours and in summer from 24 to 36 hours. Water alone does not make the dried hides sufficiently soft, hence chemicals e. g. caustic soda or sodium sulphide are now-a-days added to the soak bath to help softening. The best proportion to use of caustic soda is 1 lb of sodium sulphide, 2 lbs. per 100 gallons of water. The actual procedure may be as follows :—

Make up a soak bath by dissolving the requisite quantity of caustic soda or sulphide in sufficient volume of water and then plunge the hides in about evening and keep them in the soak over-night. Next morning take the hides out, flesh them roughly and break them over on the beam and put them back into the soak pit till next morning, when the hides may be taken out and washed in a few changes of water. They will then be found sufficiently soft and fit for going into the next operation.

**(2) Liming :—**Well soaked hides or skins are now limed. The object of liming is threefold viz, (i) removal of hair (ii) swelling and plumping of the hide and (iii) saponification of the natural grease. All these are essential for satisfactory tannage.

The process consists mainly in the immersion of the hides and skins in

milk of lime called lime liquor. Now this liquor may be freshly made when it is called "Fresh lime" or as is often the case in practice it may be old *i. e.* several lots of hides may have passed through it. An old lime contains good deal of dissolved organic matter, derived from the hides treated in it, which forms a favourable culture medium for bacteria. A several times used lime therefore swarms with bacteria which have considerable action on the substance of the hides and skins, specially on the hair root which they attack and dissolve. An "Old lime" has thus much greater unhairing power and solvent action on hide-substance than a "New lime" which is free from bacteria. A new lime again has greater swelling and plumping action and also saponifies the grease better. Hence as swelling, plumping and saponification are all the desiderata in liming the usual procedure in practice is to put the hides for the first few days in an old lime for unhairing and then shift them to newer limes for plumping and swelling. A good practical system is to use a set of 3 pits containing (i) an old *i. e.* twice used lime (ii) medium *i. e.* once used lime and (iii) fresh lime. The hides are kept in each of these limes for a number of days, usually 3 to 4 so that the liming is generally complete in 9 to 12 days. But both the total duration of liming and the treatment in various limes are to be varied according to the class of leather



under manufacture and the qualities desired in the final product.

Hides and skins meant for the manufacture of soft and pliable leather get a longer treatment in limes, specially in old lime. While those meant for stiffer leathers are given a short liming in more or less fresh limes. For the latter class, old lime is prejudicial and to avoid it chemical unhairing agents *e.g.* sulphides of soda and arsenic are often used to enhance the unhairing properties of a new lime. Hides and skins meant for making them pliable leathers are also split after liming by bandknife machines.

(3) **Deliming:**—After liming the hides have to be delimed. The object of this is not only to remove as the name implies, the lime out of the hides, but with certain classes of hides and skins also to dissolve out the cementing substance of the hide fibres, to loosen the lime soaps formed during liming and to bring down the swelling of the hides and skins. The object of deliming is therefore fourfold:—(i) removal of lime (ii) solution of cementing substance (iii) loosening of the scud *i.e.* lime soaps dirt etc., and (iv) pulling down of the swelling.

For stiffer varieties of leather, such as those for sole, harness and belting, a partial removal of lime is all that is necessary. The attainment of the other three objects is not only undesirable but harmful. Hence for these, washing in a weak acid liquor usually completes

the deliming. Weak organic acids such as lactic, boric or acetic are used and the process is called "Chemical deliming." A liquor made from fermented wheat bran contains weak organic acids and is therefore often used for deliming. It is cheap and effective.

For leathers, which have to be soft and pliable, all the 4 objects of deliming must be fulfilled and this cannot be attained by any chemical deliming agent. Bacterial action is necessary and from time immemorial fermented infusions of hen and pigeon dungs or of dog dung have been used for the purpose.

When deliming is done by hen or pigeon dung the process is called "Bating." The action of the bird manure is comparatively mild and this method has been found suitable for cow hides and calf skins.

When the infusion of dog dung is used the process is called "Puering." The action of dog dung is vigorous. It softens down the hardest of skins and has been found by experience to be most suitable for the treatment of goat skins which are by nature hard. Dog dung is extensively used in Europe and America for puering goat skins in the manufacture of "Glaze kid."

These animal excreta being obnoxious, attempts have of recent years been made to find out their substitute. As a result of scientific research some artificial bates have now been put on the market which are gradually being more and more used by tanners.



Bated and puered hides and skins are often further treated in fermented infusion of wheat bran. This is called "Drenching" the object of which is to cleanse the hides and the gas formed in the drench during fermentation also opens out the pores of the hides and skins and thus helps to make the final leather soft. Drenching is usually done in paddles.

(4) **Pickling** :—When meant for chrome tanning the delimed hides or skins are usually pickled. This consists in treating the hides for a short time in a bath of either Sulphuric Acid salt or Alum and salt, the object being a sort of preliminary tannage. Hides and skins for vegetable tannage are as a rule not pickled.

(5) This finishes the preliminary operations. The undesirable portion viz. the epidermis and fatty layer have been removed, the corium fibres have been swollen by liming and that swelling has been repressed again by bating and thus leaving the spaces between the fibres open for the tanstuff to enter easily. The bating has also removed the lime and dissolved the cementing solution between the fibres so that they can no longer adhere together and on drying them making the production of soft and supple leather possible.

**Tanning** :—Although as said before are various substance capable of making leather, are now-a-days two main processes of tanning which are commercially successful viz, (i) vegetable, (ii) chrome.

Broadly it may be said that most of the thick and coarse leathers such as those for sole, harness, belting etc, are made by the former, while most of the finer varieties like those for boot and shoe uppers are made by the latter process.

(i) **Vegetable or bark tanning** :—In this process the delimed hides and skins technically called the "prepared pelt" are treated in infusions of tannin containing vegetable matters. Many barks, fruits and leaves contain tannin and these are known as tannin materials. In Bengal the principal tanstuffs are babul and goran barks and myrabolam. The tannin is extracted from the tanstuff by water. The process of extraction is known as "Leaching" and the series of vats or pits in which the extraction is done is called "Leaching vats or pits." The aqueous tanning extract is called tan liquor. The modern process of vegetable tanning consists in the treatment of the pelt in tan liquors of gradually increasing strength, starting in the weakest and finishing in the strongest liquor. The strongest liquor is drawn from the head leach and during the process imparting its tannin to hides, it gradually weakens in strength and finally becomes a weak or toil liquor, which is either pumped back into the the leach and utilised for extraction of tanstuffs or run down the gutters. This system of tanning is known as "Liquor tanning". The cow hides and calf skins can be tanned through by this process in a month and a half while thicker



hides as those of buffalo and ox require about three months. The liquors are roughly divided in practice in three divisions, suspenders, handlers and layers.

In weak liquors the hides are suspended or hung from poles hence their name, in medium liquors, the hides are laid one above another and are often handled by workmen to change their position, hence the name handlers; thick hides like those of buffalo and ox meant for the manufacture of sole leather are finally laid in strong liquors one above another with layers of crushed tanstuffs spread between each pair of hides for giving them weight and firmness. Hence these liquors are called layers. All these liquors are made in masonry pits, called tan pits.

**Chrome tanning** :—This is quite a modern invention and consists in treating the delimed pelt in a solution of basic chrome salt which is called chrome liquor. There are two processes of chrome tanning (a) the single bath process and (b) the double bath process.

**Single bath process of chrome tanning** :—In this the basic chrome salt is made either from a solution of chrome alum partially neutralised by soda or from a solution of bichromate of potash reduced by suitable reducing agent in the presence of limited quantity of either sulphuric or hydrochloric acid. A strong solution is made which is known as stock chrome liquor, from which bucket-fulls are added at inter-

vals, to the tanning bath. The tanning bath is prepared by taking in a drum paddle or pit sufficient water so that the hides and the skins may easily float, and adding to it a couple of bucket-fulls of the stock liquor. As tanning progresses more stock liquor is added to strengthen the bath. The tannage is usually complete in 30-36 hours for ordinary cow hides. Sheep and goat skins are tanned in half the time while thick hides such as buffalo etc, take a little longer. It is usual to tan hides either in drums or pits and skins in paddles. Single bath process is most suitable for hides.

**Double bath process of chrome tanning** :—In this the skins are treated with a solution of Potassium bichromate and Hydrochloric acid (or sulphuric acid) in the first bath and the chromic acid thus absorbed by the pelt is reduced to a basic chrome salt, in the second bath by Thio-sulphate of soda in presence of hydrochloric acid. This process is specially suited to goat skins for the manufacture of glaze kid. In this also, the tannage is complete in about 24-36 hours.

The great advantage of chrome tanning over the vegetable process is the speed of the former. Chrome does in hours what vegetable tanning takes months to do. The final product too, in case of shoe upper leathers at any rate, is much superior when tanned with chrome; hence cow hides, calf skins, goat and sheep skins are now-a-days



invariably chrome tanned for the manufacture of these classes of leather.

**Finishing of leathers :—**After tanning all leathers whether vegetable or chrome tanned are to be finished to make them suitable to the purpose for which they will be ultimately used. As leathers are used for innumerable purposes *e. g.* boots, shoes, harness, saddles trunks etc, their varieties are considerable each having a particular trait of its own. Thus we have leathers from the stiffest kind like the sole of boots and shoes which is hard as plank, grading through various degrees of suppleness down to the softest leather from which gloves are made,

With the exception of sole leather, finishing may broadly be said consist of (i) dyeing or colouring (ii) treating the leather with grease for softening and water-proofing (technically called currying) (iii) polishing or glazing. But the finish imparted to a leather is of course peculiar to it, so that no two varieties are finished in the same way.

**Finishing of vegetable tanned leather :—**Sole leather, which is usually vegetable tanned, is neither dyed nor coloured. Its finishing consists in setting it out well to make it fat and smooth on the surface and pressing heavily to make it stiff and solid. Setting may be done by hand and also by machine.

Belting, harness, saddlery leathers which are also usually vegetable tanned are curried, that is treated with grease

to make them pliable and also well set. Harness and saddlery leathers are also some times dyed in brown and black shades. Vegetable tanned shoe upper leathers are often dyed and well curried and glazed, while vegetable tanned morocco and book binding leathers (made from goat and sheep skins) and dyed in various shades, oiled and highly glazed.

**Finishing of chrome leather :—**This is more elaborate than that of vegetable tanned leathers and consists chiefly of the following main operations :—

(1) Shaving, to make the leather thin and uniform in substance ; usually done by machine.

(2) Neutralising and washing, to free the leather from acids and all soluble matters.

(3) Dyeing. Dyed in drum.

(4) Fat-liquoring, corresponding to currying to make the leather soft. Fat liquoring is also done in drum. They are set out in machine to squeeze the water out.

(5) Staking, to soften the leather mechanically done by machine.

(6) Glazing to make the leather glossy and bright ; done by machine.

(7) They are then grained by means of cork board. Different kinds of leathers may be seen among the exhibits.

In India tanning was left from very olden times in the hands of a depressed class known as chamars. They are illiterate, and all the knowledge



they possess of their craft consists in what has been handed down from father to son from early times. In the evolution of the world's tanning art they reached up to the stage of using vegetable matters for tanning. This process of vegetable tannage has long been practised by them. But being denied the light of education or the lead of their enlightened country-men, they have neither been able to improve the art nor to profit by the boons that modern science has conferred upon their craft in other countries. The result is that the methods which they use are years behind the times.

They know rough tanning in a crude way but do not understand finishing.

In Madras and Bombay this rough tanning has attained considerable development because the leathers tanned with the native tanstuffs "Turwadi" are of good colour, soft and full. These leathers called half tanned leathers are much appreciated in England and are hence regularly exported. Between 1½ to 2 crores of rupees worth of half tanned leathers used to be exported to England from Madras and Bombay before the war. The war gave a further impetus to the half tanning industry and in Madras presidency 450 tanneries employing totally 14,000 men and in Bombay 27 tanneries employing about 17,000 men were engaged in the production of these leathers and the export reached upto 4¼ crores of rupees. The

reason was that most of the army boots were made from this leather.

European vegetable tanning methods were introduced in 1867 at Cawnpore, at first by the Government, at the Harness and Saddlery Factory and subsequently by Messrs. Cooper Allen & Co., Other tanneries have since sprung up at Cawnpore mostly owned by Indians where also modern methods are being followed. Bark tanned leathers of good tannage and finish is being made there and quite a number of skilled workmen and foremen have been trained in modern methods which is really an asset to the country.

In the field of chrome tanning much progress has been made. The National Tannery in Calcutta, The Utkal Tannery in Cuttack, The Berhampore Tannery have done much in pioneering chrome tanning in this country. All these tanneries have specialised principally in making chrome box kips from cow hides and have attained a fair amount of success. But the other great branch of chrome tannage which is still the monopoly of the American has not yet been seriously touched. Chrome mill leathers *e.g.* picking bands belting etc, are also being manufactured to a certain extent and finding sale.

Although the qualities of the output of these tanneries still leave much to be desired, one important achievement of their past efforts has been the training of both labour and experts. Now it can be said that certain amount of expert



knowledge in chrome tanning is available in the country with which further work in the line may be attempted.

In future both the bark and chrome tanning will have to be developed. Bulk of the buffalo hides have to be bark tanned according to modern methods for sole leather. Cow hides and sheep skins of inferior quality will also have to be put to bark tanning, leaving those of superior quality for chrome tanning. Goat skins should mostly be treated by the chrome process for the manufacture of glace kid.

There is a great future for the glace-kid industry in India. The world's demand for this article is enormous as may be judged from the scale in which it is manufactured in the United States. There are several tanneries in the United States, which turn out about thousand dozen kips per day and all these combined tan about  $3\frac{3}{4}$  crores of goat skins per year out of which at least  $1\frac{1}{2}$  crores are Indian goat skins.

The Americans have raised the glace kid industry to the highest pitch both as regards quality and quantity of production. And if we are to wrest this industry from them we must approach it in the right spirit, so that we may also make our output equal in every respect to the American products, otherwise we shall not be able to sell our goods in the markets of the world. This also applies to other kinds of leathers. We must make them as

good as they are made in Europe and America, because we shall have to compete with these productions.

As far as the quality is concerned I feel sure that we can reach that amount of excellence. The results achieved by our efforts in chrome tanning during the last 15 years are assuring. One thing, we have learnt from our past efforts, is that the quickest way to success is to put chemists in the field.

Chrome tanning was invented by a chemist, most of the actions involved in it are chemical in nature hence it can be better understood and controlled by those having knowledge of chemistry. The success already attained in India in chrome tanning is principally due to the efforts of the few chemists that have been engaged in it. So we must train a new class of chamars from the chemists of the country. They must join by hundreds and tackle the intricate problems of tanning in India. They are all capable of solution if persevering and determined efforts are made. As I said before, tanning is now a science and not a craft and science knows no colour or creed. She will bestow her blessings and rewards on the earnest votaries whatever might be their nationality.

But for all this money will be required. Lot of capital, needs investment in leather industries in India. Taking only the two most important classes of hides and skins viz, cow hides and goat skins, if we mean to stop their export



and tan them all in the country, we have to deal with a considerable quantity. We export annually about 70 lakhs pieces of cow hides and 2 crores of goat skins.

Now of these 70 lakhs cow hides we may estimate that 20 lakhs are of superior quality and hence fit for chrome tanning and remaining 50 lakhs will have to be bark tanned and dressed. The two crores goat skins will mostly be suitable for chrome tanning for glace kid. Taking 300 working days in a year, the task resolves to the tanning of

6000 cow hides daily by the chrome process for box sides,

18000 cow hides daily by vegetable process.

67000 goat skins daily by the chrome process for glace kid.

The practicable size of a large cow hide tannery may be taken as one with a capacity of tanning 500 hides daily while a good size glace kid tannery should be able to turn out 1000 dozen skins every day. There are many such and even bigger tanneries in Europe and America.

So to deal with these skins and hides we are to have :—

12 cow hide chrome tanneries with a daily output of 500 cow hides each.

36 cow hide bark tanneries with a daily output of 500-hides each.

6 glace kid tanneries with a daily output of 1000 dozen skins each.

Practical work has shown that roughly 2 lakhs of rupees are required for an

outturn of 100 cow hides daily, hence for a tannery of 500 hides daily capacity the capital required will be 10 lakhs and for the 48 such tanneries the total capital comes upto 4 crores 80 lakhs of rupees, say 5 crores.

Similarly we find practically that about 3 lakhs of rupees are required for outturning 500 glace kid daily, hence the capital necessary for a tannery with a capacity of 100 dozen daily is 72 lakhs and the 6 such tanneries will require total about 4½ crores of rupees.

So roughly we may say that to stop the export of cow hides and goat skins only we must invest about 100 crores of rupees in the leather industry. It is risky to forecast profit, but the world's experience is that leather trade is not unprofitable. I have known tanneries in India which declared dividends of over 20 p. c. but normally we may expect 10 per cent. and that it is not bad.

The industry outlined will employ about 50,000 men daily and will turn out annually leathers of the maximum value of 12½ crores of rupees. Selling agencies will have to be started in all parts of the globe to market this product. In normal time the export of this 70 lakhs raw cow hides and 2 crores of goat skins used to fetch India about 7½ crores of rupees, while by tanning and selling the finished leather from these classes of hides and skins only, we shall get 12½ crores of rupees i. e., 5 crores of rupees will be brought into the country in addition,



While I do not consider it impossible to raise 10 crores of rupees from the whole of India, it is not my intention to scare you. This amount need not be invested at once. Tanneries may be started on a modest scale which should aspire ultimately to reach the size indicated.

The time is opportune now to make this start. The last war has unsettled the industrial conditions in Europe, the reorganisation of which will take some time. The markets which once dumped with German leather are now free and offer us a fine chance to wedge in. The Government of India have put a protective duty of 15 percent on the export of raw hides and skins with avowed object of encouraging tanning in India.

If we do not avail of these opportunities now, who knows whether the tanning industry, will not be lost to us for ever just as the Jute Industry in Bengal has been? There are 71 Jute Mills in Calcutta with total capital of  $13\frac{1}{4}$  crores of rupees employing 260,000 men and not one of these is owned by Bengalis. The Jute Industry has grown to this proportion in the last 65 years and the leather industry may grow even in less time. But if we do not buck up, the prize will be secured by others and we shall be left out altogether.

It may be said that we have got no money in Bengal to invest in industries. Individuals may not have plenty, but I believe each individual can invest at least a portion from which small limited

companies may be started. Such small companies with capitals of 1 lakh to 2 lakhs of rupees are capable of profitably running small modern tanneries. These may be the seedlings out of which mighty trees may grow in the fullness and time commanding crores of rupees and employ thousands of men. It is thus that industries have been developed in other parts of the world and it is exactly in this way that our brethren in Bombay and Guzerat have established the flourishing textile industry in their provinces. We thus see that we have got resources, we have got also a certain amount of expert knowledge and capital can also be raised if we want to.

But all these are of no avail if we are not earnest about it. The main reason why we have not been able to do much in the field of industry in Bengal is the absence of this earnestness. Desire is the motive power of all human efforts and we in Bengal do not seem to have it as far as industry is concerned. Otherwise who can believe that Bengalis who have proved their superior merit wherever they have gone from Kashmeer to Cape Comorin, outshone all the other Indian races in various spheres of modern activities should yield in the fields of commerce and Industry?

If you desire, if you are earnest to start industries you can do so. And you must do so because therein lies the salvation of our country. Industry alone can solve the perplexing bread problem, which after all is the root cause of the



present unrest. It lies with us to solve it. If we care to provide our starving millions with honest means of livelihood and the middle class with decent employment, we must concentrate our energies towards industrial development. Industrial India will be a prosperous India, and before that prosperity, poverty and pestilence discontent and unrest will be

swept away like the weeds before the ocean waves. Industries will infuse into our blood fresh virus of vigorous activity and will make India really strong. It is with you to do this, it is with you to make India great industrially as our forefathers left her spiritually great.

B. M. DAS.

### NOTES ON SABHAR THE TRADITIONAL CAPITAL OF RAJA HARISH CHANDRA.

Being urged by many of my brother teachers, members of the Dacca District Teachers' Association, to say my say on the now much talked of Sabhar and its traditional king Harish Chandra, this paper is prepared for the elucidation of many conjectures and my humble efforts in this connection since the beginning of 1913.

Sabhar, the corrupted form of Sambhara, is a historical place, the traditional capital of Raja Harish Chandra. It stands on the east bank of the Bansai which is a branch of the Brahmaputra and falls into the Dhaleswari at a place to the south of Sabhar.

The Bansai has still on its east bank, to the north of the present bazar, the ruins of Harish Chandra's fort called

Harish Chandra's *kotbari* in the map published by J. Rennell in 1780. The *kotbari* is 720 ft. long and 550 ft. broad. The surrounding mud-wall is still at some places, 25 ft. high.

The physical aspect of the place as well as of Rajasan and Majidpur localities near Sabhar, indicate that the places were full of Civil, Military and ecclesiastical edifices, the unmistakable signs of a great age.

The ruins scattered all round lead one to suppose that many architectural remains and other things of great value were, from time to time, dug out by the people. Though many things have been taken out, it is believed, that if a thorough research is made and systematic excavation, at some places, is carried on, it will lead to the discovery of archæological materials of incalculable value. There are many things yet to be brought to light which may add new pages to the history of this part of the country,



The places are full of dighis or large tanks almost silted up numbering 50 the *sare bara-ganaa* of tradition. Some of them are of great interest, as for instance, the *Niramish* dighi the fishless tank dug, as the tradition has it, for the use of the Buddhist king's mother.

There appears to be a bed of a river known as *Buid* separating Rajasan (east) from Majidpur (west.) At Majidpur, it is said, was the palace of Raja Harish Chandra. Ruins of the palace and a moat all round called *kataganga* and the *Sagar* dighi to the east of the palace, which still holds water in its bosom throughout the year, are pointed out to this day as memorials of its lost greatness.

Majidpur seems to be a modern name given to it by the Ghazis of Bhowal Pergana who ruled over this part of the country before the Moguls. It is also called by some Majootpur the place of hoarded wealth.

Many things of historical interest have been, of late discovered from a place at Rajasan. Recent discoveries of Buddha-images on large bricks in different postures of contemplation from the place conclusively proves that Rajasan is a misnomer. It was really Bajasan, the corrupted form of *Bayrasan* the most important of the several *asans* of the Buddhist monks. It is said that Buddha himself obtained *Nirvana* while sitting in contemplation in such *asan*. The meaning being unintelligible to the people, they began to call it Rajasan,

the seat of Raja Harish Chandra. The recent discoveries of so-called Rajasan bear testimony to the fact of the existence of a Buddhist monastery where monks like Srijnan Dipankar Atishi had an opportunity for preparing themselves for their future vocation.

It will not be out of place to mention here the circumstances of the recent discoveries. When I came here in February, 1913, and heard of the legendary tales of Harish Chandra, I began to observe closely the physical aspect of the place whenever I had the opportunity to do so.

It so happened that in one of my excursions through so-called Rajasan, a brick of peculiar shape in one place struck me and I selected the place for excavation. There are four *bhitas* in the place on four sides the eastern one is a little isolated from the next. I took up the eastern *bhita* for my work.

As the result of the excavation, several bricks of peculiar shape and make, bricks with the Buddha images ingeniously moulded in different postures of meditation, and some fragments of cornice or frieze of a building of great historical and archaeological interest were discovered.

Finds of April, 1913 :—

(1) A broken brick, measuring 12" x 10", with Buddha images ingeniously moulded in three different postures of contemplation.

(2) An image of Buddha in one of the postures as in the brick.



(3) A small bust of Buddha, 6 inches high.

(4) A broken bust of a man, perhaps designed for ornamental work on the top of the building.

(5) Parts of cornice or frieze, tiles, and fragments of the building of great archaeological interest.

Being encouraged with the finds, I began to collect information about the traditional king and I could collect at that time, some sanskrit *slokas* which were altogether new in this line of discovery from one S. J. Ambica Charan Chowdhury of Sabhar who took them down, some 25 or 30 years ago, from the late Amritananda Gupta, the renowned kabiraj of Matta in Manikganj.

The kabiraj Mahashoy cited the said *slokas* from memory and Chowdhury mahashoy took them down while they happened to be travelling in the same steamer from Dacca to Sabhar. It remains to be seen as to what may yet transpire from the *slokas* though I used some of them in my article in the Dacca Review, 1913 August and September number giving by as far as I could a right reading.

These *slokas* are now supposed to be a transcript of an inscription on an ancient *math* dedicated to a Buddhist saint by Mohendra, son of Raja Harish Chandra (vide the 1920 September and October number of the Dacca Review for its entire version and translation by Mr. N. K. Bhattasali M. A.)

After this discovery I wrote to the Hon'ble Mr. N. D. Beatson Bell, C. S. I., C. I. E., I. C. S., the then Divisional Commissioner and the President of the Dacca Museum Committee for funds for systematic excavation. Though no fund was forthcoming, yet I was encouraged in my arduous work, later on, by the appreciation of my finds by His Excellency Lord Carmichael at the Conversazione held in the Secretariat buildings in August, 1913.

I did not stop till Mr. H. E. Stapleton, M. A., B. Sc., the then Divisional Inspector of Schools, came forward with financial help in March, 1915, and in the next month, he came and inspected the site. After that I worked under his instructions and made further discoveries (mentioned under Archaeological section in the Second Annual Report of the Dacca Museum) exposing the four walls of a building supposed to be a temple. The measurements of the walls 72 ft.; north and south walls, 72 ft.; the width of the walls being 3'—7" all round.

Finds of April and May, 1915

(1) A large brick, measuring 19" x 12" x 3", with 15 Buddha-images in three different postures of contemplation.

(2) A broken piece with 4 images of the same in one posture.

(3) An oval-shaped piece, 4½" x 5½", containing a simple image.

(4) Two large bricks (entire), each measuring 15" x 10" x 3½".



(5) A portion, 2'-10" long, of the lower part of a pillar, it is supposed.

(6) Architectural remains of peculiar shape and make.

It may be observed here that the peculiar feature of the place is that bricks with Buddha-images have been discovered from there only and from nowhere else.

But suddenly Mr. Stapleton left on military service and no systematic work was carried on. All the finds hitherto discovered by me, have been preserved in the Dacca Museum.

As to the archæological value of these *Terracotta* relics, I may only refer to those discovered at Kumrahar (Pataliputra excavations) where I had the pleasure to go and see things done under Dr. D. B. Spooner to whom I am so very grateful, for the kind instructions given to me at the time and to those seen at Saranath. These are similar in type and make.

It will not be altogether out of place to mention here that at the place where Sabhar is at present in the map of the Dacca District, there is "Sabhari" in the Geographical Accounts of India published by Ptolemy of Alexandria in the second century A. D. as has been recently pointed out by Rai Saheb Dinesh Chandra Sen along with some other places of that quarter such as 'Baniajuri' and "Dasarah." Thus the existence of Sabhar in the second century A. D. may fairly be inferred. It is yet to be seen what comes next.

From an iconographical point of view, the different poses of Buddha-images on large bricks are, I think, no less interesting. On this point I may add, that the poses discovered are three in number; *viz.* :—

(1) Dhyanamudra—*ধ্যানমুদ্রা*—contemplation.

(2) Maharaj lila—*মহারাজ লীলা*—

(3) Lalitakshep—*ললিতাক্ষেপ*—a graceful pose with one foot hanging.

As to the discovery of the gold coins which are supposed to be of Imitation Gupta type, I may add that one coin was found on or near the *bhita* excavated by me, by one Eáshin of Talbag, the keeper of a pound near the *bhita*. At my instance, it was secured by Government and then deposited in the Dacca Museum, sometime in 1917.

A second coin was procured by me from a goldsmith to whom it had been sold by an inhabitant of Puran Bhatpara in the north of Sabhar. It was distinctly better in technique than the one seized. It was purchased for the Dacca Museum in January, 1918.

A third coin was purchased through me, in July, 1920, from a student of the local High School to whom it had been sold by one Nayan Shek of Teoti in the north of Bhatpara.

Two more coins were purchased through me, in April, 1921, from Babu Kali Mohan Saha of Sabhar (vide the the 1920 July and August number of the Dacca Review for full description of the coins by Mr. Bhattachali.)



I may also add that such coins are even now turned up by the peasants when they plough their fields in Puran Bhatpara, Majidpur and so called Rajasan. As to their antiquarian value it is for the numismatic experts to judge.

Mr. F. D. Ascoli, M. A., I. C. S.; then Hony. Secretary of the Dacca Museum Committee thought "the site worthy of systematic exploration."

It is therefore hoped that further explorations will be forthwith undertaken. Here is an appropriate field of operation for the Government authorities.

The Mounds called Harish Chandra's palace at Majidpur and at Rajasan have been declared as protected monuments under Act VII of 1904—Cal. Gazette, No. 1258 Misc., 22nd November, 1920.

Mr. K. N. Dikshit M. A., Officiating Superintendent of the Archaeological Department, Eastern Circle, visited Sabhar some time in December 1920 and it is hoped that a careful survey of the site with a view to systematic excavation will now be undertaken.

Now about the traditional king Harish Chandra if the *slokas* collected by me in fragments and the entire version by Mr. J. T. Rankin, I. C. S., Dacca Division who recovered the original from Babu Pratap Chandra Gupta (vide the 1920 September and October number of the Dacca Review), are believed to be genuine the persons mentioned in the *slokas* are the follow-

ing :—(Bhimasena (2) Dhimanta, (3) Ranadhirsan, (4) Harish Chandra and (5) Mohendra for whom it is yet a difficulty to find their place in history or connect them with any known events of history.

The name of Harish Chandra alone has been handed down to us through the channel of tradition and he is known as Harish Chandra Pal. The fact that he was a Buddhist king may be asserted without any shadow of doubt. But then about *sen* attached to the names of his ancestors, it is yet another difficulty to reconcile with *pal* attached to the name of the traditional king Harish Chandra.

Harish Chandra's father Ranadhira, was a great warrior or it was not possible for him to conquer all the regions from the base of the Himalayas in the north to the bank of the Dhaleswari in the south. Then he settled and built his capital at Sambhar, modern Sabhar. Hence it may be said that the authorship of the past glory of Sabhar cannot be attributed to Harish Chandra alone but to his father, Ranadhira who came and settled here and built all the edifices civil military and ecclesiastical, necessary for a new city.

His son Harish Chandra ruled his people with sympathy and justice and won for himself the title of Maharaja for his benevolent regime. He was as virtuous as Yudhisthira and as rich as Kuvera. He spent much for his people in works of public charity.



So Harish Chandra did not come to Sabhar from any other place as some say (from a place in Midnapur) but his father Ranadhira came from the north and settled at Sabhar. Ranadhira was the son of Dhimanta who again was the son of Bhima. These we get from the *slokas*.

Now who was Bhima? Was he the Bhima, the *kaibarta* king who rose against Rampal? It might be that when Bhima was taken prisoner by Rampal and his capital, Damarnagar, was destroyed by him, the *kaibartas* could not raise their heads for some time but Bhima's descendant, Ranadhira, if not Dhimanta, gradually established his ascendancy and came up to East Bengal during the rule of some one of Rampals' weak descendants. This would place us in the beginning of the twelfth century A. D.

If this be true, Harish Chandra was of *kaibarta* origin. This fact may meet the demand of some *mahisya* families in the neighbourhood of Sabhar who claim descent from Raja Harish Chandra and there are still many *mahisya* zamindars and talukdars in this part of the Dacca District.

But this does not explain the traditional king's religious tenets and the title of *pal* attached to his name and also the fact that his great grand-father came of a race similar to that of the lunar race as we find in the *slokas*.

The history of Hindustan from the tenth to the twelfth century A. D. "is

so full of feuds within and invasions from without" that it is yet an anomaly and a difficulty to reconcile legendary tales with facts.

Now, if we ignore the existence of the *slokas* mentioned above, let us see what we get. In the copper-plate grant of Madanapal, discovered in Dinajpur some seventeen names of the Pal kings of Bengal have been found. The list does not show anything of the name of Harish Chandra Pal; yet it cannot, be said that Haris Chandra was a mythical person! He is so popularly talked of by the people! The ruins of his past greatness are so scattered over in or around Sabhar and Raghurampur in Dacca and at Charchara in Rungpur where there is a mound, called Harish Chandra's *pat*, supposed to be his *samadhi*!

It is a matter yet to be scrutinised whether there were three Harish Chandras in three different places, *viz.* at Raghurampur and at Sabhar, both in the Dacca District and at Charchara in the Rungpur District or whether the same person, Harish Chandra, played his parts in those places in the different periods of his life-time.

Many are now discussing the probable place of Harish Chandra in history and each antiquarian has his own conjecture. So it will not be out of place, if it is surmised that during the rule of Rampal, the fourteenth of the long line of Pal kings, the Sen family which had been gradually



flourishing, formed the province of Eastern Bengal into a separate kingdom in the latter part of the eleventh century.

The rising of the Sens was taken as another attempt for the revival of Hinduism and the last attempt of the Buddhist kings to oppose it—the Pal kings being zealous Buddhists and the Sens, orthodox Hindus—though such attempts at revival were not altogether new. It was carried on to some extent under the Gupta Kings in the latter part of the fifth century and further in Harsha's time in the seventh century and still further by—Kumasila bhatta of Bihar and Sankaracharya of Malabar in the eighth and ninth centuries. So in order to subdue the Sens, Rampal deputed three persons to Eastern Bengal; viz.—(1) Jasabanta Pal, (2) Shishu Pal and (3) Harish Pal.

Jasabanta Pal settled at Madhabpur in Talipabad pergana; Shishu Pal settled at a place near Kapasia in Bhowal pergana; and Harish Pal settled at Raghurampur in Bikrampur pergana.

There are the ruins of Harish Chandra's palace at Raghurampur (near Bajrajogini) and there is the *dighi* close by, which is still called Harish Chandra's *dighi*. Harish Chandra won the hearts of the people by his amiable disposition and noble deeds of hospitality. He then transferred his capital from Raghurampur to what was called by Harish Chandra, Rampal, after the name of the ruling king of Gour.

But some say that was in the last part of the eleventh century. Bikrampur in Eastern Bengal was under a tributary prince, Shyamalaburma, under the Pals. This Shyamalaburma helped Rampal against Bhima in recovering that lost ground in Barendramandal. It is also said that the place where Rampal met Shyamalaburma was called Rampal to commemorate the event. But it may also be noted here that Shyamalaburma was not a Buddhist prince. He did much, in the other hand, for the revival of the vedic religion and it was through his instrumentality that fine *sagnik* Brahmins were brought for the first time to Bikrampur from the Karnabati Vedic Samaj near Benares though it was king Adisur who first brought from Kanauj fine *sagnik* Brahmins and five *kshatrapa* kayesthas into his kingdom of Gour for the purpose of Vedic supremacy.

Now to the main story. The Sens did not sit quiet. They were striving hard to rise against the Pals and to make themselves independent for a time the Sens greatly reduced the Pal power. After a few years, it became impossible for Harish Chandra to stay any longer at Rampal. So he left it, came to the north side of the Dhaleswari and settled at Kotabari in Sabhar raising a mud-wall for protection. This was not uncommon in those days as is still seen in *Barendramandal*. For instance, the mud-wall of Bhima called *Bhimer daing* or *Bhimer jungle* may be



mentioned. Subsequently he extended the area and moved towards the east and south-east where the places are replete with the ruins of their lost glory.

This Harish Chandra had two wives named Fulabati and Karnabati for whom he dug two large tanks, side by side, called *dui-satiner-dighi* or tanks for two co-wives, still seen near Majidpur where the ruins of his palace are also seen. Subsequently he built two separate houses for them in two places; viz, one at Fulbari, modern Fulbaria, for Fulbati and the other at Karnapuri, modern Karnapara, for Karnabati. This was the fashion in those days. As for instance it may be cited that after the suppression of the *kaibarta* rebellion, Rampal built a new capital, called Ramabati after the name of his wife.

Harishchandra had two daughters named Aduna and Paduna, whether born of the same wife or of the two wives it cannot be said. The two daughters, when grown up, were married to Gopi Chandra or Gobinda Chandra, son of Manik Chandra, king of Patika (Rungpur).

The fame of the paragon beauty of Aduna and Paduna which spread far and wide, has been immortalised in chants by the minstrels of those days and of their love sung in rural songs of the time of their most painful separation from their husband by Mr. Grierson in these days by translating them into English.

The legend says that Harish Chandra left no male issue but from the trans-

cript mentioned above, we get that he had a son, named Mohendra who dedicated a *math* to a Buddhist Saint. Harishchandra is said to have died while on his way to his son-in-law's house in Rungpur or killed in battle, as some say, while helping his son-in-law against his foe. However, that may explain his *samadhi*, called Harishchandra's *pat*, at Charchara in Rungpur. The legend does not say that Gopi Chandra had to take part in any fight against any foe but his father Manik Chandra fought against Dharmapal II. who occupied the throne after Manik's death. It was after the death of Dharmapal II that Gopi Chandra recovered the lost throne of Patika. Harishchandra might have been asked by his son-in-law, Gopi Chandra, to help him in recovering the lost throne.

If the above is accepted, it may finally though not conclusively be said, that after the downfall of the Pal kings of Bengal and the occupation of the country by the Sen kings, there were yet some Pal descendants living in Eastern Bengal—Harishchandra might be one of them.

Unless and until something more decisive is discovered, nothing can be said definitely but then we have got the architectural remains and the coins discovered and it is for the archæologists to ascertain the time and place in history.

They, to crown all, might yet tell a different tale that the Sabhar site must have been a seat of the later Guptas who ruled in Bengal before and after Harshabardhan and as such deserve systematic excavation.

HARENDRA NATH GHOSH,





# তাকা রিভিউ ৩ সাম্মিলন

১১শ খণ্ড } ঢাকা—জ্যৈষ্ঠ, আষাঢ়, ১৩২৮। { ২য়, ৩য় সংখ্যা।

## প্রতীক্ষা।

তবু চেয়ে থাকি

যেলি' ছুটি অপলক নিদ্রালস আঁখি

ওই দূর দিগন্তের সীমাহীন দীর্ঘ পথপানে

নিশিদিন কিসের সন্ধানে।

দিন বহে যায়

গোধূলির রক্তরাগে গগন-সীমার

ছুটি' ওঠে দিবসের পুঞ্জীভূত বেদনার রাশি

সন্ধ্যার কপোল-তলে শোণিতের নীরবে আভাসি'

তবু বেন দূরে দেখা যায়

আঁধারের বক্টিরে শোণিতের রেখার রেখার

মুছিত ক্রন্দন-সম দীর্ঘ পথ বোম তাবাহীন

পড়ে আছে দিগন্তে নিলীন

ওই পথ দিয়া

নিরুদ্ধ সঙ্গীত মোর যার নিঃশ্বাসি

কোথা কোন কাতারের সীমারেখা পানে,

নাহি জানি কাহার সন্ধানে।

তবু চেয়ে থাকি!

মনে হয় ওই পথে পদচিহ্ন আঁকি'

কে বেন গিয়াছে কবে অলঙ্কিতে মুহু স্করণে,

নিরোষি' কঙ্কণধ্বনি সতর্কিত নুপুর-শিঞ্জন।

মনে হয় তারি পদ রেখা,

তারি ও পথের বৃকে অলঙ্কক লেখা

আলো বেন আলো দেখা যায়,

ধেম-আসা বংশীরব, ভুলে যাওয়া স্বপনের প্রার।

সেকি বেতে বার বার চেয়েছিল কিরে?

পথ কি হারিয়েছিল নয়নের নীরে?

পারে তৈলি' রুদ্ধ অভিমান

ফিরিতে চাহিয়াছিল বেদনার বিধুর পরাণ?

কে র'ল আগল কুণি' বুঝবোরে আঁকড়ি শয়ন,

ক্ষণতরে মেলিয়া নয়ন

চকিতে চমকি' উঠি' একবার ডাকেনি আগিয়া,

কোথা ছুনি, কোথা ছুনি, প্রিয়া।



তাই চেয়ে থাকি।

সারানিষি তারি আশে দ্বার খুলে রাখি।

দূরপ্রান্ত পাপিয়ার পান,

হিরোজিত বরগী বিতান,

প্রফুল্ট কুসুম-গন্ধে তরপুর উতলা বাতাস,

বিসর্পি' অন্তরতল আকুলিয়া ভোলে দীর্ঘবাস।

বুক বেদনায়

কে আগিবে তারি প্রতীকার

নিশিদিন ভাবাহীন পথ চেয়ে আছি—

যুটিবে কি ব্যবধান? আবার কি হব কাছাকাছি?

একান্তে সাঙ্গারে রাধি সুহৃদীন সঙ্গীতের ডালা,

অনাত্ম্য কুসুমের মালা

গোপন মরমপটে দীপ্তে দীপ্তে স্নান হয়ে আসে

ব্যপ্ত নিঃশ্বাসে।

তবু পথ চেয়ে আছি, তবু ভাবি মনে

বুঝি পে আগিবে কবে অকানিত কোন্‌ স্তম্ভকণে!

তবু চেয়ে থাকি

সুদূর দিগন্তপানে বেলি ছুটি আঁখি।

বিকল বারিনী-জাগা, চেয়ে-থাকা দীর্ঘ দিনবান,

ভাবি' মনে হবে অবসান।—

একি সব ভুল?

এই যে কবরী-খসা বিশীর্ণ বহুল,

এই যে দূরার পাশে মুছে আসা অলঙ্ক-রাগ,

নিশীথ-শরন পরে কেতকী পরাগ,

বিস্তৃত বীণার বৃকে করাচিত সুরতন্ত্রীগুলি,

বিধ্যা এ সকলি?

তাই হোক—ওগো তাই হোক,

এই বিধ্যা আবরণে রচি' বঙ্গলোক

চেয়ে থাকি—চেয়ে থাকি অনিমেষ যৌন-প্রতীকার

ওই দূর পথের সীমায়।

মারা যদি হয় তবু মারামরী আগিবে আবার,

নীরব মাধব-কুঞ্জে মুখরিয়া নুপুর-বঁকার।

শ্রীপরিমলকুমার ঘোষ।

## মুক্তি।

এক পরিশোধের অন্ত বিতীর্ণ উপায় ছিল না বলিয়া চেৎলার নিমাই চাটুর্ঘ্যের ছোট দোকানখানি ও একটু-খানি সম্পত্তি বিক্রয় হইয়া গেল। এতখানি কষ্ট ও দারিদ্র্য নিমাই সহ্য করিতে পারিলেও তাহার পত্নী কিস্তি সহিলেন না। ছ'বছরের একটা কস্তা রাখিয়া অন্নদিনের মধ্যেই সমস্ত ধ্বংস কষ্টের হাত এড়াইলেন।

এই চল্লিশ বছরের বুড়া হাড়ক' ধামার উপর এ আঘাতটা এতই শক্তি লইয়া প্রহত হইয়াছিল, যে নিমাইয়ের আর কিছু নতুন করিয়া করিবার মত উৎসাহ ছিল না, বুঝি সামর্থ্যও কুলাইল না। চাকুরীর মত বিভাগ অভাবে সে চেষ্টা বুঝা। কোডে, হুংবে, অভিমানে কস্তা মলিনাকে সঙ্গে লইয়া নিমাই দেশ-ভ্রমণ করিল। পরিচিতির সংশ্রবে আর থাকিবে না,

এইরূপ সংকল্প করিয়া সে শিবপুরের ভক্ত পল্লীর ঘরে এক নিম্ভত পাড়ায় বাস করিতে লাগিল।

অবস্থা বিপর্যয়ে নিমাই আল ভিক্ষুক। প্রত্যহ প্রত্যবে রুলিটা কাপড়ের আড়ালে লুকাইয়া, সে ভিক্ষার বাহির হইত। বাড়ী কিরিতে বারটা কোন দিন বা একটা। বাড়ীর ছয়ারে পা দিয়া নিমাই রোজই ডাকিয়া উঠিত “মা বহু!” মলিনা ছুটিয়া পিতার হাত হইতে ভিক্ষার রুলিটা লইয়া মেজের উপর ফেলিয়া জিজ্ঞাসা করিত “এত দেবী ক'রলে কেন বাবা? নিমাই হাসিয়া জিজ্ঞাসা করিত “খেয়েচ তু মা?”

আপের দিনের ছুটি করিয়া বাসীভাত মলিনার অন্ত রাখা থাকিত।



( ২ )

এমন করিয়া চার বৎসর কাটিয়া গেল। এতখানি দারিদ্র্যের নিশ্চেষ্টেও স্বাস্থ্যের একটা নিক্ক কমনীয়তা মলিনার শ্রুতল দেহখানিকে উজ্জ্বল করিয়া রাখিয়াছিল। রূপকথা বর্ণিত রাজকন্ডার মত সুন্দরী না হইলেও সে কুসঙ্গা ছিল না। এই এত ছোট বয়স হইতেই মলিনা সংসারের প্রত্যেক কাজটি ; পিতার সেবা হটতে রন্ধনাদি সমস্তই নিজের হাড়ে তুলিয়া লইল। কন্ডার নিপুণতার বিপক্ষে তার ওজর আপত্তি নিক্কল জানিয়া, নিমাই চুপ করিয়া থাকিল, আরামও যে একটু না পাইল তাহাও নহে।

এতদিন পর্য্যন্ত এক পাড়ার থাকিয়াও কোন প্রতি-বাসীর সহিত নিমাইয়ের আলাপের সুযোগ হয় নাই বা সে চেষ্টা করে নাই। সে থাকিত সকলের দৃষ্টি এড়াইয়া। সে যে ভিক্ষুক। অনেকটা আত্মমান এই অল্পবয়সের মধ্যে লুকান ছিল। কিন্তু তবুও প্রতিবেশী নবিশেষ তাহার মরমের দরদী হইয়া পড়িয়াছিল। ভিন্ন জাতি এই লোকটির বয়স নিমাইয়েরই সমান। লোকে তাহাকে আধুপাঙ্গলা বলিয়া জানে। বিবাহ করে নাই, কাল কর্মও কিছু করে না। সামান্য বা কিছু 'ক্ষেতি' আছে তাইরাই দেখে। এই আধুপাঙ্গলা লোকটির প্রধান বিশেষত্ব সে কাহারও সহিত মিশে না, কিন্তু তার চেয়েও অনেক বেশী বিশেষত্ব, লোকের সহিত মিশে সে না মিশে, ছেলেদের সে তত বেশী পরিমাণে ভালবাসে। গাছ হইতে কল পাড়িয়া ছেলেদের খাইতে দেয়, ছোট ছোট ছেলে যেরে গুলিকে কাঁখে করিয়া বেড়াইয়া আনে। যখন ছেলেদের সঙ্গ না পায়, একান্তে নির্জনে চুপ করিয়া বসিয়া থাকে।

এতখানি নির্জনতা-প্রিয় হইয়াও রোজ সন্ধ্যাবেলা সে নিমাইয়ের কাছটাতে একবার আসিয়া বসিত। ছ'এক ছিলিম ভাষাক গোড়াইয়া চলিয়া যাইত।

( ৩ )

চৈত্র মাস। ঠিক এই সময়টা হুর্ভিক ও মরক দেখা দিল। ভিক্ষা আর মেলে না। ক্রমাগত দিন কয়েক থাকনিও খাইয়া নিমাইয়ের দিন কাটিল। নিজের

জন্ত বতটুকু চিন্তা না ছিল, যেহেতু তার জন্ত নিমাই চিন্তার আকুল হইল। ভিক্ষা দেবে কে, তবুও নিমাই ভিক্ষার বাহির হইল। প্রত্যেক ঘরে ঘরে ঘুরিল, কিন্তু নিশ্চল আবেদন কাহাওর ঐতিস্পর্শ করিল না। অবসর দেহে সে রাস্তার একপাশে বসিয়া পড়িল।

\* \* \* \*

বেলা শেষে নিমাই বাড়ী পৌছিয়া কতগুলি চাল, আলু ও আট আনার পরস। মেজের উপর রাখিয়া দ্রুতপদে শস্যার আশ্রয় লইল। মলিনা পিতাকে প্রান্ত মনে করিয়া তাড়াতাড়ি রন্ধনাদির উদ্যোগ করিতে বাইবে, উদ্ভ্রমের জ্বার নিমাই শয্যা হইতে লাক্ষাইয়া বুলিয়া উঠিল “ও গুলো রেঁধোনা মা। আমি নিষেধ কথা বলে ওগুলো এনেচি। কোন ভিকিরী ডেকে দিয়ে দাও। কাল আদপেটা খেয়েচ, আজকের দিনটা কি না খেয়ে থাকতে পারবে না মা?”

মলিনা শুক দৃষ্টিতে চাল ও পরস। গুলির দিকে চাহিয়া রহিল।

পরদিন কোন ভোরে নিমাই বাহির হইয়া গিয়াছে। বেলা তখন খুব বেশী হয় নাই, নবিশেষ নিমাইয়ের বাড়ীর দরজার কাছে আসিয়া ডাকিল “মা, মণি; উঠেচ মা।”

“হ্যাঁ কাকা।” মলিনা বাহিরে আসিল।

নবি মলিনার মুখের দিকে চাহিয়া অবাক হইয়া গেল। তাহার কচি মুখ খানির কাতরতা নবিকে আচ্ছন্ন করিয়া দিল। বলিল “এক চেহারা হয়েছে তোমার, কাল বুঝি কিছু খাও নি মা।” “নবি হাতে একটা পুঁটলী লইয়া আসিয়াছিল। পুঁটলীটা খুলিয়া, কয়েকটা কল মলিনার সম্মুখে রাখিয়া বলিল “এই কলকটা খেয়ে নে মা।”

মলিনা কাঁদিয়া কেলিল, “বলিল কাল বাবারও যে কিছু খাওয়া হয় নি। তিনি যে আমার জন্তই, কোন ভোরে বেরিয়েছেন। না কাকা, আমি কল খেতে পারব না।”

মলিনা পিতার প্রতীকার পথ চাহিয়া বসিয়া রহিল। শয্যা, স্বর্ঘ্যের প্রচণ্ড তেজে রোজ অলিয়া উঠিল।



মলিনা তাঁর বসিয়া। কিন্তু সময় বখন ক্রমেই দ্রুত ভাল  
খাবার হইতে লাগিল, বালিকার মনও পিতার অমল  
আশঙ্কায় চকল হইয়া পড়িল। সে আর স্থির ভাবে  
বসিয়া না থাকিয়া নবি কাকার বাড়ীর দিকে ছুটিল।  
নবি দক্ষিণ মুখে হইয়া দ্বারদেশে বসিয়াছিল। মলিনা  
কাতর কণ্ঠে কাকা, বলিয়া ডাকায় সে চম্কাইয়া ফিরিল,  
বলিল “দাদা এখনও কেমন নি?”

“না কাকা, এত দেৱী ত বাবার কোন দিন হয় না,  
কাল আবার সারাদিন কিছু খানও নি, কোন ভোরে  
উঠে বেয়িয়েছেন।” “বাড়ী বাও যা আমি দেখি।”  
নবি দ্রুতপদে আঁহুলের দিকে চলিল। সে জানিত  
একান্তপথে নিমাই ভিক্রায় প্রায়ই বাহির হয় না। •

( ৪ )

তুলসীতলাটাই আমাদের হিন্দুধর্মের মেয়েদের শোক  
হুঃ অপনয়নের একমাত্র আশ্রয়স্থল। মলিনা নিজের  
কল্পনাটুইয় সাহায্যে তাহাদের কুঁড়েখানির পাশের তুলসী  
গাছটার তলায় বারবার মাথা ঠুকিয়া পিতার জন্ত কত কি  
প্রার্থনা করিতেছিল। এমন সময় একখানা গরুর গাড়ী  
তাহাদের বাড়ীর পথে আসিয়া দাঁড়াইল। মলিনা ছুটিয়া  
আসিয়া দেখিল, গাড়ীর ভিতর পিতা অবশ দেহে পড়িয়া  
আছেন। নবিশেষ গাড়ীখানার দাঁড় ছুটি কাঁধ হইতে  
নানাইয়া নিমাইকে ধরিয়া ধীরে ধীরে বাড়ীর ভিতর  
লইয়া আসিল। মলিনা কাদিয়া কাদিয়া পিতার পায়ে  
কাছে বসিয়া পড়িল। অতি কষ্টে কক্তার মুখের দিকে  
তাকাইয়া নিমাই বলিল ‘ভয় কি মা, ভগবান আছেন,  
একটু জল।’

মলিনা তাড়াতাড়ি জল আনিয়া পিতার মুখে ঢালিয়া  
দিতে লাগিল, নবি বলিল, “চিকিৎসা চাই মা, দেৱী  
করলে চলবে না। অত কাতর হয়ে না। ও পাড়ার  
ডাক্তার করুণাময় বাড়ুকে থাকেন। বড় ভাল ডাক্তার  
দয়ান্তেমনি। তুমি তার কাছে না গেলে হবে না মা।”

মলিনা দ্রুতপদে বাহির হইতেই নবি বলিয়া উঠিল,  
“ও কাপড় পরে থেকতে পারবে না মা, একটা কিছু মুড়ি  
দিয়ে যাও।” মলিনা একখানা ছিন্ন ভিন্ন রূপার গারে  
দিয়া ডাক্তারের বাড়ীর দিকে ছুটিল।

বেলা শেষ প্রায়। করুণাময় বাবু তাহার বাটীসংলগ্ন  
ছোট বাগানখানিতে বসিয়া আছেন। সৌম্যমুষ্টি বয়স  
প্রায় পঞ্চাশ। প্রথম বলিয়া বাগানেই চেয়ার টেবিল  
আনাইয়া বসিয়াছেন। ২০২৫ জন রোগী উপস্থিত,  
হুঁ এক খানা গাড়ীও তাঁহাকে লইবার জন্য ছাড়া।

ডাক্তার বাবু কি একটা লিখিতেছিলেন, ঠিক সেই  
সময় মলিনা হাঁপাইতে হাঁপাইতে করুণাময় বাবুর সম্মুখে  
দাঁড়াইল। কঠকঠ, তবুও কঁকাইয়া কাদিতে কাদিতে  
বলিল, “বাবার বড় অসুখ, নবি কাকা আপনার কাছে  
আসতে বলেন। চলুন আপনি, নইলে বাবা বাঁচবে না।”

ডাক্তার বাবু এই করুণ ও সরল আবদার শুনিয়া  
চাহিয়া দেখিলেন, একটা স্নান মলিন-বসনা সুন্দরী  
বালিকার এই আকুল আহ্বান। মলিনা আবার বলিল  
“আমরা বড় গরীব, নবি কাকা, বাবা, আমি, আমাদের  
আর কেউ নেই।”

মলিনা কাদিয়া উঠিল। সম্মুখে বালিকার মাধব  
হাত দিয়া করুণাময় বাবু বলিলেন, “আমি ডাক্তার, বাব  
না কেন মা?”

“ডাক্তারকে যে পরসা দিতে হয়, আমাদের যে  
একটাও পরসা নেই।”

ডাক্তার বাবু সে কথা চাপা দিয়া দৃষ্টিসা করিলেন,  
“তোমার কি জ্বর হয়েছে মা, এ পরমে গারে—”

মলিনা তাড়াতাড়ি বলিয়া উঠিল, “না, না, আমার  
কাপড় যে—”

ডাক্তার বাবু চক্কর জল সামলাইতে সামলাইতে  
উঠিয়া সকলকে বলিলেন ‘আমি আসছি—চল মা।’

( ৫ )

নিমাই কলেরায় আক্রান্ত হইয়াছিল। তাহার অবস্থা  
দেখিয়া করুণাময় হতাশ হইয়া পড়িলেন। শুনিলেন  
আজ দুদিন দুজনই প্রায় অনাহারী। ‘করদিন ক্রমাগত  
কদম ও শাক সিদ্ধ আহারেই এইরূপ ঘটিয়াছে।

ডাক্তার বাবু নবি ও মলিনাকে আবশ্যিক বস্ত উপদেশ  
দিয়া শেবে বলিলেন, আবার আমি কাল সকালেই  
আসব, পরে ঔষধের সঙ্গে কিছু খাদ সামগ্রীও আনাইয়া



দিলেন। অনেক করিয়া বলিনাকে কিছু খাওয়াইয়া বাড়ী করিলেন।

পরের দিন ভোর হইতেই করুণাময় বাবু আসিয়া নিমাইকে দেখিলেন। শিরের 'কাছটিতে বসিতে বসিতে জিজ্ঞাসা করিলেন “এখন কেমন আছেন?”

নিমাই সন্তুষ্টভাবে করুণাময় বাবুর মুখের দিকে চক্ষুটি বুঝাইয়া একটু কীণ হাসি টানিয়া বলিল “ভগবান যদি এতদিনে মুখ তুলে চেয়েছেন, আমাকে আর বাঁচবার চেষ্টা করবেন না ডাক্তার বাবু। এদের অনেক আগেই যাওয়া প্রার্থনীয় ছিল। কি না করেচি, পেটের জল মিথ্যে কথা পর্য্যন্ত বলেচি, আরো যদি বাঁচতে হয়, চোর হতে হবে।”

করুণাময় বাবু তাহাকে সান্ত্বনা দিতে দিতে বলিলেন “সময় মালুমকে নিয়ে এমনিই খেলায় নিমাই বাবু।”

“কিন্তু আমার নিয়ে বড় জ্বর খেলা খেলেচে ডাক্তার বাবু।” নিমাই এক এক করিয়া ছুঁথের কাহিনী বলিয়া গেল। তাহার ছুঁথের কাহিনী করুণাময় বাবুর হৃদয়কে গলাইয়া ফেলিল। মলিনা কাছেই বসিয়াছিল, অতি স্নেহে তাহার মাথায় এক খানি হাত রাখিয়া মমতার গলিয়া বলিলেন “বড় কষ্ট পেয়েচ, মা আমার।”

সন্ধ্যার সময় নিমাই বাবুর অবস্থা শোচনীয় হইয়া পড়িল। মলিনা পা ছুঁথানার উপর মাথা রাখিয়া ছুঁহাতে মুখ ঢাকিয়া কাঁদিতেছে। সমস্ত দিন ছুঁটাই করিয়া নদীর তখনও আহার হয় নাই। ডাক্তার বাবু তাহাকে কাছে ডাকিলেন, বলিলেন “এই চিঠিটা নিয়ে এখননি আমার ডিস্পেন্সারিতে যাও, দেখিয়ে ঔষধটা নিয়ে এস। দেয়ী না হয়।

নবি গামছা খানা কাঁধে কেলিয়া আগ্রহপূর্ণভাবে “জিজ্ঞাসা করিল, কেমন দেখলেন ডাক্তার বাবু?” ডাক্তার

বাবু কোন কথা বলিলেন না, চিন্তিত ভাবে ওষ্ঠ দংশন করিতে লাগিলেন। ডাক্তার বাবুর নীরবতার অর্থ সুস্পষ্ট হইয়া নবিকে আঘাত দিল। নবি কাঁদিতে জানিত না, আজ কিন্তু ছোট শিশুটার মত কাঁদিয়া ফেলিল। অশ্রুজ্বল কণ্ঠে বলিল “মা মণির তাহলে কি হবে ডাক্তার বাবু।” “যাও দেয়ী করোনা।”

নবি সংবত হইয়া তাড়াতাড়ি বাহির হইয়া পড়িল। করুণাময় বাবু নবির গন্তব্য পথের দিকে চাহিয়া চাহিয়া ভাবিতে লাগিলেন এই মুসলমান বৃদ্ধটার কথা।

\* \* \*

ডাক্তার বাবু নিমাইয়ের মুখের উপর মুঁকিয়া জিজ্ঞাসা করিলেন “এখন কেমন বোধ কচ্ছেন?”

মুখ দিয়া কথা ফুটিতে চাহিতেছিল না, ডাক্তার বাবুর দিকে তাকাইয়া জড়িতভাবে নিমাই বলিলেন “বড় সুন্দর মরা, তবে এমন সুখের মরণেও আনন্দ নেই, মজুর কথা ভেবে। ওর কি হবে। নিমাই উদ্বেজনাবশে তড়াক করিয়া উঠিয়া বসিয়া, করুণাময় বাবুর হাত ছুঁখানা জড়াইয়া বরিলেন।

ডাক্তার বাবু বীরে তাহাকে শোয়াইয়া দিয়া বলিয়া উঠিলেন “আমার কিছু চাইবার আছে, আপনার কাছে নিমাই বাবু, আমার ছেলেটা এম-এ পড়ে, তার জন্যে একটা পাত্রী খুঁজিলাম, মলিনাকে আমার দিন এই আমার চিকিৎসার ‘ফি’।”

নিমাই উর্দ্ধবৃষ্টিতে জোড়করে অশ্রুনেত্র তপ্বানের উদ্দেশে বলিল “তোমার সব দয়াটা এই ভিক্ষকের শেষ মুহূর্তে ঢেলে দেবে বলে রেখেছিলে?” মলিনাকে কাছে টানিয়া বলিলেন “মা মজুর তোমাকে পিতৃহারা হতে হ’ল না, যাও দেবতার পায়ের ধূলা নিয়ে এস।”

শ্রীমুরেশ চক্রবর্তী ।



## গান

মনের মতন মতন করে  
 বেঁধেছি আজ বীণার তার ;  
 আকুল সুরে গাইব রে গান,  
 বিলিয়ে দিব সুধার ধার ।  
 যে সুর বাজে ধরার প্রাণে,  
 সুলের বৃকে, শাগর-গানে,  
 কানন-কোলে পাখীর তানে—  
 জাগিয়ে সুরের পারাবার,  
 সেই সুরে আজ বন্ ঢেলে যোর,  
 বাধ্ব ওপো বীণার তার ।

বুচিয়ে দিব সবার জালা,  
 ফুটেবে হাসি মলিন-মুখে ;  
 পতিত্বে যে জন তারেও টেনে  
 নিবিড় করে লইব বৃকে ।  
 সবারে আজ সুরের টানে  
 আন্ব হেথায়,—আলোর পানে,  
 মিলন হবে প্রাণে-প্রাণে,  
 কণ্ঠে দিব প্রীতির হার ;—  
 মনের মতন মতন করে  
 বেঁধেছি আজ বীণার তার ।

বেলা গুহ ।

## পাশ্চাত্য নাট্য ।

আধুনিক সকল স্রষ্টক সমালোচকই স্বীকার করেন যে ইংরেজী ভাষার নাটক পুনরায় উজ্জীবিত হইয়াছে । ইংলণ্ড ও আমেরিকার বহু নাট্যকারের নাট্য শুধু ছ' বর্ষী দীপালোক উদ্ভাসিত রঙ্গমঞ্চে আনন্দ দিয়াই পর্য্যবসিত হয় না, সে জগিতে রীতিমত পড়িবার ও তাবিবার জিনিস আছে । মধ্যে কিছুদিন ইংলণ্ডে পাঠোপযোগী নাট্যের বথেই অভাব ছিল, সেই জন্য তথায় নাট্য-পাঠেও লোকের অকৃতি কমিয়া গিয়াছিল ।

ক্রমে কোন দিনও নাট্য পাঠে অকৃতি দেখা যায় নাই, কারণ সেখানে নাট্য ও সাহিত্য কোন দিন ভিন্ন পদ্য অবলম্বন করে নাই, অষ্টাদশ শতাব্দীর শেষ ভাগে ইংলণ্ডে তাহাই ঘটয়াছিল । এখন আটলাণ্টিকের উত্তর তীরস্থ ইংরেজ জাতিই সে ভুল শোধরাইয়া লইয়াছে ।

১৮১৪ খৃঃ Scottএর 'Waverly' প্রকাশিত হওয়ার পর আরও বহু গল্প ও উপজ্ঞাস প্রকাশিত হইতে থাকে,

সেই সময়েই উপজ্ঞাস নাট্যের প্রতিদ্বন্দী রূপে দণ্ডায়মান হয় । অষ্টাদশ খৃঃ ইংলণ্ডে হান্ত ও করুণ রসাত্মক নাট্য থিয়েটারে অভিনীত হইয়া গেলেই পুস্তকাকারে প্রকাশিত হইয়া পাঠাগার সমূহে বিক্রয় করিত এবং যে জলি ভাল হইত তাহার বহু সংস্করণ হইয়া বাইত । সে সময়কার নাট্য সমূহ উপজ্ঞাস অপেক্ষা পাঠযোগ্য ছিল, এবং পাঠযোগ্য নাট্যের সংখ্যাও অধিক ছিল । উনবিংশ শতাব্দীর প্রথম ভাগে Hazlitt লিখিয়াছিলেন "To read a good comedy, is to keep the best company in the world, where the best things are said and the most amusing happen."

উনবিংশ শতাব্দীতে ইংরেজী নাট্য সাহিত্য বরুচুমির জায় হইয়া গিয়াছিল । এই সময় করাসী নাট্য খুব উন্নত হয় । Victor Hugo'র পর Dumas এবং Emile Angier এবং তৎপর Hervien এবং Rostand করাসী নাট্য সাহিত্য উজ্জল করিয়া যান । Rostand'র একখানা



নাট্য 'Cyranono de Bergerae' চারি পাঁচ লক্ষের নিযুক্ত হন। Mr Shaw, Sir James Barrie, Mr উপর বিক্রী হইয়া গিয়াছে। Maeterlinckএর নাট্য সমূহের প্রচার তাহার অল্প রচনার চেয়ে অনেক অধিক হইয়াছে।

করাসী নাট্যকার সাধারণতঃ প্রথম অভিনয়ের পরই তাহার নাট্য প্রকাশিত করেন। প্রথমে রঙ্গমঞ্চে অগ্নি পরীক্ষা হইয়া যায় পরে কালের সুখে ফেলিয়া দেওয়া হয়—সময় শুণ বিচার করিবে। প্রথমে রঙ্গমঞ্চেই নাট্যের শুণ বিচার হয়, সাহিত্য হিসাবে মূল্য কতখানি সে বিচার পরে হয়।

যদিও শতাব্দী পূর্বে ইংরেজ সমাজের নাটক পাঠের খুবই অভ্যাস ছিল কিন্তু ক্রমশঃ উপজ্ঞান সাহিত্য আধিপত্য বিস্তার করিতে থাকায় প্রকৃত নাট্য কৌশলি গণও উপজ্ঞান প্রণয়নে যৌক দেওয়ার সাধারণের নাট্য পাঠ পিপাসা বন্দীভূত হইয়া আসিতেছিল। ইংরেজী নাট্যশালার অধ্যক্ষগণ বিনা মূল্যেই Kotzelene, Scribe প্রভৃতি বিখ্যাত প্রাদেশিক নাট্যকারগণের নাট্য অভিনয় করিতে পারিতেন সুতরাং তাহারা দেশীয় নাট্যকারগণের নাট্য পারিশ্রমিক দিয়া লইতে চাহিতেন না। পরিশ্রম-কারিগণ তাহাদের পারিশ্রমিক পাইবার আশা করেন, যদি তাহারা বুঝিতে পারেন পরিশ্রম করিলেও তাহার কোন মূল্য নাই তখন তাহারা পরিশ্রম করিতেও অস্বীকার করেন। এই জন্যই উনবিংশ শতাব্দীর প্রারম্ভে ইংরেজী নাট্য সাহিত্য এত গ্লান হইয়া পড়িয়াছিল। লেখকেরা তখন নাট্য ছাড়িয়া উপজ্ঞান প্রণয়ন আরম্ভ করেন, উপজ্ঞানসে রূতকার্য হইলে তাঁহাদের অর্থাগমের যথেষ্ট সাহায্য হইত। এই সময় International stage right বলিয়া কোন আইন ছিল না, সুতরাং প্রাদেশিক নাট্যকারদের নাট্য ইংলণ্ডের রজালয় সমূহে বৃহৎ অভিনীত হইত। বিদেশী তাল নাট্য বিনা-মূল্যে পাওয়াতে দেশী নাট্যের মোটেই আদর হইত না। উনবিংশ শতাব্দীর শেষ ভাগে আইন পরিবর্তিত হইয়া গেলে ইংরেজী সাহিত্যে নাট্য পুনরায় উত্থান লাভ করে। বাহ্যরা উপজ্ঞানিক হিসাবে সাহিত্যিক জীবন আরম্ভ করেন তাহারাও নাট্য সাহিত্য সেবার

নিযুক্ত হন। Mr Shaw, Sir James Barrie, Mr Galsworthy, Mr Bennet, Mr Tarkington ইহারা সকলেই ঔপজ্ঞানিক হিসাবে সাহিত্য কার্যে ত্রুতী হইয়া পরে নাট্য রচনাই মূল্য উদ্দেশ্য করেন। পূর্বে যেরূপ ঘটনাছিল এখন তাহার বিপরীত আরম্ভ হইল। Cervantes, Le Sage, Fielding, Smollett সকলেই প্রথমে থিয়েটারের জ্ঞান লিখিতে চেষ্টা করেন পরে উপজ্ঞান প্রণয়নে ত্রুতী হইয়াছিলেন। Scott ও Belzac চরিত্র সকল যেমন জীবন্ত পারিপার্শ্বিক ঘটনাবলীর সহিত ষাপ ষায়, Cervantes, Fielding ইহাদের চরিত্র জীবিত সচল বটে কিন্তু পারিপার্শ্বিক ঘটনাবলীর সহিত তেমন সংশ্লিষ্ট নহে।

ঔপজ্ঞানিক চরিত্র সমূহ চিত্রিত করেন, তাহাদের কার্যাবলী, তাহাদের চিন্তা অমূল্য শক্তি সমস্তই আশ্রয় বুঝিতে পারি। নাট্যকারের চরিত্র সমূহের চিন্তা অমূল্য শক্তি আমাদের কাছে তাহাদের কথোপকথন হইতেই বুঝিতে হয়। থিয়েটারে বসিয়া এক একটি কথা আমাদের হৃদয়ে খুব লাগে, বুঝিতেও কষ্ট হয় না ; কিন্তু যখন একাকী পাঠ করি শুধু চক্ষে দেখি কর্ণে তখন হয়তো সে কথাটি তেমন ভাবে ধ্বনিত হইবে না। যে নাট্য পাঠে আনন্দ পাওয়া যায় না সাহিত্য হিসাবে তাহার মূল্য সামান্য। ইহার প্রথম উপস্থিতিতে বস্তুই লাড়া পড়িয়া ষাউক না কেন ইহা কেবল থিয়েটারের জ্ঞানই, দু'দিন সেখানে অভিনীত হইয়া চিরতরে বিস্মৃতি গর্ভে ডুবিয়া যায়। ইহাও আবার মনে রাখিতে হইবে নাট্য সাধারণতঃ থিয়েটারের উদ্দেশ্যেই রচিত হয়। নাট্য সাহিত্যের উৎকৃষ্ট রত্নরাশি থিয়েটারের জ্ঞানই রচিত হইয়াছিল। Sophocles, Shakespeare, Moliere প্রভৃতির প্রত্যেক নাট্যই তাহাদের সমসাময়িক জনগণের সমুখে অভিনীত হইবার জ্ঞানই লিখিত হইয়াছিল। যখন সেকপিরার তাহার সমুখে তাহারই চরিত্র সমূহ জীবন্ত ভাবে প্রতিকলিত হইতে দেখিয়াছিলেন তখন বোধ হয় তাহার মনে ইহার স্বাধিক সম্বন্ধ আর কোন সন্দেহ ছিল না। বস্তুতঃ আমরা যদি কোন নাট্য শুধু অভিনয় দেখিয়াই বিচার করি তবে সম্ভবতঃ এইরূপ দীড়ার যে



একখানি চিত্রের কটো দেখিয়া মূল চিত্র সৌন্দর্য্য বিচার করিতেছি। অবশ্য যদি চিত্রকর কেবল হাতে ধরি অবস্থার থাকেন তবে কটো বন্দ দেখাইবে না, কিন্তু প্রকৃত চিত্রকরের চিত্রের কটো হইতে কি মূল চিত্রের বিচার করা চলে? যদি নাট্যকার প্রকৃত কবি হন তবে তাহার নাট্য পাঠে আমরা তৃপ্ত হইব, আর যদি নাট্যকার কবি ও নাট্যকার দুই হন তবে পাঠে ও অভিনয়ে আমরা সম্মান আনন্দই লাভ করিতে পারিব।

সেকপিয়ারের প্রেষ্ঠ নাট্যগুলি আজকাল খুব কমই অভিনীত হয়, কচিং হয় না, আধুনিক নাট্য সমূহ কিছু দিন খুব আসর জমায় তারপর হয় একেবারে নীরব কখনও বা আবার পুনরুত্থান (Revival) হয়। প্যারীর Theatre Francais এ শীতকালে সমস্ত পুরাতন ও নূতন নাট্য সমূহের অভিনয় হয়।

আধুনিক প্রকাশকেরাও নাটক উপজ্ঞাসের জায় কাটাইবার চেষ্টা করিতেছেন। Mr John Galsworthy, Mr Arnold Bennet, Mr Booth Tarkington ইহাদের উপজ্ঞাসের মত বাজারে নাট্যও বধেই বিক্রয়ার্থ আছে তবে কাটুতি অপেক্ষাকৃত অল্প। Mr George Bernard Shawর উপজ্ঞাস অপেক্ষা নাট্যেরই কাটুতি বেশী, কারণ নাট্যেই ইহার রুচি অধিক। নাট্য উপজ্ঞাসের জায় শুধু বাজারে কাটিতেছে তাহা নহে, এখন আবার মাঝে মাঝে বিখ্যাত মাসিক সমূহও ক্রমশঃ প্রকাশ্ত অথবা সম্পূর্ণ নাট্য প্রকাশ করিতেছেন।

আধুনিক বহুনাট্য অভিনয় দেখিতে ও পাঠে সম্মান আনন্দই প্রাপ্ত হই। কতক বা ফরাসী, জার্মেন প্রভৃতি প্রাদেশিক ভাষা হইতে অনূদিত, কতক বা ইংলণ্ড ও আমেরিকার নাট্যকার দিগের লেখা। পাশ্চাত্য জগতে অধিকাংশ উপজ্ঞাসেই যেমন সমাজ সমস্যা লইয়া আন্দোলন চলিতেছে আধুনিক অধিকাংশ নাট্যেও তেমন সমাজ সমস্যার আলোচনাই চলিতেছে।

অর্জনভান্ডী পূর্বে যে নাট্য পাঠযোগ্য তাহা অভিনয়যোগ্য ছিল না, আর বাহা অভিনয়যোগ্য তাহা পাঠযোগ্য ছিল না, এখন বহু নাট্য একসঙ্গে পাঠযোগ্য ও অভিনয়যোগ্য হইয়াছে।

Sir James Barrie তাহার সুন্দর হাস্যরসাত্মক নাট্য Quality street প্রকাশিত করিয়াছেন। Henry Arthur Jones তাহার সুন্দর নাট্য The divine gift থিয়েটারে অভিনীত হইবার পূর্বেই প্রকাশিত করিয়া ছিলেন। Mr Galsworthy তাঁহার রচিত তিন চারি খানি করিয়া নাট্য এক এক খণ্ডে প্রকাশ করিয়াছেন, Lady Gregory তাহার অর্ধ ডজন নাট্য এক খণ্ডে প্রকাশ করিয়াছেন। ইহাতে আইরিশ জীবনের হাসি ও দুঃখ দক্ষতার সহিত চিত্রিত হইয়াছে। পাশ্চাত্যের সকল নাট্যকারদের মধ্যে ইবসেনই এখন বিখ্যাত, ইহার নাট্য পাঠে আনন্দও আছে লাভও আছে। বাহুবীর হৃদয়তম অন্তর প্রযুক্তি, আশা, আনন্দ, হর্ষ বিবাদের এমন খেলা আর কোন নাট্যকার তেমন ভাবে ফলাইতে পারেন নাই। নুইডেনের বিখ্যাত ঔপন্যাসিক ও নাট্যকার ট্রীওবর্গের করেক খানি নাট্য ইংলণ্ড ও আমেরিকায় অভিনীত হইতেছে। জার্মেনীর বিখ্যাত নাট্যকার Gerrard Hauptman র বহু নাট্য ইংরেজীতে অনূদিত ও অভিনীত হইয়াছে। ইহার সব চেয়ে বিখ্যাত নাট্য 'Weaverer' আমাদের দেশী নীলদর্পণের মত। নীলদর্পণের ঘটনা ও Weaverer র ঘটনা ও একই। বিখ্যাত পাশ্চাত্য ঔপন্যাসিক D 'Anunzio র করেকখানি নাট্যও সম্প্রতি ইংরেজীতে বাহির হইয়াছে। পাশ্চাত্য আধুনিক নাট্যকারদের নাট্যে ঘটনা বৈচিত্র্য অপেক্ষা মনর বিশ্লেষণের আধিক্যই অধিক। তিন একে বৈঠকখানায় খাবার ঘরে ও বাগানেই এখনকার পাশ্চাত্য যুগান্তকারী এক একখানি নাট্য শেষ হইয়া বাইতেছে। পড়িয়া মনে হয় মনের একটা খোরাক জুটিল Oscar Wildeর বিখ্যাত করেকখানি নাট্য আছে। An Ideal Husband, 'A Woman of no Importance', Lady Windermers Fan'. Wildeর এই নাট্য করখানি প্রতি রঙ্গপ্রদীপ পাঠককে পড়িতে অনুরোধ করিতে পারি। Sir Arthur Pineroর নাট্যগুলি সুন্দর হাস্যরস রসিকতার ভরপুর।

নাটক পাঠ ও উপজ্ঞাস পাঠ এক নহে, নাটক পাঠ করিতে নাট্য ভাবেই পড়িতে হয়। যেম প্রতিটি চরিত্র জীবন্ত, তবেই নাট্য পাঠে আনন্দ পাওয়া যায়।



বার্ণার্ডশ বেমন পাঠকের অভাবের প্রতি লক্ষ্য রাখিয়া নাট্য রচনা করিয়াছেন এমন আর কেহই নহে। তাহার নাট্যের কথোপকথনগুলির মত Stage Directionsগুলিও পাঠে যথেষ্ট আনন্দ পাওয়া যায়।

নাট্য পাঠেরও একটা art আছে। তাহারও সাধনা করিতে হয়, এবং কৃতকার্য হইলে আবার অবসর সময়ে নাট্য পাঠে আবার বিপুল আনন্দ লাভ করিতে পারি।

দর্শকভাষ্যাক্রান্ত নাট্যশালায় বাইরা বাহার অভিনয় দেখিতে অনিচ্ছুক তাহার। নাট্য পাঠেই সে আনন্দ লাভ করিতে পারেন। বেলজিয়ামের সুপ্রসিদ্ধ নাট্যকার মেটারলিক তাহার নিজ নাট্যের অভিনয় দেখিতেও কদাচিৎ নাট্যশালায় পদাৰ্পণ করিয়া থাকেন।

সময় ও সুযোগ হইলে বারান্তরে নাট্যকথার বিশদ আলোচনা করিবার ইচ্ছা রহিল।

শ্রীজ্ঞানেন্দ্রনাথ চক্রবর্তী ।

## বাদ্‌লারাতের ব্যথা ।

বাদ্‌লারাতের উদ্‌গা হাওয়ার উৎপলে উঠে উদাস প্রাণ,  
পড়ছে মনে পুরাণ কথা—বইছে বুকে ব্যথার বান।  
কাজল-পরা সজল চোখের সেই দিগ্‌টি আঁকে গো—  
নুতন করে বেদন দিতে হৃদয় কোণে জাগছে গো।

পড়ছে মনে লপায় কথার চলত যে তার কপট মান,  
এমনি শাওন ধারার মত ছুটত আঁধার অশ্রু-বান।  
সোহাগ করে বকে ধরে দিতেম চুম্বো অধর-পুটে,  
বিজলী লব আঁধার টুটি হান্ত যে তার উঠত কুটে।

আজ সে কথা স্বপ্ন শুধু—বাদ্‌লারাতের সাস্থনা,  
জমাট-বেষে চাঁদের উঁকি—কবির বুকের কল্পনা।  
আলোয়ারি আলোর রতন এ যে শুধুই বকনা,  
হৃৎকের নাকে স্রবের ক্রহক করুছে কেবল উন্ননা।

যক্‌ সম দরদ আমার—মরমব্যথা কই করে,  
তাকিয়ে আছি মেঘের পানে কণিক যদি পাই তারে।  
হাওয়ার তাগে তার সে কেশের সুবাস বেন আসছে গো,  
নীল-মেঘে তার নীলাবরীর আঁচল খানি ছলছে গো।

ওই না মেঘের পাল তুলে সে আসল হেথা আসল না ?  
—জড়-বীণে মোর উঠল বাণী—‘মিথ্যে এ সব কল্পনা’।  
তাই’ত প্রিয়া মনের বনে ফুটল না বঁুই-মল্লিকা,  
বার্ধ হল প্রতীক্ষা-বাগ—অলগ না যে প্রেম-শিখা।

চাতক্‌ সম পিরাস আমার—তিরাস’ত হায় মিটল না,  
স্বপ্ন-পারা স্বপ্নের পরশ করল মিছে আনুমনা।  
বাদ্‌লারাতের আর্দ্রনাথে উৎপলে উঠে হৃৎকের বান,  
হৃদয় জুড়ে বাজছে শুধু একটি ব্যথার করুণ গান।

শ্রীশ্রীপতিপ্রসন্ন বোষ ।



## বাঙ্গালীর শিল্প-সাধনা।

বিশ্বশতাব্দীর বিষম অন্নসমস্যার দিনে, নিরন্ন, দরিদ্র, দৈন্তদশাগ্রস্ত বাঙ্গালীর নিকট আজ আমার মত নগণ্য লেখকের শিল্প-সাধনার কথা উত্থাপন করাই বৃথা। তথাপি নিতান্ত নিলজ্জের মত কতকগুলি কথা বলিয়া বাইব; তাহাছাড়াই প্রমাণ হইবে, আমরা এই কর্ষের যুগে শিল্পসাধনার কতদূর অগ্রসর হইরাছি। আজ-কাল বাঙ্গালীর শিল্প বলিতে কিছুই বুঝায় না। যে জাতিকে অন্নচিন্তার সহিত আত্মবিশ্বাস সংগ্রাম করিতে হয়, যে জাতির অন্নচিন্তাই জীবনের সারস্বত হইয়া দাঁড়ায়, সে জাতির পক্ষে শিল্প সাধনা সুদূর পরাহত। বাঙ্গালার একদিন ছিল। বেদিন গৌড়ের মতিমসৃজিত, ভুবনেশ্বরের দেব মন্দির, ঢাকার মসলীন বস্ত্র, শম্ম-শিল্প প্রভৃতি দর্শন করিবার জন্য বহুদূর দেশ হইতে পরিভ্রাজকগণ আগমন করিতেন। বেদিন ঢাকার মসলীন চাদর দর্শন করিয়া এককালে বিলাতের লোক ভূত্বিত হইয়াছিল, আজ সেদিন কোথায়? বহুদিন হইল বাঙ্গালীর সে শিল্প-গৌরব অন্তরিতপ্রায়; বহুশতাব্দী পূর্বেও বাঙ্গালার মুসলমান রাজত্বে বাঙ্গালীর শিল্পগৌরব ছিল, তখনও শিল্পীগণ রাজদরবারে রীতিমত সম্মানিত ও উৎসাহিত হইতেন, আকবর ও জাহাঙ্গীর বাদশাহের সময়ও ঢাকানগরী বাঙ্গালার মধ্যে শিল্প-সাধনার উৎকর্ষতা লাভ করিয়াছিল। তখনও বাঙ্গালার স্থপতিবিভাগ উৎসাহ পূর্ণমাত্রায় চলিতেছিল। তাহার সাক্ষ্যরূপ এখনও দেবমন্দির ও জুম্মা মসজিদগুলি তথ্য ও অর্দ্ধভগ্ন অবস্থায় দণ্ডায়মান রহিয়াছে। সেরূপ শিল্পী আজকাল বাঙ্গালার কেন সমগ্র জগতে ছুড়ত। বাঙ্গালীর শিল্পসাধনার একমাত্র তীর্থ-ক্ষেত্র ঢাকা আজ নীরব; শিল্পদেবতা বিধ্বংসী আছেন, কিন্তু তাহার চরণে অর্ঘ্য দিবার পুষ্পাঞ্জলি নাই। বঙ্গ-মাতার কৃতীসন্তানআজ নানাবিধ শিল্প-অভ্যর্থন ও বেশকুসার পরিবর্তে হাহাকারও চক্ষুজলে তাঁহাকে সজ্জিত করিতে বাধ্য হইরাছে। বঙ্গমাতার এ বেশ দর্শনে তাহার সাধক সন্তান আজ লজ্জিত, ও অল্পভগ্ন; এর চেয়ে

শোচনীয় অধ্যাপন, আর কি হইতে পারে? যখনই যে দেশে শিল্পসাধনা বিলুপ্ত হইয়াছে, তখনই সেই দেশ হীন, দরিদ্র হইয়া পড়িয়াছে। যখনই যে দেশে শিল্পীর অনাদর হইয়াছে, যখনই যে দেশে শিল্পী তাহার শিল্পসাধনার পবিত্র তত্ত্বময় পরদেশীকে বিলাইয়া দিয়াছে, তখনই সেই দেশের জাতীয় উন্নতি চিরতরে বিলুপ্ত হইয়াছে; তখনই সেই জাতি অলস, নিশ্চেষ্ট ও দুর্বল হইয়া পড়িয়াছে, অন্নসমস্যার হাহাকারে দিপ্ত ব্যাপ্ত করিয়াছে। উন্নত-হীন, নিরৎসাহ, চিরদরিদ্র শিল্প-সেবকের চরিত্র দেখিলে, আর অতীতের কথা স্মরণ করিলে শোকের একটা প্রবল বজা বেন পূর্ণবেগে বাহির হইতে চায়।

বর্তমানযুগে বাঙ্গালীর শিল্পসাধনার পথে কতকগুলি অন্তরায় রহিয়াছে, মানসিক দৌর্বল্যের জন্য সে ঐ অন্তরায়গুলি অতিক্রম করিতে সক্ষম হয় না, কারণ অন্তরায়গুলি এতই ভয়ানক যে, তৈরী, অধ্যবসায় ও অন্তরের শক্তি ব্যতীত সেগুলি অতিক্রম করাই কঠিন। সেই সকল অন্তরায়ের মধ্যে ১ম অন্তরায় শিল্প ও বাণিজ্যের পথে দণ্ডায়মান হইয়া আমরা যে শুধু দেশবাসীর উৎসাহ ও সাহায্য হইতে বঞ্চিত হই তাহা নহে, অধিকন্তু পুরস্কারের পরিবর্তে তিরস্কার, ঘৃণা, লাঞ্ছনাও প্রাপ্ত হই। তাহার কারণ বাঙ্গালী এখন চাকুরীবৃত্তিকেই জীবনের সর্বস্ব ধন মনে করে। ইহার প্রমাণরূপ অধ্যাপক ত্রিযুত যোগেশচন্দ্র চৌধুরী মহাশয় বলিয়াছেন “বাঙ্গালার কার্য জাতি প্রায়ই মসীজীব হইয়া কোনরূপ সংসার ব্যতী নির্বাহ করিয়া থাকে, তথাপি নিজপ্রাণে স্বাধীন-ভাবে জমিজমা লইয়া বাস করিতে ভালবাসে না।”

দ্বিতীয় অন্তরায় বৈবাহিকনিষিদ্ধ যুগ ও বিবেচ। অমৃত, আর্থাগণ যখন ভারতবর্ষে প্রথম উপনিবেশস্থাপন করিয়া-ছিলেন, কর্তব্যকর্ম ও উপজীবিকার সুশৃঙ্খলা বিধান করিবার জন্যই জাতিবিভাগ ও কর্মবিভাগ করিয়াছিলেন। তখনকার যুগে বিভিন্ন জাতির বিভিন্ন প্রকার উপজীবিকা ছিল, কিন্তু তথাপি তাহা সুশৃঙ্খলভাবেই ছিল। কিন্তু



এই জাতীয় বৈষম্যের জন্যই শিল্প ও বাণিজ্য জাতিগত ছিল, ক্ষুদ্র একটীমাত্র জাতির গভীৰ্মধ্যে সাংঘ ছিল, কিন্তু বৰ্ত্তমান যুগে তাহারা আর ক্ষুদ্র গভীৰ্মধ্যে আবদ্ধ থাকিতে চায় না, তাহারা চায় বিশ্ববাসী সকলেই তাহাদের সাধনা করুক। জাতীয় বৈষম্য যে আজ বাঙ্গালীর শিল্পসাধনার কতদূর ক্ষতি করিয়াছে, তাহা বিবেচক ব্যক্তি যাত্রাই বুঝিতে পারিবেন। যে শিল্পিগণের শিল্পজাত দ্রব্য আমাদের নিত্য প্রয়োজনীয়, যে বস্ত্র আমাদের জন্য হইতে যুত্য় পর্য্যন্ত সাধের সাথী, যে সকল দ্রব্য না হইলে আমাদের জীবনযাত্রা নির্বাহ একপ্রকার অসম্ভব হইয়া পীড়ায়, তাহা হাই 'তাতি' 'জোলা' 'ছুতোরা' ইত্যাদি আধার সমাজের নেতৃবর্গ কর্তৃক স্থপিত, লাহিত; সমাজের মধ্যে তাহা হাই নিকট জাতি বলিয়া গণ্য; সমাজের কোনও উচ্চস্থানে তাহাদের অধিকার নাই, এমন কি তাহাদের হস্তের জল স্পর্শ করিলে পর্য্যন্ত জাতি যায়, মানমর্যাদা লুপ্ত হয়। হাররে! দারিদ্র্যের করাল ও ভয়াবহ মূর্ত্তি দর্শন করিয়া যে বাঙ্গালী সংসারের ব্যাভ্রাপথে ভীত, আর্ন্ত ও ব্যাকুল হয়, জীবনযাত্রা নির্বাহই বাহার পক্ষে কঠিন হইয়া পীড়ায়, সেও জাত্যাভিমানের বশীভূত হইয়া তত্ত্বাব, হৃদয়ের প্রকৃতি স্বাধীন জীবিকাক্ষমকারী, সংসার ব্যাভ্রাপথের একমাত্র কর্ণধারগণের সহিত কণাধার্তা পর্য্যন্ত বলিতে যুগা বোধ করে। এর চেয়ে শোচনীয় পরিণাম আর কিসে হইতে পারে? আমেরিকায় শিল্প ও বাণিজ্যের প্রসার এতদূর বৃদ্ধি প্রাপ্ত হইয়াছে যে, আমেরিকাবাসী জাতীয় বৈষম্যের আশঙ্কার সর্বদাই সশঙ্কিত। বাস্তবিক, বিজ্ঞা, শিক্ষা, ধন, মান, জ্ঞান, শিল্প, বাণিজ্য প্রকৃতি বাহা কিছু মানবজীবনের প্রাপ্য সকলই যদি জাতির ক্ষুদ্র গভীৰ্মধ্যে আবদ্ধ থাকে, বিকৃতের কোনও পথ না পায়, তাহা হইলে দেশময় সমাজময় জাতীয় বিবেদ, বৈষম্য, যুগা, হিংসা প্রকৃতি বিশ্বজ্বা উপস্থিত হয়।

জাতীয় অন্তরায় জাপান, আমেরিকা প্রকৃতি স্বাধীন দেশের মত প্রজাসাধারণের শিল্প-শিক্ষার নিমিত্ত আমাদের দেশে শিল্পের জন্য বেশী কিছু ব্যয় হয় না। জাপান, আমেরিকা প্রকৃতি দেশে বাহাতে সংসার ব্যাভ্রাপথে দণ্ডায়মান হইয়া জীবিকাক্ষমের উপায় খুঁজিবার জন্য

পরমুখাপেক্ষী না হইতে হয়, এই নিমিত্ত বহুকাল হইতেই শিল্পবিজ্ঞাটা বেশ ভাল বকমে শিক্ষা দেওয়া হয়; তাই তাহাদের শিল্পসাধনাই জীবনের সারস্বত হইয়া পীড়ায়, তাই তাহারা কর্ম্মময় জগতে আসিয়া একদুহুর্ন্তে সময়কে মহার্ঘ্য বস্ত্র বলিয়া মনে করে। আর বাঙ্গালীর জীবনের একমাত্র সাধনা ও উদ্দেশ্য হইয়া পীড়ায় বোড়শবর্ষে পদার্পণ করিবার সঙ্গে সঙ্গে বিবাহ করিয়া অষ্টাদশবর্ষ বাইতে না বাইতেই দুই তিনটা সন্তানের পিতা হইব, আর সংসারের ব্যাভ্রাপথে দণ্ডায়মান হইয়া জীবিকাক্ষমের উপায় খুঁজিয়া বাহির করিতে গিয়া অর্থচিন্তায় অর্জরিত হইব।

৪র্থ অন্তরায় আমাদের মধ্যে কেহ যদি পুঙ্কে এক-খানি ছবি আঁকিতে দেখেন, কিম্বা একখানি কাষ্ঠকলক খুঁদিতে দেখেন, তাহা হইলে আর রক্ষা নাই। তৎক্ষণাৎ তাহারা মনে করেন সর্বনাশ হইয়াছে, ছেলের অধঃপতন অনিবার্য্য, আর কি ছেলের পড়াশুনার দিকে মনোনিবেশ হইবে? ইত্যাদি। তারপর হয় কি,—একগতিতে ধাবিত উদ্ভ্রম তরঙ্গবেগে ক্রুদ্ধ করিতে গিয়া তাহারা স্রোতের আঘাতে স্রবৎসিক্ত হইয়া আসেন, তখন যুগা চেঁচায় ফল স্বরূপ অকৃতকার্য্যতা ও অবশেষে অন্তশোচনা ভোগ করিয়া থাকেন। তাহাদের মনের ভাব ছেলে বিশ্ববিজ্ঞানের এক একটা ডিগ্রী গ্রহণ করিবে, আর বংশ উদ্ধার করিবে। এই হইলেই হইল, জীবনে তাহার আর দ্বিতীয় কর্তব্য নাই; স্বার্থময় জগতে জন্মগ্রহণ করিয়া আমরা প্রথমতঃ নিজ নিজ অভিভাবকের নিকটই বাধাপ্রাপ্ত হই। এই-রূপে শিল্প জননীর কোড়ে জন্মগ্রহণ করিয়া শিল্পসাধনার সিদ্ধিলাভ করিতে হইলে আমাদেরকে বহুবিধ বাধাবিধ অতিক্রম করিতে হয়। যতদিন উল্লিখিত অন্তরায়গুলি এ দেশ হইতে বিদূরিত না হইতেছে, ততদিন আমাদের শিল্পসাধনার পূতময় নীরব থাকিবে, ততদিন আমাদের দারিদ্র্যের সহিত আত্মবিশ্বাস সংগ্রাম করিতে হইবে।

এই সকল অন্তরায় জয় করিয়া যে করেকজন বাঙ্গালী শিল্পসাধনার সিদ্ধিলাভ করিয়াছিলেন, তাহাদের সংক্ষিপ্ত বিবরণী নিয়ে প্রদত্ত হইল।

“১৮৮১ অব্দে বড়ের সুপ্রসিদ্ধ চিত্রশিল্পী ত্রীযুক্ত বামাণদ বন্দ্যোপাধ্যায় এলাহাবাদ আগমন করেন এবং কিছুদিন



তাহার আত্মীয় ডাক্তার ব্রজনাথ বাবুর বাড়ী থাকিয়া সাহসপূর্ণ পল্লীতে সপরিবারে বাস করিতে থাকেন।

ইতিপূর্বে ১৮৭৯ অব্দে কলিকাতা শিল্পপ্রদর্শনীতে তিনি সুনাম অর্জন করিয়াছিলেন। প্রদর্শনীতে তিনি যে তৈলচিত্রখানি প্রদর্শন করেন তাহা প্রদর্শনী সভা কর্তৃক "The best figure subject in oil by a native of India" অর্থাৎ সর্বোৎকৃষ্ট বলিয়া বিবোচিত হয় এবং তৎকালে তিনি একটি সুবর্ণ পদক পুরস্কার প্রাপ্ত হন।

সুপ্রসিদ্ধ শিল্পসাধক, বাণীর একনিষ্ঠ সেবক বাঙ্গালার চিত্রশিল্পের উদ্ধার কর্তা শ্রীযুত অবনীন্দ্রনাথ ঠাকুরের নাম উল্লেখযোগ্য। তাহারই চিত্রশিল্প সাধনার অগ্রগামী পুত্রমূলে এককালে বাঙ্গালা স্তম্ভিত ও বিস্মিত হইয়াছিল। তিনিই যেদিন সর্বপ্রথম বাঙ্গালার চিত্রশিল্পের দ্বার

উন্মোচন করিলেন, সেইদিন তাহার নামে জয় জয়কার পড়িয়া গেল।

তবে একটি স্মরণ্যাদ আছে, একটি শুভ আশারবাণী শুনিতে পাওয়া গিয়াছে—কতদূর সকলতা লাভ করিবে তাহা অন্তর্ধ্যায়ী ভগবানই জানেন। আশার কথাটি এই বিশ্ববিদ্যালয়ের একটি দরবারে নাকি এই প্রস্তাব উঠিয়াছে, "দেশে অন্নসম্ভা। যেরূপ ক্রমেই ভীষণ হইয়া দাঁড়াইতেছে, তাহাতে বিদ্যালয়ে কয়েক প্রকার জীবিকার্জনকারী শিল্পশিক্ষার বন্দোবস্ত করা একান্ত বিধেয়।" শ্রীযুত যোগেশচন্দ্র চৌধুরী মহাশয়ের সহিত আমরাও একবাক্যে বলি "যতদিন শিল্পশিক্ষার জন্ত যত্ন বিদ্যালয় বহুল পরিমাণে স্থাপিত না হয়, ততদিন আমাদের অন্নসম্ভার কোন মীমাংসাই হইবে না।"

শ্রীদীনেশচন্দ্র লাহিড়ী।

## জাগরণ

তখন তুমি ছিলে ও গো  
অনেক খানি ঘুরে,  
সম্পদেতে ছিল আমার  
ভবন হবে পুরে।

সেদিন তুমি ছিলে প্রিয়  
কে জানে কোন্‌ খানে,  
পূর্ণ হবে ছিল পরাণ  
অহঙ্কারে-মানে।

লুকিয়ে ছিলে সে দিন বঁধু  
গভীর অন্তরালে,  
যে দিন আমি কড়িয়ে' ছিলাম  
মোহের পাড় জালে।

আজ্কে একি ঝটকা হাওয়ার  
আমার গভীর নিশা,  
প্রভাত হল এক নিমেষে  
হারামু সব দিশা।

হুথের কালো ঘোমটা খানি  
কোথায় গেল সরে,  
দেখছি তুমি দাঁড়িয়ে আছ  
হাত খানি মোর ধরে।

সুপ্ত হিয়া উঠল জাগি  
পরশ খানি পেয়ে,  
ভূপ্ত হল নয়ন বন  
তোমার পানে চেয়ে।

শ্রীভক্তিসুখা রায়।



## লক্ষ্য-পথে ।\*

উপভাস সম্বন্ধে আলোচনা করিতে গেলে গোড়াতেই একটা কথা বিচারের লব্ধ আসিয়া উপস্থিত হয় ; কথটা এই, রসসাহিত্যের যে অংশটিকে আমরা উপভাস বলিয়া নির্দেশ করিয়া থাকি, প্রকৃত পক্ষে তাহার বিশেষত্ব কি এবং সীমাইবা কোথায়। ভাষা সৃষ্টির পর হইতে যে সাহিত্য উপভাস নামে অভিহিত হইয়া আসিতেছে তাহা কি সর্বতোভাবে একই ছন্দাভাবের, না তাহাকে এমন কতকগুলি শাখার বিভক্ত করা যাইতে পারে যাহার প্রত্যেকটি স্বীয় অন্তর্নিহিত বিশেষত্ব দ্বারা সম্পূর্ণ রূপে স্বতন্ত্র ? পাশ্চাত্য সাহিত্যে অষ্টাদশ উনবিংশ এবং বিংশ শতাব্দীর উপভাসের দ্বারা কি একই অথবা তাহাদের মধ্যে যদি কোন প্রভেদ লক্ষিত হয় তবে সে প্রভেদের প্রকৃত কারণ কি ? রিচার্ডসন, ফিল্ডিং, স্টার্লিং, স্কট, আন্টন, জর্জ ইলিয়ট ; মেরিডথ, ম্যারি কলেমি, অসকার ওয়াইল্ড, ডিক্টরহিউগো, জোলা, টলষ্টয় ইহাদের প্রত্যেকেই উপভাস লিখিয়া যশস্বী হইয়া গিয়াছেন অথচ ইহাদের প্রত্যেকের গ্রন্থে ব্যক্তিগত বিশেষত্ব ছাড়াও এত বৈষম্য কেন ? এত গেল বিদেশের কথা, আমাদের দেশেও বঙ্কিমচন্দ্র এবং রবীন্দ্রনাথ অথবা শরচ্চন্দ্রের উপভাসে অধিকাংশ সময় বস্তুব্য বিষয়ের সমজাতিত্ব সত্ত্বেও এত পার্থক্য কেন ? উত্তরে অনেক হয়ত অনেক কথা বলিবেন। আমরা বাহা বুঝিয়াছি তাহা এই, সত্য বটে সাহিত্যকে মানদণ্ডের সাহায্যে ওজন করা চলে না, তথাপি স্থূলতঃ বিশেষ বিশেষ শ্রেণীর আধিক্য অথবা অভাবের দিক দিয়া দেখিতে গেলে কতকগুলি ভাগে বিভক্ত করা যাইতে পারে। উপভাসও আমরা একরূপভাবে কয়েকটি শাখায় বিভক্ত করিতে পারি। এক শ্রেণীর উপভাস কেবল আদর্শ চরিত্রের সৃষ্টি

করিয়াই সন্তুষ্ট, রক্ত মাংসে তৈরী মানুষের সঙ্গে, সহস্র দুঃখে পরিপূর্ণ কর্ম-কোলাহল যুগের জগতের সঙ্গে তাহার কোন সম্পর্কই নাই, সেখানে ইয়াগো, ম্যাকবেথ, কিরণময়ী, অচলা নাই। সুখিতির-বিহুরের সে রাজ্যে দুঃশাসনের প্রবেশাধিকার নাই। সেখানে প্রতিহিংসার ভীত অনল ওয়েষ্টিংহামের হৃদয়ে দাবদাহের সৃষ্টি করে না, অনন্ত অত্যাচারের নিম্নেবর্ণে “জিন ভাল জিন” গড়িয়া তোলেনা, সেখানকার আলোতে ছায়া নাই, কর্মে বন্ধন নাই, বন্ধনে যন্ত্রণা নাই, যন্ত্রণার মর্ম্মধংশী বিপ্লব নাই। আর এক শ্রেণীর উপভাস আছে তাহা কেবল কতকগুলি আলৌকিক অসম্ভব ব্যাপারের সমাবেশ দ্বারা একটা আকাশ কুসুমের সম্ভাবনা দেখাইয়া দেয়, অথবা রূপকের অধরণে মানব জীবনের কোন কোন অংশকে গভীরভাবে ফুটাইয়া তুলিতে চেষ্টা করে। ইহা ছাড়া আর এক শ্রেণীর উপভাস আছে যাহা কেবল বাস্তবকে সাধারণ ভাবে চিত্রিত করিয়াই পরিতৃপ্ত। কল্পনার আল বুনয়া রূপকের আড়ালে কিছু বলিবার চেষ্টা এই শ্রেণীর উপভাসে নাই। অল্প সরল দৈনন্দিন জীবনের প্রতিমূর্তি, অথবা সমাজশক্তি এবং সামাজিক জীবনের প্রাকৃত অভি-ব্যঞ্জনা ব্যতীত অগ্রকিছু ইহাতে নাই। ইতিহাস এবং দর্শনের দিক দিয়া ইহার একটা স্বতন্ত্র মূল্য আছে। ফটোগ্রাফের সঙ্গে চিত্রের যে প্রভেদ, এ জাতীয় উপভাসের সঙ্গে উক্ত দুই শ্রেণীর উপভাসের সেই প্রভেদ, এবং প্রধানতঃ এই কারণে ক্রটি বৈচিত্র্য, পারিপার্শ্বিক অবস্থার বিভিন্নতা সমাজবন্ধনের পার্থক্য ব্যতীতও উপভাস সাহিত্যের দ্বারা এত বৈষম্য সৃষ্টি হইয়া যায়। আমরা যে উপভাস খানির আলোচনা করিতে যাইতেছি তাহা এই তৃতীয় শ্রেণীর অন্তর্ভুক্ত। এক কথায় “লক্ষ্যপথে”

\* প্রিন্ট বোম্বের্শন ও অন্যান্য। কলিকাতা কলেজের দ্বারা প্রকাশিত।

( স্বকল্প প্রিন্ট প্রকাশের বোম্বের্শনের ব্যবস্থায় উৎসর্গিত । )



সামাজিক উপভাস, গ্রন্থকার বর্তমান হিন্দু সমাজের একখানি নিখুঁত চিত্র আঁকিয়া অনেকগুলি জটিল সমস্যা সমাধানের জন্য আমাদের কাছে আহ্বান করিয়াছেন। কাজেই গ্রন্থখানি বিশেষ অধ্যয়নযোগ্য বলিয়া মনে করি। সমাজ ও ব্যক্তির, প্রেম ও শ্রমের চিরন্তন যুদ্ধের ভিত্তর দিয়া গ্রন্থকার আমাদের প্রাণের অনেকগুলি ব্যাকুল অব্যক্ত ভাব মনোরম করিয়া ফুটাইয়া তুলিয়াছেন। প্রেমকে শ্রমের যুগপক্ষে বলি দিতে হইবে, কিন্তু শ্রমকে চিনিব কেমন করিয়া? আজ বাহাকে শ্রম বলিয়া প্রাণের ক্রোধের বরণ করিয়া লইলাম। কাল যে তাহা কুসুমাজীর্ণ সর্পের মত কণাবিন্দার করিয়া আমাদের গ্রাস করিবে না কে জানে? আবার কাল বাহা শুধু প্রেম বলিয়া হৃদয়ের সন্ত্রস্ত আকুল আকাঙ্ক্ষা বিদলিত করিয়া দূরে নিক্ষেপ করিয়াছি। আজ যে তাহাই শ্রম বলিয়া প্রতিপন্ন হইবে না তাহা কে বলিতে পারে? কালের হৃদয় বিচারে কাহার কি মূল্য নির্দ্ধারিত হইবে তাহাই বা কেমন করিয়া জানিব। ব্যক্তি এবং সমাজের প্রকৃত সম্বন্ধ কোথায়? ব্যক্তিকে লইয়াই সমষ্টি, অথচ সমষ্টির নির্দ্ধিষ্ট সীমার মধ্যে ব্যক্তির সমাজ ক্ষুণ্ণ কিরূপে সম্ভবপর হইতে পারে? একটি ক্ষুদ্রতম অণুকে বাদ দিলে নিখিল বিশ্বের অবাধগতি পঙ্গু হইয়া পড়ে, বিশ্বকে দূরে রাখিয়া অণুইবা দাঁড়াইবে কোথায়? আবার স্বাভাব্য ব্যতীত প্রত্যেক অণুর জীবনী শক্তির পূর্ণ বিকাশ কেমন করিয়া হইতে পারে? অথচ স্বাভাব্য অধিকাংশ সময় সমাজের নিকট উচ্ছ্বলতা বলিয়া পরিগণিত হইয়া থাকে। বর্তমান সময়ে যে বিধি-নিষেধ গুলিকে আমরা সমাজ শাসন বলিয়া অভিহিত করিয়া থাকি প্রকৃত পক্ষে তাহার গভীরতা কতটুকু! আপনি সমাজের নেতা তাই বলিয়া আপনাদের নিজের শক্তি বঞ্চিত হইয়া আবার বুকের উপর দিয়া চলিয়া যাইবে আর আমি উচ্ছ্বসিত দীর্ঘ নিশ্বাসটী বন্ধে চাপিয়া চক্কু দুদিয়া পড়িয়া থাকিব? আজ কি আমরা তথা-কথিত সমাজকে শিবভীর মত সম্মুখে রাখিয়া ভীত বধের জন্যই প্রয়োগ করিতেছি না? কোথায় সমাজের বন্ধন? সে কি আজ মেহময়ী জননীর মত প্রত্যেক সন্তানকে শুভদানে স্নান করিয়া দিও

অকল ছাত্রের আশ্রয় দান করিতে পারিয়াছে? তাহা হইলে দুর্ভাগ্যের প্রতি বলবানের এই অত্যাচার কেন, ক্ষুদ্র অপরাধেরও বাক্তনা নাই কেন? সমাজ অন্তরকে বাদ দিয়া কেবল খেলস্টাকে লইয়াই এত ব্যস্ত কেন? আমি প্রতিনিয়ত চিন্তায় যে অন্তর করিতেছি সর্বজনীন নীতির পক্ষে তাহা কি আমার অন্তর কার্যের মতই অনিষ্টকারী নহে? যদি তাহাই হয় সমাজ সেই চিন্তা গুলির হিসাব রাখিবার কোনও বন্দোবস্ত করিয়াছে কি? সহস্র বৎসর পূর্বে যে নিয়ম প্রয়োগনীর বলিয়া আদৃত হইত আজ সহস্র বৎসর পরেও যে সেই নিয়ম একই ভাবে অক্ষুণ্ণ থাকিবে ইহা কি সনাতন বিশ্ববিধানের পরিপন্থী নহে? জড়ের মত, পঙ্গু মত এই পৃথিবীকন্ডের শব্দকেই আমরা এতদিন আশ্রয় করিয়া রহিয়াছিলাম; রহিয়াছিলাম বলিয়াই বাহিরের একটি মাত্র ডেউ শিশুর বালুকাগৃহের মত তাহাকে চূর্ণ বিচূর্ণ করিয়া ফেলিতেছে। ইহাকে রক্ষা করিতে হইলে আমাদের নতুন করিয়া জীবন গঠন করিতে হইবে, পুরাতনের মায়া ত্যাগ করিয়া অথবা নতুন ও পুরাতনের সামঞ্জস্য সাধন করিয়া জীবন প্রবাহকে অভিনব পথে চালাইতে হইবে। সাম্যের স্বাধীনতার এই যুগে কাহাকেও বাদ দিলে চলিবে না অথচ সকলকেই ব্যক্তির স্বাধীন ক্ষুণ্ণের বঞ্চিত অবকাশ দিতে হইবে। এ সকল সমস্তার সমাধানই বিংশ শতাব্দীর অধিকাংশ নাটক এবং উপভাসের মুখ্য উদ্দেশ্য। “লক্ষ্য-পথে”র লেখকও দক্ষতার সহিত এই প্রশ্নগুলিই আমাদের কাছে জিজ্ঞাসা করিয়াছেন এবং যথা সম্ভব উত্তর দিতে চেষ্টা করিয়াছেন। ভূমিকার এক স্থানে গ্রন্থকার জিজ্ঞাসা করিয়াছেন, “অসহায় হিন্দু বিধবার সমাজে স্থান কোথায়?” বাস্তবিক তাহাদের স্থান কোথায়? বিদ্যাসাগরের প্রদর্শিত পন্থাকে আমরা যুগ্য বলিয়া দূরে নিক্ষেপ করিয়াছি, কিন্তু ব্রহ্মচর্যের নাম ধারণ করিয়া যে ব্রাহ্মণ আমাদের পবিত্র অন্তঃপুরে প্রবেশ করিয়াছে তাহাকে বিনাশ করিবার সামর্থ্য আমাদের আছে কি? নীতির প্রাণ পত্রের মত হিন্দু সমাজ অনিবার্য ধ্বংসের পথে ছুটিয়া চলিয়াছে, এ পতি রোধ করিবার উপযুক্ত শক্তি সত্ত্ব কঠোর সাধনা সাপেক্ষ।



গ্রহকার তাহার এই প্রতিপাদ্য বিষয়গুলি একটু সরস করিয়া বলিবার জন্য যে চিত্রটি অঙ্কিত করিয়াছেন তাহা বড়ই সুন্দর হইয়া উঠিয়াছে। কোন কোন ঔপন্যাসিক মনে মনে গল্পটার কাঠামো গড়িয়া লইয়া দৃষ্টান্তস্থলে চরিত্রের অবতারণা করিয়া থাকেন; কেহবা কয়েকটি চরিত্রকে বুকাইয়া দিবার জন্যই গল্পের সৃষ্টি করিয়া থাকেন। শ্রেষ্ঠ লেখকগণের হাতে গল্পের অবাধ প্রবাহের সঙ্গে চরিত্রগুলির ক্রমবিকাশ এমন স্বাভাবিকরূপে সমতা রক্ষা করিয়া চলে যে অজান্তেই সঙ্কল্পের মত একটা হইতে অপরটিকে বিচ্ছিন্ন করিয়া লওয়া যায় না, কাজেই কথার হৃদ কোথাও ভঙ্গ না হওয়ার পড়া শেষ হইবামাত্র মনে হয় যেন দৈনন্দিন জীবন নাট্যের একটা অঙ্ক আমার সমক্ষে অভিনীত হইয়া গেল, আমার অশ্রুহাসি, সুখ-দুঃখ, যুগা-প্রেম, ভীতি ব্যাকুলতার মাঝে আমারই জীবনের এক অধ্যায় নিজেকে নিঃশেষিত করিয়া কোন্ শাশ্বতী পূর্ণতার দিকে আমাকে লইয়া চলিল। লক্ষ্যপথের পৃষ্ঠায় আমরা এই বিশেষত্বের পরিচয় পাইয়াছি। গ্রহকার প্রথমই পাঠকের কোতুলক এমন ভাবে জাগাইয়া তুলিয়াছেন যে শেষ পর্য্যন্ত না পৌঁছিলে কিছুতেই শান্তি বোধ হয় না। জী চরিত্রের মধ্যে সরযুকেই আমাদের সবচেয়ে ভাল লাগিয়াছে। সরযুই একাধারে এই গ্রন্থের নায়ক এবং নায়িকা, কারণ একমাত্র ইহাকে আশ্রয় করিয়াই অজ্ঞাত চরিত্র কর্তী বিকাশ লাভ করিয়াছে। সরযু পতিতা, সমাজের চক্ষে তাহার অপরাধের সীমা নাই। অবিবাহিতার পুত্র সন্তানবনা সমাজ কেমন করিয়া সহ্য করিবে, কাজেই নিতান্ত অসহায় অবস্থার আত্মীয় পরিভ্রাতা হতভাগিনীকে পথে দাঁড় করাইয়া দিয়া সমাজ আত্মপ্রশ্ন করিতে বাধ্য হইবে কেন? কিন্তু বাহার প্ররোচনায় এবং উৎসাহে এই অনাজ্ঞাও পুণ্যটি অকালে বৃত্তচ্যুত হইয়া গেল তাহার অপরাধের বিচার করিবে কে? সরযু যেন অপরাধিনী, তাহার গর্ভস্থ সন্তানও কি সেই অপরাধেই অপরাধী? অতীতের কোন্ অজ্ঞাত যুগে ইতের কণিক অসতর্কতার পরিণাম কি সৃষ্টির শেষ পর্য্যন্ত যাক্‌বকে এমন করিয়া সমাজ নিগ্রহের লক্ষ্যস্থল করিয়া

তুলিবে? আর সরযুর অপরাধের কি কোনই প্রতীকার নাই, মার্জনা কি একেবারেই অসম্ভব? সরযু ত্যাগে বৈষ্ণবী, ভোগে রাজরাজেশ্বরী, অত্যাচারে বজ্র কঠিন, অন্যায়ের নবনীত কোমল; নারীত্বের গৌরবে মহীয়সী তথাপি সরযু পতিতা। নারীসমাজ তাহার স্থান কোথায় নির্দেশ করিবে জানি না, কিন্তু আমরা তাহাকে দেবীর মতই পূজা করিব। যদি প্রেমের পাবনী-শক্তি থাকিয়া থাকে তবে সরযুর হৃদয় অলকার পৌষ ধারার মতই পবিত্র।

বালবিধবা অমিয়ার চরিত্রটিও মন্দ হয় নাই, কিন্তু তাহার হৃদয়ের প্রকৃত পরিচয় যেন আরও বেশী করিয়া প্রাইলে ভাল হইত। অমিয়ার সংঘম আছে কিন্তু তাহার প্রাণ মর্যাদিক প্রান্ত পথিকের মতই প্রেমপিপাসু। বালবিধবারও ত হৃদয় আছে, হৃদয়ে নারীমূলভ সহজাত বৃত্তি আছে। অমিয়ার প্রেম তাহার সংঘমের মতই গভীর। সেই গভীরতা পাতালম্পর্শী হইতে পারে, কিন্তু অতল নয়, অতল নয় বলিয়াই অমিয়াকে আমরা রক্তমাংসে নির্মিত মানবীর আসনে বসাইয়া তাহার রুদ্ধ প্রাণের মৌন বেদনার নীরবে অশ্রুবিসর্জন করিয়া তৃপ্তি অনুভব করি। হিন্দু বিধবা পরপুরুষকে মনে স্থান দিলেও ধর্মব্রষ্টা হইয়া থাকে, অমিয়াও ধর্মব্রষ্টা, পতিতা কিন্তু এই পতন তাহাকে অনন্ত উন্নতির অধিকারী করিয়া অমৃতের পুত্রী বলিয়া চিরকালের জন্য বিশ্বহৃদয়ে অঙ্কিত করিয়া দিয়াছে। সরযুদেবী, অমিয়া মানবী। সরযু দেবী হইলেও তাহার স্থান এই পৃথিবীতে আর অমিয়া মানবী হইলেও তাহার স্থান স্বর্গে এবং তাহারও উর্দ্ধে।

সুলতা উচ্চশিক্ষিতা, অভিম্যানিনী, সুধরা। তাহার গর্ব উচ্চ শিক্ষার নয়, নারীর শ্রেষ্ঠতা কল্পনার সাহসিক প্ররোচনা মাত্র। সুলতা বাক পট্টমসী কিন্তু প্রেমাম্পদের সমক্ষে লজ্জাবতী লতাটার মতই সঙ্কুচিত। এক কথায় সুলতার অর্ধেক এদেশীয়, বাকী অর্ধেক বিদেশ হইতে ধারকরা। আশা করি বর্তমান যুগের উচ্চ শিক্ষিতারা আমার উপর বিরূপ হইবেন না। সুলতা রূপসী, স্নেহপূর্ণ নিষ্কোজল তাৎপাতে দাহিকা শক্তি নাই তাহার প্রাণটিও



সুইক্লপ। অমিয়া সুলভা অপেক্ষাও অধিক রূপবতী, কিন্তু সে রূপ অর্দ্ধাবশ্রুতনের আড়ালে ভয়ানক বহির মত অবসর পাইলেই তীব্র দাহের সৃষ্টি করে। সরস্বতীও রূপ আছে, তাহা যেখানে চন্দ্রমার মত বড় কোমল, বড় করুণ, বড় মধুর।

পুরুষদের মধ্যে সরোজকেই আমরা প্রকার চক্ষে দেখিব, কারণ সহস্র অপরাধ সত্ত্বেও তাহার পুরুষোচিত ঔদার্য্য, দৃঢ়তা এবং নির্ভীকতার অভাব নাই। প্রমোদ অল্প শ্রেণীর অনেকটা “ধরের আশুপের মত দপ করিয়া জলিয়া ওঠে আবার থপ করিয়া নিবিয়া যায়।” তাহার হৃদয়ে বল নাই, প্রাণে আশা নাই, সর্বদাই যেন একখণ্ড অর্ধহীন মেঘের মত এদিক ওদিক ভাসিয়া বেড়াইতেছে। যামোজী মুক্তপুরুষ তাহার সম্বন্ধে আলোচনা নিম্নপ্রত্যন্তন কিন্তু ভূতা রাম খেলন কে বাদ দিতে পারি না, পুরাভন ভূতার এই ছবি খানি বড়ই মনোরম হইয়াছে। ব্রহ্মানন্দ বাবাজী তাহার সহজ সরল প্রাণটী লইয়া জগৎটাকে চুকটের ঘুরোর মতন উড়াইয়া দিতে প্রস্তুত। তাহার ব্যবহারে কুঠী নাই, হৃদয়ে প্রভারণা নাই কোথাও সাধুদের বিকার নাই। অমৃত বাবু প্রবীণ

ব্যক্তি কাজেই যথা সম্ভব তাহার সম্মান বাড়াইয়া বলিতে হইবে যে তিনি একটু অতি মাত্রায় গৃহিণীর পক্ষপাতী এবং স্বামী জীবন মধুর মিলনের মধ্যে অনবরত কলহ সত্ত্বেও ( অবশ্যই সে জন্ত গিন্নীই সর্বোত্তমভাবে দায়ী ) মনোমালিন্য নাই।

চরিত্র কয়টির মত “লক্ষ্যপথের” ভাবা টুকুও প্রাঞ্জল এবং প্রাণপূর্ণ। কোথাও কৃত্রিমতা বা সঙ্কোচ নাই। হেয়ালীর ব্যবধান সৃষ্টি করিয়া পাঠককে দূরে রাখিবার চেষ্টা নাই, সর্বত্রই লেখকের সহৃদয়তা এবং উদারতার পরিচয় পাওয়া যায়।

এতগুলি শ্রুতির সঙ্গে গ্রন্থকারের কয়েকটা দোষও আছে। ব্যাকরণ বিষয়ে তিনি অত্যধিক উদাসী এবং অনর্থক অসম্বন্ধতার জন্ত সর্বত্র তাহার সাবলম্বিত রক্ষা করিতে পারেন নাই। এতৎ সত্ত্বেও ‘লক্ষ্য-পথে’ উচ্চ অঙ্গের উপভাস এবং আমরা নিঃসঙ্কোচে এই পুস্তক খানি আমাদেয় অন্তঃপুরচারিকাদের করে তুলিয়া দিতে পারি। বর্তমান যুগের ঔপন্যাসিকের পক্ষে ইহা কম গৌরবের কথা নহে।

ত্রীনেপালচন্দ্র চক্রবর্তী।

## আষাঢ়ে

সে দিনো এমনি করে আষাঢ়ের প্রথম দিবস  
হিয়া যোর এমনি অলস,  
শুক শুক তালে তালে হুরু হুরু উদ্গাদ নর্তন,  
এমনি সে মেখে মেখে ছেয়েছিল সারাটি পগন;  
এমনি বাদল দিনে অকারণ কিসের ভিয়াস  
কেগেছিল মর্ম্মমাকে পরাইতে কি মায়ার কঁাস।  
তারপর কভদিন গেছে চলে আশা নিরাশায়  
বকে নিয়ে নুক ব্যথা মৌন অশ্রু আঁখি-নিরাশায়;  
আজিকে সহসা কেন সুখরিত স্কন্ধ-হাচকার  
কিরে বুঝি আসিল আষাঢ় ?

কলকঠা কল্লোলিনী উদ্গাদিনী কার অভিসারে  
ছুটে চলে এমন বাদরে।  
তরঙ্গে তরঙ্গে তুলি পুঞ্জীভূত বেদনার গান,  
অশান্ত-আবেগে আজি মল্লারেতে ধরিয়ছে তান,  
মূর্ছন্য-কাঁপিয়া উঠে মেখে মেখে দামিনী চমক  
গোমাক নীপের বনে—কেতকীর কভ কি পুলক !  
বল্লরী বাড়ায়ে বাহ বুকে টেনে লয় তরুবরে  
উছলিছে নির্ঝরিতী চির মৌন-পাষাণের পরে  
কি যে তীব্র ব্যথা বাজে হিয়া শুধু করে হায় হায়  
কর কর অধীর ধায়ার।



কবে কে এমনি দিনে নবমেঘে করেছিল দূত  
 হৃদয় বাঁধি অপূর্ণ অদূত—  
 সরসের কতকথা পাঠাইতে প্রিয়ার সকাশ,  
 ভেগেছিল কণ্ঠে বুঝি দুনিবার মিলন-পিরাস।  
 আজ সে বিরহ-বাণ্য পৃথিবীর শিরার শিরার  
 জাগে পুনঃ বরিবার বনু বনু অজস্র ধারায়।  
 কুলার বেসিরা বসে গারে গারে বিহঙ্গ নিচর,  
 কি যেন হারাই-হারাই হিরা'পরে বড় আজ ভয়;  
 হু-হাতে জড়ারে কারে বৃকে নিতে চার হৃদি মোর  
 হে আবাড় একি মারা ডোর।

ওগো আবাড়ের মেঘ, ওগো দূত চির-বিরহীর,  
 হে উদ্দাদ, চঞ্চল অধীর,  
 কি বার্তা এনেছ বহি তুমি আজ সবাঁকার লাগি,  
 কল্পিত-আবেগে বুঝি বিশ্ব-হৃদি রহিয়াছে জাগি;  
 সূর্যের মর্ম্মবাপী বল আজ—একি গো বিস্ময়—  
 গুরু গুরু কাঁপে বৃক গণ্ডে তব কেন অশ্রু বয়?

সবাঁকার অন্তরালে যে সূর্য রহিয়াছে ধীর,  
 সেখাও কি তপ্ত অশ্রু এ আবাড়ে করিয়াছে তির?  
 সেখাও কি বাজে বৃকে বিরহের বাণ্য সবাঁকার  
 কণ্ঠে কণ্ঠে শুধু হাহাকার।

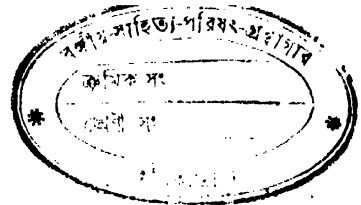
রামগিরি প্রবাসীর একা নহে বিরহ বেদন  
 বিশ্বসাথে জাগিছে স্পন্দন।  
 নিহৃত নীরবে শুধু কাটাইতে জীবনের দিন  
 একান্ত আপন মনে বাজাইতে বিচহেরবীণ—  
 চাহেনা দয়র আর—তাই বুঝি এই বাদলার  
 মিলন-বাসনা জাগে সবাঁকার হৃদি-নিরালার।  
 এ অশ্রুর অন্তরালে রহিয়াছে আশার আশাস  
 তাই আজি কত করে চেপে রাখি দীর্ঘ নিশাস,  
 অসংখ্য বন্ধন মাঝে সহিতেছি তাই হাহাকার  
 হে আবাড়—হে মোর আবাড়।

শ্রীশচীন্দ্রনাথ কর।

চিত্রকর।

(গল্প)

প্রভাত



নাথ ছিল তার এবি, জন্ম তার 'কিলেডেল কিয়াতে'  
 কিত্ত বাস কর্তৃ লভনে। প্রকৃতিটা ছিল তার বড় এক-  
 ভঁরে, কাক সাথে মিশত না—গরীব চিত্রকরের কাছে  
 কেউ আসতও না। ছোট্ট ঘর ধানিতে বসে আপন  
 মনে সে ছবি আঁকত, আর নিজের সফলতার নিজেই  
 বিহ্বল হয়ে তার পানে চেয়ে থাকত।

এমনি করে কিছু দিন কেটে বাওয়ার পর লভনের  
 প্রথম বিচারপতির হেলে ভরুণ বরক আলিংটন তার  
 কাছে একবারি ছবি আঁকতে এসে এই আপনতোলা  
 চিত্রকরের একমাত্র বন্ধুর আসন দখল করে বসল।

এখন আর এবি সারা মন দিয়ে ছবি আঁকতে পারনা।  
 যখন সে তুলি হাতে নিয়ে ধীরে ধীরে ছবির পায়ে রক্ত  
 দ্বিতে ব্যস্ত হয়ে পড়ে তখন নিজের উচ্ছৃঙ্খিত আনন্দ নিয়ে  
 আলিংটন এসে তার হাত ধরে টেনে নিয়ে বাইরে বাইরে  
 চলে' যেত, অথবা দেশ বিদেশের কতরকম গল্প নিয়ে  
 বসত। আগে যে ছবিখানি শেষ করতে এবির হৃদিন  
 লাগত এখন সেখানি শেষ করতে আট দিন লাগে।  
 কখনও বিরক্ত হয়ে এবি বলত তোমার এ তারি অস্তায়,  
 বড় মাহু ব তোমরা টাকার অভাব নেইত, তাই গরীবের  
 সময়ের মূল্য বোঝ না। আলিংটন তেমনি হাসতে



হাস্যেই বলত—“টাকা টাকা করে’ দেখছি তুমি এই ঘরের মধ্যে বস হয়ে মারা পাবে।” সময় সময় এমি বিবস্ত্র হত বটে, কিন্তু আলি একদিন না এলেও যে তার খুব ভাল ছবি আঁকত তা নয়। আলির জন্যই তার মনটা চকল হ’য়ে থাকত। ক্রমে ভিন্ন স্বভাবের ভিন্ন অবস্থার ছবি বস্তুতে এমনি তার ঠাঁড়াল যে আলিংটেনের অস্ত অস্ত বস্তু বাস্তবেরা বলত—এই আলিটা কি খেলো, এতটুকু সমান জ্ঞান নেই, লর্ডের ঘরের ছেলে হ’য়ে, দিন রাত আছে ঐ পাগল চিত্রকরটার কাছে পড়ে’। আলি কিন্তু সেদিকে মোটেই খাপ দিত না। আর এবির কাছেও বস্তুদের এই রেখটুকু পোপন রাখার চেহারা ছিল খুব বেশী।

### মধ্যাহ্ন

এমি তখন একজন ডিউকের আদেশে Switzerland এর একমাসি প্রাকৃতিক দৃশ্যের ছবি আঁকছিল। কিন্তু ছবিতে আজ যেন তার মন লাগছিল না। এমি ছবি আঁকতে আঁকতে বার বারই যেন কার প্রতীকার ঘরের পানে উৎসুক ভাবে তাকাছিল আর বার বারই তার ভুল হ’য়ে যাচ্ছিল। মনের চকলতার নিজের উপরই তার রাগ হচ্ছিল। আজকেই ছবিখানা দিতে হবে যে। মনকে চোখ রাখিয়ে এবার সে ছবিতে ভাল করে’ রঙ ফলাতে বসল। এমনি সময় বড় চুপি চুপি পা টিপে কে এসে তার হাতটা সজোড়ে নেড়ে দিলে। হাত লেগে রঙ পড়ে ছবিখানা নানান রঙে রাঙিয়ে উঠল। ছবির পানে চেয়ে তার চক্ষুশা দেখে এবির মুখখানা একেবারে ক্যাকাসে হ’য়ে গেল। আকুল-কণ্ঠে সে বলল—“এ কি করলে আলি?” আলিংটেন উচ্চ হাস্তে গৃহবাসি সুখরিত করে’ বলে’ উঠল—“ওত তারিই হয়েচে, তিনদিন পরে এসব এখন কিসের ছবি আঁকবে? চল বেড়িয়ে আসিগে।”

“না, না, আলি তুমি আজ আমার সর্বনাশ করলে। আমি ডিউককে কথা দিয়েছি, কি বলব তাঁকে।”

“ওঃ ডিউকের ছবি ওটা? তাহ’ক বাহর করা বাবে। এখন চল ফাঁকে।” কোন উত্তর না দিয়ে ছবিখানা তুলে’

নিরে এমি টুকরো টুকরো করে’ ছিঁড়ে’ ফেললেন। তার পর বীরে বীরে আলির হাতখানা কাঁধের ওপর থেকে সরিয়ে দিয়ে বড় ভিত্তবরে তাকে বললেন—“দাঁড়া, তুমি যাও ফাঁকে। লর্ডের ছেলে তুমি, তোমার সাথে ঘুরে বেড়ান আমার মানার না, আজ তুমি আমার বা কতি করলে সারা জীবনেও এর পূরণ হবে না। আচ্ছ কথা দিয়ে তা রাখতে পারছ না। পরীষ আমি আমার পরীষের মতই থাকতে দাও, বিহে বিবস্ত্র কর্তৃক এস না। তোমার এ অহুগ্রহ হরত চিরকাল আমার কতিই করবে।” কিছুকণ তার মুখের পানে চেয়ে থেকে একটি কথাও না বলে’ আলিংটেন বীরে বীরে চলে’ গেল।

### সন্ধ্যা

তারপর কয়েকদিন কেটে গেছে আলিংটেনের সাথে এবির আর দেখা হয়নি। শুনে থাকলে এবির কাছে বাঙার প্রলোভন ছাড়তে পারবেনা বলে’ সেই দিনই সে আবে-রিকার চলে গিয়েছিল। আজ প্রায় চার বছর পরে দেশে ফিরতেই বস্তু বাস্তবের কাছে তন্মত পেল,—এমি কে সেদিন ডিউকের কাছে অপহানিত হ’তে হ’য়েছিল সেই অবধি আর সে ছবি আঁকেনি। শুনে এবির কাছে ছুটে বাবার জন্য আলির প্রাণটা আকুল হ’য়ে কেঁদে উঠল, কিন্তু অভিমান এসেও আবার বাঁধা দিচ্ছিল। শেষে ভালবাসারই জয় হ’ল। পরদিন ভোরের আলোর সঙ্গে সঙ্গেই আলিংটেন এবির উদ্দেশ্যে বেরিয়ে পড়ল। দূর থেকে এবির জীর্ণ কুটার খানি দেখা যাচ্ছিল। সেই চিরপরিচিত কুটারখানি আলিংটেনের মনের কোণে বছ-দিনেকার পুরাণ স্মৃতিগুলি জাগিয়ে দিয়ে তার কলর রাতটা একটু চকল করে’ দিলে। ভেতরে চুকতেই আলি শিউরে উঠল। এমি তার শীর্ণ দেহখানি-শকার এলিয়ে দিয়ে নীরবে চোখ বুজে পড়েছিল। শুধু মাকে মাঝে তার মলিন চোখের করুণ বৃষ্টিটুকু একটু শব্দই চকিতের মত যেন চারদিকে কাগ-খুসফান করছিল। কি ব্যাকুলতাপূর্ণ সে চাউন্সিটুকু! আলিংটেন-ছুটে গিয়ে তার কীর্ণ দেহখানি জড়িয়ে বসল। মুখের ওপর দুটক তার পড়ে’ উল্লাসের মত চেঁচিয়ে’ বললেন—“এমি, কখনও



আমার !” জ্যোতিহীন অশ্লক চোখে সে বজুর পানে তাকিয়ে রইল, তারপর নিজের অবশ হাতছ’খানি দিয়ে তার একটা হাত চেপে ধরে’ ধীরে ধীরে বললে—“কমা কিসের ভাই ?” কিসের একটা আবেগ তার বুকের ভেতরটা ওলট পালট করে’ দিয়েছিল। একদিন যে হাতদিয়ে আলিকে সে স’রিয়ে দিয়েছিল আজ শেষের দিনে সেই হাতছ’খানিই আবার তার প্রত্যাখ্যাত বজুর কোলের ওপর রেখে আপনাকে সম্পূর্ণ ভাবে তার কাছে নীরবেই সঁপে’দিল। তারপর ক্লান্তিতে নিশ্চিন্ত মনে গৈ চোখ বুজে’ ঘুমিয়ে পড়ল। আলিংটন কিছুক্ষণ এবিধ প্রাণশূন্য দেহটার পানে বিহ্বলেদ মত চেয়ে থেকে আঁর্দ-বরে বলে’ উঠল—“এবি, একি শান্তি দিয়ে গেলে আমার !”

শ্রীঅমিয়া রায় ।

## চরকার গান ।

যদি কিরে এসেছ দয়া করে ।

চরকা, বেণু না এদেশ ছেড়ে ।

তোমার অনাদর করে এতদিন,

আর্ধ্যত্ব’র আজ অন্ন-বস্ত্রহীন,

দরিদ্র সন্তান চিন্তায় মলিন,

অশান্তি লদা হয়ে ॥

যখন তোমার হয় আবর্তন,

ওজরিয়া কর মলল কৌর্টন,

আশাশুভ্র হাতে দেও না তখন,

নিরাশার আঁধারে ॥

আসিয়াছ দেবী বাহার আহ্বানে,

তোমার মহিমা সে সাধক জানে,

ভায় মহামন্ত্র লাগে মম প্রাণে,

চরকা দুঃখ হয়ে ॥

মুলিখা বানো ।



## পরপারে

জানি জানি মিলন হবে  
নদীর পরপারে,  
মাঝে মাঝে চিহ্ন তাহার  
আসছে ভেসে চিরি আঁধার  
স্বপনের আঁড়ে।  
হারিয়ে গেছে যাহা কিছু,  
যে সব ওয়ে রইল পিছু,—  
সে সকলি বজায় হবে  
গোপন কোষাগারে!  
গভীর রাতের নীরব গানে  
তাদের পানে হৃদয় টানে,  
বেদন যেন কবুতে হরণ  
বুলায় গায়ে হাত।

ভাব্য-মোড়া জান্‌লা দিয়ে  
মুখটা ভাঙা বাড়াইয়ে  
করে যেন মোদের'পরে  
কল্পন দৃষ্টিপাত।  
মোদের স্মৃতি হুখে তারা  
জগে আছে নিজ্জাহারা,  
তুনি শুধু রাত্রি দিবা  
তাদের অভয়-বাণী,  
মোদের যখন ছুটি হবে  
তারাই আবার ডেকে লবে  
পথ দেখিয়ে নিয়ে যাবে  
ধরি হাত ছ'খানি।

শ্রীআশুতোষ মুখোপাধ্যায়

## সাহিত্যিক-পত্র।

( স্বর্গীয় রায় বাহাদুর কালীপ্রসন্ন ঘোষ বিদ্যাসাগর,  
সি, আই, ই, মহোদয়ের নিকট লিখিত। তদীয় পৌত্র  
শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ মহাশয়ের নিকট প্রাপ্ত। )

পণ্ডিত মহেন্দ্রনাথ বিদ্যানিধির পত্র।

( ভূতপূর্ব জম্মভূমি-সম্পাদক )

শ্রীশ্রীহার শরণ্যে।

অশেষ শুভালঙ্কৃত, পরম সাহিত্য-সেবক, জম্মভূমির  
গৌরব, শ্রীল শ্রীযুক্ত বাবু কালীপ্রসন্ন ঘোষ মহোদয়ের।  
মহাশয়!

বহুকালের পর আমি আপনাকে এই পত্র ধানি  
লিখিতেছি। আপনি আমাকে বিন্মত হইয়াছেন, সেই  
জন্ত আপনাকে স্বরণ করাইয়া দিবার নিমিত্ত আমার  
সম্পর্কীয় কয়েকটা কথা বলিব।

সম্প্রতি আমার কনিষ্ঠ মহোদয়-কল্প শ্রীমান্‌ বজেন্দ্র  
বন্দ্যোপাধ্যায় নিজকার্য্য উপলক্ষে আপনার নিকট  
গিয়াছিলেন, তাঁহার নিকট আপনি এই ক্ষুদ্র ব্যক্তির  
সম্পাদিত 'পুরোহিত'পত্রের যথেষ্ট প্রশংসা করিয়াছিলেন;  
তাহাতেই বড় আশ্বাসিত হইয়া আমি আজ এ পত্রখানি  
লিখিতে বসিয়াছি।

অনেক দিন পূর্বে মহাশয় যখন একবার জয়দেবপুরহ  
বাবুদের কলিকাতাস্থিত বাড়িতে অবস্থান করেন, সেই  
সময়ে একদিবস প্রাতে আমি পণ্ডিত-প্রবর শ্রীযুক্ত  
কালীচর বেদান্তবাগীশ মহাশয়ের নিকট হইতে আমার



পরিচয় সংবলিত এক পত্র লইয়া মহাশয়ের সমীপে উপস্থিত হইলে অবগত হইলাম, “সুপারিস” পত্র লইয়া পরিচিত হওয়া বা করার পক্ষে আপনি বিরোধী। আপনার সহিত সাক্ষাৎ করণ সম্বন্ধে সকলের পক্ষেই অব্যাহতি দায়, ইহাও আপনি সেই সময়ে বলিয়াছিলেন।

\* \* \* \*

সেই সময়ে কথাই ছিলে নানা প্রসঙ্গ উত্থাপিত হইয়াছিল; সাহিত্য প্রসঙ্গই সমধিক। কিন্তু সর্বাপেক্ষা পরম শিক্ষাপ্রদ একটা ঘটনার কথা এ স্থলে বিশেষ উল্লেখযোগ্য।

আপনার মুখে যে রূপে শুনিয়াছিলাম তাহার সারাংশ এ স্থলে প্রকটিত হইল :

কোন সময়ে আপনার মনে আত্মার ও ঈশ্বরের অভিন্ন সম্বন্ধে ঘোর সন্দেহ উপস্থিত হয়; কিন্তু জলন্ত বহু শিখার অজুলী প্রদান করিয়াই মনে হইল—“আমি আছি, আমি আছি।” তখন আবার ঈশ্বরাকৃষ্ণে আত্মা ও ঈশ্বর সম্বন্ধে আপনার সন্দেহ সমূলে উৎপাটিত হইল। এ অত্যন্তব্যর্থ এবং শিক্ষাপ্রদ ঘটনার কথা শুনিয়া আমরা সে দিন সকলেই বিস্মিত ও পুলকিত হইয়াছিলাম।

ইহার কিছুদিন পর আমি আৰ্য্যদর্শনের সহকারি সম্পাদকের পদত্যাগ করিয়া মহাশয়কে এক পত্র লিখি। পত্রের উদ্দেশ্য—আপনার সুবিখ্যাত “বান্ধব” পত্রের সুনিয়মিত প্রকাশ-চেষ্টা আপনিও এ প্রস্তাবে উৎসাহিত হইয়া আমাকে পত্র লেখেন। অবশেষে, “বান্ধব” ঢাকা নগরী হইতে প্রকাশিত হইবে, মহাশয় এইরূপ অভিপ্রায় প্রকাশ করেন। কিন্তু ঢাকা আমার পক্ষে বহুদূর এবং বিদেশে আমি সে পক্ষে বিশেষ সাহায্য করিতে পারিব না বলিয়া সেই উদ্যম হইতে অগত্যা নিবৃত্ত হইতে হইয়াছিল।

ইতিপূর্বেই আমি “অক্ষয়কুমার দত্তের জীবন-বৃত্ত” লিখিয়া মহাশয়কে একখানি পাঠাই এবং ঐ পুস্তক সম্বন্ধে আপনার অতিপ্রায় জ্ঞাত হইব বলিয়া তৎসঙ্গে একখানি পত্র লিখি। কিন্তু আমার নিতান্তই দুঃখ্য যে আমি তদবধি সে পত্রের কোন উত্তর পাই না।

\* \* \* \*

পত্রের উত্তর যথাসময়ে দেওয়ার জন্য যখন অক্ষয়কুমার দত্ত মহাশয়, আপনি এবং শ্রীযুক্ত রাজনারায়ণ বসু মহাশয়, এই তিন ব্যক্তি সুরেন্দ্র; কোন পত্রের প্রাপ্তি স্বীকার বা উত্তর প্রত্যুত্তর দানে ইহারা বৈরাগ্য সুনিয়মিত রূপে চলিয়া থাকেন, তাহাতে ইহাদিগকে বাঙ্গালী জাতির একটা সহজগুণ হইতে বঞ্চিত বলিয়া বোধ হয়। কারণ যথাসময়ে চিঠি পত্রের উত্তর না দেওয়াই বাঙ্গালীর সহজ গুণ।

তথাপি যখন আমি মহাশয়ের নিকট হইতে পত্রের উত্তর প্রাপ্ত হয় নাই, তখন ইহা সহজেই অস্বীকৃত হইতেছে, আপনি জমিদারীর গুরুভারে একান্ত ব্যতিব্যস্ত। এবং তরিরন্ধন নানা স্থানে পর্যটন করিতে হয়। কোথায় কখন অধিষ্ঠান করেন, তাহারও সম্পূর্ণ স্থিরতা থাকে না। এই জন্যই এক ঠিকানার পত্র অন্য ঠিকানায় প্রেরিত হয় এবং তথা হইতে পুনরায় তৃতীয় স্থানে প্রেরিত হইয়া শেষে হয় তো কোথায় পড়িয়া নষ্ট হয়।

বর্তমান সময়ের কয়েকটা আবশ্যকীয় কথা লিখিয়া আমি এ পত্রের সমাপ্তি করিব।

‘পুরোহিত’ হিন্দুধর্মের এ দারুণ অধঃপতন কালে কঠোর-কর্তব্য ব্রত লইয়া কার্য্যক্ষেত্রে অবতীর্ণ হইয়া ছিলেন; এরূপ উচ্চ আদর্শের সহিত ক্ষুদ্র আবার সম্পর্ক থাকা বড়ই আশ্চর্য্যের কথা। তথাপি আপনার জায় সুবিজ্ঞ, সুধীর, পণ্ডিত-চূড়ামণির নিকটে ‘পুরোহিতের’ কার্য্যপরম্পরা যখন প্রশংসার বস্তু হইয়াছে তখন কেন না আমি আশ্বাসিত হইব ?

কিন্তু বড়ই দুঃখের বিষয়, দারুণ ক্ষোভ ভরে লিখিত হইবে ভাবাবৃত্তি বিজ্ঞান সমাদৃত ‘পুরোহিত’ এক্ষণে অকালে মুমূর্ষু। কিন্তু ইহাতেই বা দুঃখ করি কেন ? যে ক্ষেত্রে বঙ্গদর্শন, বান্ধব, আৰ্য্যদর্শন, নবজীবন, প্রচার অকালে মৃত হইয়াছে, সে ক্ষেত্রে ‘পুরোহিতের’ মুমূর্ষুত্বের নিমিত্ত বিলাপ করা বৃথা ! এ বঙ্গদেশ ! ইহা সে দেশ নহে, যেখানকার লোকেরা মানসিক উন্নতির জন্য পাঠাভ্যাস করেন। এখানকার লোকেরা আহারের পর নিদ্রাকর্ষণের জন্য কোন একখানা গৃহ লইয়া পড়িতে



বসেন। আঁখি-পল্লব একটু বিনত হইলেই সেই গ্রন্থ  
কোথায় পড়িয়া থাকে? এ দেশের পুস্তক বা মাসিক আপনায় সর্বাঙ্গীন কুশল ভেঁষর নবোপে একান্ত  
পত্রের পরিণাম সব্বদে প্রত্যাশিত বাক্যমাত্র বাবু বাহা বাহা প্রার্থনা করিতেছি। আশা করি মহাশয়ের কুশল-সংবাদ  
নিখিয়া গিয়াছে, আমি তাহা অশ্রান্ত মনে করি। সংবলিত পত্র দ্বিগুণই প্রাপ্ত হইব। ইতি—

কিন্তু বিশ্বক্সম প্রসংগিত ‘পুরোহিতের’ এ মৃতকল্প ১৩০১ সাল, ২৬শে কান্তম।

অবস্থার অন্ত আরও কোন অকৃত কারণ পরিলক্ষিত হয়—

একদা তাহার উল্লেখ বিবৃত থাকিব।

নিবেদক—

শ্রীমহেন্দ্রনাথ শর্মা।

## সূর্য্য শতক।

### কিরণ-বর্ণনা

[ ১ ]

অন্ত-রিপু-গজ-রাগ হৃদয়ের সিন্ধু-সাগ  
যেন অধে করেছে লেপন,  
উদয়-উচল-জাত বাতু-বারা-রাগে জ্বাত  
যেন লাজে রক্তিম-বরণ।  
পদ্ম-বনে সম-কালে যে লোহিত-কান্তি খেলে  
যেন বা তা করেছে বারণ,  
বাগ-ভাঙ্গু-অংগুগণ দীপ্ত করি ত্রিভুবন  
করুন মঙ্গল বরণ। \*

[ ২ ]

কোরক-কোচরে লীন। রজনীতে পদ্মাসনা  
রহে লক্ষী,—যেন সে কারণ,

বাঁরা ভক্তি-নত জনে দিতে প্রাতে তাঁরে এনে  
করে পদ্ম-দল প্রসারণ,  
কালাকার অন্ধকার কবলিত এ সংসার  
হেরি’ ভর করে নিবারণ,  
নব-পল্লব-অঙ্কণ ভাস্করের অংগ-পণ  
করুন কল্যাণ বিস্তরণ।

[ ৩ ]

বাঁরা অকুজ মাঝারে তেমনি পূরিত’ পরে  
পড়ে যেন নয় পরভর,  
দিবসের আগমনে তেমনি ভ অবনানে  
বাঁহাদের নাহি রূপান্তর, \*  
ত্রিভুবন-গৃহাঙ্কণে পশে বাঁরা সম-কণে,  
ভাস্করের সে কল্প-মিকর—  
অবিরত-পথ-প্রমে যেন উচ্চ—জগ-জনে  
করুন পালন নিরন্তর।

\* অন্ত নামক অক্ষরকে বধ করার ইচ্ছা ‘অন্ত-রিপু’ নামে  
প্রসিদ্ধ হইয়াছেন। ইহা পূর্বে মিকের অধিপতি এবং তাঁহার  
বাহন পদ্ম জ্যেষ্ঠ ঐরাবতের হৃদয়েশ শোভার অন্ত সিন্ধু-সাগ  
রঞ্জিত করা হয় তৎকালেই কবি উৎসাহে অলঙ্কার দ্বারা বলিতেছেন  
যে, এভাত-সূর্যের কিরণের যেন ঐরাবতের হৃদ-সিন্ধুর-বিস্তৃত  
হইয়াই ঐরণ লোহিত-বর্ণ হইয়াছে। পরবর্তী পংক্তি ভুলিতে  
কবি ঐরণ আরও দুইটি কবি পূর্ণ অঙ্গবাস করিয়াছেন। উদয়-  
উচল লোহিত-বর্ণ নৌরিকানি নামা বাতু বিরাটম আছে এবং  
তাঁহার সূর্য্য কিরণে জ্বলিত হইয়া সেই শিরির অধে রাগ-বারাকারে  
প্রসিদ্ধ স্বর ঐরণ পূর্ণপাণ্ডিত্য বর্ণিত হইয়াছে।

\* দিবসের প্রান্তে অবসানে বাহাদিরের একই রকম বৃষ্ণ-ভাব  
কিন্তু আরভিত্য। সূর্য্য-ভাব বধ।  
উমেতি সবিতা ভাষিতার এভাউমেতি চ।  
সপ্তমৌ চ বিপত্তৌ চ সহভাষেক-রূপতা।

ভাব্যে প্রকাশ।

ভাস্কর্য উদয়ে ভাস্কর, ভাস্কর-বর্ণ বধে অত বার।  
মহতের নহে ভাষাতর—দশ্মনে কি-বিপদে বহার।



[ ৪ ]

ভিত্তি-গুণনা খানি      যবে নিশা লয় টানি  
 হেরি' রিক্ত যত প্রাণি-গণ,  
 বসনের তত্ত্ব হেন      দিন-রাত্রি প্রসারণ  
 করে বেবা অসংখ্য কিরণ,  
 হয়ে যাঁরা রানীভূত      ক্রমে দীপ্ত, সুবিস্তৃত  
 দশ দিক করি' সম্পূরণ ।  
 বিমল অম্বর-তল      করে যাঁরা সমুজ্জল  
 হো'ন তারা মদল-কারণ ।

[ ৫ ]

ওষধীশ যবে রান,      শোকে প্ত কান্তি বেন  
 ওষধিরে বারা না তাকায়, \*  
 হৃদ্য কান্ত রূপি হতে      বহি-বেন ছুটে পথে  
 বাঁহাদিগে আগত জানায়,  
 পক্ষ ছেদ-বিগলিত      বেন রক্তে পরিপ্লুত  
 প্রাতে যাঁরা করে গিরি কার, †  
 রবির সে রশ্মি-চয়      প্রকাশি জগত মর  
 অমল না শুন বরায় !  
 ত্রীমতীশচন্দ্র রায় ।

## পুস্তক-পরিচয় ।

### কোরআন তত্ত্ব ।

#### প্রথম খণ্ড ।

ইছলাম ধর্মের একনিষ্ঠ সাধক মৌলবী মবিছুদ্দিন আহামদ কর্তৃক প্রণীত (সঙ্কলিত) ও প্রকাশিত । ইহা বঙ্গ ভাষায় সম্পূর্ণ অভিনব গ্রন্থ । এই গ্রন্থ কোরআন মাজিদের শ্লোকে শ্লোকে অনুবাদ নহে, কোরআনে নিহিত প্রকৃত ধর্ম তত্ত্ব । ইহার ভাষা অতি প্রাঞ্জল, বিস্তৃত, মর্মস্পর্শী ও প্রাদেশিকতা দোষ বিবর্জিত । ইহাতে সুবিশীর্ণ কোরআন-সাপর-মহন সমুদ্ভূত অমূল্য রত্নরাশি সমস্তে বিচার পূর্বক প্রথিত হইয়াছে । দর্শন, বিজ্ঞান, ধর্ম যে তত্ত্বই হউক না কেন মনকপক্ষ ক্ষতভাবার সাহায্যে যেমন গ্রহণ ও প্রকাশ করিতে পারে, অত্র কোনও ভাবার ভেদন পারে না । এই নিমিত্ত মুসলমান সমাজের জাতীয় ভাষা আরবীতে রচিত কোরআন বঙ্গীয় ইছলাম ধর্ম বিদ্বানদিগের মধ্যে যথেষ্ট প্রসার লাভে

সমর্থ হয় নাই । আশ্রয় আশা করি সে অভাব এত দিনে দূর হইল । এই গ্রন্থের আরও একটি বিশেষ এই যে গ্রন্থকার যখন ইছলাম ধর্মের একনিষ্ঠ সাধক হইলেও বর্তমান সভ্যজগতে প্রচলিত ধর্ম সমূহের মূলতত্ত্ব ও তাহার পরম্পর সম্বন্ধ সম্বন্ধে তাঁহার যথেষ্ট জ্ঞানের পরিচয় ইহাতে বিদ্যমান আছে । তত্ত্বিন্ন পবিত্র মক্কা, মদিনা প্রভৃতি তীর্থে গমন করিয়া নিষ্ঠাবান মুসলমানের অপরিহার্য্য কর্তব্য সম্বন্ধে সবিশেষ বিস্তৃত উপদেশ ও পবিত্র মন্দির সমূহের প্রতিকৃতি ইহাতে সন্নিবেশিত করায় ইহা ইছলাম ধর্মাবলম্বীদিগের সবিশেষ হিতকর হইয়াছে । কলতঃ প্রয়থানি ধর্মজিজ্ঞাসু সুশিক্ষিত ধর্ম-বিদ্বানদিগের নিকটে সাধারণ গৃহীত হইবে আশা করা যায় । পাদ চাঁকার মূল কোরআনএর হস্ত সকল উদ্ধৃত

\* 'ওষধি'—চন্দ্র-কিরণে জ্যোতিঃ-উদয়ীককারী পার্জাত্য লভ্য বিশেষ ।

† 'ওষধীশ'—ওষধি-লভার প্রভু চন্দ্র ।

† পুরাকালে পর্বতপদ পক্ষ-সম্পন্ন-শ্রীক একই প্রকারে পক্ষ-হেমন-কল্পন-ঐক্য-পৌরোহিত্যে অব্যাহত আছে ।



হওয়ার অবশ্য প্রয়োজনীয় অংশ পাঠ করিতেও সুযোগ চইয়াছে। এইরূপ গ্রন্থের বহুল প্রচার দেশের পক্ষে গ্রহিয়াছে, প্রয়োজনানুসারে ঐতিহাসিক প্রমাণ সমৃদ্ধ একান্ত হিতকর। আমরা কল্পনাময় পরমেশ্বরের নিকটে পাদ টীকায় সন্নিবেশিত হইয়াছে এবং অনেক প্রার্থনা করি, গ্রন্থকার দীর্ঘজীবী হইয়া তাঁহার আরও ব্রত অব্যাহত রাখেন এবং উপদেশাবলী পৃথক ভাবে সম্বলিত উদ্ভাপনে সমর্থ হউন।

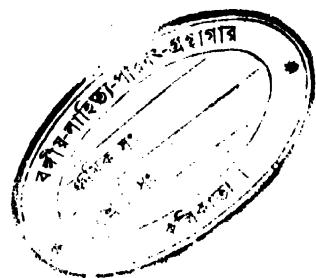
## প্রস্তাবনা-সঙ্গীত ।❀

এ মধুর-লগনে আশাভরা-পরাণে  
বজল-ভবনে মিলেছি আজি ;  
এস চির-সুন্দর, দুঃখহারী, শুভকর,  
লহ অভিনন্দন বন্দন-রাজি।

সার্থক হোক এই দীন আরোজন,  
এস সুধী-সজ্জন করি হে বরণ,  
এ পেলব-নিশীথে ব্যথিতে দিতে—  
বহিয়া এনেছি প্রেম-অর্থ্য-সাজী।

স্নেহ-নীতল ভব করুণা লাগি  
বেদনা-যথিত শত রয়েছে জাগি,  
কম্পিত করি হিয়া চৌদিক মুখরিয়  
ঝঝরি উঠে দুঃখ-সঙ্গীত বাজি।

শ্রীশ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ।





It is requested that all articles intended for publication may be sent to Professor S. N. Bhadra, Nyabazar, Dacca.

All business communications and all complaints regarding non-delivery of the Magazine should be addressed to—

*The Manager, "Dacca Review,"*  
5, Nayabazar Road, Dacca.

*N.B.*—I take this opportunity of expressing our sincere gratitude to the numerous gentlemen of light and leading who have encouraged us in this venture, either by the assurance of their warm and sympathetic support or by offering to contribute to this Magazine. Among other we may mention the names of:—

- |  |   |
|--|---|
| <p>The Hon'ble Mr. P. C. Lyon, C.S.I.<br/>The Hon'ble Sir Harcourt Butler, K. C. I. E.<br/>The Hon'ble Nawab Syed Sir Shamshul Huda, K. C. I. E., M.A., B.L.<br/>The Hon'ble Sir Asutosh Mookerjee, Sastra Vachaspati Kt., C.S.I., M.A.,</p>   |   |
| <p>The Hon'ble Mr. H. LeMesurier, C.S.I., C.I.E., I.C.S.<br/>" Sir Henry Wheeler, K. C. I. E.<br/>" Mr. R. Nathan, B.A., C.S.I., C.I.E., I.C.S.<br/>" Mr. H. Sharp, C.S.I., C.I.E., M.A.<br/>" Sir N. D. Beatson Bell, C.S.I., C.I.E., I.C.S.<br/>" Mr. J. Donald, C. I. E., I. C. S.<br/>" Mr. W. W. Hornell, C. I. E., M. A.<br/>" Mr. W. J. Reid, C.I.E., I.C.S.<br/>" Mr. J. G. Cumming, C. S. I., C. I. E.<br/>" F. C. French, C.S.I., I.C.S.<br/>" W. A. Seaton Esq., I. C. S.<br/>" D. G. Davies Esq., I. C. S.<br/>Ven'ble Archdeacon W. K. Firminger, M.A.<br/>Sir John Woodroffe.<br/>Sir John Marshall, K.C.I.E., M.A., LITT. D., F.S.A.<br/>The Hon'ble Mr. K. C. De, C.I.E., B.A., I.C.S.<br/>" Mr. L. Birley C. I. E., I. C. S.<br/>" H. M. Cowan, Esq. I. C. S.<br/>" J. N. Gupta Esq., M.A. I.C.S.<br/>" W. L. Scott, Esq., I.C.S.<br/>" Sir. J. C. Bose, C.S.I., C.I.E.<br/>" W. A. J. Archbold, Esq., M.A., L.L.B.<br/>" H. E. Stapleton Esq., M.A., B.Sc.<br/>" Dr. P. K. Roy, D.Sc.<br/>" Dr. P. C. Ray, C.I.E. M.A., D.Sc. (London)<br/>" B. L. Choudhri, Esq., M.A., D.Sc. (Lond.)<br/>Mahamahopadhyaya Pundit Hara Prasad Sastri, C.I.E.<br/>Principal Evan E. Biss, M.A.<br/>" Rai Kumudini Kanta Bannerji Bahadur, M.A.<br/>" Rai Lalit Mohan Chatterji Bahadur M. A.<br/>" J. R. Barrow, B. A.<br/>Professor R. B. Ramsbotham M. A., (Oxon).<br/>" J. C. Kydd, M. A.<br/>" W. Douglas, M. A., B. Phil., B. D.<br/>" T. T. Williams M. A., B. Sc.<br/>" Egerton Smith, M. A.<br/>" G. H. Langley, M. A.<br/>" Rai B. N. Das Bahadur, M. A. B.Sc.<br/>" Debendra Prasad Ghose.</p> | <p>Hon'ble Maharaja Bahadur of Dinagpor, K.C.I.E.<br/>The " Maharaja Bahadur of Cassimbazar, K.C.I.E.<br/>The Hon. Maharaja Bahadur of Nashipur.<br/>The " Raja Bahadur of Mymensing.<br/>Prof. J. N. Das Gupta, M.A., (Oxon).<br/>The Hon'ble Sir Devaprasad Sarvadhicari M. A.<br/>" L. L. D. C. I. E.<br/>" Mr J. H. Kerr, C. S. I., C. I. E., I. C. S.<br/>" Mr. Justice B. B. Newbould, I.C.S.<br/>" Nawab Syed Nawab Ali Chowdhuri.<br/>" Babu Ananda Chandra Roy.<br/>" J. T. Rankin Esq. I.C.S.<br/>" G. S. Dutt Esq., I.C.S.<br/>" S. G. Hart, Esq., M.A., I.C.S.<br/>" F. D. Ascoli, Esq., M.A., I.C.S.<br/>" J. McSwiney, Esq., M.A., I.C.S.<br/>" W. R. Gourlay, Esq., C.I.E., I.C.S.<br/>" T. O. D. Dunn Esq., M.A.<br/>" E. N. Blandy Esq., I.C.S.<br/>" D. S. Fraser Esq., I.C.S.<br/>Rai Jamini Mohon Mitra Bahadur.<br/>Raja Monmotho Nath Rai Chaudhury of Santosh.<br/>Khan Bahadur Syed Aulad Hossein.<br/>Mahamahopadhaya Dr. Satis Chandra Vidyabhushan<br/>Kumar Sures Chandra Sinha.<br/>Babu Chandra Sekhar Kar, Deputy Magistrate.<br/>" Jatindra M han Sinha, Deputy Magistrate.<br/>" Hirendra Nath Dutt, M. A., B.L.<br/>" Rakhal Das Banerjee, Calcutta Museum.<br/>" Hemendra Prosad Ghose.<br/>" Akshoy Kumar Moitra.<br/>" Jagadananda Roy.<br/>" Binoy Kumar Sircar.<br/>" Gouranga Nath Banerjee.<br/>" Ram Pran Gupta.<br/>Dr. D. B. Spooner.<br/>Kunwar Sain Esq., M.A., Bar-at-Law<br/>" Principal, Lahore Law College<br/>" Khan Bahadur Syed Abdul Latif.</p> |



## CONTENTS.

|  |     |                              |     |    |
|--|-----|------------------------------|-----|----|
| 1. The Palace of the Sky   | ... | Reginald B. Span.            | ... | 47 |
| 2. Races of the Panjab and North-Western Frontier Province : Manners and Religions | ... | Sir James Douie, K. C. S. I. | ... | 53 |

## সূচী ।

|  |     |  |     |    |
|--|-----|--|-----|----|
| ১। কুলন ( কবিতা )                          | ... | শ্রীযুক্ত কালিদাস রায়, কবিশেখর, বি-এ  | ... | ৪২ |
| ২। মহারাজ রণজিৎ সিংহের রাজসভা              | ... | শ্রীযুক্ত গুরুদাস সরকার, এম্-এ         | ... | ৫০ |
| ৩। আকাক্সা ( কবিতা )                       | ... | শ্রীযুক্ত সরোজকুমার সেন                | ... | ৫৪ |
| ৪। ডালি                                    | ... |  | ... | ৫৫ |
| ৫। দ্বীকেশ ( কবিতা )                       | ... | শ্রীযুক্ত কুমুদরঞ্জন বল্লিক, বি-এ      | ... | ৫৭ |
| ৬। মুহুর্তের তুল ( গল্প )                  | ... | শ্রীযুক্ত মুখীন্দ্রকুমার রায়          | ... | ৫৮ |
| ৭। ব্যর্থ ( কবিতা )                        | ... | শ্রীযুক্ত নেপালচন্দ্র চক্রবর্তী, এম্-এ | ... | ৬১ |
| ৮। ত্রিপুরারাজ্যের উনকোটি তীরের পুরাতত্ত্ব | ... | শ্রীযুক্ত শীতলচন্দ্র চক্রবর্তী, এম্-এ  | ... | ৬২ |
| ৯। চোখের পরিচয় ( কবিতা )                  | ... | শ্রীযুক্ত অমিত্যেন্দ্রনাথ ঘোষ, বি-এ    | ... | ৬৪ |
| ১০। পাশ্চাত্য নাট্য                        | ... | শ্রীযুক্ত জানেন্দ্রনাথ চক্রবর্তী       | ... | ৬৪ |
| ১১। বাকল-সাঁঝে ( কবিতা )                   | ... | শ্রীযুক্ত বেলা শুভ                     | ... | ৬৮ |
| ১২। তাজ ( সমালোচনা )                       | ... | শ্রীযুক্ত অমিত্যেন্দ্রনাথ ঘোষ, বি-এ    | ... | ৬৮ |
| ১৩। সাহিত্যিক-পত্র                         | ... |  | ... | ৭২ |



# THE DACCA REVIEW.

VOL. XI.

JULY, 1921.

No. 4:

## THE PALACE OF THE SKY.

BY REGINALD B. SPAN.

During my wanderings about the world I have always been a 'star-gazer,' a passionate lover of the sky, with all its wonders (seen and unseen), and its sublime beauty. The great dome of the heavens, with its purple immensity lighted by myriads of glittering stars on a clear night in the tropics, always seemed like some magnificent palace, and so I have always called the sky 'my Palace,' a spectacle of splendour, of which no adversity of fortune can rob one. I have watched the sky at all times and seasons, in all climates and countries, and never tire of its ever-changing beauty.

Many a night, in warm, dry climates, I have slept out under the stars with no roof but that of the 'Palace of the Sky,' and

Many a night I saw the Pleiads, rising thro' the mellow shade

Glitter like a swarm of fire-flies tangled in a silver braid,

On the parched, waterless deserts of Arizona, with a night temperature of 80° I have lain on the soft sand all night beneath the starlit splendour of the heavens, and gazed on stars and planets before dropping off to sleep, and watched the moon rise out of the vast immensity of the deserts into the vaster immensity of the sky—a great golden-red disc, which, as it ascended the heavens, was a signal for the unseen life of the desert to make itself manifest by sounds: the shrill and discordant yelping of the coyotes, the mournful cries of whip-poor-wills, the hooting of owls, with the occasional whirl-whir and cluck-cluck of aroused Californian quail. For weeks at a time I have slept thus beneath the Palace of the Sky, with the great glittering vault overhead unmarred by a single cloud, and never a drop of rain or moisture of any kind to necessitate a covering. The air, warm, dry, and fragrant, was a delight to breathe—a healing balsam to delicate lungs. I always witnessed the exquisite beauty of the dawn; the first fiery rays of the sun, as it appeared above the level horizon,



generally caught my closed eyes and aroused full consciousness and then I lay and watched the gorgeous splendour of the East gradually overspread the sky—such colouring as no artist could depict and language is powerless to express. But splendid as the dawns were, the sunsets were still more so. A sunset amid the deserts of Arizona is a scene one can never forget—a joy unspeakable. The strange, fantastic formations of rock and sand, which rise abruptly out of the level sandy plains in all directions, are painted every imaginable colour by the great fiery orb as it descends below the horizon. It is like beholding some weird and wonderful picture—some magnificent transformation scene, painted by wizards of the sky.

From many a camping place amid the Rocky Mountains have I watched the changing glories of the skies—from the first delicate tints of early dawn, when the mighty snow-clad peaks were coloured with melting hues of opal, rose and gold to the gorgeous afterglow of the fiery sunsets; and often far into the starlit splendour of the nights, which were always calm, clear, and cold, the air being keen enough to necessitate a blazing fire of pine-logs, which I generally kept up all night.

To realise the true joy of living one should camp in the 'Rockies,' and be a lover of the beauties of nature, especially of the sky. In no part of the world can one see the sky—sun, moon, planets,

and stars—to, such advantage. The atmosphere is extremely clear, rarefied and dry; the heavens are unsullied by a cloud, the days bathed in glorious sunshine, and the nights always starlit. I have camped on pine-clad ridges with a roaring river a thousand feet below, and great peaks towering thousands of feet above, their gleaming white spires sharply outlined against the blue or purple of the sky. After a supper of bacon, coffee, and 'slap-jack'—often supplemented with wild raspberries, which grow in abundance on the mountain slopes—I have lighted my pipe, wrapped myself in the thick blankets, and lain besides the fire of fragrant pine-wood, indulging in the 'long, long thoughts of youth.'

How intensely still were those nights—not a sound but the faint roar of the river far, far below, the crackling of the fire, and the occasional sighing of a breeze through the pines. Where there was no moisture of any kind a tent was unnecessary, so I could lie and watch the planets and the stars with uninterrupted view till I fell asleep. No dweller in houses can imagine the invigorating effects of sleeping under the stars, in a fine dry climate such as that of Colorado, where the air is like champagne. It is sleep indeed—deep, sound, and invigorating, and one awoke 'like a giant refreshed with wine,' to behold with ecstatic gaze :

Morn, in the white wake of the morning star,  
Came furrowing all the Orient into gold.







New Zealand 'bush,' and night coming on found me miles away from anywhere in the heart of the dense primeval forest. For hours I wandered, miserably cold and very hungry, up and down various tracks trying to find a way out but in vain, and constantly looking up at the Southern Cross through the tree-tops as the only light I had, and the only companionship. At last it seemed that the stars only mocked my distress, and, in Tennyson's words, appeared.

Innumerable pitiless, passionless eyes,  
Cold fires, yet with power to burn and brand  
His nothingness into man.

R. L. Stevenson, in one of his delightful novels, *The Ebb-Tide*, describes a vivid scene on a lonely Pacific island beneath the tropic stars which opens up another vista in the Palace of the sky—a fresh train of thought regarding the vast immensity of space around us, apparently so empty and devoid of life.

Attwater, the aristocratic pearl-fisher (a' Varsity man and an adventurer in the South Seas), is entertaining three men to dinner at his bungalow—adventurers who by chance had drifted to that lonely island in a stolen schooner, and whose intention there was to murder the sole white occupant, and seize his great treasure of pearls. Attwater divines this purpose; but, nevertheless, it does not detract from his geniality as host, and he also provides an excellent repast. Afterwards, as they sit out on the lighted veranda sipping liqueurs and coffee,

and smoking and talking (the one bright spot of light in the vast desolation of the sea), one of the guests remarks on the extreme loneliness of such a place and life, adding that he would prefer the vicinity of 'Bow Bells' in London.

'Talking of the sound of bells,' said Attwater, 'kindly follow a little experiment of mine in silence.'

Leaning forward, he struck with force a silver bell on the table, and, 'the note rose clear and strong; it rang out clear and far into the night and over the deserted island; it died into the distance, until there only lingered in the porches of the ear a vibration that was sound no longer.

"Empty house, empty sea, solitary beaches!" said Attwater. "And yet God hears the bell! And yet we sit in this veranda on a lighted stage, with all heaven for spectators! And you call that solitude?"

There have been few greater artists in words than that most lovable personality, Robert Louis Stevenson, and there have been few books in which scenes are more graphically described than in *The Ebb-Tide*. The vast star-garden of Infinity may be teeming with invisible beings, not only afar in the heavens, around the distant planets and stars, but close around this earth—in fact, at our very doors. It is highly probable that we are never alone, though we may be in the wildest solitudes, with no human being within many miles; for, as Milton wrote, 'millions of spiritual beings walk



this earth, both when we wake and when we sleep'.

Many a night I have sat on a lonely beach on the Pacific coast beneath the tropic stars, with miles of gleaming white surf to right and left, and not a living soul within an hour's journey. Before me lay the vast Pacific, calm as a mill-pool beyond the roaring line of breakers, reflecting the lights of planets and stars on its tranquil surface, and catching somewhat the solemn majesty of the desolate heavens. Often I pictured to myself what lay beyond that seeming void, and then I felt—ay, *knew* that I was not alone, and the vast solitude of land, sea, and sky was no longer loneliness. There were living, conscious, invisible beings in close proximity, whose presence I could feel by a kind of sixth sense.

To appreciate the full beauty of the night one should visit the tropics, where it is intensely calm, clear, and still, and the skies are entirely unclouded. One can then realise the spirit of Longfellow's beautiful lines :

I heard the trailing garments of the night  
Sweep through her marble halls,  
I saw her sable skirts all fringed with light  
From the celestial walls.  
I felt her presence by its power of might  
Stoop o'er me from above,  
The calm, majestic presence of the night,  
As of one I love.

Then, when troubles and cares assail one, what is more soothing than the calm beauty of the night, with its sugge-

tions of infinite peace and happier spheres ?

I heard the sounds of sorrow and delight,  
The manifold soft chimes  
That fill the haunted chambers of the night  
Like some old poet's rhymes.  
From the cool cisterns of the midnight air  
My spirit drank repose,  
The fountain of perpetual peace flows there,  
From those deep cisterns flows.

### III.

From the roar of the Pacific surf to the roar of London, with its very different skies (the journey from the Pacific coast in California can be accomplished in eleven days by the fastest trains and steamers), and what a transformation ! However, even in London one can see something of the Palace of the Sky in summer, especially from places like Kew Gardens or Richmond Park, where one has quietness and the beauties of nature on all sides to enhance the scene. A summer evening by the silvery Thames is not to be despised, though I prefer the Terrace at Monte Carlo, with its exquisite view over the Mediterranean and the Maritime Alps, and its unrivalled sea and sky colouring ; or spots I know of amid the Alps of Switzerland, above Lucerne ; or Montreux ; or along the palm-fringed coast of the Italian Riviera.

I remember one warm evening in June, sitting on the brilliantly lit Terrace at Monte Carlo, gazing on a scene that was too beautiful for words to describe adequately. There was not a breath of



wind, and the sea looked like a great mirror, reflecting not only the numerous lights of the gorgeous Casino, but the brilliant lights from the Palace of the Sky, so that everywhere, above and below, the soft purple of the darkness was splashed and punctuated with vivid light. Behind me towered the gleaming white walls, domes, and minarets of the Temple of Fortune, embowered in the finest gardens in the world, and in front lay the starlit expanse of the Mediterranean, with Monte Carlo Bay lying under the shadow of the mountains, and sheltered from the open sea by the rocky pine-clad promontory of Cap Martin. The air was soft, warm, and dry, and full of fragrance, and not a sound broke the deep silence and tranquillity of the scene but the monotonous voices of the croupiers floating through the open windows of the far-famed 'Rooms,' where play was still in full swing though it was nearly midnight. Occasionally came the clink of coin and the whirring of the roulette-wheels. The excellent band which had been 'discoursing sweet music' on the Terraces had long since departed, and with it the large crowd who had assembled to listen; and very few people were about. Suddenly, from below, a shot rang out sharp and clear, followed by a cry—then silence. Instantly all was animation; blue-coated Casino guards and gendarmes seemed to spring from nowhere, and hurried along the Terraces towards the spot, with stealthy steps,

calling softly to each other. I and others essayed to follow, but were at once stopped by officials, and informed that admission to the Terrace at that part was prohibited for the time being.

It was not difficult to conjecture what had occurred—one of those Monte Carlo tragedies, which are at once hushed up by the astute officials, and the particulars of which seldom find their way into the papers. And a moment before I had been thinking of the scene in Stevenson's book (which I have previously referred to), and saying to myself that we all of us sat 'on a lighted stage, with all heaven for spectators!'

Would the actor in that tragedy have paused to consider before plunging so recklessly into the Unknown had he realised that he had all heaven as spectators? Who can say? A brain tortured by adversity of fortune and suffering is capable of any folly or madness. I have heard of people who have deliberately gone to Monte Carlo to commit suicide should fortune not prove propitious; so the 'fatal tables' are not always to blame.

We all of us will some day be inhabitants of the celestial courts of the Palace of the Sky. Perchance we shall flit from star to star, and visit other planets besides this one. What wonderful and beautiful things shall we not behold in the 'many mansions' which comprise the celestial Palace?

The 'king of terrors' can avail nothing against those whose eyes are *ad astra*,



and whose feet are already on the 'Jacob's ladder' which leads to the interior region of the Palace of the Sky. 'How near to God and what is fair!— and what is fairer than the spectacle of the sky at all seasons, when not obscured? It is in the Palace of the Sky, and amid the beautiful works of nature, that we find the Invisible King. I found Him in the shining of the stars, I marked him in the flowering of His fields,  
But in His ways with men I find Him not.

The 'world of dreams' is probably the *real* world, and dreamers, poets and 'star-gazers' are more practical than they appear; at any rate, they know the way to *happiness*, which after all, is the *summon bonum* of life, both here and hereafter.

And the poet, faithful and far-seeing,  
Sees alike in stars, and flowers a part  
Of the self same universal being  
Which is throbbing is his brain and heart.

'Behold the dreamer cometh, and his way is through the Palace of the Sky.'

## RACES OF THE PANJAB AND NORTH WESTERN FRONTIER PROVINCES: MANNERS AND RELIGIONS.

BY SIR JAMES DOUIE, K. C. S. I.

On the map of the world there are certain points which are obviously of immense importance as gates to something which lies beyond. Such are the Straits of Gibraltar, the Dardanelles, the Suez Canal, and on land the Brenner Pass in the Alps, and the passes through the Hindu Kush to the north of Kabul, which Alexander's Greeks and the Turks and other dwellers in Central India traversed to reach the road to India through the valley of the Kabul River. On a larger scale we find

countries which have played a great part in history, because age after age it was necessary for traders and warriors to pass through them in order to reach more distant goals. Servia, Asia Minor, Palestine, and the Panjab, all fall into this class. The racial problems of such land tends to be both intricate and interesting.

Invasions of India, with rare exceptions, have come from the north and west, and all the invaders had to cross the Panjab till a nation appeared on the scene whose possession of sea-power enabled it to outflank the mountain defences by landing on the coast. The Greeks in 326 B.C., the Sakas and Yuehchi in the first Christian century the white Huns in the sixth century, the



Arabs in the beginning of the eighth century, all penetrated into the Panjab and ruled part of it for longer or shorter periods. Successive Turkish invasions from the tenth to the sixteenth century swept over the Panjab to reach the richer lands beyond. To mention the best-known names, Mahamud of Ghazni, Chingiz Khan, Timur the Lame, and Babar, opened the road which finally brought Akbar to Delhi, and through Delhi to the empire of Northern India. It seems unlikely that all these invasions passed without leaving some considerable mark on the racial composition of the province.

The area with which I am dealing consists of the Panjab and the North-West Frontier Province with the independent tribal area included within the British sphere of influence. It had in 1911 a population of 27,000,000, of which 20,000,000 were in the British districts of the Panjab and 4,000,000 in the Panjab Native States. Since the outbreak of plague in 1896 the population has ceased to expand. Notwithstanding the almost complete absence of the large towns, the density per square mile is nearly equal to that of France. There are over 44,000 villages and the business of the people is agriculture. The typical holding is that of the peasant landowner tilling from four to ten acres with his own hands with or without help from village menials. Including such menials, usually paid for their services by a share of the crop,

the agricultural population may be taken as 75 per cent. of the whole. Neglecting those castes whose numbers do not amount to 1 per cent., we get the following classification :

|                          |              |
|--------------------------|--------------|
| Landowning Tribes ...    | 50 per cent. |
| Artisans and Menials ... | 24 " "       |
| Hindu Traders ...        | 6 " "        |

The second group includes blacksmiths, carpenters, weavers, water-carriers, potters, barbers, and oilmen, and the large population of untouchables, sweepers, and leather-workers, who together account for 10 per cent. of the people.

We must, before giving details, pause to consider what we mean by caste or tribe. A tribe is a body of persons united by real or assumed descent from a common ancestor, and subject to common rules of conduct as regards the important things of life—marriage, eating, drinking, and smoking. These rules are most fully observed in the east—that is, in the part of the province which properly forms part of Hindustan. The real Panjabi is less bound by traditional rules than the inhabitant of any other Indian province. Strictly speaking, you should only marry a woman belonging to your own tribe, but not belonging to your own tribal subdivision or *got* which we may translate by clan. Mr. Ponsonby Jones cannot wed Miss Smith or Miss Robertson, and he must keep clear of all the Ponsonby Jones' maidens. The restrictions go further, but I need not



trouble you with refinements. Broadly, you can marry any Jones who does not belong to the two or three clans to be avoided because of previous blood relationship. The social rank of tribes is largely determined by their attitude to widow remarriage. Marriage with full ceremonies, including the perambulation of the sacred fire, is only contracted with a virgin, and the highest tribes in the social scale can only wed in that way. But most agricultural tribes recognise widow remarriage by a form known as *Karewa*, and the widow is expected to marry one or other of her late husband's brothers, and as a rule weds the youngest. The equivalent in England of the two forms of marriage would be found if the parish priest would only read the service in the case of an unmarried girl, while the merry widow had to be content with the registrar. Again, your tribal custom may force you to marry your daughter only into a clan equal or superior to your own, while your son may marry beneath him. It is an awkward rule, for in some tracts it has led to the prevalence of female infanticide. Certain tribes can eat and drink together without contracting ceremonial defilement. Thus in Karnal Jats, Gujars, and Rors, being practically of equal rank could take food one from another but none of them could accept it from any of the menial castes, and certain tribes are so impure that their mere touch pollutes food. In the same

district a Hindu would throw his meal away if a Muhammadan's shadow fell on it. Everybody in India is familiar with the fact that at railway stations separate water-carriers and standpipes are required for Hindu and Musalman passengers. I was once inspecting a new water-supply in a decaying market town in the west of the province. There were two stand-pipes back to back with their spouts point in opposite directions. I asked the people if they were quite satisfied with the arrangement, and was told there was a risk of water squirting from the one side to the other and so spreading defilement. They, therefore, suggested that a wall of partition was desirable. You must be carefully about borrowing another man's pipa. If you put down your *hukka* in the field you should see that a bit of rag is attached to it—blue for a Musalman and red for a Hindu. The leather worker should tie a strip of leather, and the sweeper a string, on his pipe.

All this seems to fit in with the notion that caste is immutable, but descent from a higher to a lower caste is not difficult. A Rajput clan which adopts widow remarriage at once loses its status, and henceforward will be regarded as a subdivision of the Jats. Some of the Rajputs of Hoshiarpur sunk still lower by taking to growing vegetables, and ranked henceforth with Arains. Artisan tribes may be found with proud Rajput clan names, which may possibly indicate remote Rajput



descent. The euxpert gipsy black-smiths, who wander about the east of the Panjab living in curious little tents and refusing to even enter a house, tell you that they are descendants of the Rajputs of Chitor, who left it after the famous siege, and are under a vow never to come under a roof till Chitor is recovered. The claim may or may not be true, but it illustrates my point. Carpenters, blacksmiths, and even barbers, of Sirsa were, till quite recent times, Jats or Rajputs. It is difficult, but not impossible, for a family nowadays to attain to higher tribal rank. I think it could still be done if it is wealthy and persevering. Formerly the progress was evidently much easier. A hill Raja gave a man a step in rank by making him a Rajput just as a Western King makes Jones a knight or a peer and describes him as his trusty and well-beloved Jones. Nowadays in India the first steps would be to seclude your women, forbid widow remarriage and, by paying a good sum, to induce a man of a higher tribe to break his rules and bestow his daughter's hand on your son.

Of course, among Muhammadans there ought to be no caste distinctions, and one of the attractions of the creed for low-caste converts is the prospect of getting rid of social disabilities. A cynical proverb runs somewhat as follows:

"Last year I was a sweeper, this year  
I am a Shekh ;

Next year, if prices go up, I shall be  
a Saiyyid."

That is a very exaggerated statement, for it would be a long time before a converted sweeper family could persuade people to accept it as descended from the Prophet's son-in-law ; but converts constantly call themselves Shekhs, though the true Shekhs with any claim to Arab descent are high-born people.

We have seen that 50 per cent. of the people belong to landowning tribes. Classifying in fractions of 100 the component parts of this group, we find that about 13 per cent. are Hindu or Muhammadan Rajputs. For reasons already given, we may reasonably suspect that the ancestors of some of the Rajputs of to-day had no hereditary right to that title. Sir Denzil Ibbetson doubted whether there was any racial difference between the Rajput and the Jat, the distinction being in his view social rather than ethnic. "I believe," he wrote, "that those families of that common stock whom the tide of fortune has raised to political importance have become Rajputs almost by virtue of their rise, and that their descendants have retained the title and its privileges on the condition, strictly enforced, of observing the rules by which the higher are distinguished from the lower castes in the Hindu scale of precedence, of preserving their purity of blood by refusing to marry with families of inferior social rank, of rigidly refraining from widow marriage, and of refraining



from degrading occupations." He thought the progress of elevation had been suspended after the establishment of the Moghul Empire stopped the foundation of petty kingships.

It is usual to describe Rajputs as bad cultivators, but that is by no means true universally. They are sorely hampered by caste rules, which forbid the employment of their women on field work, and the prohibition of widow remarriage is a severe handicap. The widow is a burden to herself and to her late husband's family. The Rajput peasants of Karnel were wise enough to defer the marriage of their daughters to an age at which they could at once start married life. Among other agricultural tribes, boys and girls are married as children; but this involves no abuse, for the ceremony is only a binding betrothal and the little bride returns very shortly to her father's house, and remains there for one, three, five, or seven years.

The Dogra Rajputs of the low hills are excellent soldiers, brave and faithful in war and well-behaved in cantonments.

There are three Jats for every Rajput in the province, and they account for 40 per cent. of the landowning tribes. We need not trouble about theories that have identified them with the Getae or described them as Indo-Scythians from the Oxus Valley. I am not sure that anyone has a clear idea of who the Scythians were. We may accept as probable Sir Denzil Ibbetson's opinion that Jats and Rajputs belong to the

same racial group, and that the distinction between them is mainly one of rank. This, however, must be understood of the true Jats of the Eastern and Central Panjab. The Jats of the South-West Panjab are a miscellaneous collection of Muhammadan peasants and camel owners whose racial affinities it would be a hopeless task to disentangle.

The Jat is a typical son of the soil with the virtues and faults of the small farmer. Strongly built, he is hard-working and brave, democratic and individualistic, a good agriculturist and a first-rate fighting man, slow-witted and grasping. When his passions or greed are aroused he can be very brutal. I have heard of vengeance being wreaked, not only on men women, and children, but on the very cattle of the hated household. The Sikh Jat has an unfortunate taste for strong drink, indulgence in which is often the accompaniment, if not the cause, of violent crime; but he drinks at fairs festivals and I should say that anything like soaking was rare. He has found an outlet for his exuberant energy in the army and the police within and without India. Failing that, he not infrequently seeks excitement in dacoity or gang robbery. A band of fifteen to thirty men, armed with bludgeons, guns, and swords, swoops down on an unfortunate village, terrorises the inhabitants, and ransacks the house of some well-to-do money-lender or retired native officer. The



brutality shown is often extreme. As soon as the loot is divided, the band disperses to dissipate the proceeds in drink and gambling.

Epidemics of dacoity occur from time to time, and give much anxiety to district officers and much exciting and dangerous work to the police. This class of crime is so characteristic of the Panjabi's nature and habits, and especially of the nature and habits of Sikh Jats, that it may be worth while to say a little about the outbreak of it which occurred in 1897, and especially of the exploits and end of one celebrated leader—Sundar Singh. He was, if I recollect rightly, the son of a small country squire, but birth is by no means a necessary qualification for a dacoit leader. A band of dacoits is the most democratic institution with which I am acquainted. I think one of the famous captains in 1897, named Jabru, who was brought to bay in the Lahore district and shot dead by a police officer was a sweeper.

When the outbreak began in 1897 I was in charge of the Gurdaspur district. Two large bands from the Amritsar district raided some of my villages. I fortunately had at my disposal two exceptional officials—one a Jat Sikh and one a Hindu Arora of the trading class. Their courage, energy, and patience, were rewarded by the capture of practically all the members of the two bands. Sundar Singh was brought before me to have

his statement recorded. Physically he was a splendid specimen, and one felt that, if he had enlisted, he might have become a distinguished native officer. Soon after he managed to escape from the lock-up. He took cover in the territory of the Raja of Kapurthala, and was a danger to honest people on the other side of the Bias in Amritsar. But an appropriate ending to his career of adventurous crime was not long delayed. The police watching in one of the border villages heard that he was coming with his band along the canal bank. They turned the Jat Sikh peasants out to dispute the passage. One big Jat Sikh challenged Sundar Singh to single combat. They had a Homeric fight with poleaxes in the presence of spectators who no doubt enjoyed themselves greatly. It was hinted to me that the honest man got some unsportsmanlike help. At any rate, our poor friend Sundar Singh was mortally wounded and carried to hospital, where he died game, refusing to give up the names of his accomplices.

I may tell you the story of another fight, in which both the combatants were honest men, as illustrating the manly spirit and land-hunger of the Jats of the Central Panjab. I was giving out land for settlement on one of the new Government canals. I had allotted the main grants, and had two plots left for which three men had equal claims. One of them I gave to the oldest man. The other two were very young peasant



farmers—one a tall, finely-made Hindu Jat ; the other a Jat Sikh, much smaller, but a broadshouldered sturdy fellow. I told them they must wrestle for the remaining plot. The villagers formed a ring, and a long bout was followed with keen interest. Finally the Jat Sikh flung his tall opponent on his back, and leapt up into the air to proclaim his triumph. Probably that was the fairest decision I made in the course of a long Indian career. It is worth while to spend time and effort in safeguarding the interests of a manly peasantry of which these people were ordinary specimens, and the English in the Panjab, while they have no doubt sometimes made mistakes, have consistently striven to promote their welfare.

I have spent so much time over the Jats, the most characteristic product of the Panjab, that I must dispose of the other tribes very briefly. Gujarars are of the same social standing, and, like the Jats, would regard vegetable-growing as beneath their dignity. That distinguished but somewhat fanciful archæologist, General Cunningham, was convinced that the Gujarars were descendants of the Yuehchi who conquered the Panjab in the first centuries of the Christian era. I have small doubt that Gujar is simply the Sanskrit *gochara*, or cowherd, and that the Gujarars were shepherds and cattle-keepers in territories dominated by Rajputs. That is still the occupation pursued by many of them in the hill country, where they are specially numerous.

Next we have a group of peasant farmers of lower social rank—Arains, Kamboh's, Sainis, Malis, and Malliars—who are sometimes described as Market-gardeners. Often this merely indicates that they have no objection to growing vegetables, and an Arain by no means confines his attention to *la petite culture*, and is quite as good a wheat-grower as the Jat. Collectively these people embrace 12 per cent. of the landowning group.

Then we have the group which includes a large part of the Muhammadan peasantry of the north-western districts and Shahpur, the best known tribes being the Awans, Tiwanas, Janjuas and Ghalikars. It is from them that our regiments draw the excellent fighting material usually described compendiously as Panjabi Musalmans. They are often excellent horsemen, and I have known them turn out to give you an exhibition of tent-pegging on a bare country road. The Awan is numerically the principal tribe and socially ranks high. His home in the Panjab is the Salt Range and the plain country to the north of it. After Pathans they are by far the largest element in the north-West Frontier Province. The Musalman peasants of the north-western districts of the Panjab are not conspicuous examples of the domestic virtues. They are strict teetotalers, and the prevalence of violent crimes among them rather discredits the idea that the Jat Sikh's predilection for similar forms of excitement is due to his love of strong drink.



As a priestly caste the Brahman is held in little esteem in the plains of the Panjab except in the eastern districts, which really belong to Hindustan. Racially and linguistically the Panjab stops at the Ghagar. The Brahman is usually a cultivator like any other, and in the hills not a few of them are grain-dealers and moneylenders. The Muhial Brahmans of the north-western districts formerly furnished many good officers to the army.

It remains to discuss the two non-Indian races, the Biloch and the Pathan. When the North-West Province was severed from the Panjab, the Biloch tract in the south-west, with its strong tribal organization under chiefs or tumandars was spared. The Biloches are comparatively late-comers, who speak a language closely akin to Persian. They say they are descendants of the Prophet's uncle Hamza, and that their original home was Aleppo. When they left Syria they settled in Persia, and Firdausi, in a passage of the *Shahnama*, remarks that a part of that country was black with them. They tell a naive story of their exodus from Persia. The King demanded for his zanana sixty Biloch girls, one from each section of the tribe. A mesalliance of this sort was not to be borne, so they adopted the expedient of dressing sixty boys in girl's clothes and sending them to His Majesty. Later it appears to have struck them that the deception might be discovered, and they trekked eastwards.

The Biloches are a frank, manly race, free from fanaticism, and ready, as a rule, to follow their chiefs. They are, or were, very lax in religious observances. I remember a *jirga* at which trans-border Khetrans and our own Biloches were present. When the time for prayer arrived, the former prostrated themselves to a man, while our Biloches, with one or perhaps two exceptions, sat like statues. When one old chief sent his son, whose youth had been rather stormy, to Mecca (with, I may remark in passing, excellent results), my Biloch *munshi* pointed out the folly of a young man going on the Hajj instead of waiting till he was an old man, and could do nothing but pray in the mosque.

Politically and numerically the Pathans are all-important in the North-West Frontier Province, where they account for 38 per cent. of the population. In addition, in the independent tribal territory included in our political boundary there is a population of a million and a half consisting of Pathans and their dependents. Cis-Indus there are a good many Pathans in the Attock district. The Pathan is a democrat and often a fanatic, more under the influence of the *mullahs* than of the *maliks*, or headmen, of his tribe. He has not the frank, straightforward nature of the Biloch, is relentless in pursuit of revenge, and is not free from cruelty; but he will not war on his enemy's womenfolk or children, and he is a faithful host to anyone whom he has admitted under



his roof. When he has eaten the Sarkar's salt he is a very brave and dashing soldier ; but when he has taken his discharge, he will cheerfully help his tribe to fight against us, and appear at the powwow, or *jirga*, assembled to arrange terms of peace with British medals on his breast.

Aroras are the traders of the South-West Panjab and of the Frontier. The business of the Frontier Arora sometimes takes him into distant and dangerous places. His environment has given him grit, and our Government has obtained some of its best officials from this class. The grain-dealers and business men of the Central and North-West Panjab are Aroras and Khatri. In the north-west the Khatri is not infrequently a landowner and a good fighting man. In the east the place of the Arora and Khatri is taken by the Bania, and in Kangra by the Sud and the Brahman. Khojas and Parachis are Muhammadan traders.

Among artisans, goldsmiths, masons, blacksmiths, and carpenters take the first rank. It is a curious fact that some of the Sunars (goldsmiths) in the Panjab are followers of the curious Muhammadan sect of the Khojas, which regards the Aga Khan of Bombay as a divine personage. The untouchables, Chamars, or leather-workers, and the Chuhra, or sweepers, account for 10 per cent. of the population. Officially they are classed as Hindus ; but the Chamar has to have his own special Chimarwa

Brahman, with whom the ordinary Brahman could not associate, and the sweepers worship Lal Beg. The sweeper who embraces Islam becomes a Musalli. The Sikh Mazhbis, who are descendants of sweeper converts, have done excellent service in pioneer regiments. In his avoidance of untouchables the Hindu of the Panjab has never gone to the absurd lengths of the Madrasis ; but it is rather misleading to class as Hindus large bodies of persons excluded from the greater temples and whose touch is defilement.

Seven languages are spoken in the Panjab and North-West Frontier Province, two of which, Pashtu and Bilochi, belong to the Iranian group. Of the five Indian languages Rajasthani, or the speech of Rajputana, is spoken by three-fourths of a million of people on the southern border, and Pahari by a million in the hills. Western Hindi is the mother-tongue of nearly four millions in the eastern districts between the Ghagar and the Jamna. The language of the Central Panjab is Panjabi, spoken by over fourteen million people. In the west Lahndi, though sometimes called Western Punjabi, may claim to be a distinct language with a strong non-Sanskritic or Pisacha element. It is the mother-tongue of four and a quarter millions in the Panjab and of the majority of the inhabitants of two of the five districts of the North-West Frontier Province.

The infiltration of English words into the speech of the people produces



uncouth results for refined ears ; but to object to this outcome of racial contact is ridiculous in the case of Englishmen whose own language borrowed largely and to its great advantage, from Scandinavian and Norman French, and has enriched its vocabulary in latter times from the most distant quarters. "Tren late hai lekin singal down hogaya" is quite comforting and intelligible to the weary traveller. And I do not see why one of the 'most distinguished and popular of Panjab officials should resent the description. "Bahut affable hai, lekin handshake nahin karta." At any rate his many friends recognize the accuracy of the picture.

You will expect me to say something of the racial affinities of the inhabitants of the Panjab. I have no claim to be an expert on such questions, but I shall state the Late Sir Herbert Risley's views. These rest on a scientific basis, though the evidence may be insufficient to bear the whole weight of the general conclusion reached. At any rate, they cannot be brushed aside like some of the wild guesses to which I have referred. His theory was derived from measurements of heads and noses, and if we had enough of these, a very careful analysis would be the best foundation on which to build—far more trustworthy than the language test, which is now admitted to be of very secondary importance. Sir Herbert maintained that the inhabitants of Rajputana, nearly the whole of the

Panjab plains, and a large part of Kashmir, whatever their caste or social status, belonged, with few exceptions, to a single racial type which he called Indo-Aryan. The Biloches and Pathans obviously did not form part of this group, and he classed them as Turko-Iranians. The people occupying the hills in the north-east and the adjoining parts of Kashmir were of Mongol extraction a fact which no one will dispute. Between the Ghagar and the Jamna the type was Aryo-Dravidian, as in the adjoining province of Agra.

Of the Indo-Aryan type Sir Herbert Risley wrote: "The stature is mostly tall, complexion fair, eyes dark, hair on face plentiful, head long, nose narrow and prominent, but not specially long." He believed that the Panjab was occupied by Aryans, who came into the country from the west or north-west with their wives and children, and had no need to contract marriage with the earlier inhabitants. The Aryo-Dravidians of the United Provinces resulted from a second invasions, or invasions, in which the Aryan warriors came alone and had to marry with the Dravidians women belonging to the race which forms the staple of the population of Central India and Madras. I find it difficult to believe that Aryan invaders either exterminated or expelled the previous inhabitants. A conquering race has generally been able to impose its language and laws and institutions ; but I doubt whether it has often been tempted, except perhaps from misguided



religious zeal, to kill women and children or even the whole adult male population. Slaves were very valuable chattles. It seems reasonable to think that the untouchables, at least, belong to an aboriginal stock. And the more race problems are studied the less importance is attached to purity of blood. Strong races like the French, the Italian, or our own, are of extremely mixed origin. Why should we suppose that the only invaders who left a deep mark on the Panjab were prehistoric Aryans? It seems hard to believe that later invaders—Sakas, Yuehchis, and White Huns—completely vanished to reappear, according to Sir Herbert's theory, as the Mahrattas of Bombay, leaving no traces of their blood in the Panjab. If such traces there are, we should perhaps look for them among some of the tribes on both sides of the Salt Range, such as Gakhars, Janjuas, Awan, Tiwanas, Ghebas, and Johdras, who are fine horsemen, not "tall heavy men without any natural aptitude for horsemanship," as Sir Herbert described his typical Punjabi.

In the North-Western Provinces the people, with insignificant exception, profess Islam. The last census of the Panjab showed the proportions of the adherents of the different religions as follows:

|                            |        |              |
|----------------------------|--------|--------------|
| Muhammadans                | ...    | 51 per cent. |
| Hindus                     | ... .. | 36 " "       |
| Sikhs                      | ... .. | 12 " "       |
| Other (chiefly Christians) | 1      | " "          |

The strength of the Muhammadans is in the districts west of the Bias and of the Sutlej below its junction with the Bias. In all this western region there are few Hindus apart from the shopkeepers and traders. On the other hand, the hill country in the north-east is purely Hindu, except on the borders of Tibet, where the scanty population professes Buddhism. In the early centuries of the Christian era, Buddhist monasteries were scattered over the province. Probably the iconoclastic raids of Mahmud of Ghazni gave the *coup de grace* to a creed which had degenerated into a childish veneration of relics. I doubt whether, any more than Brahmanism, it was ever in a real sense the religion of the village folk. While Hinduism is the predominant faith in the south-east, quite a fourth of the people there are Musalmans. Sikhs nowhere form a majority. Their stronghold is the eastern part of the central plain, where they number in the five districts of Gurdaspur, Amritsar, Ferozepur, Jalandhar, and Ludhiana from 20 to 43 per cent. of the population.

The decrease of Hindus in the last census amounted to nearly 15 per cent. Their birth-rate is lower, and their death-rate higher, than those of the Musalmans, and their losses by plague in the central and some of the south-eastern districts have been very heavy. A change of sentiment on the part of the Sikh community has led many



persons to record themselves as Sikhs who were formerly content to be regarded as Hindus. A quarter of the Hindus are untouchables, who can only be described as Hindus by courtesy. The village Hinduism of the east of the province is very remote from Brahmanism. The peasant may know the names of the great gods of the Hindu triad, but he does not raise temples to them. If there is a Shivala in the village, it has been built by a Hindu shopkeeper. In a vague sort of way, I think, the Karnal peasant believes in a supreme being. The name of Paramesvar (the supreme lord) is often on his lips, and he thinks that rain and hail, wind and storm, fulfil his word. He refers the success or failure of his crops to the will of Paramesvar. But the powers he is really concerned to propitiate are the malignant godlings, whom, it is interesting to know, are mostly females, such as the goddesses of smallpox and the other pustular diseases. The sainted dead, such as Guga Pir, probably originally a snake god, and Lakhdatta, or Sultan Pir, are also favourite objects of worship. The shrines of this curious pantheon are put up outside the village, and, except in the case of Guga and Lakhdatta, are generally very insignificant structures. It is worth while to quote a passage from the Karnal district gazetteer which represents Denzil Ibbetson's view of the subject, and I note in passing its bearing on the ethnological problem,

"It is a curious fact," he wrote, "that most of the malevolent deities are worshipped chiefly by women and by children while at their mother's apron. Moreover, the offerings made to them are taken, not by Brahmans, but by impure and probably aboriginal castes, and are of an impure nature. The primeval Aryan invaders must have intermarried, probably largely with aboriginal women; and it is a question to which enquiry might profitably be directed whether these deities are not, in many cases, aboriginal deities."

Hinduism, as you see, has always been, and is to-day, a most elastic term. The Census Superintendent, my friend Pandit Hari Kishn Kaul, himself a freeing himself from caste prejudices and marriage restrictions, and the most orthodox Sanatan-dharmist, who carries out the whole elaborate daily ritual of Brahmanism; for the ordinary Hindu shopkeeper, equally orthodox by profession, but whose ordinary religious exercise are confined to bathing in the morning; for the followers of the village religion of the eastern districts, which I have just described; and for the childish idolaters of Kulu, who carry their local godlings about to visit each other at fairs, and would see nothing absurd in locking them all up in a dungeon if rain held off too long.

Notwithstanding heavy losses by plague, Sikhs have increased by 37 per cent. A great access of zeal has led to many more Sikhs becoming Keshdharis



Sajhdaris, or Munas, who represent one-fifth of the Sikh community, were in 1901 classed as Hindus. They are followers of Baba Nanak, cut their hair, and often smoke. When a man has taken the *pahal*, which is the sign of his becoming Keshdhari, or follower of Guru Govind, he must give up the *hukka* and leave his head unshorn. The future of Sikhism is with the Keshdhari. He has no love for the reformed Arya-Samaj Hindu. Theoretically, he ought to have, but religious likes and hatreds don't depend on theories.

The conversion of the Western Panjab to Islam was evidently the result of missionary effort, and the great saints, like Bawa Farid, were also probably preachers of the faith. Nowadays Muhammadanism in the west has become largely the cult of dead saints and of reverence paid to the custodians of their shrines. A man's *Pir*, or spiritual director, may be the guardian of some little saint's tomb in a village, or of some great shrine, such as those at Pak pattan, Multan, and Taunsa Sharif. The *pir's* holiness may be more official than personal.

In the eastern districts conversion to Islam was political, and Hindu and Muhammadan peasants live peaceably together in the same village. The Musalmans have their mosque for the

worship of Allah, but were, and are probably still, not quite sure that it is prudent wholly to neglect the gods. An influential Muhammadan Rajput, when I reproached him with the interest he displayed in a slab covered with graven images, which I found in the bed of the old *Ghagar*, was quite unabashed, merely remarking, "Why, our father made them!" On the other hand, a Hindu peasant sometimes mixes up the two creeds. I have known a headman belonging to a purely Hindu tribe exclaim "Allah!" with great devoutness when my horse stumbled, and when asked why, he explained that Allah and Rabb were one, apparently taking Rabb as an orthodox Hindu name for the Deity. The Musalmans of the Western Panjab have a deep-rooted dislike for the Sikhs, dating from the period of the political predominance of the latter.

I fear we must conclude that so far the result of education has been to accentuate religious differences and animosities. Both Sikhs and Muhammadans are gradually dropping ideas and observances retained in their daily life after they ceased to call themselves Hindus. It is a natural and, from their point of view, a healthy result of enlightenment, but, unfortunately, at the present stage it means a decrease, and not a growth, of charity.







**श्रीकानिनाभ राय ।**



## মহারাজ রণজিৎ সিংহের রাজসভা

পঞ্জাব কেশরী মহারাজ রণজিৎ সিংহ কি প্রণালীতে রাজকার্যাদি নির্বাহ করিতেন তাহা আধুনিক ঐতিহাসিকগণের গ্রহ হইতে ভালরূপ জানা যায় না। তৎকালীন রাজদরবারের প্রকৃত আলেখ্যও বড় বিরল। লেণ্টনাণ্ট ষ্ট্রিমব্যাক নামক একজন ইংরাজ সৈনিক রণজিৎ সিংহের সামরিক বিভাগে কর্ম করিবার সময় যে সকল তথ্য সংগ্রহ করিয়াছিলেন তাহা হইতেই বর্তমান প্রবন্ধ সংকলিত হইয়াছে। ষ্ট্রিমব্যাক সাহেব নিজেই স্বীকার করিয়াছেন যে এ সকল সংবাদ তিনি স্বয়ং সংগ্রহ করিতে পারেন নাই। তাঁহাকে অনেকাংশে রাজদরবারের সংবাদ লেখকগণের উপর নির্ভর করিতে হইয়াছিল বটে কিন্তু তিনি ভালরূপে জিজ্ঞাসাবাদ না করিয়া কোন সংবাদই তাঁহার পুস্তকে লিপিবদ্ধ করেন নাই। রণজিৎসের রাজসভায় ইংরাজী কেতাবত 'সেরেস্তা' বা 'আলফিভার' প্রাদুর্ভাব ছিল না। তিনি সকল বিষয়েই মৌখিক হুকুম দিতেন এবং তাঁহার পার্শ্বর্তী কর্মচারীরা অপরাপর ব্যক্তিগণের অবগতির জন্য তাহা লিপিবদ্ধ করিয়া লইত। নাট্য্যকারে সন্নিবিষ্ট নিয়ন্ত্রিত ঘটনাগুলি বর্তমান লেখকের স্বকপোল কল্পিত নহে। বস্তুতঃ ইহা ষ্ট্রিমব্যাক লিখিত গ্রন্থের আংশিক অনুবাদ মাত্র।

মহারাজ রোপ্য সিংহাসনে সমাসীন।

(প্রতিহারীর প্রবেশ)

প্রতি। মহারাজ! ক্যাবুল হইতে সংবাদ আসিয়াছে।

মহা। দূতকে আমার নিকট লইয়া আইস।

প্রতি। মহারাজ! দূত আপনার সন্নিধানে উপস্থিত।

মহা। ককির উজিদ্দীনকে ডাকিয়া আন।

(ককিরের প্রবেশ)

কৃত্য। ককির সাহেব আসিতে আজ্ঞা হউক।

মহা। দূত! কে এ পত্র প্রেরণ করিয়াছেন—সর্দার

দোস্ত মহাম্মদ না অপর কেহ?

দূত। এ পত্র সর্দার সাহেবের নিকট হইতে আসিয়াছে।

মহা। পত্র কি লিখা আছে পাঠ করিয়া আমাকে শুনাও। (ককির পাঠ করিতে লাগিলেন) লাহোর-রাজ মহারাজ রণজিৎ সিংহের সমীপেবু। মহারাজের বশোরাশি দিন দিন বর্ধিত হইতে থাকুক, মহারাজের জন্ত হুইটী অব, একখানি তরবারি ও বিংশতি তার ফল মূল্যাদি প্রেরণ করিলাম, মহারাজ কি উহা রূপা পূরক গ্রহণ করিয়া এ অধিনকে অতুগৃহীত করিবেন?

প্রতি। মহারাজ! মিশার উপস্থিত।

মিশ। মহারাজের কি আদেশ?

মহা। মিশার! বেগীরামের নিকট যাও এবং তাহাকে দোস্ত মহাম্মদের জন্য রূপার হাওদা সমেত একটি হুজী, একটি সিদ্দুদেদীর বন্দুক, একখানি গজ-রাটি তরবারি ও দশ জোড়া শাল পাঠাইতে বলিয়া দাও। শালগুলি পিলু, মোলারেন ও রঙ বেয়ণ্ডের হওয়া চাই। ককির তুমি সর্দার দোস্ত মহাম্মদকে প্রত্যুত্তরে লিখিয়া দাও যে আমরা উভয়েই এক পথের গধিক। যদি তিনি সত্বর শান্তি সংস্থাপন করার সুব্যবস্থা না করেন তাহা হইলে "নশেরার" পর তাঁহার বিরুদ্ধে অভিযান প্রেরিত হইবে। বাহাতে তাঁহার কোনও রূপ ওজুহাত না থাকে সেই জন্য পূর্ব হইতেই সাবধান করিয়া দিতেছি।

ককির। মহারাজের হুকুম মত পত্র লেখা হইয়াছে।

মহা। আজ্ঞা প্রতিনিধি বা উকিলের দ্বারকত পাঠাইয়া দাও।

(কথাবার্তা পুনরায় আরম্ভ হইল)

মহা। রাজা ধ্যান সিংহকে আমার নিকট আসিতে বল।

ধ্যান। মহারাজ হুকুমে উপস্থিত।

মহা। রাজা সাহেব আপনার পার্শ্বতর পার্শ্বের কৃত্যকে এখন প্রেরণ করুন। তাহারূপে বেন পাটিতে



বাটিতে সংবাদ দেয় যে আটকের ((Attock) পথ দিয়া একজন সম্ভ্রান্ত ব্যক্তি লাহোর অভিমুখে আসিতেছেন। তিনি যে যে স্থানে বিশ্রাম করিবেন তাঁহার জন্য বিশ্রাম করিয়া বরদা, ছইয়ণ চাউল, একমণ ঘৃত, পঞ্চাশ মুরগী, পাঁচশত ডিম্ব ও উপযুক্ত ইন্ধন ও রন্ধন পাত্রের সরবরাহ করিতে হইবে। \* এতদ্ব্যতীত তাঁহার কেশ সংস্কারের জন্য দশ পাত্র চন্দ্র ও দধি এবং অপর বাহা কিছু আবশ্যক হইবে সমস্তই যেন আয়োজন করিয়া দেওয়া হয়। প্রত্যেক বাটি হইতে তাঁহার সহিত সমস্ত সিপাহী ও বরকন্দাজ প্রেরণ করার ব্যবস্থা করিতে হইবে। রাজা সাহেব! এ কার্যের ভার আপনার উপর বিশেষভাবে সমর্পিত হইল।

মহা। মিশার! জমিদার খোসিরাল সিংহকে ডাকিয়া আনিবার জন্য কাতু তাইয়াকে পাঠাইয়া দাও।

(জমিদার উপস্থিত হইলেন।)

মহা। জমিদার সাহেব আমি এই যাত্রা রাজা ধ্যান সিংহকে যে আদেশ করিয়াছি, আপনাকে তাহা পালন করিতে হইবে। আপনি নিজ জেলার সংবাদ প্রেরণ ককন যেন আগন্তুক ভদ্র লোকটির কোনরূপ অনুবিধা না ঘটে এবং প্রত্যেক বাটিতেই যেন মস্ত ত্রব্যাদির প্রাপ্তি স্বীকার পত্র লিখিয়া লওয়া হয়। (ভূত্যের প্রতি) সৈন্যধ্যক্ষ মিঞা মুলতান মহানন্দ ও মির্জা যাক্কা আলিকে সংবাদ দাও যে হৃদ্যাভ্যন্তর এক ঘণ্টা পূর্বে সেই সম্ভ্রান্ত ব্যক্তি যখন রাজধানীতে উপস্থিত হইবেন তখন যেন তাঁহার সম্মানার্থে দুর্গ হইতে একাদশবার তোপধ্বনি করা হয়। এই উপলক্ষে যুদ্ধক্ষেত্রোপযোগী কুঠি কামানগুলিও একবিশেষভাবে আওরাজ করিতে হইবে।

মিশার! তুমি শুকরাবকে সংবাদ দাও যে আগন্তকের শরীর রক্ষক স্বরূপ সাজুরের গোরস্থানের নিকট

যেন ছই মল সৈন্য উপস্থিত থাকে। টাকশালি দরওয়াজার বাহিরে সিংহ † সৈন্যদলের লোকেরা উপস্থিত থাকিবে এবং উক্ত সম্ভ্রান্ত ব্যক্তি পহু-ছিলে পর নির্দিষ্ট বাসস্থান পর্যন্ত তাঁহার অনুগমন করিবে।

ইতোমধ্যে পূর্বকথিত সম্ভ্রান্তব্যক্তি আসিয়া পহুছিলেন। মহা। মিশার! কৃতবাকে নর্তকীদিগকে আহ্বান করিতে বল। তাহার প্রত্যেকে রাজকোষ হইতে পঞ্চাশ মুদ্রা করিয়া লইবে। বলিয়া দাও তাহার যেন উত্তমরূপে বেশভূষা করিয়া আইসে। আশ্চর্য্য হইবে পাঁচশত টাকা দাও ও বলিয়া দাও যে রাজ্যে সাত ঘটিকার মধ্যে সে যেন ‘সাদাম’ বুদ্ধ আলোকমালায় সুসজ্জিত করিয়া রাখে সাতার বাগানীকে ডাক এবং বলিয়া দাও যে অভ্যাগতের জন্য সে যেন ‘সাদা’ বাগিচার ভাল-রূপ খাদ্য ত্রব্যাদি প্রস্তুত করিয়া রাখে। বাইলী রামকে বলিয়া দাও যে কল্যা প্রাতে সে যেন এক ছড়া মুক্তার মালা, একজোড়া হীরক বাটিত সোণার বালা, একজোড়া মূল্যবান শাল এবং আগন্তকের তৃত্যাদিকে বখশিস্ দেওয়ার জন্য পাঁচশত নগদ মুদ্রা লইয়া ‘সাদা’ বাগিচার বার। নিকা দেওয়ান। মুন্সী সর্বদয়ালকে ডাক।

মুন্সী। হাজির মহারাজ।

মহা। মুন্সী! রাজা সূচত সিংহকে পরওয়ানা লিখিয়া দাও যে তিনি যেন এক হাজার অশ্বারোহী ও ছই হাজার পদাতিক সেনা লইয়া বাজুতাক (Bannu-Tank) জিলার বিজোহীপণ্ডকে দমন করিয়া আসেন আর কতে সিংহ মানকে লিখিয়া দাও যে সে যেন রাজা সূচত সিংহের নেতৃত্বাধিনে যুদ্ধ যাত্রা করে এবং কোনও বিষয়ে রাজার আদেশ অবহেলা না করে।

(মহারাজ দরবারে উপবিষ্ট)

মহা। মুন্সী দেওয়ান দাখুকে লিখিয়া দাও যে মহারাজ তাহাকে গুজরাটের শাসন ভার প্রদান করি-

\* ("Ten pots of curd and milk to wash his hair with.")

† Singh regiment.



রাছেন। সে পাঁচ সহস্র মুদ্রা নজরাণা দিয়া  
যেন উহা অবশ্য অবশ্য গ্রহণ করে।

মুন্সী। মহারাজ! দেওয়ান সে কার্য লইতে অনিচ্ছুক।

মহা। দেওয়ান তারি মূর্ত্ত। সে নজরাণার ভয়ে  
চাকরী স্বীকার করিতেছে না। আচ্ছা দুই হাজার  
টাকা কমাইয়া দাও।

মুন্সী। মহারাজ! দেওয়ান রাজী হইয়াছে।

মহা। দেওয়ানের চালাকি দেখিলে। বেই দুই হাজার  
টাকা কমান হইয়াছে অমনি সে চাকরী করিতে  
স্বীকার করিয়াছে।

( মহারাজের শরীর অসুস্থ। মুখে বেদনা হইয়াছে )  
জৈনিক ভৃত্য। মহারাজ! এনগরে একজন বিখ্যাত  
সৈয়দ আছেন তিনি স্পর্শ করিবা মাত্র বেদনা  
সারাইয়া দিতে পারেন। তিনি ঐরূপে আমার  
পত্নীপ্রায় পাখানি আরাম করিয়া দিয়াছেন।

মহা। এখনই হাতী লইয়া যাও, যত শীঘ্র পার সৈয়দকে  
আমার কাছে লইয়া আইস।

( সৈয়দ আসিলেন )

সৈয়দ। জ্ঞাতঃ। আপনার শরীর সত্তর স্রষ্ট হউক,  
আপনি পূর্ব্বের ভায় রাজকার্য্য নির্বাহ করিতে  
থাকুন। আপনার হৃদয় ধ্বনি জগতে প্রাতি-  
ধ্বনিত হইতে থাকুক। ( সৈয়দ মহারাজের  
মুখে কোনও পদার্থ লাগাইয়া দিলেন।

মহা। মিশার! একশত টাকার পাঁচটি তোড়া আনিয়া  
সৈয়দ সাহেবের পদতলে রাখিয়া দাও।

সৈয়দ। কল্য একবার মহারাজের দর্শন পাইব ভরসা  
করি।

( সৈয়দ সেলাম করিয়া প্রস্থান করিলেন )

ডু। মহারাজ! একজন সাধুব্যক্তির নিকট গুরু নান-  
কের বিনাশ আছে শুনিয়াছি।

মহা। সে কি এককাল তাহা বস্ত্র করিয়া রাখিয়াছে?  
এখনি সেই সাধু ব্যক্তিকে রাজ হস্তীতে চড়াইয়া  
আমার নিকট আনয়ন কর।

( সাধু পুরুষ আসিলেন )

একশত বস্ত্রখণ্ডে মণ্ডিত বিনামাটি বাহির করিয়া

মহারাজের হাতে দিলেন। মহারাজা ভক্তি-  
ভাবে প্রণাম করিয়া উহা স্বীয় মস্তকে বন্ধে ও  
চক্ষুদ্বয়ে স্পর্শ করাইলেন।

মহা। উজ্জবাবাদ জেলার হাজার টাকা মুনফার  
একখানি গ্রাম এই সাধু ব্যক্তির নামে চিরস্থায়ী-  
রূপে লিখিয়া দিতে বলিয়া দাও।

ডু। মহারাজ বারণসী হইতে একজন বহু শাস্ত্রবিদ  
পণ্ডিত আনিয়াছেন। তাঁহার নিকট একটি  
শিবলিঙ্গ আছে। তিনি বলেন আপনার বেদনা  
যে রকমেই হউক না কেন এই লিঙ্গ স্পর্শমাত্র  
আরোগ্য হইবে। বিগ্রহটি প্রকৃতই দৈবগুণ-  
সম্পন্ন বলিয়া মনে হইতেছে।

মহা। এখনি রূপার হাওদা সাজ্জত করিয়া একটি  
হাতী লইয়া যাও এবং পণ্ডিত মহাশয়কে আমার  
নিকট লইয়া আইস।

ডু। মহারাজ! পণ্ডিতটি বড় আশ্চর্য্য স্বভাবের লোক।  
তিনি বোধ হয় এক্ষণে আসিতে স্বীকার হই-  
বেন না।

মহা। রাজকোষ হইতে পাঁচশত মুদ্রা লইয়া যাও,  
যেক্ষণে পার পণ্ডিতকে আমার নিকট লইয়া  
আইস। ( পণ্ডিতজী আসিয়া শিবলিঙ্গ বাহির  
করিলেন এবং তাহা লইয়া মহারাজের মুখমণ্ডলে  
ঘর্ষণ করিলেন।

মহা। মিশার! পণ্ডিত মহাশয়ের পদতলে এক সহস্র  
মুদ্রা রাখিয়া দাও এবং তাঁহার দৈনিক খরচের  
জন্ত দশটাকা করিয়া বন্দোবস্ত করিয়া দাও।

পণ্ডিত। মহারাজ! আমি আপনার অর্থ চাই না।  
আপনার শরীর আরোগ্য হইলেই মহাদেবের  
আদেশক্রমে আমাকে বারণসী ক্ষেত্রে ফিরিয়া  
যাইতে হইবে। আপনি দুই একদিনের জন্ত  
দয়বার বন্ধ রাখুন।

( কয়েকদিন পরে মহারাজ শুনিলেন যে ভক্ত পণ্ডিত  
একজন নর্ত্তকীর প্রেমে উন্মত্ত হইয়াছে, শুনিয়া তিনি  
কেবল মাত্র বলিলেন তাঁহারা পবিত্র লোক তাঁহাদের  
একপ লীলাধেলার অধিকার আছে। )



এই সকল বৃত্তান্ত হইতে সহজেই অনুমিত হইবে যে, পঞ্জাবের রাজকোষে অর্থান্ধা ছিল না এবং মহারাজ রণজিৎ সিংহ যুদ্ধকুশলী ও রাজনীতি পারদর্শী হইলেও কুসংস্কার বিবর্জিত ছিলেন না। যে কোনও ভণ্ডবাক্তি ধর্ম বা দৈবশক্তির দোহাই দিয়া তাঁহার নিকট হইতে অর্থলাভ করিতে পারিত। এ দুর্বলতা নিম্ননীর বলা যাইতে পারে না। কারণ ইহাতে ধর্ম বিশ্বাসের প্রাবল্য সূচিত হইতেছে। বিশেষতঃ সে যুগে অতি প্রাকৃত ঘটনার বিশ্বাস সর্বসাধারণের মধ্যে বিশিষ্টভাবে বহুমূল ছিল। সর্দার দোস্ত মহানন্দে উপঢৌকন ব্যাপারে রণজিৎের ভীম কান্ত রূপগুণ সর্বিশেষভাবে প্রকটিত হইয়াছে। তাঁহার চরিত্রে একাধারে শিষ্টতা ও কঠোরতার সমাবেশ ইহা হইতেই সুস্পষ্টরূপে বুঝিতে পারা যায়। গুজরাটের কর্ম্মনিয়োগ বিষয়ক কথাবার্তা হইতে প্রতীয়মান হয় যে মহারাজ সাময়িক ব্যাপারে আধুনিক প্রকার পক্ষপাত হইলেও 'সিভিল' শাসন সংক্রান্ত বিষয়ে চক্ষুণীল দলভুক্ত ছিলেন। নতুবা স্বীয় কর্ম্মচারীগণের নিকট হইতে 'নজরাণা' রূপ শুদ্ধ গ্রহণ প্রথা তাঁহার নিকট বিসর্জন বলিয়া বোধ হইত। এ অর্থ যে তাঁহারই প্রজাগণের নিকট হইতে শোধিত হইয়া সম্বর পুনঃ সঞ্চিত হইবে এ কথা বোধ হয় তাঁহার অবিদিত ছিল না।

সম্ভ্রান্ত আগন্তকের সম্মান ও চিত্তবিনোদন-চিকীর্ষা হইতে মহারাজের অতিথি বৎসলতার ও রাজোচিত দানের পরিচয় পাওয়া যায়। এই অতিথি কে ঐতিহাসিক তাহা উল্লেখ করেন নাই। প্রসাধনের জন্য দ্রুত ছফের ব্যবস্থা না হইলে আমরা তাঁহাকে তদানীন্তন কোনও সুবিখ্যাত ইংরাজ রাজকর্ম্মচারী বলিয়া মনে করিতাম। মহারাজের দানশীলতা ও ইংরাজগণের প্রতি সৌজন্যের কথা উল্লেখ করিয়া ষ্টিনব্যাক বলিয়াছেন যে 'এ বিষয়ে রাজদরবারকে কোনওরূপে আর্থিক কতিগ্রস্ত হইতে হইত না, কারণ যাহারা যে মূল্যের "সওগাৎ" পাইতেন তাঁহারও তদনুরূপ 'চেষ্টা' বা 'নজর' প্রত্যর্পণের চেষ্টা করিতেন। এমন কি অনেক সম্বর মহারাজ প্রদত্ত দ্রব্যাদি অপেক্ষা অধিক মূল্যের

দ্রব্যাদিও উপহারস্বরূপ প্রত্যর্পিত হইত। পূর্বোক্ত প্রদত্ত প্রারম্ভে মহারাজ যাহাকে ফকির বা ফকির উজ্জিচ্ছদ্দিন বলিয়া উল্লেখ করিয়াছেন তাঁহার জায় অসাধারণ ব্যক্তি পঞ্জাব রাজদরবারে আর দেখা যায় নাই। কলিকাতার প্রকাশিত সমসাময়িক কোন কোন পত্রিকায় ইহার যে জীবনবৃত্ত প্রকাশিত হইয়াছিল পাঠকগণের ক্ষৌর্য্যলব্ধি নিবারণার্থ আমরা তাহার সার সঙ্কলন করিয়া দিলাম।

আজিচ্ছদ্দিন পাতিয়লা রাজ্যের কোনও ক্ষুদ্র নগরে জন্ম গ্রহণ করেন। যৌবন প্রারম্ভেই তিনি হিম্মত মতে চিকিৎসা ও গোপনীয় পত্রাদি লিখিবার জন্য রণজিৎ কর্তৃক নিয়োজিত হইয়াছিলেন। পূর্বকালে ক্ষৌর্য্যকারেরা অন্ত্রোপচার পারদর্শিতা গুণে বৈরুপ চিকিৎসক উপাধি লাভ করিত ইনিও নাকি সেই শ্রেণীর চিকিৎসক ছিলেন। বলা বাহুল্য এ উক্তি তাঁহার যিহ্ন পক্ষের নহে। ইনি ১৮০৯ খৃঃ অঃ নার চার্লস মেটাকের সহিত গোপনীয় ভাবে সাক্ষি বিষয়ক প্রস্তাবের আলোচনা করায় প্রভু স্বীয় প্রভু কর্তৃক নিযুক্ত হইলেন। ইহাই বোধ হয় রাজ-নৈতিক ব্যাপারের সহিত তাঁহার প্রথম পরিচয়। অজ্ঞাত কুলশীল হইলেও ইনি দারিদ্র্য পূর্ণ রাজ কার্য্যে প্রবেশাবিকার লাভ করিতে সমর্থ হইয়াছিলেন, এবং স্বীয় অভিজ্ঞতা গুণে সাধারণের নিকট বশস্বী হইয়াছিলেন, পারদর্শী কাব্যে ও ইতিহাসে এবং আরবী ধর্ম্ম-শাস্ত্রে তাঁহার সর্বিশেষ পারদর্শিতা জন্মিয়াছিল এবং কাহারও কাহারও মতে ইনি জ্যোতিষ শাস্ত্রেও ব্যুৎপত্তি লাভ করিয়াছিলেন। শুনা যায় যে হস্ত-লিখিত প্রাচীন পুঁথি সমূহ সংগ্রহ ও বিক্রয় করিয়া তাঁহার যথেষ্ট অর্থাগম হইত। খর্ব্বীকৃতি হইলেও তিনি সুপুরুষ ছিলেন। তাঁহার মুখাবয়ব দর্শন মাত্র বুদ্ধি প্রার্থ্যের পরিচয় পাওয়া যায়, রাজ-নৈতিক কূট-তন্ত্রে তাঁহার সর্বিশেষ দক্ষতা ছিল। বাক্য বিভ্রাৎ লালিত্যে ও উপমাচ্ছটায় সমসাময়িকগণের মধ্যে আর কেহই তাঁহার সমকক্ষ ছিল না। শিবসর্দারগণের সহিত কোন নিকটবর্তী রাজ্যে প্রেরিত হইলে রাজনৈতিক কার্য্য বিষয়ে ইনিই স্বয়ং নেতৃত্ব গ্রহণ করিতেন। স্থূল বুদ্ধি সর্দারেরা বাচনিক কার্য্যের ভার তাঁহার উপর



সমর্পণ করিয়া কেবল তাঁহার অনর্গল বাক্যশ্রোত শ্রবণ করিয়াই ক্ষান্ত থাকিত। বস্তুতঃ তাঁহার আয় বাক্চাতুরী পরায়ণ ব্যক্তি সহসা দেখা যাইত না। চিকিৎসা বিদ্যা ও রাজনীতি চর্চা ব্যতীত তাঁহার আর এক গুরুতর কর্তব্য ছিল। পক্ষাঘাত রোগে জিহ্বা অসাড় হইয়া বাণ্যায় মহারাজ রণজিৎ সিংহের কথাবার্তা অত্যন্ত অস্পষ্ট হইয়া পড়িয়াছিল। ফকির সাহেবকে মহারাজের আকৌ-  
কারিত বাক্যগুলির মর্ম গ্রহণ করিয়া অপর সকলকে বুঝাইয়া দিতে হইত। রণজিতের জীবনের শেষ ভাগে তাঁহার বাক্যগুলি একরূপ অশুট হইয়াছিল যে ফকির, ধ্যানসিংহ, হীরাসিংহ, ও মহারাজের কতিপয় পার্শ্বচর জুতা ব্যতীত আর কেহই উহার ভাব গ্রহণে সমর্থ হইত না। আজিজুদ্দিন এ কার্যে একরূপ দক্ষতা লাভ করিয়াছিল যে মহারাজের কয়েকটি বর্দ্ধশুট বাক্য শ্রবণ মাত্র তিনি কল্পনার সাহায্যে তাঁহার সমগ্র উজ্জ্বল তাৎপর্য গ্রহণ করিয়া অপর কর্মচারীগণকে বুঝাইয়া দিতে পারিতেন। কিন্তু মহারাজ কখনও কোনও উৎসব উপলক্ষে মজ্ঞ পান করিলে তাঁহার জিহ্বা একরূপ গড়তা প্রাপ্ত হইত যে, সে সময় ফকিরের কর্তব্য সম্পাদন বড়ই কঠিন হইয়া পড়িত। কখনও কখনও অন্ধকারে লোষ্ট্র নিক্ষেপও করিতে গিয়া ফকির মহাশয়কে ভিরক্ত হইতে হইত। মহা-

রাজের কোনও কথা প্রকাশের অযোগ্য বিবেচিত হইলে ফকির তাহা বুঝিতে পারিয়া ও 'সাবাস' 'সাবাস' প্রভৃতি প্রশংসা সূচক বাক্য প্রয়োগ করিয়া চাকিয়া লইতেন। যদি কোনও দিন মহারাজের কথা একেবারে বুঝিতে অক্ষম হইতেন তাহা হইলে অনুহুতার ভাণ করিয়া রাজ সভা পরিত্যাগ করিতেন। আশ্চর্যের বিষয় এই যে আজিজুদ্দিন ফকির নামধারী মুসলমান হইয়াও স্বীয় ধর্মবিধ্বংসী বিধব্যাগণের অধিনে কর্ম স্বীকার করিতে দ্বিধা বোধ করেন নাই। তিনি চিরকাল বিশ্বস্ততার সহিত প্রভুর কার্য সম্পাদন করিয়াছিলেন। মুসলমান ধর্মে নিষিদ্ধ হইলেও তিনি উৎসবাদি উপলক্ষে পানামোদ প্রভৃতিতে যোগদান করিতে বিরত হইতেন না। তাঁহার ভ্রাতা মুরুদীনও রণজিতের বড় প্রিয়পাত্র ছিলেন। তিনি মহারাজের রূপায় গোবিন্দ গড়ের শাসন কর্তৃত্বশে উন্নীত হইয়াছিলেন। ফকিরের দুই পুত্রও রাজকার্যে নিযুক্ত হইয়াছিল বটে কিন্তু পিতার আশ্রয় উন্নতি লাভ করিতে পারে নাই। আজিজুদ্দিনই বোধ হয় হিন্দুস্থানের পুরাতন প্রথাগুণ্ডী শেষ রাজনীতি-বিশারদ।

তেবাং তে দিবসাগতাঃ।

শ্রীগুরুদাস সরকার।

## আকাজ্জা।

ডাক্তি আমি দিবস আমি নাইবা এলে হায়,  
নীরব আজি মুখের বীণা সুর'ত নাহি তার!  
বাসুচি ভাল দোষ কি তাহে চাইনা প্রতিদান,  
সারা জীবন চলবে শুধু প্রেমের অভিমান!

ফুলের মতো রইব ফুটে পরাণ মাঝে মোর,  
সেই মুখেতে-সোহাগ ভরে বরবে আঁধি লোর!  
নাইবা এলে হিয়ার মাঝে ছুঁ কি বল তার,  
বাণীর যেন নিছাই ওগো তোমার বাণী পার!

শ্রীসুরেন্দ্রকুমার সেন।



## ডালি

## শুভ-সংবাদ ।

এ “আজগবী নয়, আজগবী নয় একেবারে সত্য” যে, পাশ্চাত্য জগতে চুলের উপরও রীতিমত চাব চলিতোছে । একটি অকৃত বস্ত্র আবিষ্কৃত হইয়াছে বাহার প্রভাবে টাকের উপর চুলের মত অতি সূক্ষ্ম ছিদ্র করিয়া, সঙ্গে সঙ্গে উহাতে চুল বসাইয়া দেওয়া চলে । এভাবে বহু টাকগ্রস্ত ব্যক্তি (বসন্ত সমাগমে নবপল্লবিত তরুর মত) নূতন বেশ লাভ করিয়া দর্শকের নিকট চুলের বাহার দেখাইতেছেন । এ সব কাণ্ড দেখিয়া ভগবান হস্ত ভাবিতেছেন, মানুষ এতও পারে !

(Popular Science)

## স্মৃতি-তর্পণ ।

যে বীর-চূড়ামণি ‘বোনাপাটির আকাঙ্ক্ষার আশ্রয় পৃথিবীর একাঙ্কে এক শতাব্দীর চতুর্থাংশকাল জালাইয়া পোড়াইয়া মানব-জগতে মানবীর আকাঙ্ক্ষার পরিচয় রাখিয়া গিয়াছে’, গত ৫ই মে সেই নেপোলিয়ান বোনাপাটির মৃত্যুর পর এক শতাব্দী পূর্ণ হইল ।

## প্রতিভাবান গ্রন্থকারদের খেয়াল ।

ব্রেট হার্ট্‌ বেলী উল্লেখিত হইলে এক মোটর গাড়ী ভাড়া করিয়া মাথা ঠাণ্ডা না হওয়া পর্য্যন্ত অনেক রাত অবধি ঘুরিয়া বেড়াইতেন ।

জনস্‌ন পথে বাহির হইবার সময় পকেট ভরিয়া গাছের বীজ লইতেন, এবং চলিতে চলিতে সেগুলি পথের মধ্যে ছড়াইয়া দিতেন । নিজে এইরূপ করিয়াই সম্ভট থাকিতেন না, তাঁহার বন্ধুদিগকেও এইরূপ করিতে খুব অনুরোধ করিতেন ।

রবার্ট ব্রাউনিং কিছুতেই চুপ করিয়া বসিয়া থাকিতে পারিতেন না, সব সময়েই বাটিতে পা বসিতেন । এই জন্য তিনি যেখানে বসিতেন সেখানকার কার্পেটটি বৈশীদিন আড় থাকিত না ।

জোলাকে কেহ সাক্ষাতোক্তনে নিমন্ত্রণ করিলে তিনি কিছুতেই বাইতেন না ।

সার এ কন্সটান্টাইন হাজার শীত হইলেও কিছুতে ওত্থারকোট পরিতে পারেন না । তিনি গলফ খেলিতে অত্যন্ত ভালবাসেন, এই জন্য ছুটি পাইলেই অন্য কিছু না করিয়া এই খেলার সময় কাটাইয়া দেন ।

এফ, মেরিয়ন ক্রকোর্ড সব সময়েই নিজের সঙ্গে কালি কলম রাখিতেন, কখনও অপরের কালি কলমে লিখিতেন না । তাঁহার উপভাসগুলির প্রত্যেক কথাটা একই কলমে লেখা ।

কাউন্ট টলষ্টয় কখন মাথার চুপি পরিতেন না । তিনি ফরাসী দেশোৎপন্ন গন্ধদ্রব্য অত্যন্ত পছন্দ করিতেন, এবং সেই জন্য তাহার ক্রমশে সব সময় উহা মাখাইয়া রাখিতেন । তাঁহার লিখিবার সময় টেবিলের উপর ফুল রাখা হইত । খুব অবস্থাপন্ন লোক হইলেও তিনি সব সময়েই অত্যন্ত অল্প মূল্যের বস্ত্র ব্যবহার করিতেন ।

আলেক্সান্ডার ডুমাস্ (ছোট) বখনই একখানি নূতন বই প্রকাশ করিতেন তখনই একটি ছবি কিনিয়া আনিতেন ।

এজার য্যালান্‌পেট রাতে শুইবার সময় তাঁহার পোষা বিড়ালটিকে সঙ্গে লইয়া শুইতেন । নিজের পা দুইটির জন্য তাঁহার মনে বেশ গর্ব ছিল ।

ডিস্ট্রেলি বাড়ীতে একটি সেমিজ পরিয়া থাকিতেন । তিনি বখন লিখিতে বসিতেন তখন তাঁহার কাণে একটি কলম গোঁজা থাকিত ।

ডিকেন্স্ গিন্টি দেওয়া গহনা পরিতে বড় ভাল বাসিতেন ।

অলিভার ওয়েন্সডেলহোমস্ পথে বাহির হইবার সময় এক পকেটে স্তপারী এবং আর এক পকেটে আলু রাখিতেন । তিনি অত্যন্ত গাছ ভালবাসিতেন সেই জন্য বতকণ পারিতেন গাছের তলে বসিয়া থাকিতেন ।



হেথোন তাঁহার জীর নিকট হইতে কোন চিঠি সংবাদপত্রের পথ-প্রদর্শক বলিয়া চীন জাতি গৌরবের আসিলে বেশ করিয়া হাত ধুইয়া তবে চিঠি পড়িতে দাবী করিতে পারে।

বলিতেন। তিনি পুরানো সংবাদপত্রের বিজ্ঞাপন অত্যন্ত মনোযোগ সহকারে পড়িতে খুব গছন্দ করিতেন।

### বাল্মীকীর স্মরণীয় দিন

ধ্যাকারে যে বাড়ীতে বসিয়া 'ভ্যানিটি ফ্লোর' নামক পুস্তক লিখিয়াছিলেন, যখনই সেই বাড়ীর পাশ দিয়া যাইতেন তখনই মাথার টুপি খুলিতেন।

সাবুড় কিছু চিন্তা করিবার সময় খুব শীত অনুভব করিতেন।

ডাক্তারের পুস্তকের উপর বেশী মমতা ছিল না। বড় বড় ভারী বইগুলি ব্যবহার করিবার সুবিধা হইবে বলিয়া উহা ছিঁড়িয়া দুই তিন খণ্ড করিয়া ফেলিতেন।

কোন বই হইতে কিছু উল্লেখ করিবার প্রয়োজন হইলে তাহা হইতে দরকারী পাঠাংশ লিখিয়া লইতেন।

গুয়াশিংটন আরজিং তাঁহার জীর মৃত্যুর পর কখনও তাঁহার নাম করেন নাই। অল্প কাহাকেও তাঁহার মৃত পত্নীর নাম উল্লেখ করিতে শুনিলে তিনি তৎক্ষণাৎ সে স্থান পরিত্যাগ করিয়া চলিয়া যাইতেন।

ভিত্তির হগো কখন অধিক কথা কহিতেন না, এবং বাহা বলিতেন তাহার অধিকাংশই প্রত্নাকারে কহিতেন।

কীটস লক্ষ্য দিয়া টোষ্ট করা জিনিস খাইতে ভালবাসিতেন।

লঙ ফেলো ঠিক সূর্যোদয়ে ও সূর্যাস্তে বেড়াইতে ভালবাসিতেন। তিনি বলিতেন যে সমস্ত দিনের মধ্যে তিনি ঐ দুটি সময়ে বেশী প্রফুল্ল থাকিতেন।

রবার্ট লুই স্টিভেনসন বিশ্রাম কালে বাঁশী বাজাইতে ভাল বাসিতেন। তিনি বলিতেন ইহাতে নাকি তাঁহার মাথার লিখিবার অনেক নূতন নূতন ভাব আসিত।

(সম্মিলনী)

### পৃথিবীর সর্বাপেক্ষা পুরাতন সংবাদ-পত্র।

পৃথিবীর সর্বাপেক্ষা পুরাতন সংবাদ পত্রের নাম "কিউপিড"। ইহা ২১১ খৃষ্টাব্দে চীন রাজধানী পিকিন্ হইতে প্রকাশিত হয়। ১৩৫৯ হইতে ১৮৮২ খৃষ্টাব্দ পর্যন্ত সুদীর্ঘকাল ইহা দিনে তিন বার বাহির হইত।

শ্রাবণ মাস।

| বঙ্গাব্দ        | বটনা   |
|-----------------|--|
| ১লা শ্রাবণ ১৩০৫ | উমেশচন্দ্র বটব্যালের মৃত্যু।                     |
| ৫ই " ১৩০৩       | ব্যারিষ্টার উমেশচন্দ্র বন্দ্যোপাধ্যায়ের মৃত্যু। |
| ৮ই " ১২৫০       | কালীপ্রসন্ন ঘোষের জন্ম।                          |
| " " ১৩০০        | বেঙ্গল একাডেমী অফ লিটারেচারের প্রতিষ্ঠা।         |
| ৯ই " ১২৭৭       | কালীপ্রসন্ন সিংহের মৃত্যু।                       |
| ১০ই " ১২৯৮      | রাজা রাজেন্দ্রলাল মিত্রের মৃত্যু।                |
| ১৩ই " "         | ঈশ্বরচন্দ্র বিদ্যাসাগরের মৃত্যু।                 |
| ১৩ই " ১৩১৭      | কালীপ্রসন্ন ঘোষের মৃত্যু।                        |
| ১৮ই " ১২৫১      | দ্বারকানাথ ঠাকুরের মৃত্যু।                       |
| ২৩শে " ১২৮০     | কিশোরীচাঁদ মিত্রের মৃত্যু।                       |
| ৩০শে " ১২৫৫     | রমেশচন্দ্র দত্তের জন্ম।                          |
| ৩১শে " ১৩১৪     | দামোদর মুখোপাধ্যায়ের মৃত্যু।                    |
| " " ১২৯১        | রামকৃষ্ণ পরমহংস দেবের মৃত্যু।                    |

(সার্বথি)

### নূতন আবিষ্কার।

চিনিই যে সর্বাপেক্ষা বেশী মিষ্ট এ বিষয়ে অনেক দিন পর্যন্ত কাহারও কোন সন্দেহ ছিল না। কিন্তু হঠাৎ একদিন কবির কাব্যে প্রকাশ হইয়া গেল, "চিনির চেয়ে চুম্বো মিঠে।" চুম্বো দিয়ে চা তৈয়ারী করা যায় কি না ইহা এখনও শোনা যায় নাই। এটা 'নিছক' কবির কল্পনা বলিয়া ধরা যাইতে পারে। কিন্তু এত দিনে সত্যিই চিনির আসন টলিল। 'ষ্টেডিয়া রিবডিয়ানা' গাছের রস চিনি অপেক্ষা দেড়শত গুণ মিষ্টি। একেও টেকা দিয়াছে 'রিবডিন্' নামক একটি পদার্থ। সেটি আবার চিনির চেয়ে ১৮০ গুণ বেশী মিষ্টি। হায় চিনি! কি পাপে তোমার এই অধঃপতন?



## তরুণী চিত্রশিল্পী ।

## শিফাচারের পরাকর্ষ্য ।

মিস্ ইলীন শোপার মাত্র ১৩ বৎসর বয়সে ছবি আঁকিতে আরম্ভ করিয়াছিলেন । কিছু দিন হ্রস্ব লগুনের রাজকীয় চিত্রশালার, বাগদী চিত্র-প্রদর্শনীতে তিনি তাঁহার নিজের আঁকা দু'খানি চিত্র পাঠাইয়াছিলেন । সেখানে হাজার হাজার প্রসিদ্ধ চিত্রকর প্রতিযোগিতার জন্য চিত্র পাঠাইয়াছিলেন সেখানে এই মিস্ ইলীন শোপারের অঙ্কিত দুইখানি চিত্রই প্রদর্শন-যোগ্য ও পুরস্কারোপযোগী বিবেচিত হয় । এত অল্প বয়সে এরূপ প্রতিপত্তি আর কোন চিত্রকরের তাগো ঘটে নাই । ইহার বয়স এখন ১৫ বৎসর মাত্র ।

(Literary Digest)

চীন দেশীয় সম্ভাদক অমনোনীত প্রবন্ধ ফেরৎ পাঠাইবার সময় প্রবন্ধ লেখকের নিকট কিরূপ ভাবে পত্র লিখিতেন তাহার নমুনা দেখুন, -

“আমরা অপরিষের আনন্দের সহিত আপনার রচনাটি পাঠ করিয়াছি । জীবনে এরূপ রচনা আর পড়ি নাই । যদি আমরা ইহা প্রকাশিত করি তাহা হইলে সকলেই এরূপ রচনাই সর্বদা প্রকাশিত করিতে বলিবেন । যেহেতু দশ সহস্র বৎসরের মধ্যে ইহার সমকক্ষ আর একটি রচনা পাওয়া আমাদের পক্ষে সম্ভবপর হইবে না, সেহেতু গভীর হৃৎকের সহিত আপনার পবিত্র রচনাটি ফেরৎ দিতে বাধ্য হইলাম । আমাদের অক্ষমতার জন্য এক কোটি ক্ষমা প্রার্থনা করিতেছি ।”

(Pearson's Magazine)

—ত্ৰীপতিপ্রসন্ন—

## দ্বীকেশ ।

দ্বীকেশের পুণ্যছবি

দেখতে আমি গেলাম যবে,  
সে দিনের সে মধুর স্মৃতি  
বন্ধে আমার রবেই রবে ।  
জাহ্নবীর সে অতুল শোভা  
শ্রামল ভূধর মানস লোভা  
ছবির মতন ধর্মশালা  
দেখতে পাবো আবার কবে ?

দেখেছিলাম একটি সাজে  
ত্রিবেণীর সে বটের কাছে  
একটি বুড়া, বুড়ীর সাথে  
অবাক হয়ে দাঁড়িয়ে আছে ।  
বারেক বুড়া চাইলে ফিরে,  
বলে হেসে হাতটী নেড়ে,  
একেবারে বদলে গেছে,  
বদলে গেছে তামাম সবে ।

ভাকব্বরেতে কাজ করিত

বখন সে হায় বুঝক ছিল,  
জীবন-সাজে ছই জনাতে

আবার সে ঠাই দেখতে এলো ।

একেবারে বদলেছে কে ?

গঙ্গা গিরি জিঙ্গাসিছে

সেই বে'চেনা বর-বধু কি

এরাই হবে এরাই হবে ?

ত্ৰীকুমুদরঞ্জন মল্লিক ।



## মুহূর্তের ভুল।

১

সুজাতাকে বিবাহ করিয়া যতীন বেশ সুখেই ছিল। তাহার যথুর হাসি, সলাজ দৃষ্টিটুকু যতীনের বড়ই ভাল লাগিত, আর সব চেয়ে বেশী ভাল লাগিত সে যখন একরাশ খোলাচুল পিঠের উপর দোপাইয়া নানা কানের মধ্যে ছুটাছুটি করিত।

সে দিন বৈকালে সুজাতা একখানি বই লইয়া পড়িতেছিল। বেলা পড়িয়া গিয়াছে তাই তাড়াতাড়ি এই পাঠ্যখানি শেষ করিয়া উঠিবে এমন সময় যতীন হাসিতে হাসিতে ঘরে ঢুকিয়া বলিল “কি সু, অত ঘোটা খানা কি বই? অভিধান মুখস্থ করছ না কি?” সুজাতা মাথার কাপড়টা একটু টানিয়া দিয়া বইখানি আঁড়ে আঁতে মুড়িয়া বলিল “রামায়ণ।” “রামায়ণ!” একটা গল্প যেন পড়ল—একদিন একটি মেয়েকে একজন রামায়ণ পড়তে দিয়েছিল, মেয়েটি যখন বইখানি পড়ে এসে কিরিয়ে দিলে তখন লোকটি জিজ্ঞাস করলে “হা পা তুমি পড়ে কি বুঝলে?” মেয়েটি একটু হেসে বলে “রাবণটা বেশ রসিক ছিল।” এই বলিয়া যতীন আরো কোরে হো হো করিয়া হাসিয়া উঠিল। সুজাতা একটু লজ্জিত হইয়া বলিল “তুমি অত কোরে কোরে কথা কইছ, মা কি ভাববেন বলত’!” “না গো না, আমি কি আর না দেখেই এসেছি। মা গল্পার ঘাটে পুন্ডো করতে গেছেন।” সুজাতার তখন মুখ ফুটিল, “তোমার সব ভাতেই ঠাট্টা! রামায়ণের সীতা চরিত্র বোঝবার আমাদের কি একটুও অধিকার থাকতে নেই?” যতীনের ভাব-প্রবণ ছদ্মবেশে আবেশের একটা হিলোল বহিয়া গেল। সে সুজাতার হাতখানি বন্ধে চাপিয়া ডাকিল সু। সুজাতার নীচের ঠোঁটটি একটু কাঁপিয়া উঠিল তাহার পর কৃত্রিম রোষে চোখ দুটি ঘুরাইয়া বলিল “বাও তোমার সঙ্গে যদি আর আমি কথা কই!” সুজাতাকে বন্ধের উপর চাপিয়া ধরিয়া অগ্রসৃত ভাবে যতীন কহিল “আমার এই সামান্য কথাটিতে ব্যথা পেলো সু?”

২

যথু অসুযোগ করিতেছিল “অনেক বেলাছ’রে প’ড়ল মা, একটু কিছু মুখে দিয়ে জলখান।” “যতীন সেই কোন্ সকালে পেরিয়েছে এখনও বাছা! জলটুকু মুখে দেয় নি। আর আমারই কি বত পেটের জ্বালা” উত্তর, দিয়া মহামারা আবার গৃহকার্যে মন দিলেন। সুজাত আর কোন কথা খুঁজিয়া না পাইয়া ধীরে ধীরে চলিয়া গেল।

যতীন যখন একগা ঘামিয়া বাড়ী ফিরিল তখন বেলা অনেক। দান আহার করিতে ছুইটা বাজিয়া গেল।

পান চিবাইতে চিবাইতে সুজাতা ঘরে প্রবেশ করিয়া দেখিল স্বামী বিপারের কাগজ পত্র দেখিতেছেন। সুজাতাকে দেখিয়া যতীন খাতাপত্রগুলি গোছগাছ করিয়া রাখিতে রাখিতে বলিল “কদিন থেকেই তোমার শরীরটা বড় রোগা দেখাচ্ছে, কোন অসুখ করেনি ত? সুজাতা হাসিয়া বলিল “আর নিজের শরীর বড় ঘোটা দেখাচ্ছে, না!”

সুজাতা আলমারী হইতে রামায়ণ লইয়া পড়িতে বাইতে ছিল, কিন্তু অরটা তখন বেশ কোরেই আসিয়াছে। তাই আর পড়া হইল না, ধীরে ধীরে উঠিয়া পড়িল।

আজ কয়েকটা দিন বিকালে তাহার অল্প অল্প অর হইতেছিল। কিন্তু কাহাকেও সে তাহা জানিতে দেয় নাই। আজ অরটা কোরে আসার সে অল্প ঘরে গিয়া শুইয়া পড়িল।

যতীন সন্ধ্যার সময় সুজাতার সঙ্গে ছোটো কথা না কহিয়া কখন বেড়াইতে বাইত না, আজও তাই সে সুজাতাকে খুঁজিতে লাগিল। সুজাতা তখন অরে মুখ শুজিয়া পড়িয়াছিল। যতীন ঘরে ঢুকিয়া তাহার কপোল স্পর্শ করিয়া অরের উত্তাপটা অসুভব করিয়া লইল, তাহার পর দ্রুত ডাক্তার ডাকিবার লজ্জ বাহির হইয়া গেল।

৩

যতীন গায়ের চামরখানি চেয়ারের উপর ছুড়িয়া



কেলিয়া স্নানাতার মাথার শিরের কাছটিতে বসিয়া পড়িয়া বলিল “এখন কেমন আছ তু?” স্নানাতা তাহার রোগশ্রীষ্ট মুখের উপর একটু হাসির রেখা ফুটাইয়া তুলিয়া বলিল ‘আজ ত’ বেশ আছি। তুমি কদিন থেকে আমার কাছ ছাড়া হওনি। আচ্ছা বজুরা তোমায় কি বলবে ভাবত? যাও একটু বেরিয়ে এস।” যতীন তাহার শীর্ণ হাত ধানি কোলের উপর টানিয়া আনিয়া বলিল “কিন্তু তু তোমায় একলাটি ফেলে আমার যে কোথাও যেতে মন চায় না।” স্নানাতা বাহিরের দিকে চাহিয়া চাহিয়া ভাবিতে লাগিল কত সৌভাগ্যবতী সে, যার এমন স্বামী। কিন্তু ভগবান, এতধানি পরিপূর্ণ নির্ভরতার সুখ বুঝি আমার সইবে না।

পরদিন সকালে শ্রদ্ধাকুরাণীর শত নিষেধ সত্ত্বেও স্নানাতা খিড়কীর ঘাটে কাপড় কাচিতে গেল। দুর্লভতায় তাহার দেহ কাঁপিতে ছিল, কোন রকমেই সে আর নিজকে সামলাইতে পারিল না। ঘরের নিকট অজ্ঞান হইয়া পড়িয়া গেল।

যতীন তিনদিন তিনরাত্রি জাগিয়া স্নানাতার সেবা করিতেছে। আজ সে ডাক্তারের সহিত বাহিরে আসিয়া একটু চফল হইয়া জিজ্ঞাসা করিল “কি রকম দেখলেন, প্রাণের আশা আছে ত?” যতীনের স্বর কাঁপিতেছিল। তাহার মুখের উপর কে যেন এক পোছ কালী লেপিয়া দিয়াছে। ডাক্তার উত্তর দিল “আঘাতটা বড়ই গুরুতর। অরও বেশী। এখনও কিছু বলতে পারছি না, তবে দুপুর বেলাটা সাবধানে থাকতে হবে।”

ডাক্তার চলিয়া গেলে যতীন ব্যথিত চরণে স্নানাতার শয্যার পার্শ্বে একখানি চেয়ার টানিয়া বসিয়া পড়িল। স্নানাতার সুন্দর মুখখানির উপর কুক্রিয়া যতীন স্থির দৃষ্টিতে চাহিয়া রহিল। সে স্থির বুঝিয়াছিল স্নানাতা তাকে ফাঁকি দিতে চলিয়াছে। তার মনে হইতে লাগিল স্নানাতার সঙ্গে সঙ্গে যেন তাহার সমুদ্র দিয়া জগতের বত সুখ শান্তি সব তালে তালে পা ফেলিয়া কোথায় উধাও হইয়া চলিয়া যাইতেছে আর সে একটা বিরাট দৈত্যের বোকা মাথায় লইয়া এক কোণে বসিয়া আছে। যতীন তাহার মাসলচকে নিজের অবস্থা দেখিয়া শিহরিয়া উঠিল।

মা পার্শ্বেই বসিয়া ছিলেন, বলিলেন “যতীন অমন করে বঁসে রইলি কেন বাবা, একবার তিনকড়ি ডাক্তারকে ডাক দেখি, বোমা যেন কেমন করছে।” যতীন লাফাইয়া উঠিয়া দাঁড়াইল। ঘড়ীর দিকে চাহিয়া দেখিল বাবটা বাজিয়া গিয়াছে, তাহার পর স্নানাতার পাঞ্জুর মুখ খানির দিকে একবার পূর্ণ দৃষ্টিতে চাহিয়া যেন উদ্ভ্রান্তের মত বাহির হইয়া গেল।

\* \* \*

“কোন ভয় নেই। আর একবার বোধ হয় ইন-জেক্সন (injection) দিতে হবে। এই অল্পখটা ছুঁচটা অন্তর দেবেন” এই বলিয়া তিনকড়ি ডাক্তার উঠিয়া দাঁড়াইল। মহামায়া একটু কুণ্ঠিত ভাবে বলিল “আর বাবা যতীনকে গিয়েই পাঠিয়ে দিও, সে বুঝি এতটা কষ্ট চোখের ওপর দেখতে পারবে না বলে তোমার ওখানে বসে আছে?” তিনকড়ি ডাক্তার একটু বিম্বিত হইয়া বলিল “যতীন! কৈ যতীন ত আবার ডাকতে যায় নি। আমি জানতাম এই সময়টা কেটে গেলেই আর ভয় নেই, তাই ডাকবার অপেক্ষায় না থেকে আমি নিজেই এসেছি।”

মহামায়া কাঁদিয়া ফেলিলেন। এই বিপদের উপর আর একটা বিপদের আশঙ্কা করিয়া তিনি একেবারে তিনকড়ির হাতছাখানি ধরিয়া বলিলেন “বাবা, যতীন তোমায় দাদা বলে ডাকত, সেই সম্পর্কে তুমি আমার বড় ছেলে। শিগুীর বোঁজ নাও বাবা, সে গেল কোথায়। আমি একটুও স্থির হতে পারছি না।” তিনকড়ি তাড়াতাড়ি হাত ছাড়াইয়া মহামায়ার পায়ের ধুলা লইয়া বলিল “আমি আপনার সন্তান। আমার অপরাধ হবে। আমি এখন তাকে খুঁজে দেখছি।”

তিনকড়ি ও যুবকের দল পলতা গ্রামখানি তন্ন তন্ন করিয়া খুঁজিয়াও যখন যতীনের সন্ধান পাইল না, তখন তাহার যতীনের সংসারটা বজায় রাখিবার জন্য কি করা উচিত তাহারই একটা পরামর্শ করিতে বসিয়া গেল।



হইতে কাড়িয়া লইলেন সত্য কিন্তু তাহার কঠিন স্পর্শ স্নানাতার দেহখানিকে যে শুকাইয়া, সমস্ত সৌন্দর্য্য নিঃসরায়িয়া লইয়া গেল আর তাহা শত চেঁচাতেও কিরিয়া আসিল না।

মহামায়া পুত্রের সন্ধানের জন্য কত কারাগার খোঁজ করাইলেন, খবরের কাগজে বিজ্ঞাপন দেওয়াইলেন কিন্তু কল কিছুই হইল না। বৃদ্ধা পুত্রের শোক বুকে চাপিয়া পুত্রবধূর দিকে বেশী মনোযোগ দিলেন। তিনকড়ি ডাক্তার কম্বলমার ব্যবস্থা ও তাহাদের দেখা-শুনা করিতে লাগিল।

পাঁচটি বৎসর কাটিয়া গিয়াছে। এই সুদীর্ঘ দিনের ব্যবধানেনও স্নানাতা স্বামী প্রতীক্ষার পথ চাহিয়া আছে। সে প্রত্যহ রামায়ণ খানি পাঠ করিত ও ভুলসীতলায় সন্ধ্যার সময় প্রদীপ দিতে গিয়া চন্ধের জলে বুক ভাসাইয়া ফেলিত।

সে দিন ২৬শে অগ্রহায়ণ। শীতের কুয়াসা সারা গ্রামখানির উপর বিরাট দৈত্যের মত ছাড়াইয়া পড়িয়াছিল। পথে তখন কেহ বাহির হয় নাই। কেবল দুজন সানাইওয়ালা তিনকড়ি ডাক্তারের বাড়ীর সদর দরজার নিকট বসিয়া ভৈরবী রাগিনী আলাপ করিতেছিল।

“মা বোমাকে নিরে এখনিই ওবাড়ী যেতে হচ্ছে। আপনাদের জন্য সব আটকে আছে।” কথাগুলি শেব করিয়া তিনকড়ি শালখানি আর একটু ভাল করিয়া গায়ে দিল। মহামায়া বসিবার জন্য একখানি পিড়ি দিয়া বলিলেন “নেমকর্ম ত’ সব হ’য়ে গেছে, আমি না হয় ছুপুর লাগাত বাব খন” বলিয়া ঘরের দিকে ইসারা করিয়া কি দেখাইয়া দিল। তিনকড়ি গলার স্বর একটু চড়াইয়া বলিল “বোমা, সরমা তোমার মাথার দিকি দিয়ে যেতে বলেছে। তাকে খতরবাড়ী যেতে হবে বলে সে এখন থেকেই কারা জুড়ে দিয়েছে। তুমি না গেলে মা তাকে লাগুন দিতে কেউ নেই।” মহামায়া একটু উঁচু গলার বলিলেন “বাবে বই কি নিশ্চই বাবে। সরমার সঙ্গে দেখা করবে না? তুমি বাও বাবা আমরা আসছি।” তিনকড়ি চলিয়া

গেল। মহামায়া স্নানাতার ঘরে ঢুকিয়া দেখিলেন, সে পুকার আসনে চক্ষু মুদ্রিত করিয়া বসিয়া আছে আর চন্ধের ধারায় গাল দুটি ভাসিয়া বাইতেছে। মহামায়া অঞ্চলে চক্ষু মুছিয়া গাঢ়স্বরে ডাকিলেন ‘বোমা!’

রাত্রি দশটার সময় লগ্ন। স্নানাতা সরমাকে স্তম্ভর করিয়া সাজাইয়া দিল। বিবাহের মঙ্গল শব্দ যখন চতুর্দিকে একটা হর্ষপুলক জাগাইয়া তুলিতেছিল তখন স্নানাতা ঘরের একটি কোণে চুপ করিয়া বসিয়া আছে। আজ তাহার অন্তরে অতীত ও বর্তমানের একটা তুমুল ঝাতপ্রতিঝাত চলিতেছে। সহসা তাহার চন্ধের সম্মুখ হইতে অতীতের স্বপ্নবিশ্বাশা উন্টাইয়া পড়িল। ভাসিয়া উঠিল কলিকাতার সেই চতুর্দিক বৈদ্যুতিক আলোকে আলোকিত বিরাট প্রাসাদ। মা বাপের স্নেহ করুণ দৃষ্টি,—আর তাহার হৃদয়ের সেই বিপুল আনন্দ। তাহার পর শুভদৃষ্টি, সে কি মধুর! লজ্জা-কম্পিত হস্তে মাল্যের আদান প্রদান, সমস্ত যে শৈশবের স্মৃতির মত তাহার ক্ষুদ্র হৃদয়খানি বেঁধেন করিয়া আছে। তারপর বিবাহিত জীবনের কোমল স্পর্শ, সে যে কত পবিত্র! অতীতের দৃষ্ট কানিতে লাগিল। বর্তমানের প্রবল তাগুবে যেন সেই স্মৃতির পট ছিন্ন ভিন্ন করিয়া কোন অতল জলে ডুবাইয়া দিল আর তাহার পরিবর্তে ফুটিয়া উঠিল বিবাদের করাল ছায়া। রোগ-ধ্বংস দেখ, স্বামীর অক্লান্ত পরিশ্রম, পরে হতশেষ বিধাত্ত স্পর্শে উন্নতের মত নিক্রদেশ!! স্নানাতার বুকের ভিতর বড় জোরে কাঁপিতে লাগিল।

৫

আজ রোগ শয্যা শুইয়া স্নানাতা জীবনটাকে একটা বিরাট স্বপ্ন বলিয়াই ভাবিতেছিল। এ স্বপ্নের ঘোর বখন কাটিয়া বাইবে তখনই বুদ্ধি এ জীবনের অবসান। এ যেন বারকোপের মতই সজীব অথচ একটা ছায়া মাত্র।

স্নানাতা সন্ধ্যার সময় প্রত্যেক দিন প্রদীপ লইয়া ভুলসীতলায় গিয়া প্রণাম করিত। এইখানে আসিয়া সে আর নিজকে সারল্লাইতে পারিত না। তাহার



কুহু বন্ধ নিপীড়িত করিয়া কষ্টের একটা চাপা নিখাস কাঁপিতে কাঁপিতে বাহির হইয়া বাইত ।

—ওগো ব্যাধিতের চক্ষের জলে কি তোমার সংহাসন টলে না ?

সুজাতা এখন আর উঠিতে পারেনা । আরে তাহার দেহখানি শীর্ণ হইয়া বিছানার সহিত মিশিয়া বাইতে বলিয়াছে ।

তিনকড়ি ডাক্তার অনেক বলিয়া কহিয়া তাহাদের নিজের বাড়ীতে লইয়া সুজাতার চিকিৎসা করিতে লাগিলেন, আর সরমা সর্বদা তাহার নিকটে থাকিয়া সেবা করিতে লাগিল ।

নদীর কূল বধন ভাঙ্গিতে আরম্ভ হয় তখন বুঝি শত চেষ্টাতেও ভাঙ্গা বোধ করা যায় না । একদিন সত্য সত্যই একজন ডাক্তার আসিয়া বাহা বলিয়া গেল তাহা শুনিয়া মহামায়া ছোট শিশুর স্তায় কাঁদিয়া উঠিলেন ।

\* \* \* \*

“যতীন্দ্রমোহন সেনের বাড়ীটা কোন দিকে বলতে পারেন ?” মধ্যাহ্নকাল । একটা সন্ন্যাসী পলতা গ্রামের একটি লোককে জিজ্ঞাসা করিল “যতীন্দ্রমোহন সেনের বাড়ীটা কোনদিকে বলতে পারেন ?” লোকটি একটু আশ্চর্যান্বিত হইয়া বলিল “তিনি ত অনেকদিন হয়

যায়া গেছেন । তাঁদের বাড়ীঘর সেবারকার খড়ে সব পড়ে গেছে । তিনকড়ি ডাক্তার ভ্রমের মেরেদের মানইজ্জত রেখেছেন”—এই বলিয়া সে আর একবার সন্ন্যাসীর মুখের দিকে চাহিয়া কার্য্যান্তরে চলিয়া গেল ।

তিনকড়ি ডাক্তারের ঘরের সম্মুখে সন্ন্যাসী আসিয়া দাঁড়াইতেই ভৃত্য দৌড়াইয়া ভিক্ষা আনিতে গেল । সরমার সাধু সন্ন্যাসীদের উপর প্রগাঢ় ভক্তি । এক বাটি চাউল, দুটি পরমা লইয়া ভিক্ষা দিতে আসিয়া সে কেমন ধমকিয়া দাঁড়াইয়া পড়িল ।

সন্ন্যাসীও তাহার মুখের দিকে চাহিয়া ফেলিলেন । তাহার মুখ\*দিয়া বাহির হইয়া পড়িল “তোমার সহি ?” সরমা এই প্রশ্নে একটু বিচলিত হইয়া গেল । তাহার চক্ষু দুটি সজল হইয়া উঠিল । সে বিহ্বলের মত কিছু-কণ দাঁড়াইয়া তাহার পর অক্ষুট একটা চিৎকার করিয়া বাড়ীর ভিতর দৌড়াইয়া গেল ।

সরমা আবার বধন হাঁপাইতে হাঁপাইতে মহামায়া ও তিনকড়ি ডাক্তারকে সঙ্গে লইয়া ঘরের নিকট আসিয়া দাঁড়াইল তখন সন্ন্যাসী চলিয়া গিয়াছেন । পৰিপার্শ্বে কেবল একটা গ্রাম্য কুকুর মাঝে মাঝে চিৎকার করিয়া কোন্ এক অপরিচিতের আগমন গ্রামবাসীকে জানাইয়া দিতেছিল ।

শ্রীশুশীলকুমার রায় ।

## বার্থ ।

ভেসে যায়, ভেসে যায়—

নিরাশা বেদন বহি মেঘমালা  
জ্যোতিহার্য্য কত নীহারিকাবালা  
নীরব নিধর গগনের কোলে  
অসীমের পথ চায় ।

ভেসে যায়, ভেসে যায়—

ঝর ঝর ঝর নির্ঝর পানে,  
উজ্জ্বল কল তটিনীর তানে,  
কুঞ্জন মুখর স্বপ্নর বিতানে  
কোন্ বাধা ভাষা পায় ।

ভেসে যায়, ভেসে যায়—

ফেণিল জলধি লহরীর তালে,  
প্রলয়ের বোর ঘনঘটা জালে,  
বিশ্ববীণার তন্ত্রী বিলীন

কোন্ গাথা মুরছায় ?

ভেসে যায়, ভেসে যায়—

কত প্রাণ কত মুকুন্ডিত আশা,  
অস্তর নীড়ে কত মুকু তাধা,  
নয়ন আসারে জনম লভিয়া

নীরবে করিছে হায় ।

শ্রীনেপালচন্দ্র চক্রবর্তী ।



## ত্রিপুরারাজ্যের ঊনকোটিতীর্থের পুরাতত্ত্ব

ঢাকারিতিউ পত্রিকার গত ডিসেম্বর সংখ্যার ইংরেজী অংশে আগরতলার তৃতপূর্ব পলিটিকেল এজেন্ট বাহাদুর ঐরুজ উইলিয়মস সাহেব লিখিত কতকগুলি নোটস (notes) প্রকাশিত হইয়াছে। কিন্তু ঐ গুলিবারা ঐতিহাসিকের কোতুহল পরিভূপ্ত না হইয়া বরঞ্চ কোতুহল উদ্দীপ্তই হয়, কারণ উইলিয়মস সাহেব স্বয়ং ঊনকোটিতীর্থের মূল ইতিহাস নির্ণয় সম্বন্ধে নিজের অসামর্থ্য প্রকাশ করিয়া এবং পরর্ত্তাপাত্রে ধোদিত মূর্ত্তি সকলের পরিচয় সম্বন্ধে অজ্ঞতা স্বীকার করিয়া সেই কোতুহল পরিবৰ্দ্ধিতই করিয়া দিয়াছেন। আমরা যথাসাধ্য এতৎসম্বন্ধে যে সকল তথ্য সংগ্রহ করিতে সমর্থ হইরাছি পাঠকদিগের কোতুহল নিবৃত্তির জন্য তৎসমস্ত এখানে বিবৃত করিতেছি।

ঊনকোটিতীর্থের উৎপত্তি সম্বন্ধে রাজমালায় কোনও উল্লেখ নাই। তীর্থ সম্বন্ধে বাহা উল্লেখ আছে তাহাও সামান্য। ইহাতে ঊনকোটিতীর্থস্থাপন যে ত্রিপুরা রাজবংশের কীর্ত্তি নহে তাহাই বুঝিতে পারা যায়। প্রথম ত্রিপুরার মহারাজ বিজয় মাণিক্য বাহাদুর কর্তৃক ঊনকোটিতীর্থ দর্শনের বর্ণনাই রাজমালায় দেখিতে পাওয়া যায়।

“কতদিন পরে রাজা ঊনকোটি গেল।

এক ঊনকোটিলিঙ্গ তথাতে দেখিল।”

এই বর্ণনা পাঠ করিলে স্পষ্টই বুঝিতে পারা যায় যে মহারাজ বিজয় মাণিক্য বাহাদুর পূর্বপ্রতিষ্ঠিত তীর্থ রূপেই ঊনকোটি দেখিতে পাইয়াছিলেন। ইহা তদীয় পূর্বপুরুষের কীর্ত্তি হইলে অবশ্যই রাজমালায় পূর্বে কোথায়ও ইহার উল্লেখ থাকিত বা এখানে তাহার প্রসঙ্গ থাকিত। এখানে মহারাজ বিজয় মাণিক্য বাহাদুরের ঊনকোটিলিঙ্গ দর্শনের যে উল্লেখ আছে তাহাতে ঊনকোটি নামের স্পষ্ট আভাসই রহিয়াছে। ঊনকোটি তথায় প্রতিষ্ঠিত ছিল বলিয়াই ঊনকোটি নাম হইয়াছিল। এইখানে এইতথ্যটাই প্রকাশিত হইয়াছে। ঊনকোটি পুস্তকঃ এখানে ঊনকোটি শিবলিঙ্গ প্রতিষ্ঠা হেতুতেই

ঊনকোটি নাম হয়, ঊনকোটি নামের এই ইতিহাসই আমরা প্রাপ্ত হইতেছি। এখানে কাহার কর্তৃক ঊনকোটি লিঙ্গ প্রতিষ্ঠিত হয় তাহা জানিতে পারিলে ইহার উৎপত্তির ইতিহাসও আমরা প্রাপ্ত হইতে পারি। ঊনকোটিতীর্থ মাহাত্ম্য নামক পুস্তকে এসম্বন্ধে এইরূপ লিখিত হইয়াছে :—

“বিষ্ণাগ্রোঃ পাদসমুতো বরবক্রঃ স্রুপুণ্যদঃ।

দক্ষিণস্যাং নবস্যান্ত পুণ্যামন্তনদীশ্বতা ॥

অনয়োরন্তরা রাজন্ ঊনকোটিগিরিমহান্।

তত্রতেপে তপঃ পূরং স্রুহং কপিলোমুনিঃ ॥

তত্রৈব কাপিলং তীর্থং কপিলেন প্রকাশিতম্।

লিঙ্গক কাপিলং তত্র সর্বসিদ্ধিপ্রদং নৃণাম্ ॥

“স্রুপুণ্যপ্রদ বরবক্রনদী বিষ্ণা পর্বতের পাদদেশ হইতে উৎপন্ন হইয়াছে। ইহার দক্ষিণে পুণ্যামন্ত নদী। এই উত্তর নদীর মধ্যেই হে রাজন! বৃহৎ ঊনকোটিগিরি বর্ত্তমান। কপিলমুনি তথায় মহাপন্থা করিয়াছিলেন। তথায় কাপিল নামক তীর্থ কপিল কর্তৃক প্রকাশিত হইয়াছিল। তথায় সর্বসিদ্ধিপ্রদ কাপিল নামক লিঙ্গও প্রতিষ্ঠিত হইয়াছিল।” ঊনকোটির শিবলিঙ্গ যে কপিল কর্তৃক স্থাপিত হয় তাহাই আমরা এখানে জানিতে পারিতেছি। ‘কাপিল’ লিঙ্গের নাম কপিল স্থাপিত প্রধান লিঙ্গের নাম বলিয়াই আমাদের নিকট বোধ হয়। তাহার সঙ্গে অগ্র বহু শিব লিঙ্গও সম্ভবতঃ তিনি স্থাপন করেন। কাপিল লিঙ্গ আমাদের নিকট কালীর বিবেচনায় লিঙ্গেরই ত্রায় প্রধান লিঙ্গ বলিয়া প্রতীয়মান হয়। ঊনকোটির অস্তাত্ত লিঙ্গও তিনিই স্থাপন করিয়াছিলেন বলিয়া অনুমান করা যাইতে পারে। ইহা হইতে মনে হয় যে কপিলমুনি ঊনকোটিকে দ্বিতীয় কালী রূপেই প্রতিষ্ঠিত করেন। ঊনকোটিতে শৈব ও শাক্ত দেবতার যে নিবর্ধন এখনও প্রত্যক গোচর হয় তাহা হইতে ইহা যে শিবের উদ্দেশে উৎসর্গকৃত হইয়াছিল তাহা পরিহাররূপেই প্রতিপন্ন হয়। আমরা এখানে প্রত্যক্ষদর্শী একজন প্রসিদ্ধ



লেখকের বর্ণনা উদ্ধৃত করিয়া দিতেছি তাহা হারাই আমাদের অহুমানের দৃঢ়তা সম্পাদিত হইবে।

“ঊনকোটি শৃঙ্গের পশ্চিম পার্শ্বে প্রান্তরে অনেকগুলি দেবদেবীর মূর্তির ধ্বংসাবশেষ দেখা যায়। কতগুলির অবস্থা দর্শনে মনে হয়, ঐ গুলি দশমহাবিদ্যার মূর্তি, এখন স্পষ্ট বুঝিবার কোনই উপায় নাই। ঐ সকল মূর্তির মধ্যে একটি বিশেষ উল্লেখযোগ্য, ঐটা মহাদেব মূর্তি। উহা অতি প্রকাণ্ড; দুইটা কর্ণ হুথানি কপাটের জায়, দুইটা চালের কুণ্ডল জায় তাহাতে শোভা পাইতেছে। গোঁপের একদিক্ ভাঙ্গিয়া গিয়াছে, একদিকে এক হাত কি বেড় হাত পরিমাণ বর্তমান আছে। হাতে ত্রিশূল, সম্মুখে দুইটা প্রকাণ্ড বৃক্ষ।” “কৈলাসহর পরিভ্রমণ”— পণ্ডিত ত্রীযুক্ত চন্দ্রোদয় বিদ্যাবিনোদ প্রণীত

উদ্ধৃত বর্ণনায় মহাদেবের যে বিশাল মূর্তির উল্লেখ পাওয়া যায়, তাহাতে তথায় তাঁহার প্রাধান্য সহজেই উপলব্ধি করা যায়।

পণ্ডিত বিদ্যাবিনোদ ঊনকোটির দেবমূর্তি সকলের প্রাচীনত্ব সম্বন্ধে যে মন্তব্য করিয়াছেন, তাহাও এখানে উদ্ধৃত করা কর্তব্য বোধ করিতেছি।

“পূর্বত গায়ে খোদিত মূর্তিগুলি যে বহু প্রাচীন, তাহাতে কিছুমাত্র সন্দেহ করিবার ষো নাই; ঐ সকল মূর্তিতে নির্মাণ কৌশল কিছু নাই, প্রত্যেক মূর্তির কর্ণে “কাণপাশার” জায় বৃহৎ কুণ্ডল আছে। অত্র অলঙ্কার বিশেষ লক্ষ্য করিবার মত কিছুই নাই।

স্থানের অবস্থা জনশ্রুতি এবং পূর্বত গায়ে খোদিত প্রস্তর মূর্তি প্রভৃতির বিষয় চিন্তা করিলে, এই স্থানটী যে বহু প্রাচীন কাল হইতে তীর্থরূপে ব্যবহৃত হইয়া আসিতেছে, তদ্বিষয়ে আর সন্দেহ থাকে না।” কৈলাসহর পরিভ্রমণ ॥

বিজয় মাণিক্য বাহাদুরের পর ‘রাজমালায়’ আর একবার কেবল রাজধর মাণিক্য বাহাদুরেরই ঊনকোটি দর্শনের উল্লেখ পাওয়া যায়। রাজধর তখনও সিংহাসনাভিষিক্ত হইয়া “মাণিক্য” উপাধি ধারণ করেন নাই; কিন্তু সেনাপতি ‘নারায়ণ’ উপাধিতেই অভিহিত হইতেন। ‘রাজমালায়’ তাঁহার দর্শন সম্বন্ধে লিখিত হইয়াছে—

“রাজধর চলিল হুলালী গ্রাম পথে।

ইটা গ্রাম হইয়া গেলে ঊনকোটি তীর্থে ॥

স্নানদান করে তথা রাজধর নারায়ণ।”

এখানে ঊনকোটির সহিত শিবলিঙ্গের কোন উল্লেখ নাই; কেবল ‘তীর্থ’ বলিয়াই ইহার উল্লেখ পাওয়া যাইতেছে। ইহাতে আমাদের অহুমান হয় নৈসর্গিক নৈসর্গিক যে কারণেই হউক বিজয় মাণিক্য বাহাদুর ও রাজধর মাণিক্য বাহাদুরের সময়ের মধ্যে ঊনকোটি শিবের অধিকাংশই অন্তর্হিত হওয়ায় ঊনকোটি আর ঊনকোটি শিবের তীর্থ না থাকিয়া সাধারণ তীর্থরূপে পরিণতি প্রাপ্ত হয়।

পরিশেষে প্রশ্ন হইতে পারে যে কপিল মূনি ঊনকোটি তীর্থ প্রতিষ্ঠিত করিয়াছিলেন, ইহা কিরূপে সম্ভবপর হইতে পারে? তদন্তরে আমরা বলিব মহর্ষি পরশুরামের দ্বারা ব্রহ্মপুত্র নদের অবতাড়ণ যদি সম্ভবপর হয়; ব্রহ্মপুত্র তীরে বর্ষিষ্ঠ ঋষির আশ্রম প্রতিষ্ঠা যদি সম্ভবপর হয়, তবে মহর্ষি কপিলেশ্বর দ্বারা ঊনকোটি তীর্থ স্থাপন কেন সম্ভবপর হইবে না? বিশেষতঃ প্রবল সপ্তর সন্তানগণের ধ্বংস সাধনের সহিত বখন মহর্ষি কপিল ও দক্ষিণদিকের যোগ রাখিয়াছে, তখন দক্ষিণ সমুদ্রের তীরবর্তী স্থানে তাঁহার অধিষ্ঠিত হওয়া আরও অধিক সম্ভবপরই হয়।

শ্রীশীতলচন্দ্র চক্রবর্তী ।



## চোখের পরিচয়।

তার সাথে মোর শুধুই ও গো চোখের পরিচয়,  
জীবন ভরে চলছে কেবল নীরব আলাপন;  
ওইটুকু ওই দিটির মাঝে কতই কি যে কর—  
বাইরেতে তার খোঁজ নাহি পাই, শুনে শুধু মন।

চোখের নেশা নয় এ যে, এ প্রাণের বিনিময়,  
কল্পসম ছুটছে আঁড়ে প্রেমের লীলা-চেউ;  
অজানা কোন মন্ত্র বলে করুচে হৃদি জয়—  
মন ছাড়া এই বিশ্ব-জুড়ে জানুচে না আর কেউ।

ফুসে না কেউ এ যে ও গো কেমন পরিচয়,  
মন-কোণের হাস্তখানি কর কি প্রেমের বাণী,  
এক করে আজ কে যে জেগে রয়,  
কার আদেশে ঘুটছে মিলন, আমরা দৌহে জানি।

সমাজ এর বলে কি যে জামতে নাহি চাই,  
নীতির চেয়ে প্রীতির আগুন শ্রেষ্ঠ বলে মানি;  
মনের পাতে বহুর বিধির মিলবে না গো ঠাই,  
হেথায় শুধু মন-জয়ী যে তারেই নিব টানি।

সে না হলে প্রাণের বাঁশী বাজবে না যে হার,  
ফুটবে না সুল, হর্ষে অলি করবে না গুঞ্জন;  
এ যদি হয় মিথ্যা ও গো রজনীত্বপন প্রার,  
তাই ভাল মোর, এই জীবনে চাইনে জাগরণ

কমল-রবির নীরব-ভাষা তারাই ভাল জানে,  
দুইটি হিয়ায় চলছে নিতি মধুর পরিচয়;  
যার বুচে যার সব ব্যবধান প্রেমের প্রবল টানে,  
বিশ্ব শুধু তা'রছে বসে এ কি গো বিশ্বয়!

ত্রিপ্রীতি পতিপ্রসন্ন ঘোষ।

## পাশ্চাত্য নাট্য।

( গগনের 'রিভিজর' )

পাশ্চাত্যের অস্ত্রান্ত দেশের চেয়ে রুসিয়ার সঙ্গে আমাদের সমাজ জীবন ও দেশের অবস্থা যেন অনেকটা মিলে। রুসিয়ার সাহিত্য, উপন্যাস, নাট্য হইতে আমরা এইরূপ পরিচয় পাই। তাই পাশ্চাত্য অস্ত্রান্ত দেশের সাহিত্যের চেয়ে রুস সাহিত্য পাঠেই আমাদের চিত্ত অধিক আকর্ষিত করে। টলষ্টয় সাহিত্যের ধর্ম ও নীতির ভাব গগল, গোর্কী প্রভৃতির নির্ধাতিত ব্যক্তি সমাজের জয়ন্তেদী অবস্থা বর্ণন, ডটরভেঙ্কী, টুর্গেনিভ প্রভৃতির পুস্তক বিশ্লেষণী প্রতিভা ও সাহিত্য দ্বারা সমাজ ও দেশ সংস্কারের চেষ্টা সত্যই অপূর্ণ।

রুসিয়ার নব জাগরণের নেতা গোর্কী, টোলকি, লেনিন প্রভৃতি সকলেই সাহিত্যিক। এককাল সাহিত্য দ্বারা দেশ জাগরণের যে অকৃতময় ইহার প্রবল দেশবাসীকে

তলাইতেছিলেন আজ সেই মন্ত্রের সজীবনী মাদকতার সমগ্র রুস দেশ যেন চকিত প্রবুদ্ধ হইয়া উঠিয়াছে। দীর্ঘ শতাব্দীর মোহ নিদ্রার অবসানে জাতি ও দেশ এখন স্বপ্রোথিতের মত চকিত, সজ্ঞ। জীবনে নিজাই মোহ—দীর্ঘ যুগের ঘোর বিষবৎ পরিত্যাজ্য। দেশ ও জাতির অবনতির যুগেই তাহাদিগকে যুগের ঘোরে আচ্ছন্ন করিয়া রাখে। এই যুগ ঘোরে বিষই অমৃত, অমৃতই বিষবৎ লাগে। আজ রুসিয়ার যুগের মোহ বধন কাটিয়াছে তখন স্বপ্রোথিতের এই চকিত অবস্থা সহজেই কাটিয়া বাইবে, মোহ বস্তুর অন্ধ পদ ছিন্ন হইয়া আসিলেই আবার সরল সহজ ভাবে আপন গৌরবে সে বিশ্বের সমুখে দাঁড়াইতে পারিবে।

দেশ সংস্কার, জাতি সংস্কার ইহার মূলের কথাই আজ



‘ভক্তি’। আত্ম-সংস্কার, আত্ম-শুদ্ধি এ কখনো বাহির হইতে হয় না। নিজের অন্তর্নিহিত শক্তি দ্বারা ই আত্মার শোধন করিয়া লইতে হয়। রুসিয়ার প্রসিদ্ধ লেখক গগল নিজ নাট্য রিভিজরে কি ভাবে দেশকে ও সমাজকে সাহিত্যের দ্বারা প্রকাশ করিয়াছেন ও কি ভাবে তাহার সংস্কারের ইচ্ছিত করিয়াছেন আজ এই প্রবন্ধে আমরা তাহাই দেখাইবার চেষ্টা করিব।

কথা আছে “আপনার মুখ কদাকার বলে আয়না কে দোষ দিও না।” এই প্রবচনটা গগল তাহার প্রসিদ্ধ কমেডিতে সুপ্রযুক্ত করিয়াছেন। “রিভিজর” রুসিয়ার প্রাদেশিক জীবনের একটি সত্য চিত্র, ইহার প্রাতি পৃষ্ঠায় জীবন্ত মানবের চরিত্র পাইবেন। ব্যঙ্গের পাত্র যাহারা তাহারা ইহার ব্যঙ্গে চকিত হইবেন। তা ছাড়া এই নাট্যে এমন সুন্দর রস রসিকতা ও হাস্যকর দৃশ্যের সমাবেশ আছে যাহাতে বিশ্বের সকলের কাছেই ইহা প্রিয় হইবে। ধরিতে গেলে প্রট ইহাতে অতি সামান্যই আছে। ইহার প্রধান ঘটনা একজন ‘রিভিজর’ রুসিয়ার কোন প্রাদেশিক স্রহর পরিদর্শনে উপস্থিত হইতেছেন। এই পদের ঠিক প্রতিশব্দ ইংরেজী বা বাংলায় নাই,— অর্থ এই সরকার হইতে নির্বাচিত কোন কোন ব্যক্তি প্রাদেশিক শাসন কার্যের ত্রুটি অনুসন্ধান করিতে অসামান্য ক্ষমতা লইয়া বাইতেছেন। ইহা বলা অনাবশ্যক যে যাহারা সেই প্রদেশের ভার পাইয়া যথেষ্ট লুটিয়া থাকিতো-ছেন তাহাদের পক্ষে একরূপ একজন লোকের আগমন মোটেই স্পৃহনীয় নহে। এইরূপ ভীতিপ্রদ লোকের আগমনে তাহাদের মানসিক অবস্থা সহজেই অসুস্থ—বহু বৎসর বাধ্যতাবাদ লুট-তরাজের পর অকস্মাৎ সাইবেরিয়ার নির্বাসন ভীতি।

একপক্ষে সহরের গভর্ণর যেমন সওদাগরদের লুটিয়া থাকিতোছেন তাহারাও তেমন গভর্ণমেন্টের চুক্তি হইতে তাহার শোষ উঠাইতেছেন। একক্কে Solomon অপেক্ষা Nimrod আখ্যা দেওয়ার ইচ্ছা ; বিচারালয়কে তিনি চিড়িয়াখানা বানাইয়াছেন এবং ঘুরের ব্যবস্থা বেশ গোরে চালাইয়াছেন। দাসত্ব বিভাগের মন্ত্রী হাসপাতালের রোগীদিগের প্রকৃতির সাহায্যে নিরাস

করিতেছেন। স্কুল-ভিওয়েটের বিজ্ঞানদান সম্বন্ধে একজন বালক অপেক্ষাও অজ্ঞ। পোষ্টমাষ্টারের দুর্বলতা এই, তিনি পণের চিঠি খুলিয়া না পড়িয়া থাকিতে পারেন না। পুলিশ কর্মচারীরা কাজ করার চেয়ে মজা খাইয়া পড়িয়া থাকিতেই ভালবাসেন। এই হইতেছে আদর্শ সমাজ। ইহার নিকট হইতে কল্পিত রিভিজরের অন্তর্ধান বেদনা পুতি হাসি ঘটনা করে।

এই কমেডি দ্বারা নিকোলাসেগ সময় ১৮৩৬ খৃঃ পিটার্সবার্গে প্রথম অভিনীত হয়। রুস-সাহিত্য এই সময় ১২ইতে নবজীবন লাভ করিতে আরম্ভ করে। ডার্কফিল্ড, ব্রাকসবি এবং ঔপন্যাসিক কারামজিনের তখন আর তেমন পসার ছিল না। ফরাসী সাহিত্যের অনুবাদেও লোকে যেন অতৃপ্ত হইয়া উঠিতেছিল। বোধ হয় ১৮২৩ খৃঃ গ্রিবর ডভ প্রথম এ বিষয়ে আপত্তি তোলেন। তাহার ‘Gore of Wit’ (wit comes to grief) নামক বিজ্ঞপ নাট্যে এই যুগের ফরাসীয়ানার যথেষ্ট নিন্দা প্রথম প্রকাশিত হয়।

গগল লেখক কার্লভ কয়েকটি প্রকৃত রুসীয় গল্প লিখিয়া রুস-সাহিত্যে নবযুগ স্রকারের সাহায্য করেন। সাহিত্যিক জুকেরেভস্কর বয়স এ সময় তিন্মাত্র, ইনি রুসিয়ার বাহিরে “Bozhe Tsarya Kharani” “God save the Tsar.” রচয়িতা বলিয়া পরিচিত। গগলের সমসাময়িক লেখকদিগের মধ্যে আরও ছয় সাত জন ইওরোপে যথেষ্ট আদৃত। যখন রিভিজর প্রকাশিত হয় তখন রুসিয়ার খ্যাতনামা কবি পুসকিনের বয়স পঁচাত্তর, ঔপন্যাসিক লরমন্টের বয়স বাইশ। অপরপর বিখ্যাত লেখকের মধ্যে টুর্গেনিভ (১৮১৮—১৮৮৩) জন-প্রিয় ঔপন্যাসিক ভট্টোভস্কি (১৮২১—১৮৯১) ও ইহাদের সকলের চেয়ে বিখ্যাত টলষ্টয় (জন্ম ১৮৮১) তখন বিদ্যমান। ‘রিভিজর’ প্রকাশ হওয়ার সময় গগলের বয়স সাতাশ, ইনি টেনিসন ও দ্রাউষ্টোনের সমবয়সেরই জন্ম গ্রহণ করেন।

গগল ১৮০২ খৃঃ ২১শে মার্চ ‘Sorochinski’ তে জন্ম গ্রহণ করেন। ইনি রুস-তীর্থ কিভের নিকটবর্তী নেকিন সহরে বিদ্যালোভ করেন। এখানে ইনি কিকিৎ



উচ্ছ্বল ও অনিয়মিত ছাত্র ছিলেন। কিন্তু “Star” ইহার বিখ্যাত পুস্তক ‘Myortvuiya Dusdu’ নামে একখানি হাতে লেখা কাগজ বাহির করিয়া প্রসিদ্ধি লাভ করেন, এ কাগজের ইনিই প্রধান লেখক ছিলেন। এই সময়ে ইনি “The Brigands” নামে একখানি করুণ রসায়ক নাট্যও রচনা করেন। নেলিন বিদ্যালয় ছাড়িয়া ১৮২৯ খৃঃ ইনি পিটার্সবার্গ যাত্রা করেন, কিন্তু আশা যেমন উচ্চ হাতে তেমন পয়সা ছিল না। এই সময়ে দু’একখানি পুস্তক লইয়া গগলের সাহিত্য ব্যবসা চলিতেছিল—তাহাও বেনামী V. Alof নামে। এই বই সমালোচকেরা এমন নির্দর সমালোচনা করেন যে গ্রন্থকার হোটেলের একটা ঘর ভাড়া, লইয়া মৃত গুলি সম্বন্ধে পুস্তক পাওয়া যায় জোগাড় করিয়া পোড়াইয়া ফেলেন। এই অকৃতকার্যতার নিরাশ হইয়া গগল নাট্যশালায় প্রবেশের ইচ্ছা করেন কিন্তু স্বর অত্যন্ত দুর্বল থাকায় সে আশা পরিত্যাগ করিতে বাধ্য হন। এই সময়ে ইনি সামান্য কেরাণীগিরি লইয়া ১৮৩০ খৃঃ রুস ক্রমক জীবনের চিত্র অঙ্কিত করিয়া প্রথম কৃতকার্যতা লাভ করেন। এই পুস্তকের নাম “Evenings at a Farm near Dikanlla” By Rudy Parka.

ইহার কিছুদিন পরেই ইনি পিটার্সবার্গ উনিভার্সিটিতে ইতিহাস অধ্যাপক পদে নিযুক্ত হন। ইহার প্রথম বক্তৃতা কর্তি অতি সুন্দর হইয়াছিল কিন্তু কিছু দিন কাজ করিয়া ভাল না লাগায় ১৮৩৪ খৃঃ কার্যে ইস্তাফা দেন। এই সময়ে তাহার লেখনীর অবস্থা বিরাট ছিল না, ইনি রুস জীবন লইয়া কয়েকটি গল্প ও চিত্র এই সময়ে অঙ্কিত করেন—যথা ‘The Quarrel of the two Ivans’, ‘Old fashioned Land-owners’, কিন্তু ইহার প্রথম খ্যাতি হয় Faras Bulba উপন্যাস রচনা করিয়া।

১৮৩৬ খৃঃ Revizor রচনা করিয়া গগল রুস সাহিত্যে নতুন একটা জিনিস সৃষ্টি করিলেন। এই নাট্যের নানা ব্যঞ্জে গগলের বহু শক্তি হয় কিন্তু সম্রাট নিকোলাসের অসন্তোষে গগল সে সব বিপদ হইতে উদ্ধার হন। এই সময়ে ইনি কনের বিবাদ ভাব দূর করিবার জন্য বিদেশ ভ্রমণে বহির্গত হন, ইটালীতে থাকা কালে

শেষ বয়সে ইনি ধর্ম ও সমাজ সম্বন্ধে সম্পূর্ণ বিপরীত মত পোষণ করিতেন এবং নিজের রচিত পূর্ব গ্রন্থ সমূহের প্রতিও বিরূপ হন। Dead souls র দ্বিতীয় অংশের পাণ্ডুলিপি বিকারণান্ত অবস্থায় পোড়াইয়া ফেলেন, ফলে পুস্তকখানি আশ্রয় অসম্পূর্ণ পাই—পরে কোন রকমে অসম্পূর্ণ অর্ধ সমাপ্ত পাণ্ডুলিপি হইতে গ্রন্থ সমাপ্ত করা হয়। ১৮৪৬ খৃঃ ইনি জেরুজালেম যান, পরে মস্কোতে প্রত্যাবর্তন করিয়া বন্ধুদের অসুখের উপর জীবন যাত্রা নির্বাহ করেন। গগল একটা ব্যাগ কাঁধে ঝুলাইয়া ভ্রমণ করিতেন, সেই ব্যাগে তাহার পুস্তক সমূহের অপ্রীতিকর সমালোচনা সমূহ থাকিত। ১৮৫২ খৃঃ ওরা মার্চ তেভার্লিশ বৎসর বয়সে ইহার মৃত্যু হয়।

গগলকে যাহারা বন্ধুভাবে জানেন তাহারা বলেন গগল ময়লা পোষাক পরিয়া থাকিতেন। একটু লাজুক ছিলেন, বেশী কথা কহিতেন না, কেবল বালকের দলে ও অন্তরঙ্গ বন্ধু সমাজে তাহার মুখ খুলিত। তিনি কখনও প্রেমে পড়িয়াছেন বলিয়া জানা নাই, অবিবাহিত অবস্থায়ই তাহার মৃত্যু হয়। গগলের Revizor তাহার Dead Souls র মত রুশিয়ার চিরন্তন সাহিত্যে পরিণত হইয়াছে। প্রসিদ্ধ রুস সমালোচক Dudishkin বলেন—“Russia possesses only one Comedy—‘The Revizor’ which quite fulfils the requirements of dramatic art.”

গগলের পুস্তকের বহু সংস্করণ হইয়া গিয়াছে, তাহার কতকগুলি উপন্যাস নাট্যের ইংরাজি অনুবাদও হইয়াছে। এই পুস্তকের মূল পাণ্ডুলিপি মস্কো উনিভার্সিটির Professor Tikhouravopov নিকট আছে।

গগল নিজেই নিজের নাট্য সমালোচনা করিয়াছেন। Departure from the Theatry নামক গ্রন্থে তার নিজের মত জানা যায়। ইহাতে দর্শকবর্গেরও নানা মতের সম্বন্ধ দেওয়া হইয়াছে। তাহারা বলে ইহাতে



সামু চরিত্র একটিও নেই, যা হোক সামু ব্যক্তোক্তি কিন্তু সর্বত্র দেখিতেছি।

কবি পুনর্কিনের নিকট গগল যে চিঠি লিখিয়াছেন তাহা এই নাট্য সম্বন্ধে কিছু উদ্ধৃত করা যাইতে পারে। 'Revizor' অভিনীত হইল, কিন্তু অভিনয় দেখিয়া আমি চূঃখিত ও হতবুদ্ধি হইয়াছি। আমার মূঠ চরিত্র আমারই কাছে অদ্ভুত অচেনা লাগিল। যা আমার মনে ভয় ছিল তাই হইয়াছে, প্রধান চরিত্রই নষ্ট হইয়াছে খেত্তাকোভের ব্যক্তিত্ব সম্বন্ধে অভিনেতা Durr র এতটুকু ধারণাও নেই। প্যারী থিয়েটারের ধারণা মুখভঙ্গী দেখিয়েই সে খালাস। এ যেন যা তা গোছের একজন বদ্ধ মিথ্যাবাদী। ভাবিতে চুঃখ হয় সত্যই কি আমি এই সব অভিনেতাদিগকে শিক্ষায় গড়িয়া নিতে পারি নাই। আমি মনে করি এ ব্যক্তি লজ্জার কথা খোত্তাকোভ একজন জুয়াচোর বা বদ্ধ মিথ্যাবাদী নহে। সে যে মিথ্যা বলিতেছে তা সে ভুলিয়া যায় এবং বাহা বলিতেছে তাহাই প্রায় বিশ্বাস করে। তাহার উৎসাহ ক্রমশঃ বাড়িয়া যায় এবং যদি একটু নাই পায় অমনি তাহার কবিত্ব ও বেশী কথা বলা আরম্ভ হয়। বল দেখি এর একটুও কি অভিনয়ে প্রকাশ করা হইয়াছিল? না—খেত্তাকোভ একটুও স্বাভাব্য দেখাইতে পারে নি। সত্য কথা সে তেমন শিক্ষিত হুবক নয়, যাহারা সময় সময় খুব ভাল ব্যবহার দেখায় ও বিজ্ঞের মত কথা কয়, কদাচিত্ তার নীচ অন্তর প্রকাশ হয়ে পড়ে। এক কথায় নানা প্রকার ক্লস চরিত্রের সমবায় গঠিত লোক। আমরা সকলেই সময় সময় খোত্তাকোভ সাজি শুধু প্রভেদ এই যে আমরা তাহা স্বীকার করি না। আমরা পরের পতনে হাসাই ভালবাসি; সকলেই জীবনে এক আধবার এমন অভিনয় করিয়া থাকেন।

প্রথম অভিনয় রজনীতে আমি থিয়েটারে বসিয়া ছিলাম। প্রথম হইতেই আমার কেমন অস্বস্তি বোধ হইতে ছিল। দর্শকদিগের মুখে প্রশংসা শুনিবার লজ্জা আমার এ অস্বস্তি নয়। রজন্যকে শুধু একজন মাত্র সমালোচক ছিল বাহাকে আমি ভয় করিতাম, সে আমি নিজে।

আমার নিজের মনে নাট্যধানি এত অল্পপুষ্ট বলিয়া মনে হইতেছিল যে তাহাতে কাহাও মতামত শুনিবার ক্ষমতা ছিল না। যা হোক সাধারণে সবটা দেখিয়া খুশাই হইল। অর্ধেক পরিমাণ দর্শক খুব সুখ্যাতি করিল অপর অর্ধেক নিন্দা করিল। অবশ্য আর্ট সম্বন্ধে বিশেষ কিছু নয়। সে সব সমালোচনার কথা পরে সাক্ষাতে সব বলিব। তাহাদের সমালোচনা কতকটা বেশ শিক্ষাপ্রদ, আবার কতকটা যা তা।

শেষ দৃশ্য সম্বন্ধে দু'একটা কথা বলিব। শেষ দৃশ্য টা একেবারে খাটি হইয়াছে। যর্গনিকা পতনের বিলম্ব হইয়াছিল তাই নাটক ভাল করিয়া শেষ হইল বলিয়া বোধ হইল না। এ আমায় দোষ নয়, শেষ দৃশ্য শুধু ভাবাভিনয়ে সারিতে হইবে, ইহাতে যথেষ্ট দক্ষতার প্রয়োজন। কথা এই অভিনেতাদের ক্ষমতা উপর দৃষ্টি রাখিয়া সময় সংক্ষেপ করিতে হইবে। বেশীক্ষণ রাখিতে গেলেই অভিনেতাদের ক্ষমতার কুলাইবে না, আমার মতে এই ভাবাভিনয়ে চরিত্র যত ক্ষুট হইবে কথাব্যর্থায় তত হইবে না। যে যত দোষী তাহার ভঙ্গীতে ততই করুণার ছবি ফুটিয়া উঠিবে। সকলেরই পরস্পর সম্মতি রাখিয়া শেষ করিতে হইবে।

আমি যেন কেমন হয়ে গেছি। কি যে অসীম যন্ত্রণা ভোগ করছি তা কে বিশ্বাস করিবে? সমুদ্র ভ্রমণে না গেলে স্বস্তি নাই। ভগবান জানেন বেব হয়ে পড়বার লজ্জা আমি কত ভূষিত আছি। শীঘ্র এলে আমার এক বার দেখো তোমায় না দেখে তো আর বেব হতে পারবো না। অনেক কথা বলবার আছে যা দেখা না হলে নীরস পত্রে লেখা অসম্ভব।

গগলের নিজ কথাতাই তাহার নাট্যের চরিত্র সমালোচনার একটা মোটামুটি আশ্রয় দেওয়া গেল। নাট্যে দেশের অবস্থা এমন দেখানো অল্প কোন পাশ্চাত্য নাট্যে দেখি নাই। তাই এই পাশ্চাত্য নাট্য কথার প্রারম্ভে এই নাট্য ধানির সংক্ষিপ্ত পরিচয় দিলাম।\*

শ্রীজ্ঞানেন্দ্রনাথ চক্রবর্তী।

\* গগলের বিভিন্ন নামক নাট্যের যন্ত্রিত সম্পূর্ণ অমুদ্রিত রাণী নিরুপমা দেবী সম্পাদিত 'পরিচায়িকা' পত্রিকায় 'ভুল' নামে প্রকাশিত হইয়াছে। ক্লস সাহিত্যিক গোর্কির বহু গল্পও উক্তপত্রে প্রকাশ হইয়াছে। যন্ত্রিত ভট্টোভস্কি, গোর্কি প্রভৃতির সাহিত্য পরিচয় প্রবাসী, ভারতী প্রভৃতি পত্রের প্রকাশ হইয়াছে।



## বাদল-সাঁঝে

আজকে বাদল-সাঁঝে,—

কণ্ঠে আমার করুণ-সুরে  
বিরহ গান বাজে।

অবর-ধারে বাদল-ধারা  
ঝরছে আজি বাধন-হারা,—

চিত্ত খানি কেঁদেই সারা  
আঁধার ঘরের মাঝে।

আজকে বাদল-সাঁঝে।

এমন বাদল-দিনে,—

কেমন করে থাকব বল  
একলা প্রিয় বিনে।

বাদল-হাওয়া আকুল হয়ে  
কি কথা হার যায় গো করে,

লক্ষ স্মৃতি বেদন লয়ে  
জাপ্তে হিয়ার মাঝে

আজকে বাদল-সাঁঝে।

বেলা গুহ।

## তাজ। \*

কবির প্রথমনাথ, কাব্যপিপাসুদের প্রাণে অমৃতের  
ধারা ঢালিতে তাঁহার এই অপূর্ণ কাব্যগ্রন্থ “তাজ”  
লইয়া ভারতীর পুণ্য-মন্দিরে উপস্থিত হইয়াছেন।  
তাঁহার মধুবর্ণী কবিতার নুতন করিয়া পরিচয় দিবার  
কোনই আবশ্যকতা নাই। কবির বীণার মোহন-স্বাধায়ে  
মনে হয় যেন, “বসন্ত বুঝি আনন্দ বহি আসিয়াছে  
বসুধায়।”

কবি, লাভ লোকসানের হিসাব না করিয়া, ঝকঝকে  
মগাট, চক্চকে কাগজ, তক্তকে ছাপা এবং ‘মন্দেরা’  
কবিতার “তাজ” সাজাইয়া, মাত্র দেড় টাকা দক্ষিণায়  
সকলকে এই তাজের শোভা দেখিতে সুযোগ দিয়া-  
ছেন বলিয়া তিনি সাহিত্যাহুরাগী মাঝেরই ধন্তবাদ্যার্থী।

প্রথমনাথ, একাধারে কবি ও নাট্যকার। তাঁহার  
কবিতার নাটোর মাধুর্য্য এবং নাট্যে কবিতার সৌন্দর্য্য

প্রতিফলিত হয় বলিয়া তাঁহার রচনা এক অভূতপূর্ণ  
অপাত আনন্দের সৃষ্টি করে।

যখন সকল কবিই, ভারতের গৌরব, রূপের উৎস,  
প্রেমের বিজয়-স্বজা তাজের মাহাত্ম্য কীঠন করি-  
য়াছেন, তখন কবি প্রথমনাথই বা নীরব থাকিবেন  
কেন?

দরদী কবি, করুণ-মর্ম্মস্পর্শী-রাগিণীতে কাব্য-কুঞ্জ  
মুগ্ধরিত করিয়া গারিয়া উঠিলেন,—

“প্রথম প্রণয় সম শুভ শির অঙ্গে তুলি আন।

মর্ম্মের মর্ম্মর।—এই তাজ?”

কবির নিকট তাজ অনন্তরূপী, তাই নানা প্রবাহ  
অসিয়া চিত্তকে আকুল করিয়া তোলে। তাজের স্বরূপ  
খুলিবার লজ্জা কবির কল্পনা স্নানুসৃষ্টি, অনিত শক্তি ও  
অজের রহস্ত উদঘাটন করিবার অদম্য কৌতুহল লইয়া

\* এইরূপ প্রথমনাথ দ্বারা প্রণীত। কলিকাতা ২০১ কর্ণওয়ালিস স্ট্রীট, গুরুদাস চট্টোপাধ্যায় এণ্ড সন্স হইতে এইরূপ  
হরিনান চট্টোপাধ্যায় কর্তৃক প্রকাশিত। মূল্য ১৪০ টাকা মাত্র



ছুটিয়া চলিতেছে। কবি, একরূপে তাহার বর্ণনা করিয়া  
ভৃগু হইতে পরিতেছেন না, বনশ্চক্রে তাজের কত অপরূপ  
চিত্র ভাসিয়া উঠিয়া কবিকে বিভোর করিয়া দিতেছে।  
তিনি বিশ্বর-ব্যাকুল হৃদয়ে জিজ্ঞাসা করিতেছেন :—

“এ কোন্ বিরহী দেওয়ানা—

রাখিয়াছে প্রেমের নিশানা

খুলে' খুলে' বুকের পাঁজর,

জমাইয়া অশ্রুর সাগর

মর্যদের ইজ্জতাল করেছে নির্মাণ ?”

না,—

“কল্পসী বিধবা যেন ব্যর্থরূপে বুধা পায় লাজ।

ভূমি কি গো তারই ছবি তাজ ?

গম্বুজে গম্বুজে ছায়া-পরী

ভয়ে আছে মায়া-রূপ ধরি,'

মহলে মহলে ঘুরি' ঘুরি'

খোঁজে কারে বিরহিনী হরী ?

বিপন্নকী পারাবত গায় তার গান।

নিখিলের প্রিয়াহীন প্রিয়

আসে—পিয়ে বিষাক্ত অমিয়,—

হো হো, মেরা জান্, মেরা জান্ !

না, এখানে উন্মাদ ফরহাদ

করিতেছে যৌন-আর্তনাদ !”

কে জানে,—“ছবি না এ কবির নন্দন ?

নেশা না এ ভূয়ার ক্রন্দন ?”

কবির কল্পনা তাজের প্রত্যেক প্রস্তরখণ্ডের ভিতর  
প্রবেশ করিয়া জানিতে পারিয়াছে,—

“অন্ধ-প্রীতি পদগন্ধ প্রতি-শিলা মাঝ—

ধবলের স্বপ্ন ভূমি তাজ !”

এ যে পরমপাথরের মত লোহাকেও সোণা করিয়া  
দিতেছে।

“অরসিকে করিছ রসিক,

অপ্রেমিকে করিছ প্রেমিক,

বর্ষার কিরিছে হ'য়ে শুণী,

মুনি হ'য়ে কিরে বার খুনী।”

যত দিক দিয়াই কবি, তাজকে দেখিয়াছেন না কেন,

কেবলই তাঁহার মনে জাগিয়াছে, এ তাজ কাতর কাহিনীর  
প্রতিমূর্তি। ইহার পাথরের ভিতর হইতে প্রিয়া-বিরহ-  
বিধুর প্রণয়ীর মর্যভেদী আর্তনাদ ধ্বনিয়া উঠিতেছে—  
“হো হো, মেরা জান্, মেরা জান্ !”

যতদিন 'তাজ' জগতের বুকে “প্রেমের বিজয়-ধ্বজা”  
বলিয়া আপন গৌরবে জাগিয়া থাকিবে, ততদিন  
প্রমথনাথের এই অতুলনীয় “তাজ” কবিতাটিও বঙ্গ  
সাহিত্যে অক্ষয়-অমর হইয়া থাকিবে।

'তাজ' ব্যতীত আরও কয়েকটি মনোহর কবিতা  
এই পুস্তকে সন্নিবেশিত হইয়াছে। তন্মধ্যে কয়েকটির  
আলোচনা করিতে চেষ্টা করিব।

আমরা যে ভূমিতে জন্মগ্রহণ করিয়া বস্তু হইয়াছি  
সে ভূমি তুচ্ছ নয়।

“এ ভূমির প্রতি অণু-পরমাণু প্রেরণা, জীবনী।

ক্ষুদ্র তারে তুচ্ছ করে ; অভিশপ্ত নয় ত এ মাটি,

এই ধূলা ধরে' যদি থাকি যোরা প্রাণপণে ষাঁটি,

মরু ফেটে উচ্ছসিবে ভোগবতী—পতিত-পাবনী !

এ জাতি সাম্রাজ্য নয় ; কত সতী, সাধু মহাজন !

গাছ-পাথরের মুখে ভগবান্ কথা কন্ এসে,

সাথে রাজা রাজ্য ছাড়ি বনে বায় ভিখারীর বেশে ?

যুগে যুগে আসে জাতা শবে দেয় মৃত-সঞ্জীবন !”

কবির সাহিত্য আমরাও এ জাতির গৌরব,  
ভারতমাতার স্মৃতিস্তম্ভ গোবেল্লের উদ্দেশ্যে প্রণাম করিয়া  
করষোড় প্রার্থনা করি,—

“ঢাল ঢাল বরাভয়, মুক্তি লাগি মুক্ত-লোকবাসী !

ওপদাক-পদপুলি শিরে শিরে নির্যাতনের প্রায়।”

কবি, দ্বিজেন্দ্রলালকে চিনিয়াছেন, তাঁহার প্রাণের  
আকাজকা,—আমার এদেশেতেই জন্ম, যেন এদেশেতেই  
মরি' সম্যকরূপে বুঝিয়াছেন বলিয়াই লিখিতে পারি-  
য়াছেন,—

“বড় ভাগ্যে জন্ম নিলে, এই ভূমে ; কবির এ ঠাই,

বড় পুণ্যে বস্তু হয়ে, হ'লে তার ধূলাতেই ছাই।

ধূলি ত সাম্রাজ্য নয়, এ ধূলি যে কালের পঞ্জর,

ধূলি বাতা, ধূলি জাতা, ধূলি ধর্ম, ধূলিই জৈবর।”

জীবনটা এক 'মায়া-নাট্য',—



“এই ছিল! এই নাই! কোথা গেল? শূন্যে এ দ্বিজাসা,  
এপারের কাণ নাই, ওপারের নাই বৃক্ষি ভাষা!”

প্রতিদিন কত শত লোক জীবনের খেলা শেষ  
করিয়া কালের কোলে আশ্রয় লইতেছে, কি আশ্চর্য  
তবু কালের পক্ষ পূর্ণ হইল না!

“কত দেশ, কত জাতি, কত যুগ প্রাণ দিল ডালি,  
কালের গহ্বর তবু চিরদিন খালি—তুধু খালি!”

আত্মা অবিনশ্বর;—মৃত্যু ধ্বংস নয়, নবজীবনের  
বোধন; ইহা কবির কল্পনা নহে, এ যে তপঃসিদ্ধ মহা-  
পুরুষের অমোঘ-বাণী। এ বাণী কখন মিথ্যা হইতে  
পারে না। সাধারণ মানুষ এত দুর্বল যে, শোকের স্থির  
ধাক্কাতে পারে না, কিন্তু যিনি জানী তিনি জানেন,  
মৃত্যু সে যে ‘পল্লবিত অনন্ত জীবন’, ‘স্বধাকুণ্ডে আত্ম  
বিসর্জন’। এ পারে বাহা শূন্য পড়িয়া রহিল, যে  
বাসনা অপরূপ রহিয়া গেল, ওপারে তাহা পূর্ণ হইবে।  
তাই কবি, মিথ্যা শোক না করিয়া প্রিয়তম বন্ধুর  
উদ্দেশ্যে বলিতেছেন,—

“মস্ত করী সম ভাই, পশ গিয়া কমল-কাননে,  
মুক্তি-মান কর নীরে জ্ঞানাজন মাখ ছ’নয়নে।  
বীরে হ’বে প্রতিভাত, কুয়াশায় ছিল বাহা ঢাকি,  
ধরা দিবে মারা-মুগ জীবনে যা দিয়ে গেছে ফাঁকি!”

কি উদার—কি প্রশান্ত এ বাণী! সমগ্র প্রাণকে  
মুগ্ধ করিয়া দেয়; দুর্বলকে শোক বহন করিবার মহা-  
শক্তি প্রদান করে।

দেশের জনসাধারণের মত যে কিরূপ চঞ্চল, আজ  
বাহাকে প্রচার সর্বোচ্চ শিখরে তুলিয়াও তৃপ্ত হইতে  
পারিতেছে না, কালই আবার তাহাকে অবজ্ঞার অতল-  
গহ্বরে নিক্ষেপ করিতে বিন্দুমাত্র কুঠি বোধ করে না,  
এ ভাবটি ‘লোকমতের দোলা’ কবিতায় অতি সুন্দররূপে  
ছুটিয়া উঠিয়াছে।

কবি সত্যই বলিয়াছেন,—

“সাবাস্ রে তুই জন-মন,  
এই আশীষ, এই অভিশাপ  
কে জামে তোর কুলের মালা  
কখন হয় কালসাপ!”

“নববর্ষ কবিতাটি ভাব-মাধুর্য্যে উপভোগ্য।

“বেলা যুঁধিকার ঠোটে উৎসবের হাসি কোটে,  
মালঞ্চ কুলনা বাধে রঙ্গে,

আনন্দে নিদ্রাঘ বায় মাধবী-বঙ্গল গায়,  
ঢলে পড়ে কুমুমের অঙ্গে।”

বিশ্বের কলকোলাহলে নিজেকে বিলাইয়া দিতে,  
সকলের সহিত নিবিড় স্নেহের ডোরে বদ্ধ হইতে  
কবির হৃদয় সর্বদাই উন্মুখ! এখানেই কবি-প্রাণের  
বিশেষত্ব; তাই নববর্ষের আনন্দোৎসবের মধ্যে মিলন-  
কাজ্জকি তাহার হৃদয়ে বিশেষ করিয়া জাগিয়া উঠে,—

“সংসারের খেলা-ঘরে মিলেছিহু একান্তরে,  
কবে হয়েছিল দল ভঙ্গ?

সে কথায় কাজ নাই, তাই চিরদিনই তাই,  
অনাদৃত দাঁও পুন সঙ্গ।”

এ কথা বহু কবির নিকট বহবার সুনিলেও ইহা  
এত মধুর যে বারবারই শুনিতে ইচ্ছা হয়।

“ভারতবর্ষে দুর্গোৎসব” কবিতায়, কবি যে কামনা  
জ্ঞাপন করিতেছেন, আমরা আমাদের ক্রৌঞ্চকণ্ঠ তাহার  
উদাত্ত-গম্ভীরস্বরের সহিত মিলাইয়া বলি,—

“ধাবার ভেদিয়া মুনির জঙ্ঘা  
বহু পতিত-পানবী গঙ্গা,

এস গো শক্তি, কর মা স্পর্শ,  
জাগু আবাব ভারতবর্ষ।”

‘হোমরুগ’, ‘পরদেশী বধু’, ‘বিদায়-আশীর্বাদ’ ‘কবির  
উপহার’, ‘স্বস্তিবাচন’ প্রভৃতি কবিতায় কবির অন্তরের  
অন্তরতম প্রবেশের গোপন স্নেহের নিকরটির সন্ধান  
পাই। তবে—

“ও পিরারী কমল, তবে সত্যিই তোমার বিয়ে

বেচারি এই উমেদারকে ডাধা ফাঁকি দিয়ে?” ইত্যাদি,  
পংক্তিগুলি কোকিল-কুজন-মুখরিত কবির কমনীর  
কুঞ্জে বায়সের কণ্ঠস্বরের মত কর্কশ শুমায়। এগুলি বাদ  
দিলেই বোধহয় ভাল হইত।

“মধুমাসের মাননী” কবিত্ব সম্পদে উজ্জল। একটি  
অনাবিল আনন্দের বারি সমগ্র কবিতাটির ভিতরে



অপ্রতিহত গতিতে প্রবাহিত হইয়া ‘মধুসূদনের মানসী’কে  
অনুবৃত্ত শ্রীতে উদ্ভাসিত করিয়া তুলিয়াছে ।

কল্পনার লীলায়িত নৃত্যে, ভাবার জালিত্যে ও ছন্দের  
চাতুর্য্যে “বাণী” কবিতাটি পরম উপাদেয় হইয়াছে । ভক্ত  
বগন বাণী-মন্দির মুগ্ধরিত করিয়া আশ্বহারা হইয়া মা’র  
বন্দনা করেন,—

“লক্ষ্য-মরণ দুটি পায়ের মায়া-নুপুর দুটি  
সপ্ত ভুবন হ’তে আনলে সাতটি সুর লুট’ !  
বক্ষ হ’ল সাধন-বর্গ, জীবন হ’ল সেবার অর্থ্য,  
মা’য়ের মত জন্মভূমি—গেল সেদিন বুঝা,  
তুমিই প্রথম আনলে বিশেষ বিশ্বনাথের পূজা !”

তখন উহা শুধু হৃদয়কে অপূর্ণ ভক্তিরসে প্লাবিত  
করিয়াই দেয় না, বিলান্ত মনকেও শান্ত জ্ঞানের পথ  
প্রদর্শন করে ।

যে দেশের লোক অকাতরে “পরমা খেলে মামলার  
জুয়ার, বিলাস পুঞ্জায় পরিপাটি”, কিন্তু “কেতাব কিন্তে  
কড়ির অভাব” বোধ করেন, সে দেশের উন্নতি  
সুদূর পরাহত । তাই কবি, জাতীয় মঙ্গলযজ্ঞের পুরো-  
হিত, “মাতৃভাষার গ্রন্থকারের” হৃদিশা দেখিয়া হতাশ  
হইয়া পভার ভাষে, তীক্ষ্ণ বিজ্ঞপের সহিত বলিতেছেন,—  
“ছাপাও ছাপাও, গ্রন্থ ছাপাও, অমর হবে এইত স্বপ্ন,  
কেতাব কাটে না হয় কাটে, ভুলে যাও এ গজটুক !  
... ..

ছাপাখানার দেনার দায়ে মাথা বিক্ৰী, অস্থিসার,—  
ইনিই হচ্ছেন মরা-দেশের মাতৃভাষার গ্রন্থকার ।”

দেশের চারিদিকেই দুঃখ-দৈন্তের হাহাকার,—সে  
গভীর বেদনার আলা অহুমেয়, বর্ণনীয় নয় । তাই  
মরহী-কবি, “সৌধন বাংলার রঞ্জন লেখকদিগকে  
সাবধান করিয়া দিয়া প্রকৃত সভ্য কথা জানাইয়া  
দিতেছেন :—

“হৃদয়িক আর রোগে মারা  
দেশের—দেখাও জট-বৃষ্টি,  
গিন্টিকরা তোমার ভাষা  
আটের গিটবিধের ক্ষতি ।

পল্লী-উৎসব লিখছ ক’বে,  
পাড়ায় পাড়ায় দেখছো হাত,  
রঙ্গ না এ ব্যঙ্গ চিত্র ?  
নত হয় না লাজে আশ্রু ?”

“স্বপ্নশোধ” কবিতায় দেশের উৎপীড়ক স্বাক্ষর  
ও উৎপীড়িত ঋতকের সজীব চিত্র প্রদর্শিত হইয়াছে ।  
কবিতাটি এতই সহানুভূতি ও মমতার সহিত রচিত  
যে পড়িতে-পড়িতে অশ্রু সঞ্চারণ করা যায় না ।

“ও মহাত্মন গাঁয়ের গোঁসাই  
দেখ এসে গোয়াল-ঘরে  
ফাঁসী লটকে ঝালাস খাতক  
তোমার তাড়ায় দেনার ভরে ।”  
“গরীবের কি মা-বাপ আছে ;  
ক্ষাপার মত শূন্যে কাঁদা,  
ধর্ম্ম মহাজনের দোরে

দিয়াছে তার বিবেক বাধা ।”—

পাঠ করিয়া পাষণ্ড হৃদয়ও আত্ম না হইয়া  
পারে না ।

“চিকিৎসকের প্রতি রোগিনী” কবিতায় অবাধ-  
চিত্ত রূপ-পিয়ামী যুগ-ভক্তাবের লালসার স্রোতকে  
প্রেম-ময়নার স্পৃহনায় তরঙ্গিত্রে একটি সরলা নারীর  
আত্মদানের অগ্রস্তাণী পরিণাম ফল চিত্রিত হইয়াছে ।  
বর্তমান সামাজিক বিপ্লবের যুগে এ প্রকার কাহিনী  
বিস্মৃত করিবার প্রয়োজন হইয়া পড়িয়াছে ।

হৃদয় শিল্পার তুলিকা সম্পাতে “নারী” কবিতায়  
যে চিত্র প্রতিফলিত হইয়াছে, এ সেই সকল পাশ্চাত্য  
শিক্ষাভিমানিনী মুগ্ধা নারীর চিত্র নয় বাহ্যায়  
স্পিৎএর চশমা পরিয়া মজলিসে শোভা দেখাইতে-  
ছেন,—চশমার ফাঁকে তথাকথিত-প্রেমের ‘টপেডো’  
নিষ্ক্ষেপ করিয়া রাস্তার নিরীহ লোককে ব্যস্ত করিয়া  
তুলিতেছেন,—শরীরে এসে ইন্ডেক্স করিয়া বিলাসীতার  
চরম উৎকর্ষতা প্রমাণ করিতেছেন,—পায়ের বুটের  
আঘাতে প্রাচ্য সভ্যতাকে ক্ষত বিক্ষত করিয়া  
গৌরবের সহিত নিতীক চিত্তে জাতীয় আদর্শের  
বুকের উপর ‘ডবলমার্ক’ করিয়া চলিয়াছেন । এ সেই



নারীর চিত্র বাহ্যিক আশ্রয় করিয়া দেশ ধ্বংসের  
গ্রাস হইতে রক্ষা পাইতেছে,—এ সেট মহিষী  
মহিষায়ের নারী-জাতি বঁাহারা “নাশ্ছে রিষ্টি, রাধ্ছে  
হুষ্টি প্রলয় সম্মে সুখি।”

যে “রঙ্গমহাল” প্রেমের নর্য-বিলাস বলিয়া এককালে  
সকলের নিকট পরিচিত ছিল, ‘নিয়তির নির্যম বিধানে  
আজ তাহা স্মৃতির শাসন। এমন দিন ছিল, যখন  
ইহার প্রতি কক্ষ বীণানি নৃত্যকণ্ঠের মধুর সঙ্গীতে ও  
নর্তকিকণ্ঠের হৃদয়-নিকণ্ঠে মুখারত, গোলাববাগের প্রস্ফুট  
কুসুমসৌরভে সমগ্র ভবন থানি আয়োদিত এবং অগোক-  
সাযাত্রা রূপবতীদের রূপের প্রভাষ চতুর্দিক আলো-  
কিত হইত; কিন্তু সে সুখের দিন কুহেলিকার অন্তরালে  
আশ্রয় পাইয়াছে। আজ,—

“শূত্র যোন মহলে মহলে  
গম্বুজের ফাটলে ফাটলে

সাহায্যর হাছাঙ্গন তুহা তুধু উঠিছে উধাত।”

‘রঙ্গমহাল’ লালসার বিলাস-ভবন ছিল বলিয়াই বোধ  
হয় ইহার এই পরিণামে একটি সহায়ভূতির দীর্ঘশ্বাস  
ভিন্ন চিত্ত থানি আলোড়িত করিয়া কোন পতীর হৃৎ  
হুটিয়া উঠে না। কিন্তু ‘তাজ’ স্বপ্ন প্রেমের শুভ্রালোকে  
উদ্ভাসিত বলিয়াই আবহমানকাল মানব মনের প্রেমা-  
লাভ করিয়া আসিতেছে।

তাজকে অরণ করিলেই হৃদয়পটে সাজাহানের মূর্তি  
জাগিয়া উঠে,—এ সেই মায়ামুক্তাখচিত-মূল্যবানবসনে  
ভূষিত যোগল সম্রাট সাজাহান নয়,—এ প্রেমভিখারী  
বাউলবেলী প্রিয়াবরহবিধুর সাজাহান। আর সেই  
সঙ্গে গন্তরের নিভৃত-নিবাস কম্পিত করিয়া ধনিয়া উঠে,  
সেই অপূর্ণ প্রণয়ীর মর্মভেদী আর্তিনাদ—“হো হো,  
যেরা জান, যেরা জান।”

শ্রীশ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ।

## সাহিত্যিক-পত্র।

(স্বর্গীয় রায়বাহাদুর কালীপ্রসন্ন ঘোষ বিদ্যাসাগর,  
সি, আই, ই, মহোদয়ের নিকট লিখিত। তদীয় পৌত্র  
শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ মহাশয়ের নিকট প্রাপ্ত।)

৩০জনীকান্ত গুপ্তের পত্র।

শ্রীহার: শরণ্য।

কলিকাতা

১৭ই পৌষ ১৩০১

ইতিপূর্বে পত্র পাঠাইয়াছি। বোধ হয় উহা হস্তগত  
হইয়াছে। আপনার নূতন সংস্করণের নিভৃতচিত্তা  
আজ্ঞার সহকারে পড়িয়াছি। পড়িয়া পরম ক্রীত লাভ  
করিয়াছি। ভাওয়ালের রাজাবাহাদুর চিরকাল মাতৃ-  
ভাষার পরিপোষক। বাঙ্গালা সাহিত্যগত উন্নতির  
ইতিহাসে তাঁহার নাম চির-অরণীয় হইয়া থাকিবে।  
তিনি পরিষদের সভ্য হইলে পরিষদের গৌরব হয়। এ  
বিষয়ে বোধহয় তাঁহার অমত না হইতে পারে। আপনি  
এ বিষয় জানিয়া আমাকে লিখিলে বাঞ্চিত হইব।  
আপনার কৃপা সংবাদে সন্তোষিত করিবেন। ইতি

শ্রী৩০জনীকান্ত গুপ্ত।

শ্রীযুক্ত বিজেন্দ্রনাথ ঠাকুরের পত্র।

২০ চৈত্র

আনন্দপ্রসন্ন, রত্নপুর,  
জেলা বীরভূম।

প্রাণ:

অনেক দিনের পর আপনার হস্তাক্ষর আমার  
মনশ্চক্ষে আপনার সেই পূর্বতন মূর্তি আনিয়া দিল —  
তেতালায় যখন দুইজনে নিরিবিলি বসিয়া রাজা উজির  
বধ করিতেছি —সেই দিন মনে পড়িল। কিন্তু চর্ম-  
চক্ষের দেখা না হইলে আশা মেটে না। বা হোক —  
কালের গতির জ্ঞান আক্ষেপ বৃথা।

আপনার এ বয়সের বাহুব আমি পাই নাই।  
একখানি মাএ পত্র পাইয়াছি—বোধ করি দ্বিতীয় বারের  
পত্র। \* \* \* আমি এখন হস্তহীন old lion—  
শিকার অকুণ্ঠহ-করিয়া মূখ পড়িলে তবেই তাহা আমার  
ভোগে আসে। আমি এক প্রকার পিঞ্জরে বদ্ধ; যদি  
খালাস পাই তবে আপনার পত্রিকার রসম্ভোগগাইবার  
চেষ্ট দেখিব—কিন্তু এখন আমি পারিয়া উঠিতেছি না।

সৌহার্দ-ভায়ে বাধা

শ্রীবিজেন্দ্রনাথ ঠাকুর।

বহমানান্দ্র,

শ্রীযুক্ত কালীপ্রসন্ন ঘোষ

বাহুব-হুন্নীর, ঢাকা।



It is requested that all articles intended for publication may be sent to Professor S. N. Bhadra, Nyabazar, Dacca.

All business communications and all complaints regarding non-delivery of the Magazine should be addressed to—

*The Manager, "DACCA REVIEW,"  
5, Nayabazar Road, Dacca.*

*N.B.*—I take this opportunity of expressing our sincere gratitude to the numerous gentlemen of light and leading who have encouraged us in this venture, either by the assurance of their warm and sympathetic support or by offering to contribute to this Magazine. Among other we may mention the names of:—

- The Hon'ble Mr. P. C. Lyon, C.S.I.  
The Hon'ble Sir Harcourt Butler, K. C. I. E.  
The Hon'ble Nawab Syed Sir Shamshul Huda, K. C. I. E., M.A., B.L.  
The Hon'ble Sir Asutosh Mookerjee, Sastra Vachaspati Kt., C.S.I., M.A.,
- The Hon'ble Mr. H. LeMesurier, C.S.I., C.I.E., I.C.S.  
Sir Henry Wheeler, K. C. I. E.  
Mr. R. Nathan, B.A., C.S.I., C.I.E., I.C.S.  
Mr. H. Sharp, C.S.I., C.I.E., M.A.  
Sir N. D. Beatson Bell, C.S.I., C.I.E., I.C.S.  
Mr. J. Donald, C. I. E., I. C. S.  
Mr. W. W. Hornell, C. I. E., M. A.  
Mr. W. J. Reid, C.I.E., I.C.S.  
Mr. J. G. Cumming, C. S. I., C. I. E.  
F. C. French, C.S.I., I.C.S.  
W. A. Seaton Esq., I. C. S.  
D. G. Davies Esq., I. C. S.  
Ven'ble Archdeacon W. K. Firminger, M.A.  
Sir John Woodroffe.  
Sir John Marshall, K.C.I.E., M.A., LITT. D., F.S.A.  
The Hon'ble Mr. K. C. De, C.I.E., B.A., I.C.S.  
" Mr. L. Birley C. I. E., I. C. S.  
H. M. Cowan, Esq. I. C. S.  
J. N. Gupta Esq., M.A. I.C.S.  
W. L. Scott, Esq., I.C.S.  
Sir. J. C. Bose, C.S.I., C.I.E.  
W. A. J. Archbold, Esq., M.A., L.L.B.  
H. E. Stapleton Esq., M.A., B.Sc.  
Dr. P. K. Roy, D.Sc.  
Dr. P. C. Ray, C.I.E. M.A., D.Sc. (London)  
B. L. Choudhri, Esq., M.A., D.Sc. (Lond.)  
Mahamahopadhyaya Pundit Hara Prasad Sastri, C.I.E.  
Principal Evan E. Biss, M.A.  
Rai Kumudini Kanta Bannerji Bahadur, M.A.  
Rai Lalit Mohan Chatterji Bahadur M. A.  
J. R. Barrow, B. A.  
Professor R. B. Ramsbotham M. A., (Oxon).  
J. C. Kydd, M. A.  
W. Douglas, M. A., B. Phil., B. D.  
T. T. Williams M. A., B. Sc.  
Egerton Smith, M. A.  
G. H. Langley, M. A.  
Rai B. N. Das Bahadur, M. A. B.Sc.  
Debendra Prasad Ghose.
- Hon'ble Maharaja Bahadur of Dinagpur, K.C.I.E.  
The " Maharaja Bahadur of Cassimbazar, K.C.I.E.  
The Hon. Maharaja Bahadur of Nashipur.  
The " Raja Bahadur of Mymensing.  
Prof. J. N. Das Gupta, M.A., (Oxon).  
The Hon'ble Sir Devaprasad Sarvadhicari M. A.  
I. L. D. C. I. E.  
" Mr J. H. Kerr, C. S. I., C. I. E., I. C. S.  
" Mr. Justice B. B. Newbould, I.C.S.  
" Nawab Syed Nawab Ali Chowdhuri.  
" Babu Ananda Chandra Roy.  
J. T. Rankin Esq. I.C.S.  
G. S. Dutt Esq., I.C.S.  
S. G. Hart, Esq., M.A., I.C.S.  
F. D. Ascoli, Esq., M.A., I.C.S.  
J. McSwiney, Esq., M.A., I.C.S.  
W. R. Gourlay, Esq., C.I.E., I.C.S.  
T. O. D. Dunn Esq., M.A.  
E. N. Blandy Esq., I.C.S.  
D. S. Fraser Esqr, I.C.S.  
Rai Jamini Mohon Mitra Bahadur.  
Raja Monmotho Nath Rai Chaudhury of Santosh.  
Khan Bahadur Syed Aulad Hossein.  
Mahamahopadhaya Dr. Satis Chandra Vidyabhushan  
Kumar Sures Chandra Sinha.  
Babu Chandra Sekhar Kar, Deputy Magistrate.  
Jatindra M han Sinha, Deputy Magistrate.  
Harendra Nath Dutt, M. A., B.L.  
Rakhal Das Banerjee, Calcutta Museum.  
Hemendra Prosad Ghose.  
Akshoy Kumar Moitra.  
Jagadananda Roy.  
Binoy Kumar Sircar.  
Gouranga Nath Banerjee.  
Ram Pran Gupta.  
Dr. D. B. Spooner.  
Kunwar Sain Esq., M.A., Bar-at-Law  
Principal, Lahore Law College  
Khan Bahadur Syed Abdul Latif.



## CONTENTS.

---

|   |     |                     |     |    |
|---|-----|---------------------|-----|----|
| 1. Stevenson To-Day ...                   | ... | ...                 | ... | 76 |
| 2. The Message of Science ...             | ... | Sir Richard Gregory | ... | 76 |
| 3. By the shores of the North Pacific ... | ... | Charles E. Alford   | ... | 85 |

---

## সূচী ।

|                                  |     |  |     |    |
|----------------------------------|-----|--|-----|----|
| ১। ভগবৎ প্রকাশ ...               | ... | শ্রীযুক্ত গুরুদাস চক্রবর্তী ...                | ... | ৭৩ |
| ২। আরতি ( কবিতা ) ...            | ... | শ্রীযুক্ত নেপালচন্দ্র চক্রবর্তী, এম্-এ         | ... | ৭৫ |
| ৩। চিত্তরঞ্জিকা ...              | ... | শ্রীযুক্ত গিরিজাকান্ত ঘোষ                      | ... | ৭৫ |
| ৪। সেন্ট এণ্টোয়াইন ( গল্প ) ... | ... | শ্রীযুক্ত নলিনীমোহন রায় চৌধুরী, বি-এ          | ... | ৮১ |
| ৫। বরণ ( গান ) ...               | ... | শ্রীযুক্ত ত্রিপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি-এ             | ... | ৮৭ |
| ৬। হাদির সঙগাত ...               | ... |  |     | ৮৭ |
| ৭। অনন্ত রূপ ( কবিতা ) ...       | ... | শ্রীযুক্ত প্রাণকিশোর সান্যাল                   | ... | ৮৮ |
| ৮। ডালি ...                      | ... |  |     | ৮৯ |
| ৯। সপ্তমী-প্রাতে ( কবিতা ) ...   | ... | শ্রীযুক্ত আশুতোষ মুখোপাধ্যায়, কবিগুণাকর, বি-এ | ... | ৯০ |
| ১০। প্রতীক্ষা ( কবিতা ) ...      | ... | শ্রীযুক্ত সরোজকুমার সেন                        | ... | ৯০ |
| ১১। স্বতি-পূজা ...               | ... | শ্রীযুক্ত যোগেন্দ্রকিশোর রক্ষিত রায়           | ... | ৯১ |
| ১২। সাহিত্যিক গজ ...             | ... |  |     | ৯৪ |
| ১৩। গান ...                      | ... | শ্রীযুক্ত জীবেন্দ্রকুমার দত্ত                  | ... | ৯৪ |
| ১৪। শয়লিপি ...                  | ... | শ্রীযুক্তা মোহিনী সেন গুপ্তা                   | ... | ৯৫ |

---



# THE DACCA REVIEW.

VOL. XI.

AUGUST, & SEPT., 1921.

Nos. 5 & 6.

## STEVENSON TO-DAY.

Twenty-five years have passed since Stevenson's death and though on the whole his popularity persist the number of those who attack the accepted view of his genius with dark sayings and subdued negations is on the increase ; while the generation which has grown up with such tragic suddenness under war conditions finds itself regarding him with that attitude of kindly and agreeable patronage which is significant of more than youth's unconscious attitude towards the amiable indiscretions of its elders.

Much of this may be imputed to the mental prejudice of an age which prefers absolute attainment in one direction to comprehensive charm in a thousand, which applauds an idea as recklessly as its predecessor did homage to a moral. Possibly those of us who are too scientific to endure an effusive humanity in literature are in danger of overlooking the artistic elements in a most human writer. But the present-day conviction

that to mingle and not to mix emotions and ideas is the first rule of an artist's conduct is bound to find in Stevenson an abrupt denial.

In a more singular sense, too, was Stevenson symptomatic of his age ; his constitutional handicap is analogous to the physical placidity of the years in which he lived, when men occupied by the abstract processes of thought were bound to create for their own self-respect a world of action, which seems now theatrical, just because it was divorced from experience. It was a time which demanded so loudly that its knights should be knights that it made them into carpet-knights ; and its heroes in their large vague attitudes are rejected by those who have learnt at first hand what narrow elbow-room the heroic allows. Fact has not so much killed fancy as enlarged it, and is in the course of developing it, as a force of realism, into imagination. It has in Stevenson's case tamed the audacity of his romance, and converted the war he waged so fiercely against respectability in "The



Yellow Paint," "The House of Faith," and elsewhere into a mimic battle, in which the adversaries are a host of shades. Contrary to all precedent, the only romanticism generally acceptable to-day is that of experience. Sassoon's poetry, for instance, is preferred to Binyon's by the men who have closed with war; we note it as a fact rather than a reliable estimation, for Stevenson's case is not dissimilar. Not unnaturally his constant exhortation to manliness has lost its felicity in the strident company of recruiting sergeants; and he is forced by circumstances into the position of the talkative soldier who had to stay at home. An age composed largely of men who have been compelled to suffer in silence is apt to attribute such a voluble pluck to the nerves of a weakling. "I wish to die in my boots," he says, "no more land of counterpane for me. To be drowned, to be shot, to be thrown from a horse—aye, to be hanged, rather than pass again through that slow dissolution." To-day it sounds a trifle neurotic. Violence is not the fashion. Nor for that matter is optimism. Men's faith is less pretentious, and their wisdom less tolerant of the dishonourable consolations of sentiment. Stevenson lived and wrote on the principle that "no art was ever perfect, and not many noble, that has not been mirthfully conceived." We feel it to be the utterance of a man who has scarcely understood evil or the mistakes of providence; and although

"to miss the joy is to miss all," we are inclined to turn his sword on himself and set him seeking the pulse of joy that must beat its tense vitality behind all the perfect art of sorrow. He detested the "literature of woe," but without discrimination, and though his romanticism was a faculty of optimism, we cannot find in it any such cosmic impulse as moved Whiteman or Rabelais or Shakespeare to ecstasies of grief or ribaldry. Too often it strikes us as a forced laugh to hide a Calvinistic frown.

Stevenson's entirely natural genius was the story-teller's. It was, indeed, the only aptitude in which he was instinctively an artist, and one which expressed itself not only in the masterly plot, but in the minute particulars of incident out of which he shaped those unforgettable descriptions, too numerous to instance, or made geography alive and mystical, as in his picture of the Bay of Monterey and the ocean-haunted, mist invaded land about it. It was in "Treasure Island," "Kidnapped," "The Wrecker," that he took middle-aged gentlemen as often as schoolboys on princely adventures which asked nothing of the mind; and it is only his temporary misfortune that we to-day have had enough of obvious adventure, and that "brute incident" has cost too much in shattered limbs for men to take an immediate pleasure in it. But on such adventures he could well have gone on conducting them



with indefinite success. He preferred however to submit himself to the training without which such a limited gift could never be turned into the working matter of a great novelist. It was in the narrative school of Dumas, the romantic of Scott, and the sentimental and anecdotal of Sterne that he studied most industriously.

To a great extent he was bound to compromise his natural gift in the process or training it for higher things. Much of his work therefore can only in fairness be regarded as the product of a diligent apprenticeship, and one which necessitated too much struggle to express the repose of art which is the other side of the conflict. And he, who was ever his own best critic, never ceased to see beyond "better stuff." Endowed with too many gifts, he had to spend twenty years in sorting them and creating a working agreement between them. His very facility in the stringing together of episode proved his worst enemy when he had to deal with character. Often it led him to introduce incidents at wrong moments, sometimes prayers, sometimes journal narratives of piratical breggadocio as wild interludes to tragedy, sometimes a false grimness in an hour of farce, or to develop a plot or a character along too many lines of advance. Where his native genius had the freest play, in the short story as, "The Merry Men," or the dramatic or picturesque incident, or where his devices are judged in themselves as

pieces of perfect workmanship, he attained not rarely the supreme form and language of art; but not until "Weir of Hermiston," (if we except the ecstatic farce of "The Wrong Box") was the discipline complete, and his genius and his experience united on a large canvas. It is indeed tragic that such an education should have been, so far as we are concerned, for naught.

In the process, however, Stevenson created a hundred things which, beyond the ways of art, are a contribution to and a solace for humanity; and we may do well to consider briefly the temperament of a man who went to the arduous school of style, not, as often happens, because he had so little, but because he had so many things to say. In the first place, he was ever a boy. His writing is a game, in which he never quite lost himself enough to avoid trying to better his play instead of allowing the spirit of play to better him; others however he always wished to lose themselves in the game. We like to see him playing with his toys; but it is a game in which we are seldom tempted to share. He hated that spectatorial attitude which is wisdom's posture in all ages, and to avoid it he would often take his readers too much into his confidence for his own and his subject's dignity. There is a subtle foolery about the very telling of "The New Arabian Nights"; and his narratives and journals are the creative rambles of a boy, preferably "with a



bull's-eye under his topcoat." The boy, too, is his only entirely successful embodiment of manhood, while it is the child in him that renders his sensitive egotism so strangely indiscriminating that it vibrates towards the general attributes of men, rather than the peculiar qualities of genius, or blesses him with that immediate forgetfulness of suffering which we interpret as pluck. His very sermonizing is the trait of the precocious child, enthusiastically didactic in the face of all propriety—as in the midst of the villain's wanderings to insert ; "And how true it is, as the Church tells us, that the Truths of Religion are, after all, quite applicable to daily affairs." Indeed his childishness grew to the something of an evolved philosophy ; frequently it was not spontaneous, frequently it had the ritual of a religion, and we fear the presence of the prig. But he is saved by his irrepressible fancy, which made morality sportive, and by a taste epicurean enough to serve such solid fare daintily. It was the child too that still created awful horror out of wind and darkness in "Thrawn Janet" and "The Body Snatchers," when a man's mind could control an almost animal instinct to order.

His senses were possibly more finely frivolous than those of any man who has attained to eminence in literature, and they rendered him only too susceptible to life's incessant triviality. Thereby his Romanticism suffers. The

Romantic movement made claim to a vast amount of new material which, from favouring the conception of elemental forces in life, came to be degraded to conventional or fanciful uses. To this degree Stevenson's whims too often consumed him, where the true Romantic flood should have swept him beyond their little importunity. He was both too immaculate and too fanciful to write in the great Romantic tradition ; and though as a story-teller all his sympathies were with Scott, where Scott worked in landscapes he worked in blades of grass, where Scott lurched and stumbled, paying the inconvenient penalty of gainthood, he planted his feet with scrupulous exactitude. The classical in him which urged craftsmanship compromised the Romantic, which cried out for audacious instinct. So the creatures of his fancy, if they were freed from some form of social conscience, usually became types of stage property. We can scarcely believe that his pirates, who were novel in their day, were not always part of the equipment of the world's nursery. They have hardened into a convention like Gilbert and Sullivan operas, and we are a little tired of their obvious manner. They have become characters not of fear, but of ridicule. Teach has in good earnest made himself "a perfect figure of fun" ; and these stamping, roaring, toasting, strutting emblems of impossible villainy trouble our peace no more. Even the walking of the plank has



lost all his awful solemnity for a generation bred up on "Peter Pan." The dead pirates of his creation are indeed more potent than the living—we confess to a shiver at the name of Flint; they are like the terror waiting behind the closed door which haunted Stevenson's mind. But of all his tricks of fear, perhaps "the tapping of Pew's stick" is most fated to frequent the nightmares of posterity.

But in a wider sense Stevenson could not learn the great novelist's secret of creating the plot which is its own commentary; and in his commenting he had too much humanity for humour, and too little humour for wit. Wise he was, but in that common sense that religion may welcome but Art must refuse. He elaborated an idea until it deceived people with an appearance of cleverness. Rationalism he would have thought both cold and tedious; and wit must indeed be masterly to be both kind and cunning, as Lamb's was. While his talk is more brave than brilliant, his ideas lack the ruthlessness of either whole-hearted antagonism or support; and a want of ultimate vitality, an assumption of activity beyond his powers, suggest unreality in his most headstrong moments. Thus, splendidly sympathetic, as he is, to all the turmoil of the sea, he is its pulse more than its master; we are still less comfortable when he tries so gallantly to play the man of the world in the Latin Quarter, or as the *bon vivant* to taste

Nepan wine and interpret life and art in the terms of the dinner table. Our peace of mind is continually shattered by a foreknowledge of the weakness of his stomach; and the pose, he is attractive enough to admit, was "merely ridiculous in me." But the circumstance raises the question of his physique; and though it is common tradition that, that to ill-health we owe his writing, that, given robustness, he would have roved far seas and climbed high hills, yet, despite his ancestry, it is just possible that this physical inadequacy created in him the idea of adventure, so much more original and tremendous than the fact, endowing with the audacity of literature one who would, under other conditions, have forsworn the audacious in life; and that, unlike the Elizabethans, he wished to burn life up in a blaze because fate had given him so little to put on the fire. Yet certainly it was physical frailty that saved him from beating the moral drum too loud, even if it robbed his style of power, and forced it merely to assume the bluff manners of robustness. He was magnanimous to error and failure, as a man who has known much sickness can be; and his tenderness, like that of Mrs. Weir, was the rational return of one who always needed love desperately. Few egoists have been less self-sufficient, and it was chiefly his sense of dependency that led him to eschew the outpost duty of the pure artist, and console his frailty amid the cheerful company of



men. Possibly the democratic principles of a Scottish education favoured such a tendency ; and it offered him at least the opportunity for those shrewd summaries of men—American, Causasian, Indian, French artist, epileptic, or miser. For sketching humanity in the rough he had a deft pencil ; nor is his own sympathy ever insular. He can say of the Chines, "Their forefathers watched the stars before mine, and begun to keep pigs." But we see its limitation in his failure to appreciate the stout sufficiency of a Thoreau. Certainly the melancholy of the Celt and the Calvinist haunted the confines of his soul, and from them, as from his debility, his only desire was to escape.

Criticism, however, has been too long prejudiced by his pathos : it is the compliment that Stevenson would least have appreciated. That "low and last estate" of his, which intrigued the sympathies of thousands in "Ordered South," despite its jovial setting between "Aes Triplex" and "An Apology for Idlers," drew an attention out of all proportion to its significance ; and the spectacle of a sick man so triumphantly preaching the doctrine of health was astounding enough to perpetuate the prejudice. But to understand the handicap of ill-health and the influence it had upon his work is one thing ; to involve our criticism in a like handicap is the mere folly of sentiment. The true fighter, whether of spiritual or material battles, does not invite sympathy. Such a one

was Browning ; and the difference between him and Stevenson we would prefer to consider, not as a quality of health, but of stature, of which the one possessed a man's, the other, despite his assumption of maturity, a child's. The battles of the child are almost always pathetic. And while Stevenson's cheerfulness was not so much a self-satisfaction as a necessity, there was a Celtic strain in him which preferred "to continue to fail in good spirits" to the pitiless posture of success.

It was again largely his sense of dependency that led him to appeal to sentiment more often than to truth ; his was the intense sensibility of the man of overwrought nerves to the logic of every suggestion, however flaccid. He might well have heeded his own warning : "When we discern that we can no longer be true, the next best is to be kind." The response to sentiment is doubtless much more general and immediate ; but it can involve its manipulator in such artistic bathos as to say, in the very vision of a vast pine-forested ravine, a foaming river, and a sky coloured with the fires of dawn, "I am usually very calm over the displays of nature, but you will scarcely believe how my heart leaped at this. *It was like meeting one's wife*" ; or again, to inscribe on the august tablet of an Aurelius, "Here lies one who meant well, tried a little, failed much." Only occasionally could he observe with both pity and accuracy. It is his virtue as a man,



his weakness as an artist. Often he would tap at wrong moments the easy reservoir of reminiscence; yet few, we must admit, could express such reminiscence more dramatically, as in the pictures that throng Markheim's mind above the corpse of his victim, or the stream of the past which he prisons so awesomely in the person of Olalla; or with more exquisite dignity in "We are not content to pass away entirely from the scene of our delight; we would leave, if but in gratitude, a pillar and a legend."

The munificence of his sympathy, as much as the instinct of his blood impelled him to those secondary moral ideas, which, unlike the elemental principles of Hugo or Scott, merely depressed the spirit of his Romance, and confused his vision. His mysticism is both too mild and too wide to pierce often into the inner chamber of the soul; and the interests of a moral, notably in "The Strange Case of Dr. Jekyll and Mr. Hyde," were apt to complicate even his cunning. But something both of the mystic and of the casuist in him, as the tale of his childhood shows, left him never content to draw a man and trust to the figure's innate significance. He "wished to draw a soul," and we feel to our loss the groping of his anxious fingers. Certainly few finer sermons exist than "Old Mortality," and few finer parables than "Will o' the Mill," but when the preacher is cast from his pulpit into a world of

active men, his motions, as with David Balfour, are apt still to be a little parochial.

Yet though Stevenson loved "a young man of a solid gravity of character", the elf element in him that was at home with "Brownies" and the comrade element that sought only "gentleness and cheerfulness" combined to relieve the rigour of the catechist. He preferred competent vice to incompetent virtue. It was thus the hybrid nature of his egotism that preserved it from tediousness, and his introspection was never solitary enough to be morbid, nor so subtle as to destroy his initiative. Yet it could limit his capacity for heroic creation; he tells how as a boy "I was a bit puzzled and hardly knew whether it was myself or the world that was curious and worth looking into. Now, I know, it is myself, and stick to that," and later, "The first duty of heroic is to be of your own choosing. When they are not that, they are nothing." Such a choice necessitates a truly catholic audacity in the chooser; and it explains why his own immature and frustrated manhood handicapped him so much in the creation of men. They are either "the connoisseur of sunrises", like Dr. Desprez or of theatrical effects, like St. Ives—attitude which can only be truly heroic in youth, or they express "the school-master that there is in all men to the despair of all girls and most women", or their manliness is falsely emphasized by a suggestion of the



repellent. For Stevenson seldom imagined a good man who was not a sentimentalist, or a villain who did not lose consequence through his creator's covert admiration. He could never hate nor love to the exclusion of all else. And so his villains are almost as unconvincing as his heroes. Like Milton he was too much attracted by Satan to do justice to a Messiah. For "in my eagerness to be all things to all men, I am afraid I may have sinned against proportion." Yet it was just another failure to sin against proportion that destroys his artist's expression of humanity. He was too widely sympathetic, he lacked the fine vice of prejudice, or the momentary disenchantment of disgust, which made Villon the poet. It is the vital taking of sides, if only for an intense unbalanced moment, that makes the universally minded artist. Stevenson was rather a manifoldly minded man—he was always too just to every point of view to express a single one for ever.

To this may be imputed his long inadequacy in the treatment of love as a passion, or of woman as a creature of impulse. The exclusive tyranny of love he was long too prudent to admit. The elemental in a woman's nature his timidity sought to avoid. Is not the courageously genial advice of "Virginibus Puerisque" that of a middle age which has taken love comfortably in its day, and is it not also the advice of a young man of twenty-five in the heyday

of his world? Almost wistfully in his gossip on a Dumas novel does he pay homage to the 'fair women of others' creation; and yet he could write

I was totally in love. She came between me and the sun. She had grown suddenly taller, as I say, but with a wholesome growth; she seemed all health and lightness and brave spirits; and I thought she walked like a young deer, and stood like a birch upon the mountains.

It is the old language of the Celtic world, which here and on the lips of South Sea Islanders, or in the reckless rout of "The Merry Men", or amid the Highland waste, broke out in this ever diverse man to astound our most austere opinions, and in a profounder way spoke that passionless fatalism which in a moment can tumble down his barricade of optimism.

Such are some of the features of the man which led him to a compromise possibly uncongenial to the art of to day. In the short story his art found a province narrow enough to dominate; in the novel it could only command the situation at intervals, and the "large features of Antiquity", were too massive for its scrupulous fingers. Certainly the inadequacy of mere craft to produce an approximation to truth or to construct the anatomy of life is nowhere more clearly illustrated than in "Prince Otto", where craft is at its height. The sculptury was so often at war with the architecture. Yet of peerless incident



he is the master, whether it be of Seraphina in the pine forest between the waterfall and the dawn, or Bernard Huddleston, the absconding banker, or the waste of marsh that creeps about Gillane sands, or that cry in the woods of Treasure Island which is the most masterly ghost story ever enacted in broad daylight.

He was too generally communicative to write great poetry, as he was too honest with the world as it is, and too devoted to the world as it never could be, ever to create that world of ultimate possibility which is art's. He wrote poetry much as he wrote letters, and sometimes it was mere restlessness that would not be still, but preferred an expansive charitable twaddle to nothing yet his "Child's Garden of Verse" has the peculiar virtue of being in a real sense written by a child. His criticism is always penetrative, though he is typically more anxious to contest the profligacy of Burns the man than to reveal his perfection as a poet. As a simple essayist, his improvident sympathy, without imperilling his construction, emboldened him to tell him cheerfully of her imperfections: and of his

last superb fragment, the hand of death spared enough to persuade us that the victory over his own diversity had been won.

Yet beyond the scruples of any age we value him for the ideal of decency which he preached. He preferred life to a sad questing after immortality, but it was to be a life of honest manners, of goodly fellowship; and he could tell of it without any of "the freezing immunities of the pulpit." A sick man—how proudly he excites us to an admiration of health; a child—how lovingly he understood the difficulties of a scheming world; a moralist—how pleasantly he bore the burden of a creed; a slow worker how heartily he pleads for idleness and how nobly he acclaims impetuosity. He knew "those small circumstances which seem nothing to another, and are yet the very gist of a man's own life to himself." It may be a humble knowledge, but it is of more utility to men at large than many an abstruse philosophy. We and posterity can only offer our gratitude to an author who puts us so much at our ease, who does not pretend to difficulty, but tries to combine truth with affection.



## THE MESSAGE OF SCIENCE.<sup>1</sup>

BY SIR RICHARD GREGORY.

It is just forty years ago, at the York Meeting in 1881, that a committee was appointed "to arrange for a conference of delegates from scientific societies to be held at the annual meetings of the British Association, with a view to promote the interests of the societies represented by inducing them to undertake definite systematic work on a uniform plan." The Association had been in existence for fifty years before it thus became a bond of union between local scientific societies in order to secure united action with regard to common interests. Throughout the whole period of ninety years it has been concerned with the advancement and diffusion of natural knowledge and its applications. The addresses and papers read before the various sections have dealt with new observations and developments of scientific interest or practical value ; and, as in scientific and technical societies generally, questions of professional status and emolument have rarely been discussed. The port of science—whether pure or applied—is free, and a modest yawl can find a berth in it as readily as a splendid merchantman, provided that it has a cargo to discharge. Neither the

turmoil of war nor the welter of social unrest has prevented explorers of uncharted seas from crossing the bar and bringing their argosies to the quayside, where fruits and seeds, rich ores and precious stones have been piled in profusion for the creation of wealth, the comforts of life, or the purpose of death, according as they are selected and used.

All that these pioneers of science have asked for is for vessels to be chartered to enable them to make voyages of discovery to unknown lands. Many have been private adventurers, and few have shared in the riches they have brought into port. Corporations and Governments are now eager to provide ships which will bring them profitable freights, and to pay bounties to the crews, but this service is dominated by the commercial spirit which expects immediate returns for investments, and mariners who enter it are no longer free to sail in any direction they please or to enter whatever creek attracts them. The purpose is to secure something of direct profit or use, and not that of discovery alone, by which the greatest advances of science have hitherto been achieved.

To the man of science discoveries signify extensions of the field of work, and he usually leaves their exploitation to prospectors who follow him. His motives are intellectual advancement, and not the production of something from which financial gain may be

---

<sup>1</sup> Abridged from the presidential address delivered to the Conference of Delegates of Corresponding Societies of the British Association at Edinburgh on September 8.



secured. For generations he has worked in faith purely for the love of knowledge, and has enriched mankind with the fruits of his labours; but this altruistic attribute is undergoing a change. Scientific workers are beginning to ask what the community owes to them, and what use has been made of the talents entrusted to it. They have created stores of wealth beyond the dreams of avarice, and of power unlimited, and these resources have been used to convert beautiful countryside into grimy centres of industrialism, and to construct weapons of death of such diabolical character that civilised man ought to hang his head in shame at their use.

Mankind has, indeed, proved itself unworthy of the gifts which science has placed at his disposal, with the result that squalid surroundings and squandered life are the characteristics of modern Western civilisation, instead of social conditions and ethical ideals superior to those of any other epoch. Responsibility for this does not lie with scientific discoverers, but with statesmen and democracy. Like the gifts of God, those of science can be made either a blessing or a curse, to glorify the human race or to destroy it; and upon civilised man himself rests the decision as to the course to follow. With science as an ally, and the citadels of ignorance and self as the objective, he can transform the world, but if he neglects the guidance which knowledge can give, and

prefers to be led by the phrases of rhetoricians, this planet will become a place of dust and ashes.

Unsatisfactory social conditions are not a necessary consequence of the advance of science, but of incapacity to use it rightly. Whatever may be said of captains of industry or princes of commerce, scientific men themselves cannot be accused of amassing riches at the expense of labour, or of having neglected to put into force the laws of healthy social life. Power—financial and political—has been in the hands of people who know nothing of science, not even that of man himself, and it is they who should be arraigned at the bar of public justice for their failure to use for the welfare of all the scientific knowledge offered to all. Science should dissociate itself entirely from those who have thus abused its favours, and not permit the public to believe it is the emblem of all that is gross and material and destructive in modern civilisation. There was a time when intelligent working men idealised science; now they mostly regard it with distrust or are unmoved by its aims, believing it to be part of a soul-destroying economic system. The obligation is upon men of science to restore the former feeling by removing their academic robes and entering into social movements as citizens whose motives are above suspicion and whose knowledge is at the service of the community for the promotion of the greatest good. The public mind



has yet to understand that science is the pituitary body of the social organism, and without it there can be no healthy growth in modern life, mentally or physically.

This conference of delegates provides the most appropriate platform of all those offered by the British Association from which a message of exhortation may be given. There are now 130 corresponding societies of the Association, with a total membership of about 52,000, and their representatives should every year go back not only strong with zeal for new knowledge, but also as ministers filled with the sense of duty to inspire others to trust in it. In mechanics work is not considered to be done until the point of application of the force is moved; and knowledge, like energy, is of know practical value unless it is dynamic. The scientific society which shuts itself up in a house where a favoured few can contemplate its intellectual riches is no better than a group of misers in its relations to the community around it. The time has come for a crusade which will plant the flag of scientific truth in a bold position in every province of the modern world. If you believe in the cause of disciplined reason you will respond to the call and help to lift civilised man out of the morass in which he is now struggling, and set him on sound ground with his face toward the light.

It is not by discoveries alone, and the records of them in volumes rarely

consulted, that science is advanced, but by the diffusion of knowledge and the direction of men's minds and actions through it. In these democratic days no one accepts as a working social ideal Aristotle's view of a small and highly cultivated aristocracy pursuing the arts and sciences in secluded groves and maintained by manual workers excluded from citizenship. Artisans to-day have quite as much leisure as members of professional classes, and science can assist in encouraging the worthy employment of it. This end can be attained by co-operative action between local scientific societies and representative organisations of labour. There should be close association and a common fellowship, and no suggestion of superior philosophers descending from the clouds to dispense gifts to plebeian assemblies. It should also always be remembered that a cause must have a soul as well as a body. The function of a mission-hall is different from that of a cinema-house or other place of entertainment, and manifestations of the spirit of science are more uplifting than the most instructive descriptive lectures.

Science needs champions and advocates in addition to actual makers of new knowledge and exponents of it. There are now more workers in scientific fields than at any other time, yet relatively less is done to create enthusiasm for their labour and regard for its results than was accomplished fifty



years ago. Every social or religious movement passes through like stages, from that of fervent belief to formal ritual. In science specialisation is essential for progress, but the price which has to be paid for it is loss of contact with the general body of knowledge. Concentration upon any particular subject tends to make people indifferent to the aims and work of others; for, while high magnifying powers enable minute details to be discerned, the field of vision is correspondingly narrowed, and the relation of the structure as a whole to pulsating life around it is unperceived.

As successful research is now necessarily limited for the most part to complex ideas and intricate details requiring special knowledge to comprehend them, very special aptitude is required to present it in such a way as will awaken the interest of people familiar only with the vocabulary of everyday life. In the scientific world the way to distinction is discovery, and not exposition, and rarely are the two faculties combined. Most investigators are so closely absorbed in their researches that they are indifferent as to whether people in general know anything of the results or not. But where one person will exercise his intelligence to understand the description of a new natural fact or principle a thousand are ready to admire the high purpose of a scientific quest and reverence the disinterested service rendered by it to

humanity. The record of discovery or description of progress is, therefore, only one function of a local scientific society; beyond this is the duty of using the light of science to reveal the dangers of ignorance in high as well as in low places. Though in most societies there is only a small nucleus of working members, the others are capable of being interested in results achieved, and a few may be so stimulated by them as to become just and worthy knights of science, ready to remove any dragons which stand in the way of human progress, and continually upholding the virtues of their mistress.

Every local scientific society should be a training ground for these Sir Galahads, and an outpost of the empire of knowledge. The community should look to it for protection from dangers within and without the settlement, and for assistance in pressing further forward into the surrounding woods of obscurity. At present it is unusual for this civic responsibility to be accepted by a scientific society, with the result that local movements are undertaken without the guidance necessary to make them successful. A local scientific society should be the natural body for the civic authority to consult before any action is taken in which scientific knowledge will be of service. It should be to the city or county in which it is situated what the Royal Society is to the State, and not a thing apart from public life and affairs.



When wisdom is justified of her children, and local scientific societies are no longer esoteric circles, but effective groups of enlightened citizens of all classes, they will provide the touchstone by which fact is distinguished from assertion and promise from performance. As the sun draws into our system all substantial bodies which come within its sphere of influence, while the pressure of sunlight drives away the fine dust which would tend to obscure one body from another, so a local scientific society posess the power of attracting within itself all people of weight in the region around it and of dispersing the mist and fog which commonly prevail in the social atmosphere. Thus may the forces of modern civilisation, moral and material, be brought together, and an allied plan of campaign be instituted against the armies of ignorance and sloth. The service is that of truth, the discipline that of scientific investigation, and the unifying aim human well-being. Kingsley long ago expressed the democratic basis upon which this fellowship is founded; and when he delivered his message artisans were crowding in thousands in Manchester and other populous places to lectures by leaders in the scientific world of that time. Labour then welcomed science as its ally in the struggle for civil rights and spiritual liberty. That battle has been fought and won, and subjects in bitter dispute fifty years ago now repose in the limbo of forgotten things.

There is no longer a conflict between religion and science, and labour can assert its claims in the market-place or council house without fear of repression. Science is likewise free to pursue its own researches and apply its own principles and methods within the realm of observable phenomena, and it does not desire to usurp the functions of faith in sacred dogmas to be perpetually retained and infallibly declared. The Royal Society of London was founded for the extension of *natural* knowledge in contra-distinction to the *supernatural*, and it is content to leave other philosophers to describe the world beyond the domain of observation and experiment. When, however, phenomena belonging to the natural world are made subjects of supernatural revelation or uncritical inquiry, science has the right to present an attitude of suspicion towards them. Its only interest in mysteries is to discover the natural meaning of them. It does not need messages from the spirit world to acquire a few elementary facts relating to the stellar universe, and it must ask for resistless evidence before observations contrary to all natural law are accepted as scientific truth. If there are circumstances in which matter may be divested of the property of mass, fairies may be photographed, lucky charms may determine physical events, magnetic people disturb compass needles, and so on, by all means let them be investigated, but the burden of proof is upon those who



believe in them and every witness will be challenged at the bar of scientific opinion.

We do not want to go back to the days when absolute credulity was inculcated as a virtue and doubt punished as a crime. It is easy to find in works of uncritical observers of medieval times most circumstantial accounts of all kinds of astonishing manifestations, but we are not compelled to accept the records as scientifically accurate and to provide natural explanations of them. We need not doubt the sincerity of the observer even when we decline to accept his testimony as scientific truth. The maxim that "seeing is believing" may be sound enough doctrine for the majority of people, but it is insufficient as a principle of scientific inquiry. For thousands of years it led men to believe that the earth was the centre of the universe, with the sun and other celestial bodies circling round it, and controlling the destiny of man, yet what seemed obvious was shown by Copernicus to be untrue. This was the beginning of the liberation of human life and intellect from the maze of puerile description and philosophic conception. Careful observation and crucial experiment later took the place of personal assertion and showed that events in Nature are determined by permanent law and are not subject to haphazard changes by supernatural agencies. When this position was

gained by science, belief in astrology, necromancy, and sorcery of every kind began so decline, and men learned that they were masters of their own destinies. The late war is responsible for a recrudescence of these medieval superstitions, but if natural science is true to the principles by which it has advanced it will continue to bring to bear upon them the piercing light by which civilised man was freed from their baleful consequences.

There is abundant need for the use of the intellectual enlightenment which science can supply to counteract the ever-present tendency of humanity to revert to primitive ideas. Fifty years of compulsory education are but a moment in the history of man's development, and their influence is as nothing in comparison with instincts derived from our early ancestors and traditions of more recent times grafted upon them. So little is known of science that to most people old women's tales or the unsupported words of a casual onlooker are as credible as the statements and conclusions of the most careful observers. Where exact knowledge exists, however, to place opinion by the side of fact is to blow a bubble into a flame. Within its own domain science is concerned not with belief—except as a subject of inquiry—but with evidence. If claims the right to test all things in order to be able to hold fast to that which is good. It declines to accept popular beliefs as to thunderbolts ; living frogs



toads embedded in blocks of coal or other hard rock without an opening, though the rock was formed millions of years ago and all fossils found in it are crushed as flat as paper ; the inheritance of microbic diseases ; the production of rain by explosions when the air is far removed from its saturation point ; the influence of the moon on the weather or of underground water upon a twig held by a dowser, and dozens of like fallacies, solely because when weighed in the balance they have been found wanting in scientific truth. Its only interest in mysteries is that of inquiring into them and finding a natural reason for them. Mystery is thus not destroyed by knowledge but removed to a higher plane.

Never let it be acknowledged that science destroys imagination, for the reverse is the truth. "The Gods are dead," said W. E. Henley,

"the world, a world of prose,  
Full-crammed with facts, in science swathed  
and sheeted,  
Nods in a stertorous after-dinner doze !  
Plangent and sad, in every wind that blows  
Who will may hear the sorry words repeated :—  
"The gods are dead."

It is true that old idols of wood and stone are gone, but far nobler conceptions have taken their place. The universe no longer consists of a few thousand lamps lit nightly by angel torches, but millions of suns moving in the infinite azure, into which the mind of man is continually penetrating further. Astronomy shows that realms of celestial light exist where darkness was supposed

to prevail, while scientific imagination enables obscure stars to be found which can never be brought within the sense of human vision, the invisible lattice work of crystals to be discerned, and the movements of constituent particles of atoms to be determined as accurately as those of planets around the sun. The greatest advances of science are made by the disciplined use of imagination ; but in this field the picture conceived is always presented to Nature for approval or rejection, and her decision upon it is final. In contemporary art, literature, and drama imagination may be dead, but not in science, which can provide hundreds of arresting ideas awaiting beautiful expression by pen and pencil. It has been said that the purpose of poetry is not truth, but pleasure ; yet, even if this definition be accepted, we submit that insight into the mysteries of Nature should exalt, rather than repress, the poetic spirit, and be used to enrich verse, as it was by some of the world's greatest poets—Lucretius, Dante, Milton, Goethe, Tennyson, and Browning. With one or two brilliant exceptions, popular writers of the present day are completely oblivious to the knowledge gained by scientific study, and unmoved by the message which science is alone able to give. Unbounded riches have been placed before them, yet they continue to rake the muck-heap of animal passions and stir the froth of sloppy sentiment for themes of composition. Not by



their works shall we become "children of light," but by the indomitable spirit of man ever straining upwards to reach the stars.

Where there is ignorance of natural laws all physical phenomena are referred to supernatural causes. Disease is accepted as Divine punishment to be met by prayer and fasting, or the act of a secret enemy in communion with evil spirits. Because of these beliefs thousands of innocent people were formerly burnt and tortured as witches and sorcerers, while many thousands more paid in devastating pestilences the penalty which Nature inevitable exacts for crimes against her. In one sense it may be said that the human race gets the diseases it deserves ; but the sins are those of ignorance and neglect of physical laws rather than against spiritual ordinances. Plague is not now explained by supposed iniquities of the Jews or conjunctions of particular planets, but by the presence of an organism conveyed by fleas from rats : malaria and yellow fever are conquered by destroying the breeding places of mosquitoes ; typhus fever by getting rid of lice ; typhoid by cleanliness ; tuberculosis by improved housing ; and most other diseases by following the teachings of science concerning them. Though the mind does undoubtedly influence the resistance of the body to invasion by microbes, it cannot create the specific organism of any disease, and the responsibility of showing how to keep

such germs under control, and prevent, therefore, the poverty and distress due to them, is ascetic rather than a spiritual duty.

The methods of science are pursued whenever observations are made critically, recorded faithfully, and tested rigidly, with the object of using conclusions based upon them as stepping-stones to further progress. They demand an impartial attitude towards evidence and fearless judgment upon it. These are the principles by which the foundations of science have been laid, and a noble structure of natural knowledge erected upon them. A scientific inquiry is understood to be one undertaken solely with the view of arriving at the truth, and this disinterested motive will always command public confidence. It is poles apart from the spirit in which social and political subjects are discussed : it is the rock against which waves of emotion and storms of rhetoric lash themselves in vain. If political science were guided by the same methods it would present an open mind to all sides of a question, weighing objections to proposals as justly as reasons in support of them, whereas usually it sees only the views of a particular class or party, and cannot be trusted, therefore, to strike a judicial balance. The methods of science should be the methods applied to social problems if sound principles of progress are to be determined. When they are so used a statesman will be judged, as



a scientific man is judged, by correct observation, just inference, and verified prediction; in their absence politics will remain stranded on the shifting sands of barter, concession, and expediency.

Local scientific societies should provide a common forum where workers with hand or brain can meet to consider new ideas and discuss judiciously the significance of scientific discovery or applied device in relation to human progress. At present such societies are mostly out of touch with these practical aspects of knowledge, and are more interested in prehistoric pottery than in the living world around them. Most of those connected with the British Association are concerned with natural history, but all scientific societies in a district should form a federation to proclaim the message of knowledge from the house-tops. Men are ready to listen to the gospel of science and to believe in its power and its guidance, but its disciples disregard the appeal and are content to let other minister to the throbbing human heart. Civilisation awaits the lead which science can give in the name of wisdom and truth and unprejudiced inquiry into all things visible and invisible, but the missionary spirit which would make men eager to declare this noble message to the world has yet to be created.

This is as true of the British Association itself as it is of local scientific societies. It seems to be forgotten that

one of the functions of the Association is to inspire belief and confidence in science as the chief formative factor of modern life, and not only to display discoveries or enable specialists to discuss technical advances in segregated sections. Though members of the Association may be able to live on scientific bread alone, most of the community in any place of meeting need something more spiritual to awaken in them the admiration and belief which beget confidence and hope. They ask for a trumpet-call which will unite the forces of natural and social science, and are unmoved by the parade of trophies of scientific conquests displayed to them. It was the primary purpose of Canon W. V. Harcourt, the chief founder of this Association and its general secretary from 1831 to 1837, to sound this note for "the stimulation of interest in science at the various places of meeting, and through it the provision of funds for carrying on research," and not for "the discussion of scientific subjects in the sections." In the course of time these sectional discussions have taken a prominent place in the Association's programme, and rightly so, for they have promoted the advancement of science in many directions; but, while we recognise their value to scientific workers, we plead for something more for the great mass of people outside the section-rooms, for a statement of ideals and of service, of the strength of knowledge and of



responsibility for its use. These are the subjects which will quicken the pulse of the community and convert those who hate and fear science and associate it solely with debasing aspects of modern civilisation into fervent disciples of a new social faith upon which a lever made in the workshops of natural knowledge may be placed to move the world.

## BY THE SHORES OF THE NORTH PACIFIC.

BY CHARLES E. ALFORD.

### I.

There is something about the sea-shore that appeals to almost everybody—even to those who otherwise take no interest in the wonders of Nature; indeed, the joy of delving amid the pools of some rocky beach, and unravelling the secrets revealed by the ebbing tide, is a pleasure that remains with us long after the days of spade and bucket have passed into oblivion.

Unfortunately the British public, though they will travel many miles to admire the landscape of some foreign land, care all too little for the beauties of their own. And though the Old Country can still boast many magnificent stretches of coast-line, the few remaining beauty-spots are slowly but surely vanishing before a 'civilisation' that prefers the jangle of a 'jazz band' to the cry of sea-birds and the soft music of the waves.

Happily, however, there still remain a few corners of the earth where, far from the din of nigger minstrels, we may listen, undisturbed, to the voice of Nature; and a short description of the little bays and creeks of Vancouver Island, in the North Pacific, and some of the queer objects to be found upon their beaches, may not be without interest to those whose seaside rambles are perforce restricted to the shores of our native land.

Vancouver Island forms the southernmost and largest of a long chain of islands that extends down the western coast of Canada, from the Skeena River to as far south as the International Boundary. It is separated from the mainland of British Columbia by Queen Charlotte Sound, Johnstone Strait, and the Gulf of Georgia, the last-named scarcely thirty miles across at its greatest width, and thickly studded with rocky islands—some of them mere reefs, where only the sea-birds make their homes; others as large and fertile as the Isle of Wight, and the abode of many prosperous settlers.



The climate of Vancouver Island is very similar to that of Great Britain, though the summers in the southern half are drier and brighter, whilst most of the rain falls during the winter months. The scenery is magnificent—that of the interior, with its dense forests of fir, turquoise, lakes and great blue misty mountains, recalling somewhat the wilder regions of Scotland; whilst the coast-line, dented throughout its length with rocky bays and frowning gorges, is said to rival in its rugged grandeur even the fiords of Norway.

Viewed from the sea, the rough, shaggy beauty of these little boys almost baffles description—the smooth sandy beach, littered with the prostrate forms of giant trees that have drifted from the lumber-mills during the winter's gales; the bold rocky headlands; and, towering in the background, the cold gray cliff, its fir-clad summit showing warm and green against the blue of an Italian sky.

The waters seem bewitched, so still are they, and so crystal-clear that deep down amid the fairyland of shells and pebbles one can spy the yellow starfish sprawling on the ocean-bed; and in the darker, greener depths vague gliding forms that mingle with the shadows, and tiny streaks of silver that flash and vanish beneath the weeds.

## II.

Mauve starfish. I never knew such queer things existed until one day, at

low tide, I came upon a little beach so covered with these pretty creatures that it was difficult to walk without crushing one at every step. Apart from their strange colour, they were not unlike their British cousins; and just as the yellow coat of our own familiar species matches the golden shores of the Motherland, in the same way the mauve of these beautiful asteroids blends perfectly with the soft gray sands of the North Pacific.

A starfish that would create some sensation on an Old Country beach is *Pisaster papulosus*, an enormous five-rayed creature, orange-yellow in colour, measuring nearly two feet in diameter. It is seldom to be met with on the shore; but if we row out a little distance and then peer downwards through the limpid water we shall surely see it, sprawling in a great bloated heap on the gravelly bottom.

It may not be generally known that each arm of a starfish is, to a certain extent, capable of a separate existence; that each is equipped with an eye, a rudimentary gut, and reproductive organs; and that, if one arm be removed, another will grow from the stump of the amputated limb.

One of the most interesting objects of the sea-shore is the clam, a small bivalve about the size of an oyster, that may be found at low water, embedded in the surface of the mud. Owing to its delicate flavour, it is much in request as an article of food, and is familiar



to most people in the form of clam chowder—an appetising dish, very popular in Canadian hotels.

The calm has a curious habit of squirting jets of water into the air, the stream sometimes attaining a height of two feet or even more; and to sit on some quiet beach when the tide is low, whilst all around thousands of these little jets play into the air like miniature geysers, and the whole muddy shore seems to squelch and ooze with movement, is an experience that makes one realise the teeming mass of life which everywhere surrounds us; that there is, in truth, scarcely a grain of sand that is not tenanted by some living, breathing organism, lowly though it may be.

Perhaps one of the strangest sights to be seen in this part of the world is the masses of jelly-fish that congregate, during the summer months, in some of the more sheltered waters along the coast. There are several species, the commonest being rather a small creature, about the size of a saucer, transparent and quite colourless, but very beautiful when examined closely. They are to be found chiefly at the mouths of inlets and harbours, and in some places swarm in such millions as to make the surface of the water one seething mass of jelly. When viewed from a little distance the actual jelly-fish are not readily seen, owing to their transparency; but each individual makes a ring on the surface exactly

resembling a rain-drop, and the appearance of these millions of rings on the water is so suggestive of a shower as frequently to mislead the uninitiated into the belief that it is raining.

The seaweed of the North Pacific is strange-looking stuff, known locally by the name of kelp. It consists of a brown rope-like stem, twenty to fifty feet in length, bearing at its extremity an onion-shaped fruit which rests upon the surface of the water, and from which depends a bunch of ribbon-like leaves not unlike the familiar seaweed of the Old Country. The whole stem is best likened to an inverted whip, the handle or thick end—about three inches in diameter—resting on the surface, and tapering downwards towards the roots, where it is not much thicker than a stout piece of string. It is extremely strong, and in an emergency makes an excellent substitute for rope. In summer the kelp grows in large clumps from rocky bottoms, and, owing to its great length, is of service to navigators in marking the situation of submerged reefs. With the approach of autumn, however, it becomes detached from the rocks, and drifts about on the surface in snake-like masses, large quantities frequently being cast up on the shore during the winter's gales.

It is not often that one meets with an octopus, save amid the pages of a story-book; but not long ago I discovered one of these brutes stranded on a sandy beach, some little distance from the water's edge. It was of a reddish-



brown colour, with arms about three feet long—not a large specimen when compared with the monsters having tentacles over twenty feet in length; albeit an evil-looking beast, whose presence in the water would hardly add to the enjoyment of a bathe. When I prodded it the creature emitted a quantity of dark fluid, but it was otherwise quite defenceless, having by some accident become detached from the rocks which are its natural home, and to which it clings with remarkable tenacity by means of the suckers on its arms. I tested the power of these suckers by placing a stick against one of the arms, which at once coiled round it, and held on with such an iron grip that it was only by using considerable force that I could make the creature release its hold. With seven such arms firmly planted on a submerged rock, and the eighth coiled round the limb of some unsuspecting bather, one can readily imagine the hopeless plight of the victim, should he be seized by one of the larger members of this family. It is said, however, that the octopus will rarely attack a man.

Of the smaller fry, crabs, barnacles, mussels, periwinkles swarm everywhere; tiny minnowlike fishes and fat 'bullheads' disport themselves in the rocky pools; and green slippery eels flap and wriggle beneath the weeds. There are, indeed, few of our familiar friends of the Old Country beaches that may not be found

in equal abundance on these distant shores.

### III.

Yet, with all its varied inhabitants, the sea shore would be but a wilderness were there no birds to cheer us on our rambles. The presence of our feathered friends adds life and beauty to any landscape, and along these lonely beaches their sweet companionship is especially welcome.

The pretty gray and white belted kingfisher (*Ceryle alcyon*), one of the most delightful birds in all Canada, is our constant companion; there is, indeed, scarcely a yard of beach along the entire coast that is not included in the fishing-ground of one of these charming creatures, for each individual has its own particular beat, beyond the confines of which it seldom ventures. A resounding splash is generally the first indication that we have of his presence, and we may be just in time to see the little angler emerge from the water, his quarry grasped crossways in his bill, and wing his way to the branch of some rotten tree near the water's edge, which is in all probability one of his favourite fishing-posts. Here the victim is hammered to death, and jerked round in the long pointed bill until it is in a convenient position for swallowing. Sometimes the quarry is nearly half the size of its captor, but that appears to make no difference; a few quick gulps will usually settle the



business, and down goes the fish, head first into the capacious interior of *Ceryle alcyon*. The meal finished, our little friend elevates his beautiful black crest, gives his feathers a shake, and with a loud, laughter-like cackle flies off to try his luck at some other favoured spot.

Another entertaining companion is the crow, a bird that in these parts is becoming almost as marine in its habits as the gulls, and at low water may always be found either exploring the rocks for the shell-fish on which it feeds, or stalking about the beach in search of any garbage that may have been washed up by the tide. It is a most amusing creature, very wary and deliberate in its actions, and, like others of its family, extremely intelligent. When it finds a shell too tough for its beak to tackle, the crow flies with it into the air and drops it on to the rocks below ; and if the shell is not broken at the first attempt, it is again carried aloft and dropped from a still greater height, until it does crack.

Science tells us that the actions of animals are governed solely by instinct ;

that they are unable to reason, because they are devoid of intellect ; and that it is the possession of this quality that places man so far above beasts in the scale of creation. Speaking, not as a scientist, but as a close observer of nature, I should say that it is not so much the possession of intellect but rather the high state of development it has attained in man that entitles him to his place above other living creature ; that animals can and do reason ; and that the crow's method of breaking shells is evidence not only of a definite chain of reasoning but of a high degree of intelligence.

Whether, however, it be intellect or merely instinct that determines the actions of our animal friends, it is quite evident that their impulses and emotions can be just as deep and beautiful as our own ; whilst a knowledge of the life-histories of many creatures must surely make even the most self-satisfied amongst us pause and consider whether the human animal, with all his intelligence, is really such a very superior being.







# তাকারিভিউ ও সাম্বালা

১১শ খণ্ড | ঢাকা—ভাদ্র ও আশ্বিন, ১৩২৮। | যে ও ৬ষ্ঠ সংখ্যা

## ভগবৎ প্রকাশ।

ঈশ্বর সর্বব্যাপী এই চিন্তাটি বড়ই আশ্চর্যজনক ; ইহা প্রমাণ ও সত্যতা বর্জিত নহে। যিনি এই বিশ্ব সৃষ্টি করিয়াছেন, সকল ধারণা করিয়া আছেন, তাঁহার শক্তি সর্বত্র ও অকুণ্ঠ। তাই যাহা সৃষ্টি করিয়াছেন সর্বদা তাহার সঙ্গে থাকিয়া সব রক্ষা ও পালন করিতেছেন। কোনও স্থান ও কালকে তাহা হইতে পৃথক করিয়া কি কল্পনা করিতে পারি ? তাহা হইলেই ত জগৎ স্বতন্ত্র ও নিরপেক্ষ হইল। তাহা হইলেই তাঁহাকে সীমাবদ্ধ করিলাম—তাঁহার রাজত্বকে সীমাবদ্ধ করিলাম এবং তাঁহার পূর্ণতা অস্বীকার করিয়া তাঁহার ঈশ্বরত্বই অস্বীকার করিলাম। যিনি সর্বত্র আপন কার্য করিতেছেন তিনি সকল স্থানেই রহিয়াছেন। আমরা অনেক উপায় দেখি বাহার মধ্য দিয়া ঈশ্বর কার্য করেন—কিন্তু কোনও উপায়ই তাঁহা হইতে স্বতন্ত্র ও পূরে নহে। তিনি সকল যন্ত্রের মধ্যে যন্তী হইয়া রহিয়াছেন। সকল উপায় ও আয়োজনের মধ্যে নিয়ন্তা হইয়া রহিয়াছেন, দেবতার কোটি যোজন দূরে ঈশ্বরআদেশ পালন করিতে পারেন, কিন্তু কে তাহাদিগকে আশ্রয়

দিয়া ধরিয়া রাখিয়াছে ? ঈশ্বর অগ্নিময় বায়ু জলময় কি অগ্নিময় করিতে পারে না ? প্রাণস্ত প্রাণ চক্ষুশ্রবণ শ্রবণ শ্রবণ ; ( তিনি প্রাণের প্রাণ, চক্ষের চক্ষু, শ্রবণের শ্রবণ ) ঈশ্বাশ্রয় ইদং সর্বং সংকীর্ণং জগত্যাং জগৎ ( এই জগতে বাহ্য কিছু বস্তু দেখিতেছি, সমুদয় ঈশ্বর দ্বারা আচ্ছাদিত রহিয়াছে ) ; ঈশ্বরমগ্নিমাশ্রয়ে তেলো-মগ্নমহ মৃতময়ঃ পুরুষঃ সর্বাশ্রয়ঃ। ঈশ্বরমগ্নিমগ্নিমাশ্রয় তেলোমগ্নমহ মৃতময়ঃ পুরুষঃ সর্বাশ্রয়ঃ।

(যে তেজময়, অমৃতময়, সর্বজ্ঞ পুরুষ, অনন্ত আকাশে যে তেজময়, অমৃতময়, সর্বজ্ঞ পুরুষ, এই আশ্রয়ে তিনি।)

মহামতি Paul সেই কথাই প্রতিধ্বনি করিতেছেন, “we move, live and have our being in him.” (আমরা ঈশ্বরেই বিচরণ করি, তাঁহাতেই জীবন ধারণ করি, তাঁহার মধ্যেইত আমাদের অস্তিত্ব।) ঈশ্বর সর্বব্যাপী—এই কথা দ্বারা যেন কেহ মনে না করি যে, তাঁহার বিশেষ প্রকাশ মানুষ পাইতে পারে না। একজন সাধু বলেন :—

“This idea of omnipresence does not



exclude that of a local manifestation of the deity in which he peculiarly, shows forth his glory ; and without the idea of such a manifestation we could scarcely conceive the personality and still less the vision of the Divine Being.” ঈশ্বর সর্বব্যাপী হইলেও তিনি বিশেষ ভাবে ও ব্যাপারে আপন মহিমা প্রকাশিত করেন। এই বিশেষ প্রকাশের ধারণা ব্যতীত ঈশ্বর দর্শনের ভিত্তি কথাই নাই, ঈশ্বরের ব্যক্তিত্বেও আমরা বিশ্বাসী হইতে পারিতাম না।

আমরা যতই হিরচিত্ত ও শুদ্ধস্ব হই ততই ঈশ্বর সর্বব্যাপী এই সত্য ক্রমে অনুভব করিতে পারি। সকল স্থানেই সমান ভাবে তিনি আছেন ; কিন্তু আমরা পরিমিত, সকলস্থানে একভাবে তাঁহার উপলব্ধি আমাদের পক্ষে সম্ভব নহে। কিন্তু নানা ভাবে নানা স্থানে নানা অবস্থার মধ্যে সময় সময় তাঁহার উজ্জ্বল প্রকাশ দেখি। ইহা ধর্ম-জীবনের নিত্য অভিজ্ঞতা। একই ঘরে কখনও বা শূন্যতা দেখি, কখনও বা পূর্ণতা দেখি। একই মুখে কখনও বা দেবতা দেখি, কখনও সাধারণ ভাব দেখি। দেহাতীত দেশে এই নিত্য জ্যোতিতে বাস করা সম্ভব কিনা জানি না। কিন্তু এই দেখে থাকিয়া তাঁহার উজ্জ্বল নিত্য বিজ্ঞানতাকৈ কে বহন করিতে, কে সহ্য করিতে পারে ? ভগবানের পবিত্র ও উজ্জ্বল মন্দিরে সর্বদা বাস করিতেছি। এই মন্দিরে যে কেবল আমি বাস করি তাহা নহে ;— তাঁহার বাস করিবার জন্য আবার আমি তাঁহার মন্দির।

এই বিশেষ প্রকাশ বিশ্বাস করি বলিয়াই ধর্ম মন্দিরে বিশেষ সময়ে সকলে সমবেত হই। বিশেষ দিনে তাঁহার

বিশেষ প্রকাশের জন্য ব্যাকুল হই। দশ জনের হৃদয়ের অনুপ্রাণের মধ্যে তাঁহার বিশেষ জ্যোতি দেখি।

সঙ্গীত ও বাক্য দিয়া কেন পূজা করি ? অন্তরতমে : জন্য হৃদয়ের বাক্যসীন প্রার্থনাই ত যথেষ্ট। কিন্তু চিত্ত, শব্দ ও বাক্যের আকার ধারণ করিলে মনের গতিকে সাহায্য করে। চিত্ত স্থির করিবার ইহা প্রকৃষ্ট উপায়। সকলের সম্মিলনে হৃদয়ের ভাবকে বিশেষ ভাবে জাগ্রত করে। যখন বাসনা দুর্বল হইবে, চক্ষু ও হস্ত অবশ হইবে, তখন হৃদয়ের উপাদানাই থাকিবে। আমরা শিশু তাই শিশু হইয়া সঙ্গীত ও শব্দ, বাক্যের পূজার থালা সাজাইতেছি।

ঈশ্বর আমাদের নিকটেই আছেন এই অনুভূতিই আমাদের পক্ষে যথেষ্ট নহে, কেবল ইহাতেই স্তুতি হইতে পারি না। আমরা জীবনের উদ্দেশ্যে ও ভাবে দিন দিন তাঁহার নিকট হইতে পারিলে আরও স্তুতি হইবে। জীব জন্তু ইত্যাদি সকলেই তাঁহার পরিবেষ্টনে আছি ; কিন্তু তবুও তাহারা ঈশ্বর-বিহীন জীবন যাপন করে। আমরা অন্য প্রকার সঙ্গ চাই, শুধু তাঁহার আবেষ্টনে আছি জানিয়াই সন্তুষ্ট হইতে পারি না। ঈশ্বর আশাদিগকে খুশী উন্নত ও মহান অধিকার দিগছেন। সজ্ঞানে তাঁহার অভিপ্রায় ও ইচ্ছার সঙ্গে একাত্ম হইলেই তাঁহার নিকটতম হইলাম, মানব জীবনের সার্থকতা হইল। তাঁহাতেই বিচরণ করি একথা বলিলেই যথেষ্ট হইল না ; সমগ্র হৃদয়ের সঙ্গে বলিতে হইবে তাঁহারই জন্য, তাঁহারই অভিপ্রায় পূর্ণ করিবার জন্য জীবন ধারণ করি। তাঁহাতেই আমাদের আশা, তাঁহাতেই আমাদের শান্তি ও আনন্দ। সন্তানের মত প্রেমে যে একতা ও হৃদয়ের যোগ তাহাই আমরা প্রার্থনা করি।

শ্রীগুরুদাস চক্রবর্তী।



## আরতি ।

মন্দির আজি নন্দিত মুহু নির্মল ধূপ-গন্ধে,  
উজ্জ্বল কল চঞ্চল মুহু বঙ্কিত শত ছন্দে,  
রবাব মুরজ মুরলী বিতানে,  
অমৃত কণ্ঠে ভাবাহীন গানে,  
বন্ধ স্মরিয়া লক্ষ ধারার তস্তির স্মৃতি ধরে—  
তব এ আরতি হে ভুবনপতি বিশ্ববেদীর' পরে !

কল্পিত কত শক্তি হৃদি মন্দির-দ্বারে হর্ষে—  
অঞ্জলি ভারি অন্তরঙ্গরঞ্জিত-লাজ বর্ষে—,  
বেদনা-দগ্ধ পূত শত ডালি  
অঁধি জলে দিল ও চরণে ঢালি—  
অশ্রু তাঁদের মুছায়ে দিলে কি নির্মল কম করে ?  
মঙ্গল তব আরতি হে দেব বিশ্ববেদীর' পরে !  
শ্রীনেপালচন্দ্র চক্রবর্তী ।

## চিত্তরঞ্জিকা

২। ৩ বৎসর পূর্বে পুরাতন কাগজ পত্র ঘাটিবার সময়ে দুই সংখ্যা “চিত্তরঞ্জিকা” দৈবায় প্রাপ্ত হই। এসংবাদ শ্রদ্ধেয় ত্রীযুক্ত কেমারনাথ মজুমদার মহাশয়কে বলি। তিনি এ সময়ে সংবাদ পত্রের ইতিহাস সঙ্কলন করিতেছিলেন। তাঁহারই অনুরোধে আমি সংক্ষেপে ‘চিত্তরঞ্জিকা’ সম্পর্কে একটা ক্ষুদ্র সন্দর্ভ লিখিয়া দেই। কেমার বাবু তাঁহার গ্রন্থে ‘চিত্তরঞ্জিকার’ সেই সংক্ষিপ্ত বিবরণ প্রকাশ করিয়াছেন। বলা বাহুল্য, ইতঃপূর্বে ঢাকার সাহিত্য বা অন্তর কোথাও ‘চিত্তরঞ্জিকার’ নাম-গন্ধও ছিল না।

‘চিত্তরঞ্জিকা’ সম্পর্কে কোনও কথা লিখিবার পূর্বে, আমরা ‘চিত্তরঞ্জিকার’ সমসাময়িক ঢাকার সাময়িক সাহিত্য সম্পর্কে সংক্ষেপে দু'একটা কথা বলিব।

ঢাকা-নির্মাল স্কুলের সংশ্রবে প্রতিষ্ঠিত “মনো-রঞ্জিকা-সভার” মুখপত্র মনোরঞ্জিকা (১) ঢাকার সর্ব প্রথম সাময়িক পত্র। ইহা দীর্ঘকাল স্থায়ী হয় নাই।

(১) আমরা “মনোরঞ্জিকার” কোনও সংখ্যা প্রাপ্ত হই নাই। ব্যক্তিগত সাক্ষ্য-প্রমাণ ও কবিতাকুসুমাবলীর বিজ্ঞাপনেই “মনোরঞ্জিকার” অস্তিত্ব সপ্রমাণ করিতেছি।

২৫পর কবিতাকুসুমাবলী (২) প্রকাশিত হয়। “চিত্তরঞ্জিকা” ‘কবিতাকুসুমাবলীর’ পরবর্তী হইলেও, উভয় পত্রিকাই ঢাকার সাময়িক-পত্র সাহিত্যের প্রথমযুগে প্রকাশিত হইয়াছে।

ঢাকায় প্রথম সংবাদ পত্র “ঢাকা-প্রকাশও” এই সময়ে প্রকাশিত হয়। পাঠক “সোম প্রকাশ” ও “ঢাকাপ্রকাশ” এবং “মনোরঞ্জিকা” ও “চিত্তরঞ্জিকার” নাম সাদৃশ্য লক্ষ্য করিয়া থাকিবেন। মিত্র কবি হরিশ্চন্দ্রে “অবকাশ রঞ্জিকাও” এই যুগের মাসিক পত্রিকা।

কলিকাতার সাময়িক সাহিত্যে তখন মাসিক “প্রভাকরের” একচ্ছত্র রাজত্ব—প্রভাকর পত্র-পত্র। ঢাকাতেও সেকালে একখানি পত্রময়ী পত্রিকার অভাব ছিল—“চিত্তরঞ্জিকা” সেই অভাব দূরীকরণোদ্দেশ্যেই।

“চিত্তরঞ্জিকা” ১৭৮৪ শকের বা ১২৬৯ সনের ১লা জ্যৈষ্ঠ তারিখে প্রকাশিত হয়। এই পত্রময়ী পত্রিকাখানি কতকাল ধরাপুটে ছিল, তাহা এখনও জানিতে পারি

(২) “কবিতাকুসুমাবলী” সম্পর্কে ইতঃপূর্বে বগড়া-সাহিত্য সম্মিলনে ও দোহাটী-সাহিত্য পরিষদে দুইটি প্রবন্ধ পাঠ করিয়াছি। উভয় প্রবন্ধের সারমর্ম স্বত্ত্ব প্রবন্ধে, “ঢাকা-স্মৃতিও” পত্রে প্রকাশিত হইয়াছে।



নাই। পূর্বোক্ত দৈবলক দুই সংখ্যা “চিত্তরঞ্জিকা” আমার বর্তমান প্রবন্ধ রচনায় প্রধান অবলম্বন। ঢাকার সাহিত্যের কোন লিখিত ধারাবাহিক ইতিহাস নাই—আমাদের মনসী লেখকেরাও এই বিষয়ে উদাসীন। সুতরাং আমরা ঢাকার সাহিত্যের বৎসামাত্র উপকরণও উপেক্ষার চক্ষে দেখিতে পারি না—পারি না বলিয়াই, সামাত্র উপকরণ লইয়াই বক্ষ্যমাণ প্রবন্ধ রচনার হস্তক্ষেপ করিয়াছি। বাঁহারা ঢাকার সাহিত্যের ধারাবাহিক ইতিহাস সঞ্চলন করিবেন, এ ক্ষুদ্র প্রবন্ধও, ভরণ্য করি, তাঁহাদের উপকারে লাগিবে।

চিত্তরঞ্জিকার আকার ডিমাই ৮ পেজী (অষ্টাংশিত) ২ কণ্ঠা ১৬ পৃষ্ঠা। ঢাকা কলেজে (১) তদানীন্তন ছাত্র সারদাকান্ত সেন ইহার প্রকাশক ছিলেন। (২) চিত্তরঞ্জিকার প্রতি সংখ্যার মূল্য ছিল—৮০ ; বার্ষিক মূল্য ১০ আনা।

ইহার সম্পাদক কে ছিলেন, তাহা জানিতে পারি নাই। “চিত্ত রঞ্জিকার” যে দুই সংখ্যা প্রাপ্ত হইয়াছি, তাহার আবরণ পৃষ্ঠা (cover) নাই। সুতরাং আবরণ পৃষ্ঠার সম্পাদকের নাম ছিল কিনা বলা যায় না। অনেকে বলেন, মিত্র কবি হরিশ্চন্দ্রই ইহার সম্পাদক ছিলেন। হরিশ্চন্দ্রের “রঞ্জিকা-প্রীতি” ইহার কারণ কি না, তাহার বলিতে পারেন।

“চিত্ত রঞ্জিকা” কি উদ্দেশ্য লইয়া সাহিত্য ক্ষেত্রে অবতীর্ণ হইয়াছিল, আমরা “চিত্ত রঞ্জিকার” ভাষাতেই তাহা বলিব। “চিত্ত রঞ্জিকার” প্রথম পৃষ্ঠার একটা “বিজ্ঞাপন” প্রকাশিত হইয়াছে। এই বিজ্ঞাপন পাঠেই আমরা “চিত্ত রঞ্জিকা” প্রকাশের প্রকৃত উদ্দেশ্য ও আবশ্যিকতা জানিতে পারি। আমরা এস্থলে “বিজ্ঞাপনের” কোন কোন অংশ উদ্ধৃত করিতেছি :—

### বিজ্ঞাপন।

“সম্প্রতি মানিক প্রভাকর বাতীত সত্তাব ও রসপূর্ণ পদ্যময়ী পত্রিকা আর দেখা যায় না। যোধ হয় তল্লিখন

(১) সে কালের কালেজ এখন কলেজে পরিণত হইয়াছে।

(২) সারদাবাবুর বাড়ী, ঢাকা মানিকগঞ্জে, ইনি দীর্ঘকাল জ্বলের ডেপুটি ইন্সপেক্টরের কার্য্য করিয়াছেন।

কাব্যপ্রিয় মহোদয়গণ কবিতা-কুমুমের সৌরভ সন্তোষে বঞ্চিত হওয়া প্রযুক্ত সর্বদাই ক্রোড়গ্রস্থ থাকেন। আমরা সাধ্যানুসারে সেই ক্রোড় অপনয়নার্থ এই খণ্ড প্রকাশ করিলাম।

নূতন কবিতা প্রকাশ করাই আমাদের মুখ্য উদ্দেশ্য। কিন্তু সকল কবিতাই যে আমাদের স্ব কল্পিত হইবে, এমন নহে। বিবিধ ভাষা হইতে সম্ভাবপূর্ণ কবিতা কলাপের অমুবাদ অথবা সারমর্মও সন্নিবেশিত হইবে।”

বিজ্ঞাপনের এই উদ্দেশ্যের অভিব্যক্তি রহিয়াছে—  
ভোক্তা ও মঙ্গলাচরণে। উভয় কাঁড়াই চিত্ত রঞ্জিকার ১ম সংখ্যায় প্রকাশিত হইয়াছে। ভোক্তার শ্রেয়সাংশে “চিত্তরঞ্জিকার” নিবেদন এইরূপ :—

শেষ নিবেদন এই ওহে দয়াময়।

এ চিত্ত রঞ্জিকা প্রতি হস্ত হে সদয়॥

শক্তিমান কর ভায় রঞ্জিতে সজ্জন।

চিত্ত রঞ্জিকা যেন না হয় কখন॥

মঙ্গলাচরণে—

উগ্রচিত্ত শিশু বারণ না মানিয়া সমাজে যাইতে চাহিলে, যেইরূপ জননী তাহাকে সমাজে লাঙ্গাইয়া পাঠাইয়া দেন—

“সেইরূপ সেজে মোরে ওগো পদ্মাসনে।

সুভাষ, রাগিনী, রঙ্গ, সুরন ভূষণে॥

শিখায়ে আমার মাতঃ ভাষা জ্বলিত।

(যেন তথা গেতে পারি স্বভাব সঙ্গীত)।

কাব্যপ্রিয় সমাজেতে কর গো প্রেরণ,

রঞ্জিতে সমাজচিত্ত করিব যতন॥

\* \* \* \*

কি প্রকারে গায় গো এ নব পিকবর।

স্বভাব সজ্জত স্বীয় গান মনোহর॥

চিত্ত রঞ্জিকার উদ্দেশ্য কত দূর সিদ্ধ হইয়াছে, নব পিকবর কি সঙ্গীত গাইয়াছেন, তাহা বলিতে পারি না; কিন্তু ঢাকার সাহিত্যে চিত্তরঞ্জিকা প্রকাশ নিরর্থক হয় নাই।

“চিত্তরঞ্জিকা” বাঙালি মানসের ১লা তারিখে প্রকাশিত



হইত। এক্ষণ কলিকাতার কোন কোন মাসিক পত্র মাসের পহেলা তারিখে বাহির হয়। প্রায় ৬০ বৎসর পূর্বে প্রকাশিত ঢাকার “চিত্ত রঞ্জিকা” ইহার পথপ্রদর্শক কি না বলিতে পারি না।

ঢাকার সর্বপ্রথম মুদ্রায়ত্ত “বাঙ্গালায়ত্ত” প্রতিষ্ঠান প্রায় দুই বৎসর পরে ১২৬৯ সালে, “চিত্তরঞ্জিকা” প্রকাশিত হয়। “চিত্তরঞ্জিকা” প্রকাশের পূর্বে ঢাকায় এক মাত্র “বাঙ্গালায়ত্ত” ছিল—“চিত্তরঞ্জিকার” আবির্ভাবের সঙ্গে সঙ্গে ঢাকার ‘নূতন যত্ত’ প্রতিষ্ঠিত হইল। সুতরাং এই সময়ে যেমন ঢাকার সাময়িক সাহিত্যের শৈশব “মুদ্রা-যত্তের”ও সেইরূপ শৈশব বলিতে পারি। সুতরাং এই সময়ে মাসের ১লা তারিখে চিত্তরঞ্জিকা প্রকাশের ব্যবস্থা নব প্রতিষ্ঠিত মুদ্রায়ত্তের পক্ষে গৌরবের বিষয় সন্দেহ নাই।

“চিত্তরঞ্জিকা” ঢাকার নূতন যত্তে মুদ্রিত হইত। এই মুদ্রায়ত্তের প্রতিষ্ঠাতা কে বা কাহারা ছিলেন, তাহার সঠিক সংবাদ আমরা এখনও জানিতে পারি নাই। “চিত্তরঞ্জিকা” সম্পূর্ণ কেহ কেহ “বাঙ্গালা যত্তেরও” কর্মী বা পরিচালক ছিলেন, তাহা সহজেই অনুমান করিয়া লইতে পারা যায়। “চিত্তরঞ্জিকা” প্রথম সংখ্যায় এই বিজ্ঞাপনটি প্রকাশিত হয় :—

“এই পত্রিকা ঢাকা নূতন যত্তে মুদ্রিত হইয়া প্রতি মাসের ১ তারিখে প্রকাশিত হইবে, গ্রহণোচ্ছ মহোদয়গণ আমাদের নিকট পত্র লিখিতে ঢাকা কালেজে বা বাঙ্গালা বাজারের ঠিকানায়, লিখিলেই হইবে।

ঢাকা কালেজ—শ্রীমদ্রদাকান্ত সেন।

প্রকাশক।”

পাঠক লক্ষ্য করিবেন “চিত্তরঞ্জিকার” গ্রাহক বাঙ্গালা যত্তের ঠিকানাতেও পত্র লিখিতে পারিতেন।

এই সময়ে দীননাথ সেন মহাশয় ঢাকা কালেজের ছাত্র ছিলেন। “চিত্তরঞ্জিকার” ২য় সংখ্যার সমালোচনার তত্তে দেখিতেছি ঢাকা কালেজের ছাত্র শ্রীযুত দীননাথ সেন এই সময়ে আখ্যানমালা রচনা করিয়াছেন।

“কবি আহমদ” কে ছিলেন জানি না। কিন্তু তাঁহাকে প্রকৃত কবি বলিতে কোনরূপেই সন্দেহ বোধ করি না।

আহমদ প্রকৃতই কাব্য সম্পদের অধিকারী ছিলেন। আনন্দের বিষয়, প্রায় ৬০ বৎসর পূর্বে, ঢাকার-সাহিত্য পক্ষে এই মুসলমান কবি আবির্ভাব ঘটাইয়াছে। কোন কোন কবিতায় “আহমদ” ভণিতা রহিয়াছে; কোন কোন কবিতায় “এ” তাপিত জনে, “এ” মোহন ইত্যাদি স্থলে আমেদের সংক্ষেপে “এ” ভণিতা রহিয়াছে। আমেদ চিত্তরঞ্জিকার একজন প্রধান লেখক ছিলেন। এই মুসলমান কবির কোন কাব্যগ্রন্থ আছে কি না, তাহা নিশ্চিতই অনুসন্ধানের। পাঠক ক্ষুদ্র ক্ষুদ্র খণ্ড কবিতাতেও ইহার কাব্য প্রতিভা দেখিতে পাউবেন। আমরা নিয়ে আমেদ-কবির দুইটি কবিতা তুলিয়া দিলাম। উভয় কবিতাতেই তাঁহার নামের পূর্ণ ভণিতা আছে। ঢাকার এই মুসলমান কবির কবিতা পাঠে, পাঠক মনে রাখিবেন এই কবিতা প্রায় ৬০ বৎসর পূর্বে রচিত এবং ঐ সময় বাঙ্গালার আধুনিক কাব্য সাহিত্যের শৈশব কাল মাত্র। আহমদের লেখ্য উচ্ছ্বাস আছে কট-কল্পনা নাই; অগত ভাষা প্রঞ্জল ও চিত্তগ্রাহী।

### সমীক্ষণ।

আর কোন সমীক্ষণ,

গন্ধ লয়ে বাণে বারে,

ভাসিতেছ মম দ্বারে,

গন্ধে মম নাই প্রয়োজন।

সখার সনে খাও,

তারে নিয়ে গন্ধ দাও,

এ সৌরভে তোষ তার মন।

চিন্তে যার সুখ আছে,

রস রঙ্গ তার কাছে,

সুখদায়ী বটে সর্বক্ষণ।

দরিত্রের নহে কাজ

পরিতে রাজার সাজ

যদ্যপিও পায় সে কখন।

চিরদুঃখী এ বিষহী

তাহাতে কেমনে সহি—

ফুলবাণ দুঃসাধ্য দমন।



কাঁদিয়া কাঁদিয়া যোর  
নয়ন হয়েছে যোর,  
ধরা হয় শূন্য দরশন।  
নাথে গন্ধ সমর্পিয়ে  
পদাশ্রুত রেণু নিচে,  
কর মন নয়নে অর্পণ।  
মম কথা না কহিবে,  
জানিলে সে নাহি দিবে  
পদ্মরেণু করিতে হরণ।  
তাপিত আহমদ কর,  
নয়নে কি ফলোদয়,  
না হইলে সদয় সে জন।

আহমদ কবির আর একটি কবিতা—  
বসন্ত।

“এই যে বসন্ত পুনঃ হইয়ে উদয়।  
করেছে স্রুখেতে পূর্ণ, স্বভাব জদয় ॥  
ফুটিয়াছে উপবনে কুসুম নিকর।  
ধরিয়াছে ধরাতলে শোভা মনোহর ॥  
দেহ সরোবরে মম তবে এ সময়।  
কেন চিন্তপন্ন কলি ফুল নাহি হয় ॥  
বহিতে রহিত আশ্বাস মলয়।  
আশা জ্ঞান আর কারে করিবে আশ্রয় ॥  
এ সময় রসময় সমূহ সংসার।  
কেন পদ্মে স্রুথমধু হলো না সঞ্চার ॥  
কেন মম পঞ্চেন্দ্রিয় নন্দিকা নিকর।  
এই কালে হতবল, জীর্ণ কলবর ॥  
প্রত্যহ প্রত্যক্ষ হেরে সে প্রিয় ভগন।  
ভবু ফুল হৈতে নারে কেন কজ মন ॥  
জলদ সলিলে সর্পি রসিল ধরায়।  
দেহ সরোবর ভবু শুক হ’য়ে যায় ॥  
হারয়ে বসন্ত যেই সকলে সদয়।  
হুঁত্যাগ্য বলিয়া মোরে হবে কি নির্দয় ॥  
পাত্রোপাত্রে যেই করে রূপা বিতরণ।  
ভায় কি উচিত হোতে আমার রূপণ ॥

কর্মাক্ষম জরাজীর্ণ দুঃখী যেই জন।  
তারেই ত দাতা জন দেয় বেশী ধন ॥  
বিচ্ছেদ নীতের জালা অসহ জনক।  
কত বা গাইবে মম মানস কোরক ॥  
চিন্তা বাড়ানি দেহ-সরসী ভিতর।  
অহরহ জলে পুনঃ প্রচণ্ড প্রবর ॥  
সেই তাপে তাপে চিত্ত রক্ত উৎপল।  
মলিন বিবর্ণ যথা গ্রহণে পরল ॥  
শোক ভয়ঙ্কর বন্ধা বহে অনর্গল।  
সামুদ্রা পলাশ ছিন্ন করেছ সকল ॥  
হতাশ তরঙ্গ তায় অতীব ভীষণ।  
জীবন যুগলচর করে উদ্গুলন ॥  
করেছ হুঃখিত সগে তুমি পরিজ্ঞান।  
তবে কেন নাহি মোরে কর রূপাদান ॥  
দেখ দেখে ধুতুংস তোমার রূপায়।  
আনন্দ উৎসবে মগ্ন সকলি ধরায় ॥  
তরুণতা বিহীনম ভূঁচর খেচর।  
আমি ভিন্ন কেবা আর করে আর্তস্বর ॥  
কি দোষে রোষিলে দাসে ভুবনরঞ্জন।  
কমি বদান্ততা গুণ কর প্রদর্শন ॥  
প্রফুল্ল করহে মম মানস নলিন।  
পাঠাও তোষিতে তায় সুযোগ্য অলিন ॥  
অজ্ঞান আহমদ তব কেন এত ভ্রম।  
বসন্তে সাধিয়ে কেন কর পশুশ্রম ॥  
বসন্তের সাধ্যাতীত ফুটাতে কমল।  
হর্ষে ন। শরদ ভিন্ন কামনা সকল ॥”

বর্তমান কাব্য-সাহিত্যে নাকি খণ্ড কবিতার যুগ  
চলিতেছে। স্মরণ্য হুঁ একটি খণ্ড কবিতায় কবির  
কাব্য-প্রতিভার ক্ষুণ্ণ দেখাইবার সামান্য চেষ্টা বোধ  
হয় দোষাবহ হয় নাই।

আহমদ-কবির একটি কবিতাংশ (হুই পংক্তির  
কবিতা) এইরূপ—

বলেছ বিশেষ কিন্তু নহে অবিকল।

ভবু ইর্ষে হবে মম মানস সকল ॥

কেমন সুন্দর।



আমি ইচ্ছা করিয়াই, আহমদ-কবির কএকটা ঋণ  
কবিতা এখানে উদ্ধৃত করিলাম । বলা বাহুল্য আহমদ  
কবির রবীন্দ্র-যুগের সাধন। নাই—তাহার কবিতার  
ভঙ্গীতে রবীন্দ্রের প্রভাব নাই—শুণ্ত কবির—অনেকটা  
কাজ আছে ।

পানী-কবিতার অনুবাদেও আহমদ কবি পশ্চাৎপদ  
নহেন । ঢাকায় এই সময়ে “কবিতাকুসুমাবলীর” গর্ভে  
তিলে তিলে “সন্ধ্যা শতকের” বিকাশ হইতেছিল ।  
“সন্ধ্যা শতকের” প্রাণ-প্রতিষ্ঠা হাফেজের কবিতায় ।  
“চিত্তরঞ্জিকা”ও “কবিতাকুসুমাবলীর” পছন্দসূর্যে বিরত  
রহে নাই । আমরা এখানে হাফেজের একটি কবিতার  
অনুবাদ তুলিয়া দিতেছি । আহমদ কবিই ইহার  
অনুবাদক ।

### সমীক্ষণ ।

( পারস্তু হইতে অনুবাদিত )

যাও যাও ওহে সমীক্ষণ ।

চিন্তা জরে কলেবর,

হইতেছে জ্বর জ্বর,

উত্তম ঔষধ এ'নে

করহে অর্পণ ।

সখার গ্রামেতে গিয়ে,

তাহার গৌরব নিয়ে,

এখন(ই) আনিযে যোরে

করহে অর্পণ ।

অসার এ দেহ মম,

ভরল-পারদ সম

সফল-কাষনা-পুটে \*

কর যৌপ্যতায় ।

( কোথা মম প্রিয়জন,

নাহি পাই নিদর্শন, )

তার দ্বার-চিহ্ন এনে

করহে অর্পণ ।

নির্জনে মনের সনে,  
জান-নেত্র ঘোর রণে  
প্রবর্ত হয়েছৈ তার  
কবিত্তে বিজয় ।

প্রিয় ভূরু শরাসন,  
তীত্র পদ্ম শরণণ,  
এনে অতএব মনে,  
করহে অর্পণ ।

দরিত্রতা চিন্তা অর,  
ধিরহ অনল ধর—  
বুদ্ধপ্রায় শীর্ণ কার  
করেছ আশায় ।

বলদ, সুখদ, মদ,  
সে তরুণ প্রিয়দ—  
হস্ত হৈতে এ'নে যোরে  
করহে অর্পণ ।

অব্যর্থ সদগুণ তার  
যেই করে অন্বীকার,  
স্বাদ নিশে, এক পাত্র  
দেওহে তাঁহার ।

যদি সে অজান প্রায়,  
গ্রহণ না করে তার,  
সেই সুধা পাত্র যোরে—  
করহে অর্পণ ।

পান দাতা প্রিয়বর !  
আজ(ই) হও সুখকর,  
অস্তকার সুখ কল্যা  
করোনা ক্ষেপণ ।

সে বিধি মোচন অত  
বিধাতার আজ্ঞা অস্ত,  
এনে “এ” তাপিত জনে  
করহে অর্পণ ।

ছেড়ে যোরে মম মন  
পিন্নাছিল সেই অপ,



গত রাতে গেতেছিল

যখন হাফেজ।

যাও যাও সমীরণ,

প্রিয়জন নিকেতন,

তাহার সৌরভ এনে'

কংহে অর্পণ।

“চিত্তরঞ্জিকার” কথা বলিতে হইলেই, এই মুসলমান কবির কথা বলিতে হয়। সুতরাং “চিত্তরঞ্জিকার” বিষয়ে বলিতে গিয়া একটু বিস্তৃতভাবেই আহম্মদ কবি-প্রসঙ্গ তুলিয়াছি। আশা করি, ঐর্ষ্যাশীল পাঠকের ইহাতে কোনরূপ অসন্তুষ্টি উৎপাদন করিবে না।

“চিত্তরঞ্জিকার” কেবল পাশা কবিতার ‘অনুবাদ’ই ছিল, তাহা নহে। ইহাতে ইংরেজী ও সংস্কৃত কবিতারও অনুবাদ প্রকাশিত হইত।

“চিত্তরঞ্জিকার” অল্প একজন লোক ছিলেন—ময়মনসিংহের শ্রী গং চং সং! ইনি ময়মনসিংহ বঙ্গ বিদ্যালয়ের শিক্ষক ছিলেন। এই ক্ষুদ্র স্বত্র ধরিয়া ভরসা করি কালে তাঁহার পূর্ণ পরিচয় লাভ করিতে পারিব। গং চং সং কবিতায় বর্তমান সময়ের হিসাব নিকাশ করিতেছেন। শিক্ষা, সমাজ, ব্রহ্মধর্ম, ধর্মের মতি-পতি, টেলিগ্রাফ, চিকিৎসালয় স্থাপন প্রভৃতি নানাপ্রকার উন্নতি লক্ষ্য করিয়াও, ময়মনসিংহের কবি পেটের আলা তুলিতে পারেন নাই। কবির কথায় এই সময়ে—

পেটের আলায় কিন্তু পেটের আগায়!

হাহারব করিতেছে সবে উভয়ার।

আয়ের উপর কর—হার কি জগাল।

তাতে পুনঃ নীলকর যেন বিষধর।

দংশনে প্রজার অঙ্গ করে জর জর।

নূতন চা-কর যেন বমের ক্কর।

পেঁষিছে সর্প প্রায় প্রজা কলেবর।

সুতরাং “কে বলিবে এ সময় বটে সুসময়।”

আমরা “নীল দর্পণে” নীলকরের অত্যাচারের ছবি—বৃদ্ধপট দেখিতে পাইয়াছি। এই “নীল দর্পণ” এই

সময়ে বা কিঞ্চিৎ পরে ঢাকার বাঙ্গালা-বন্ধু মূদ্রিত ও প্রকাশিত হয়। “চা-করের” কাহিনীও তৎকালীন বঙ্গ-সাহিত্যে একান্ত দুর্লভ নহে; দক্ষিণাচরণ চট্টোপাধ্যায়ের “চা-কর দর্পণ” নাটক এবং যোগেন্দ্রনাথ চট্টোপাধ্যায়ের “চা-কলার আত্মকাহিনী” উল্লেখযোগ্য।

“চিত্তরঞ্জিকার” ময়মনসিংহবাসী আর একজন মুসলমান কবির প্রেরিত কবিতাও প্রকাশিত হইয়াছে। কবিতার বিষয়—“তুই জাতিভেদ সর্ব্ব অনিষ্ট কারণ!” লেখক পাদ-টীকায় জাতিভেদের অর্থ লিখিয়াছেন—ধর্মভেদ। এই কবিতার নীচে স্বাক্ষর রহিয়াছে—

এইচ—

ময়মনসিংহবাসী স্বনাম জনৈক বিরচিত। কবিতার নীচে একটি সম্পাদকীয় মন্তব্য রহিয়াছে “আমরা মুসলমান বন্ধুর পত্রখানি অবিকল প্রকাশ করিলাম। ইহাতে মিল দোষ বা যতি দোষ নাই। যত্বপি আমাদের দেশস্থ মুসলমান মহাশয়গণ এই প্রকার বাঙ্গালা ভাষা শিক্ষাকরণে চেষ্টা করেন, যথেষ্ট অফ্রাদের বিষয়।” এই কবিতায় জাতিভেদের ফলে নানা দোষের অনিষ্ট প্রদর্শন করিয়াছেন।

এই সময়ে ক্রমেই ঢাকার “সত্তাবলহরী” প্রায় ৬০টি কবিতা “কবিতাকুসুমাবলীতে” প্রকাশিত হইতেছিল। “চিত্তরঞ্জিকাতেও” তখন “সত্তাবলহরী” নামে কবিতা গ্রন্থের কএকটি কবিতা প্রকাশিত হয়। “সত্তাবলহরী” গ্রন্থাকারে প্রকাশিত হয় নাই।

“চিত্তরঞ্জিকার” পরিচয় প্রদান করিতে গিয়া, আমরা প্রদত্তঃ “চিত্তরঞ্জিকার” কএকজন লেখকের সম্পর্কে একটু বিস্তৃতভাবে বলিয়াছি। ছাংখের বিষয় ইহাদের পূর্ণ পরিচয় লাভ এক্ষণ সম্ভবপর নহে।

“চিত্তরঞ্জিকার” হরিশ্চন্দ্রের কবিতাও প্রকাশিত হইয়াছে। এই সময়ে হরিশ্চন্দ্র বাঙ্গালা-বন্ধু, তথা “কবিতাকুসুমাবলী” ও “ঢাকাপ্রকাশে” লিপ্ত ছিলেন। “চিত্তরঞ্জিকাও” তাঁহার অনুলী সঙ্কেতে পরিচালিত হইত, তাহা সন্দেহই অনুযেয়।

ত্রিগিরিজাকান্ত ঘোষ।



## সেন্ট এণ্টোয়াইন

(গল্প)

তার ডাক নাম ছিল সেন্ট এণ্টোয়াইন। কারণ তার সত্যনাম ছিল এণ্টোয়াইন, আর সে ছিল খুব দুষ্ট চিত্ত, আয়ুদ্যে, সাদাসিদ্যে, অতিভোজনে পটু, মদের পিপা। ষাট বৎসরের বোনী বয়স হলেও ঝিদের সঙ্গে রসিকতায়, ছিল অধিতীয়।

কল্প জেলায় তার বাড়ী। বহু তার চাষের জমি। বর্ণ লালচে, পেট ও কোমর মোটা, লম্বা ঠাং এত স্থূল দেহের পক্ষে অতি ক্ষীণ।

সে বিপক্ষীক অতএব মাত্র একটা কি ও দুইটি যজ্ঞ সঞ্চল করিয়া সে জমির গোলাবাড়ীতে থাকিত। সে চাষ, শস্য বিক্রী সব সবিশেষ যজ্ঞের সহিত করিত এবং এ বিষয়ে তার দক্ষতাও ছিল প্রচুর। তার দুই পুত্র ও তিন কস্তার বিবাহও ভালঘরে হইয়াছিল। তারা সব এই পাশাপাশি গ্রামেই থাকিত ও মাঝে একবার করিয়া আসিয়া গাণের বাড়ীতে খাইয়া যাইত। আশেপাশের সবাই তার অসাধারণ শক্তিমত্তার কথা জানিত এবং গাঁয়ের কেউ জোরান হইলে লোকে তাকে 'সেন্ট এণ্টোয়াইন' মত জোরান বলিয়া প্রশংসা করিত।

যখন ক্রাসীদেব সঙ্গে জর্জরদের যুদ্ধ বাধিল, সেন্ট এণ্টোয়াইন মদের ভাটিতে বসিয়া জোর গলায় বক্তৃতা দিল যে একাই সে ১০।১৫ হাজার জর্জর সৈন্য গিলিয়া ফেলিতে পারে। তার স্বভাব ছিল ঠিক নর্ম্যাণ্ডীর চাষাদের স্বভাবের মত—বাহিরে ছিল খুব গর্ব কিন্তু ভিতরে ছিল ভেমনি কাপুরুষতা। রাগিয়া চোখ মুগ লাল করিয়া দৃঢ় মুষ্টি রাখাতে টেবিল কাঁপাইয়া টেবিলের উপরিস্থ পেয়লা গেলাস নাড়াইয়া ফেলিয়া দিতে পারে এবং আনন্দিত মাতালের মত চীৎকার করিয়া বলিয়া বেড়াইতে জানে যে—ভগবানের অস্তিত্ব যেমন সত্য আমার এ কথাও ভেমনি সত্য যে, একাই বহু জর্জর ধ্বংস করবই নিশ্চয়। এই আশ্বালনের কারণ এই যে, সে নিশ্চিতই জানিত যে, তাদের দেশ ট্যান্ড-

ভাইল অবধি জর্জররা কখনই আসিয়া পৌঁছাইতে পারিবে না। কিন্তু যেদিন খবর আসিল যে, সত্য সত্যই দুর্জব জর্জররা রাউটাট পর্যন্ত আসিয়া পৌঁছিয়াছে তখন সে ঘরের দরজা বন্ধ করিয়া বসিয়া রহিল ও মাঝে২ রাগাঘরের ফাঁক দিয়া দেখিতে লাগিল জর্জরদের সঙ্গীণের ফলক সদর রাস্তায় দেখা যাইতেছে কি না।

একদিন সকাল বেলায় সে ও চাকরবাকরেরা এক সঙ্গে চা পান করিতে বসিয়াছে, তথাৎ দরজা খুলিয়া গেল। সেই সঙ্গে মেয়র ও একটা পদাতি ঘরের মধ্যে প্রবেশ করিল। পদাতির মাথায় কালটুপী, টুপীর মাথায় পিতলের শূল ঝকঝক করিতেছে। এই প্রশ্নীয় সৈন্তের নিশানা। সেন্ট ভয়ে আড়ষ্ট হইয়া গেল, কিন্তু তার লোকজনও ভীত হইয়া উঠিয়াছিল অস্ত্র কারণে। তারা প্রতি মুহূর্তে মনে করিতেছিল এই বুঝি সেন্ট উঠিয়া প্রশ্নীয় পদাতিককে ছিঁড়িয়া খণ্ড খণ্ড করিয়া ফেলে। কিন্তু তাকে সেরূপ কিছু করিতে দেখা গেল না। সে নিঃশব্দে উঠিয়া মেয়রের সহিত করমর্দন করিল। মেয়র প্রত্যুত্তরে জানাইলেন “এই একজন জর্জরকে তোমার খাবার দাবার ও শোবার জায়গা জোগাইতে হবে। ইহার তার তোমার উপর রহিল। ইহাও কাল রাত্রিতে আসিয়া পৌঁছিয়াছে। এর সঙ্গে তুমি কোনও চালাকী করিতে যাইও না, তা হইলেই সর্বনাশ। সামান্য একটু দোষ পাইলেই খুনখারাপী, ঘরে আগুণ ধরাইয়া দেওয়া, সর্বস্ব লুণ্ঠন করা কোনও বিষয়ে এরা পশ্চাদপন্ন হইবে না বলিয়া দিয়াছে—সাবধান নিস্ত। একে এখন কিছু খাইতে দাও—এ বেশ লোক, তোমার কোনও ক্ষতি করিবে না। বিদায়—এখন বাই। গাঁয়ের সকলেরই অস্ত্র এই রকম এক একজন অতিথির বন্দোবস্ত করিতে হইবে।” এই বলিয়া মেয়র বাহির হইয়া গেলেন।

এণ্টোয়াইন ভয়ে বিবর্ণ হইয়া গেল। সে তাহার



অতিথি প্রশ্রয়ানটীর দিকে হা করিয়া তাকাইয়া রহিল। প্রশ্রয়ানটী খুব, পুষ্ট দেহ, গায়ের রঙ গোলাপী, চক্ষু নীল, চুল পচিকার, গণ্ডোহি পর্য্যন্ত দাড়ী। দেবিলে নির্দোষ, নম্র ও সংবভাবেঃ বলিয়া বোধ হয়। সেট তাকাইয়াই লোকটার প্রকৃতি অনেকটা বুঝিতে পারিয়া ছদ্মবেশে বল করিয়া লইয়া ইজিত করিয়া তাহাকে বসিতে বলিল। সে তাহাকে করানী ভাষায় জিজ্ঞাসা করিল “তুমি কি সুপ খাবে আবারের সঙ্গে?” সে করানী কথার কিছুই বুঝিয়া উঠিতে পারিল না। ইহাতে এটোয়াইনের সাহস বাড়িয়া গেল। সে কাণাং২ তরা এক প্লেট সুপ তাহার গায়ের দিকে ঠেলিয়া দিয়া কহিল—“এই বেটা শূয়ার—খা—খানা।”

সেই পদাতি হাতাতের মত খাইতে শুরু করিয়া দিল। সেট তার এই কাণ্ড দেখিয়া বিজয়গর্বে হুলিয়া উঠিল, তাহার স্বাভাবিক অনেকটা ফিরিয়া আসিল, সে নিজের বিজয়ী ভাবটা চোখের ইসারা করিয়া চাকর-দের জানাইয়া দিল। এতক্ষণ চাকররা ভয়ে আড়ষ্ট হইরাছিল কিন্তু তর চাকিবাবর এক হাঙ্গামার চেষ্টা করিয়া অতুত মুখভঙ্গী করিতেছিল।

প্রথম প্লেটটা নিঃশেষিত হওয়ার এটোয়াইন আর এক প্লেট দিল, সেটাও প্রথমটীর মত সহজেই নিঃশেষিত হইয়া গেল। তৃতীয়টা সে আর খাইতে রাজী হইল না দেখিয়া—এটোয়াইন পূর্ব্বের মত করানী ভাষায় পীড়া-পীড়ি করিয়া বলিতে লাগিল—“আরে খাও, খাও এটাও সাবাব কর। এত মোংকা মোটা হয়েচ কি করে তা কি আমি জানি না—বড় চালাকী হচ্ছে যে—লক্ষীছাড়া শূয়ার কোথাকার।”

পদাতি, এটোয়াইনের ভাবে বুঝিতে পারিল যে, সে তাহাকে পেট ভরিয়া খাইতে অজরোধ করিতেছে। সে আনন্দে হাসিয়া ইজিত করিয়া কহিল যে তাহার পেট ভরিয়া গিয়াছে।

সেট এটোয়াইন ইহাতে তাহাকে খুব আপনায় জন মনে করিয়া হাতের মুঠির বাহিরের দিক দিয়া তাহার পেটের উপরে গুতাইয়া বলিতে লাগিল—“দেখ না শূয়ারটা কি রকম বেদম খেয়েছে—পেটটা টিম টিম

করছে। দেখ না কেমন পেট ভরিয়েছে।” এই বলিয়া সেও তাহার চাকররা সবাই মিলিয়া হাসিয়া অস্থির হইয়া উঠিল।

তার এত আনন্দ হইয়াছিল যে, সে খুব ভাল এক বোতল মদ সবাইকে পরিবেষণ করিয়া ফেলিল। সবাই গেলাস হাতে লইল। প্রশ্রয়ী এ জিনিস যে সে খুব পছন্দ করে তাই প্রকাশ করিবার জন্য ভিত চাটার শব্দ করিল দেখিয়া সেট পুনরায় কহিল—“দেখ কেমন সুন্দর জিনিস এ, দেখে কি এই হতভাগা শূয়ার এমন সুন্দর মদ পাস?”

ইহার পর কাদার এটোয়াইনকে আর একা বাহিরে দেখা বাইত না। যখনই সে বাহিরে বাইত প্রশ্রয় পদাতি তার সঙ্গে থাকিত। সে বা চার তাহা তার এই অতুত রকমের ঠাট্টার মধ্যে দিয়া পাইয়াছিল—তার এই লোকটার উপর প্রতিশোধের স্পৃহা এই রকম করিয়াই সে চরিতার্থ করিত। গায়ের সকল লোক তরে ধরবার কম্পান কিস্ত সেট এটোয়াইনের রসিকতার তার জর্মনদের পেছনে খুব লুকাইয়া হাসিত। তার সমকক্ষ রসিক পুরুষ সেখানে দ্বিতীয় কেহই ছিল না।

প্রতিদিন বৈকালে সে জর্মনটীর সহিত হাত ধরাধরি করিয়া প্রতিবেশীদের একজন না একজনের বাড়ী বাইত ও তাহাকে পরিচিত করিয়া দিবার সময় তাহার বাড়ি চাপড়াইয়া কহিত—“এই শূয়ারটা আমার—দেখনা খেয়ে খেয়ে জানোয়ারটা কেমন মোটা হয়ে উঠছে!”

প্রতিবেশীরা আনন্দে আটখানা হইয়া বাইত। তার এটোয়াইনকে মস্ত একজন রসিক প্রবর বলিয়া তারিফ করিত। এটোয়াইন বলিত—“সিগারী, তিনটা গুলি চালিয়ে একে আমি তোমার কাছে বেচতে পারি।

“হঁ, এটোয়াইন—সেইতো চাই—শেষ করে দাও। তাহলে তোমাকে আমার ওখানে পুড়িৎ খেতে নেমন্তন্ন করব।” “আমি ওর গোড়াটাই বেশী পছন্দ করি।” “ওর পোটের দিকে তাকিয়ে দেখ সবই চর্মি।”

তাহারা কেহ উচ্চ হাস্য করিতে সাহস পাইতেছিল না, প্রশ্রয়ী যদি টের পায় যে, সে তাহাদের কৌতুকের



বস্তু হইয়াছে তাহা হইলে আর রক্ষা রাখিবে না। তাই তাহার চোখের ঠাণ্ডে হাসির লহর খেলাইতেছিল। কিন্তু এন্টোয়াইনের দৈনিক মেশার কলে সাহস বাড়িয়া গিয়াছিল। সে প্রশ্নটির উত্তরে বারবার চিমটি কাটিয়া বলিতেছিল এই দেখ না কত চর্কি এখানে জমে আছে।” এই বলিয়া তাহার পিঠ চাপরাইয়া কহিত “একেবারে চর্কির চাকারী।” মাঝে মাঝে সে তাহাকে চিং করিয়া শোরাইয়া ছই বাহ দিয়া জড়াইয়া উঠু করিয়া তুলিয়া ধরিয়া কহিত—“এটা একেবারে নিরেট তিনমণ দশলের—একটুকুও কাঁপা নাই।”

কিন্তু এন্টোয়াইন যেখানেই তাহার “শূয়ার”কে লইয়া যাইত সেখানেই তাহার লজ্জা বাড়ীওয়ালাকে খাবারদিতে বাধ্য করাইত। বাড়ীওয়ালাদের বলিত “যা ইচ্ছা তাই দাও—ও ছুনিয়ার সব ধার।” তাহারও বহু রকম খাবার দিয়া চুষ্টামি করিয়া কহিত—“তোমার লজ্জাই এখানে বস্তু করা হয়েছে—তবে তোমার পক্ষে এনুতন খাবার নিশ্চয়ই।”

পদাতি ছিল সাধাসিধা মানুষ ও ভদ্রলোক। সে লজ্জা ও ভদ্রতার খাতিরে সব খাইত এমন কি সময়ে সে বদহজমে ভুগিত কিন্তু ঐ লজ্জা ও ভদ্রতার খাতিরে খাইতে ক্রৌ করিত না। বাস্তবিকই সে মোটা হইয়া যাইতেছিল এবং জামার গোতাম ছিঁড়িয়া তাহার দেহ বাহির হইয়া পড়িবার উপক্রম করিত। জামা কাপড় তার ছোট হইয়া উঠিল। সেন্ট এন্টোয়াইনের আর আনন্দের সীমা ছিল না। সে হঠাৎ কহিত “ওরে বেটা শূয়ার—তোমার লজ্জা এর পর একটা বড় খাঁচা না বানালে চলবে না।”

বস্তুতঃ পক্ষে তাহাদের উভয়ের মধ্যে বন্ধুত্ব প্রগাঢ় হইয়া উঠিতেছিল। কোনও কার্য উপলক্ষে বৃদ্ধ এন্টোয়াইন যে দিন আশেপাশের গ্রামে যাইত পদাতিও নিজেই তাহার সঙ্গে রওনা হইত। তাহার সঙ্গে যাইতে সে সুখ অক্লান্ত করিত।

সেবার প্রাকৃতিক দুর্যোগও পড়িয়াছিল ভয়ানক। সমস্ত জমিয়া কঠোর শব্দ হইয়া উঠিয়াছিল। বিদেশীর হাতে জ্বালের যে দৃশ্য ও লাহন বটিকাছিল তাহার

উপর শাকের আটির মত এই প্রাকৃতিক দুর্যোগ চাপিয়া বসিয়াছিল। ১৮৭০ খ্রীঃএর এ দৃশ্য কি শোচনীয়।

কাদার এন্টোয়াইন সব কাজই আপগেই বন্দোবস্ত করিয়া রাখিত। কোনও সুবিধাই সে হাত ফসকাইয়া যাইতে দিত না। সে হিদাব করিয়া বুঝিয়াছিল গরমের পূর্বেই তার ক্ষেতের সার নিশেষ হইয়া যাইবে। তার প্রতিবেশী এক জনের সার ছিল; কিন্তু নগদ টাকার বিশেষ প্রয়োজন ছিল। সে তাহার নিকট হইতে সার কিনিয়া রাখিয়াছিল। প্রতিদিন বৈকালে অবসর মত এক সময়ে যাইয়া গাড়ী বোঝাই করিয়া সার লইয়া আসিত। প্রতিদিন বৈকালে যখন সে গাড়ী লইয়া সার আনিতে যাইত তার ‘শূয়ার’ও তার সঙ্গে যাইত। আর প্রতিদিন তার ‘শূয়ার’কে সারা রাত্তা লোকেরা খাওয়াইত ও হাসি মকরা করিত। রবিবার গির্জায় যাইবার লজ্জা যেমন ভিড় হয়, প্রশ্নটির খাওয়া দেখিবার লজ্জা তেমন ভিড় হইত।

কিন্তু রোগে এত হাসি দেখিয়া পদাতির কেমন সন্দেহ হইতে লাগিল। চারিপাশের লোকজন যখন উচ্চহাস্তে মাতিয়া উঠিত রাগে ও অবশিষ্টে তাহার চোখমুখ লাল হইয়া উঠিত। গোলং রক্তবর্ণ চক্ষু বুগাইয়া সে চারিদিকে চাহিয়া দেখিত।

একদিন বিকাল বেলায় খাইতেই তার পেট ভরিয়া যাওয়ার আর সে খাইতে রাজী না হওয়ার উঠিয়া পড়িল কিন্তু সেন্ট তাহাকে হাত ধরিয়া ফিরাইয়া ছই কাঁধের উপর হাত রাখিয়া এমন জোরে চাপিয়া ধরিল যে বাধ্য হইয়া তাহাকে বসিয়া পড়িতে হইল কিন্তু তাহাতেও তাহার নিস্তার হইল না, এন্টোয়াইনের সজোর চাপ চলিতে লাগিল, অবশেষে সে চেয়ার ভাঙিয়া পড়িয়া গেল। আর হাসি দেখে কে?

কিন্তু এন্টোয়াইন তাড়াতাড়ি উঠিয়া বাট বাট করিয়া তাহাকে ধরিয়া তুলিল। বলিল—“বেশ, তুমি যদি আর কিছু খেতে না চাও তবে থাক। কিন্তু জীবনের দোহাই তোমাকে মদ খেতেই হবে।” তখনই মদ আনিতে লোক ছুটিল। প্রশ্নটি কটমট করিয়া সকলের দিকে তাকাইতেছিল কিন্তু মদের নেশায়



যোগ দিতে রাজী হইল—যত ইচ্ছা দাও তাহাতেই সে রাজী। সেট এটোয়াইন তাহাকে একদিক থেকে মদ খাওয়াইতে লাগিল, সকলের আনন্দ আর ধরে না।

প্রশিয়টী তখন বিলাতী বেগুণের মত লাল টকটকে হইয়া উঠিয়াছে, সে কাৎ করিয়া বোতল হইতে মদ ঢালিয়া পেলাস উঁচু করিয়া ধরিয়া ঢকঢকু করিয়া গলায় ঢালিয়া দিতেছিল। তাহার আর কোনও কথা কহিবার অবসর ছিল না। সেট এটোয়াইনও খুব চালাইতে ছিল। উভয়ের মধ্যে মদ লইয়া বেন পান্না লাগিয়া গিয়াছিল। বোতল খালি হইয়া গেল। হুই-জনেরই অবস্থা সমান। তুলিতে তুলিতে দুইজনই বাহির হইয়া পড়িল।

চক্ষু বুজিয়া গোবর বোঝাই গাড়ীর পাশের কাঠের উপর বসিয়া পা দোলাইতে তাহারা রওনা হইল। দুইটা প্রকাণ্ড মোটা বৃদ্ধু বোড়া গাড়ীখানা টানিয়া লইয়া চলিল।

বরফ আবার পড়িতে আরম্ভ করিল। আকাশে চাঁদ ছিল না। চারিদিকে দিগন্তব্যাপী শুভ্রতা। এই শুভ্রতার অন্ত একটু আবছায়া আলোর মত দেবাই-তেছিল। ঠাণ্ডার তাহাদের হাড় ঠকঠক করিয়া কাঁপিতেছিল এবং নেশা বাড়িয়া চলিয়াছিল। এটোয়াইনের মনটা ভাল ছিল না কারণ মদ পেলায় সে প্রশিয়-পদাভিকে পরাক্ত করিতে পারে নাই। অগ্রসর চিন্তে সে বারবারই পিঠ দিয়া পদাভিকে ধাক্কা দিতেছিল, পদাভিও হড়মুড় করিয়া খানায় পড়িয়া বাইবার ভয়ে বারবার সরিয়া বসিতেছিল এবং অসন্তুষ্ট চিন্তে জ্ঞপ্ত তাহার কি বিভ্রিবিড় করিয়া বকিতেছিল। এই কাণ্ড দেখিয়া বৃদ্ধ সেট হোহো করিয়া হাসিয়া উঠিতেছিল। বারংবার এই ব্যাপারে প্রশিয়টী ক্রমশঃই বিরক্ত হইয়া উঠিতেছিল। এইবার বেই এটোয়াইন তাহাকে ধাক্কা দিয়াছে সে রাগিয়া চট করিয়া তাহার কাঁধে এক কিল বসাইয়া দিল। বিপুলবপু এটোয়াইনের দেহ মূর্ত্যাবাতে কাঁপিয়া উঠিল।

ইহাতে মদমত্ত এটোয়াইনের মুখ বিপুল ক্রোধে লাল হইয়া উঠিল। সে প্রশিয়টীকে দুই হাতে শক্ত

তুলিয়া ধরিয়া দু'তিনবার নাচাইয়া প্রান্তার ওপারে ছুঁড়িয়া ফেলিয়া দিল। তারপর নিজের শক্তিমত্তার পরিচয়ে ছুট হইয়া দুই হাত জোর করিয়া আনন্দে হাসিয়া উঠিল।

কিন্তু পদাভিও সেখানে নিজীবের মত পড়িয়া রহিল না। সে তাড়াতাড়ি উঠিয়া পড়িল—তাহার টুপী গড়াইয়া কোথায় পড়িয়াছিল—খালি মাথায় উঠিয়া পড়িয়া খাপ হইতে সন্নিপাত বাহির করিয়া ফাদার এটোয়াইনের দিকে তাড়া করিয়া ছুটিয়া চলিল।

তাহাকে তাড়া করিয়া আসিতে দেখিয়া সেট এটোয়াইন তাহার লম্বা শক্ত চাবুকখানি উঁচু করিয়া ধরিল। প্রশিয়টী বরাবর আসিয়া তাহাকে উন্মুক্ত সন্নিপাত হস্তে আক্রমণ করিল—সে যদি বাধা না পাইত তাহা হইলে সেই সন্নিপাতী নিষ্ক্রিগাদে এটোয়াইনের পিঠের মধ্যে ঢুকিয়া যাইত। কিন্তু এটোয়াইন নির্ভয়ে সেই উন্মুক্ত সন্নিপাত চাপিয়া ধরিয়া কাড়িয়া লইয়া ঘুরে ফেলিয়া দিয়া চাবুকের ডাঙার গোড়া দিয়া এমন জোরে তাহার মাথায় আঘাত করিল যে অজ্ঞান হইয়া সে সেইখানে পড়িয়া গেল।

লোকটী উপর হইয়া বরফের উপর পড়িয়া রহিল। তাহার কপাল কাটিয়া শোণিতস্রাব হইতেছিল। রাত্রির পাতলা অন্ধকারে সেট এটোয়াইনের চোখে বরফের উপর রক্তের দাগ পড়িল।

সে সেইখানে ভাবনার ঘূর্ণিপাকে পড়িয়া চুপ করিয়া দাঁড়াইয়া রহিল। এদিকে গোবরবোঝাই গাড়ী দ্বিগুণে আপনাপনি চলিয়া বাইতেছিল।

এখন উপায় কি? তাহারা আশ্রয় তাহাকে গুলি করিয়া মারিবে, বর জ্বালাইয়া দিবে, এমন কি জেলার সমস্ত বিপর্যাস্ত করিবে। কি করিয়া প্রশিয়ার চোখে খুলা দিয়া এই হত ব্যক্তির দেহ সে লুকাইবে? ঘুরে কিসের গোলমাল শোনা গেল। তাহার আর তখন ভাবিবার অবসর নাই। সে তাড়াতাড়ি টুপী গড়াইয়া লইয়া মৃতদেহ-মাথায় দিয়া তাহাকে তুলিয়া গাড়ীর বোকার উপর চাপাইয়া নিল। বা হোক বাড়ীতে বাইয়া ভাবিবার সময় পাওয়া যাইবে।



সে ধীরে গাড়ীর সঙ্গে চলিতেছিল—চিন্তা-ভারাক্রান্ত তার মন। কিছুই সে ভাবিয়া ঠিক করিয়া উঠিতে পারিতেছিল না। তাহার শেষ পরিণামের কথা অরণ করিয়া মাথা গুলাইয়া বাইতেছিল। আস্তাবলে আসিয়া গাড়ী পৌছিল। আনালায় ফাঁক দিয়া আলো বাহিরে আসিয়া পড়িয়াছে। তবে তো চাকরাণীটা এখনও ঘুমা নাই! গোবরের গাদার নিকট বাইয়া ঘোড়া খুলিয়া দিল। গাড়ী কাৎ হইতেই তার শ্রীর হুকুম করিয়া পড়িয়া গেল। তাহার দেহের উপর গাড়ীর সমস্ত চাপা পড়িল। গোবরে তাৎ দেহ ঢাকা পড়িয়া গেল। এণ্টোয়াইনও তাই চায়! সে বেশ করিয়া চোড়শ করিয়া তাহাকে গোবর চাপা দিয়া চাকরকে ঘোড়াঘোড়া আস্তাবলে লইয়া বাইতে হুকুম দিয়া উপরে উঠিয়া গেল।

বিছানায় শুইয়াই সে ভাবিতে লাগিল এর পর কি করা যায় কিন্তু কোনও উপায়ই তার মাথায় আসিল না। চুপ করিয়া ভয়ে সে কিছুক্ষণ শুইয়া রহিল; কিন্তু গুলি খাইয়া মরিতে হইবে নিশ্চয় এই চিন্তায় সে আর শান্তি পাইয়াতেছিল না—ভয়ে সে কাঁপিয়া ঘামিয়া উঠিল। কবলের ভলায় সে আর কিছুতেই শুইয়া থাকিতে পারিল না—কাঁপিতে কাঁপিতে উঠিয়া বসিল।

সে নিশ্চক্ষে নীচে নামিয়া আসিয়া রান্নাঘর হইতে মদের বোতল লইয়া উপরে উঠিয়া গেল। দুই গেলাস মদ টানিয়া অনেকটা চান্দা হইয়া উঠিল বটে কিন্তু মনের যন্ত্রণা তাহার তেমন কমিল না। যাক্, সে ভাল কাজই করিয়াছে—কি দুর্বল নির্যোধ সে।

সে ঘরময় ঘুরিয়া ভাবিতেছিল কি করা যায়, কি করিলে রক্ষা পাওয়া যায়। মনটাকে চান্দা করিবার জন্য মাঝে এক এক চুমুক মদ টানিতেছিল। নিজের চিন্তা ছাড়া অন্য কোনও চিন্তা তার মনে স্থান পাইতেছিল না।

তার একটা বাঘের মত পাহারা দেওয়ার কুকুর ছিল। কথায় আছে যুড়ার গন্ধ পাইলে কুকুরটা কাঁদিয়া থাকে। হঠাৎ ছপুয় রাঙে কুকুরটা ভয়ানক কাঁদিতে শুরু করিয়া দিল। এণ্টোয়াইনের ভয়ে হাড়

অগধি সুর সুর করিয়া উঠিল। কুকুরের শোকার্ত শ্রবণ তাহাকে পাগল করিয়া তুলিবার উপক্রম করিল।

সে আর দাঁড়াইয়া থাকিতে পারিতেছিল না। একখানা চেয়ারে আপনাপনি বসিয়া পড়িল—ভয়ে তার সমস্ত শিরা উপশিরা গুলি রি রি করিয়া কাঁপিয়া উঠিতেছিল।

নীচের ঘড়ীতে একে একে পাঁচটা বাজিয়া গেল তবুও কুকুরের কাঁদা থামিল না—তার মস্তক বিকৃত হইবার উপক্রম। আর কুকুরের খেউ খেউ শুনিতে হইবে না মনে করিয়া সে কুকুরটিকে ছাড়িয়া দিবার জন্য দরজা খুলিয়া নীচে নামিয়া বাহিরে গিয়া দাঁড়াইল।

তখনও বেশ বরফ পড়িতেছিল—চারিদিকের সব সাদা। গোলাবাড়ী গুলি কাল কাল দৈত্যের মত দেখাইতেছিল। এণ্টোয়াইন কুকুরের ঘরে গিয়া দেখিল কুকুরটা মুক্ত হইবার জন্য প্রাণপণে শিকলটা টানিতেছে। সে তাহাকে মুক্ত করিতেই একটু দাঁড়াইয়া দৌড়াইয়া গিয়া সারের গাদার উপর চড়িয়া শুকিতে লাগিল।

সেন্ট এণ্টোয়াইন আবার কাঁপিয়া উঠিল। “নম্ভার হুকুরটা কোথায় খাচ্ছন” বলিয়া সে একবার দাঁড়াইয়া অন্ধ আলোকিত উঠানের পানে চাহিল। ও কি? সারের গাদার উপর মাঝের ছায়ার মত ওটা কি?

সে হা করিয়া সেইদিকে চাহিয়া রহিল, তাহার আর নড়িবার চড়িবার শক্তি ছিল না, ভয়ে সে থালি বামিতেছিল। হঠাৎ তাহার হাতে কি বাজিল। চাহিয়া দেখে মাটিখোঁড়া কোদালখানা পড়িয়া আছে। অনেক ঘটনায় অতি বড় কাপুরুষও অতি সাহসের কাজ করিয়া বসে। সেইরূপ সেও কোদালখানা তুলিয়া লইয়া সারের গাদার দিকে ছুটিল নির্ণয় করিতে বাস্তবিকই এ জিনিসটা কি?

এ তার শ্রীর প্রশ্নের পদাতি। সারা রায়ে তার গোবরমাথা। গোবরের পরমে তাহার সংজ্ঞা ফিরিয়া আসিয়াছে। তাই সে জ্ঞান পাইয়া আসিয়া উঠিয়াছে। সে অনেকটা পুতুলের মত সেইখানে বসিয়াছিল—অতিরিক্ত রক্তশোষণ ও দুর্বলতার দরুণ



গুড়ি গুড়ি বরফের বৃষ্টির মধ্যে সে ঐ রকম করিয়া পড়িয়াছিল।

সে এন্টোয়াইনকে চিনিতে পারিল কিন্তু কিছুই মনে করিয়া উঠিতে পারিতেছিল না। একবার সে উঠিয়া দাঁড়াইতে চেষ্টা করিল। তাহাকে চিনিতে পারিয়া রুদ্ধ এন্টোয়াইন ক্রোধে ফুলিয়া উঠিল। রাগে তাহার মুখ দিয়া কথা কহিবার কালে কেনা নির্গত হইতেছিল। সে তো তো করিয়া গর্জন করিতে কহিল—“এই, হতভাগা শূয়ার, তুই আমাকে বিকল করিতে চাস। হতভাগা—শূয়ার এখনও মরিস্ নি। দাঁড়া না মজা দেখাচ্ছি।”

এই বলিয়া দৌড়াইয়া গিয়া সোজা হুজি কোদালটা তার পেটের উপর মারিল। প্রায় বাঁট অবধি কোদালের চারিটা কাঁটাই তার পেটের মধ্যে ঢুকিয়া গেল। পদাতি বীরে চলিয়া পড়িল—মৃত্যু-খাস অনন্ত আকাশে মিলাইয়া গেল। রুদ্ধ এন্টোয়াইন কোদাল দিয়া বার বার তাহাকে আঘাত করিতেছিল—বুকে, গলায়, পেটে যেখানে সেখানে। পাগলের মত সে অনবরত আঘাত করিতেছিল। সারাগায়ে পদাতির অসংখ্য ছুটা হইয়া গিয়াছিল ও রক্ত করিয়া পড়িতেছিল।

নিজের প্রচেষ্টার শ্রান্ত এন্টোয়াইন থামিল। প্রতি-হিংসা চরিতার্থ করিয়া তাহার ক্রোধ প্রশমিত হইল।

উষার আলোর ধরণীর অঞ্চল রাত্রা হইয়া উঠিতে আরম্ভ করিল, কুকুটরা ডাকিয়া উঠিল, সে তাড়াতাড়ি মৃতদেহ কবর দিবার বন্দোবস্ত মনোযোগ দিল। সে একদিক থেকে খুঁড়িয়াই চলিতেছিল; গোবরের পর শেষ হইয়া মাটি বাহির হইয়া পড়িল কিন্তু তার বিপুল শক্তির সমস্ত একত্রিত হইয়া তাহার কোদাল মাটি কাটিয়া চলিয়াছিল—কত যে বোঁড়া হইয়া গেল সে দিকে তার জ্ঞেপও নাই—সে উম্মাদের খেরালের মত খুঁড়িয়াই চলিয়াছিল।

তারপর সে থামিল। দেহটা পর্কে ফেলিয়া দিয়া, মাটি ঢাপা দিয়া গোবর দিয়া ঢাকিয়া দিল। বরফ পড়িয়া সে স্থান আরও ঢাকিয়া ফেলিল; তাহার কার্যের কোনও প্রমাণই আর বাহিরে রহিল না—এই চিত্তার তার মুখে হাসি ফুটিয়া উঠিল। তারপর কোদালখানা গোবরের পাদার উপর কুঁড়িয়া রাখিয়া সে ঘরে ফিরিয়া আসিল। আধ নোতল মদ তখনও টেবিলের উপর ছিল। হা করিয়া সেই আধ নোতল মদ সে গলায় একেবারে ঢালিয়া দিল—সমস্ত মদ গিলিতে সে এক-বারও ঢোল গিলিল না। তারপর সে শুইয়া পড়িয়া ঘুমাইয়া পড়িল।

যখন সে জাগিল তাহার মনটা তখন অনেকটা পরিষ্কার হইয়া গিয়াছে, শান্ত বীর চিত্তে ভাবিবার ক্ষমতা ফিরিয়া আসিয়াছে।

যষ্ঠাধানিকের মধ্যেই সে বাড়ীর বাহির হইয়া বাড়ী বাড়ী খুঁজিতে আরম্ভ করিল প্রশ্নেরটা কোথায় গেল, কি হইল। এমন কি সৈন্তদলের অফিসারকে পর্যন্ত বাইয়া সে জিজ্ঞাসা করিয়া ফেলিল কেন এ তাহা তাহার নিকট হইতে তাহাকে কাড়িয়া লওয়া হইল।

তাহাদের প্রাপ্ত বন্ধুদের কথা অনেকেই অবগত ছিল সেই জন্ত তাহার উপর কারও কোনই সন্দেহ হইল না। এমন কি পদাতিক খুঁজিবার তার স্বয়ং সে লইতে রাজী হইল। সে সকলকে জানাইয়া দিল যে, প্রশ্নেরটীর চরিত্র বড় ভাল ছিল না, রোলই সফা-বেলার সে ঘেরেদের পেছনে ছুটিত।

পাশেই একজন রুদ্ধ অবসর প্রাপ্ত সৈনিক থাকিত। সে একটা হোটেল করিয়া তাহার আর হইতে সংসার চালাইত। তাহার একটা সুন্দরী ঘেরে ছিল। তাহার উপরই জর্জনদের সন্দেহ হইল। তাহাকেই প্রকৃত দোষী সাব্যস্ত করিয়া গুলি করিয়া হত্যা করা হইল। \*

শ্রীমদীনীমোহন রায় চৌধুরী।



## বরণ।

(সাহিত্য-সভার উদ্বোধন-সঙ্গীত।)

আজি শুভ-উৎসব দিকে-দিকে—

মিলন-রাগিনী বাজে হিয়া ভরি

ভূমনে-ভবনে একি মধুময় আগরণ—

বেদন-বাদলধারা হরণ করি।

তরুণ-পর্যাপ্ত সুখে আপনা হারা,

কে এল ধরায় ঢালি হাসির ধারা,

সবুজ-শোভায় মরি গিয়াছে নিখিল ভরি,

অকরে অমরা-সুখা পড়িছে বরি

এ মধুর-মঙ্গল শারদ-রাত্রে—

ভাগে আশা ভালবাসা জ্বর-পাতে,

উগসিত মুহু-বার যে গীতি গাহিয়া যায়

সে-স্বর উঠুক ভেগে পরাগ'পরি।

সার্বক হোক এই দীপ-আয়োজন,

স্বন্দর কর প্রভু এ মধু-মিলন,

বাণী-বীণা-কুঞ্জে সাংগত সুধজন—

পুলকিত অন্তরে সবারে বরি।

শ্রীশ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ।

## হাসির সওগাত।

ঐশ্বর্যের অসঙ্গত ব্যাখ্যা।

লতিকা।—ঐশ্বর্য অশব্দ, অস্পর্শ, অরূপ, অবায়, অদৃশ্য,  
অনন্ত, অক্ষর, অজ্ঞেয়।

অমিয়া।—ও যা! এমন তিনি! তা ভাল বুঝলুম না

তাই,—একটু বুঝিয়ে দেও না কথাগুলো।

লতিকা।—ঐশ্বর্য 'অশব্দ'—অর্থাৎ যাতে শব্দ নাই।

অমিয়া।—(স্বগত) আহা একেবারে, যেন ওগাড়ীর

সেজঠাকুর! সেজদি রাতদিন গাল দিচ্ছে, মুখে

শব্দটি নেই!

লতিকা।—তিনি 'অস্পর্শ'—অর্থাৎ হাঁকে স্পর্শ করা,  
কি না ছোঁয়া যায় না।

অমিয়া।—(স্বগত) যেন ভাস্কর ঠাকুরটি।

লতিকা।—তিনি 'অরূপ'—অর্থাৎ যার রূপ নাই।

অমিয়া।—(স্বগত) ও বাগো! ওগাড়ীর নৃতন বোটার

মত বুঝি! মুখের পানে তার চাওয়া যায় না!

লতিকা।—তিনি 'অবায়'—অর্থাৎ যার কিছুই যায়  
হয় না।

অমিয়া।—(স্বগত) বড্ড রূপণ তবে!

লতিকা।—তিনি 'অদৃশ্য'—অর্থাৎ তাঁকে দেখা যায় না। হবে।"

অমিয়া।—(স্বগত) ঠিক যেন আঘাতের দীনে ধোপা।

মা গো, একবার যদি কাপড় নিয়ে গেল,—আর  
দেখাটি দেবে না।

লতিকা।—তিনি 'অনন্ত'—অর্থাৎ যার শেষ নাই।

অমিয়া।—(স্বগত) মিলের হাতাত যেন,—শেষও হবে  
না, আর এ ছুঃখও যাবে না।

লতিকা।—তিনি 'অক্ষর'—অর্থাৎ যার ক্ষর নাই।

অমিয়া।—(স্বগত) আহা যেজ ঠাকুরের হাতের  
নোয়া গো। কি তাগিয়া। আবার কপালে কি  
আর তা হবে?

লতিকা।—তিনি 'অজ্ঞেয়'—অর্থাৎ হাঁকে জানা যায় না।

অমিয়া।—(স্বগত) ঠিক মিলের পেটের কথা। বসে  
বসে ভাবছে, আর তামাক খাচ্ছে। কেউ যদি  
কিছু জানতে পারে।

লতিকা।—এখন বুঝলে ত তাই?

অমিয়া।—হাঁ তাই, বেশ বুঝেছি! এমন জনের মত  
বোঝালে, বুঝব না?

তাই হবে!

প্রতিবেশিনী 'ছেলেটি বুঝি তার বাপের মতই



বধু। “তাই হবে যদি। নইলে সারারাত আমাকে  
যুহুতে দেয় না?” (মালক)

পুত্রের বুদ্ধি।

মা। (ছোট ছেলের প্রতি) তুমি যে মুখ হাত  
ধোও না—নতুন জামা পর না, নিমন্ত্রণ বাড়ীতে কেউ  
ত তোমার কোলেও নেবে না, চুমোও খাবে না।

শিশু পরিষ্কার পরিচ্ছন্ন হইয়া ঘরের বাহির হইতেই  
দেখে, তার বাবা; সাবান দিয়া মুখ ধুইতেছে। পুত্র  
বাবাকে সন্ধান করিয়া বলিল,—“বুকেছি বাবা, তুমি  
কেন মুখ ধোও,—নইলে ত কেউ কোলেও নেবে না,  
চুমোও খাবে না!”

আদর্শ উদাহরণ।

লীলা। (ছেলের শিক্ষয়িত্রী)—তাপে সবই প্রসারিত এবং  
শৈত্যে সঙ্কুচিত হয়; ইহার  
একটা উদাহরণ দাও।

স্বধা। (প্রত্যাৎপন্নমতি ছাত্রী)—যেমন গ্রীষ্মকালে দিন বড়  
হয় আর শীত কালে ছোট হয়।

এখনো পূর্বজন্মে।

ঘরের ভিতরের বালক-বালিকারা খেলা ও চীৎকার  
করছে। কিন্তু একটি শিশু ঘরের বাহিরে, দরজার কাছে  
চূপ ক’রে একলা বসে আছে।

বাবা তাকে দেখতে পেয়ে সুখালেন—“হ্যারে, তুই  
একলাটি বাইরে ব’সে কেন? ওরা বুঝি তোকে তাড়িয়ে  
দিয়েছে—?”

শিশু। ওরা যে বিয়ে বিয়ে খেলা করচে। তুলো  
হয়েছে বর, খেঁদি হয়েচে ক’নে।

বাবা। তুই কি?

শিশু। আমি ঝোকা।

বাবা। তবে এখানে বসে কেন?

শিশু। আমি যে এখনো জন্মাই নি! জন্মালেই  
ভেতরে যাব।

নর চরিত্রে নারীকৃত জ্ঞান।

পুরুষ। রমণী! তুমি বিধাতার অভিলাষ। তোমার  
কাপড় আর গয়নার কর্দমই দীর্ঘ হচ্ছে। কিন্তু  
আমি সর্বস্বান্ত—অগ্নিশ্রু। আমার সামনে এখন খালি  
এক পথ খোলা আছে। আমি সেই পথেই চলব।

নারী। কোথায়?

পুরুষ। গঙ্গায়! বিদায়—চিরবিদায়!

নারী। দেখ, গঙ্গার পথে যেতে পাষ্টাপিস পাবে।  
সেইখানে আমার এই চিঠিখানা অমনি ফেলে দিয়ে  
যেও তো।

(হিন্দুস্থান)

—শ্রীপতিপ্রসন্ন—

## অনন্ত রূপ

ভৃগু অবসানে দেখেছি তোমার

জানরূপে মনে জাগিছ।

ভোগ-অবসানে দেখেছি তোমার

ভোগরূপে হৃদে হাসিছ।

দৌহে বেধা বাচে দৌতার পরাণ

সদা বেধা হয় মান-অভিমান

সেবারও যে তুমি প্রেমরূপী ওগো

প্রেমরূপী ভগবান।

হৃৎকের অশ্রু মাঝারেও তুমি

জাররূপে মহিরান।

দুঃখ যেখানে হয়ে গেছে শেষ

অশ্রু পিরেছে শুকারে,

জান যেথা হার নাহি কিছু আর

সকলি ফেলেছে হারারে;

সেখানেও তোমা দেখিবারে পাই,

মহা-আনন্দ সলিলে সদাই

একটা কনক-কমলিনী তার

ছলিছে বৃহল বাতাসে।

উতলা বাতাস নিয়ে বধু-বাস

খেলিছে উদার আকাশে।

শ্রীপ্রাণকিশোর সাহায্য



## ডালি।

### জর্শ্বেলীক নূতন মুদ্রা।

পাশ্চাত্য পদার্থের অভাবে, এক আনি, দু'আনি, পরসী প্রভৃতি খুচরা মুদ্রা প্রচলনের জন্য জর্শ্বেলীতে এক নূতন উপায় উদ্ভাবিত হইয়াছে। তাম্র বা নিকেলের পরিবর্তে চীনেমাটিতে প্রস্তুত মুদ্রা প্রচলিত হইয়াছে। মূল্যের বিভিন্নতা অনুসারে উহার আকারও বিভিন্ন রকমের হইয়াছে। ঐগুলি দেখিতে সুন্দর হইলেও ব্যবহারে একটু বিপদ আছে। কোন ভারি জিনিষের চাপ পড়িলে বা কোন উঁচু স্থান হইতে পড়িয়া গেলে সহজেই ভাঙ্গিয়া যাইবার ভয় আছে। চীনেমাটির মুদ্রা প্রচলনে জর্শ্বেলীই পথ-প্রদর্শক নহে। বহু পূর্বে চীন ও জাপান প্রভৃতি স্থানে এ প্রকার মুদ্রার ব্যবহার ছিল।

(Illustrated London News).

### সমন্বয়ের মূল্য।

পাশ্চাত্য জগৎ সম্বন্ধে মূল্য খুব ভাল বোঝে বলিয়াই কাজের সুবিধার জন্য নিত্য নূতন উপায় আবিষ্কার করিতেছে।

কাজের সময় টেলিফোঁর ডাক আসিলে কাজ বন্ধ করিয়া টেলিফোঁর মুখনলটি কাণের কাছে ধরিয়া চুপ করিয়া বসিয়া থাকিতে হয়। ইহাতে কাজের ক্ষতি এবং সময়েরও যথেষ্ট অপব্যবহার হয়। এ অনুবিধা দূর করিবার জন্য টেলিফোঁর সঙ্গে একটি হাতোল লাগাইয়া তাহার সহিত মুখনলটি সংযুক্ত করিয়া দেওয়া হইয়াছে। এখন কাজের সময় টেলিফোঁর ডাক আসিলে আর মুখনলটি হাতে ধরিয়া বসিয়া থাকিতে হয় না। হাতোলটি টানিয়া কাণের কাছে মুখনলটি লাগাইয়া টেলিফোঁর কথা এবং হাতে কাজ হুইই একসঙ্গে করিতে পারা যায়।

(Scientific American.)

### চুলে চর্শ্বিলের সাদৃশ্য।

চার্লস কসেল নামক এক ব্যক্তি পরীক্ষা দ্বারা নির্ণয় করিয়াছেন যে, প্রতিভাপন্ন ব্যক্তিদের চুল কালো,

মহৎ ও কৃষ্ণিত হয়। খাড়া চুল ঠগ ও নীচতার পরিচায়ক। কৃষ্ণিত কেশ কবিত্ব-সূচক। ব্রাউনিং, টেনিসন, ইব্‌সেন, থমাস হুভ প্রভৃতির চুল ছিল ঘন কালো এবং কোটুস, শেলী, মিল্টন, নেপোলিয়ান প্রভৃতির চুল ছিল লালত। কোন প্রতিভালীনেরই কটা চুল দেখা যায় নাই।

(Literary Digest.)

### পল্লিগঞ্জে নূতন সড়ক।

'সখের প্রাণ গড়ের মাঠ', পাশ্চাত্যদেশবাসীদের সম্পর্কে এ কথা বলা যাইতে পারে বটে। 'একটা নূতন কিছু করো', এ ভাবটি তাঁহাদের মধ্যে বড়ই বাড়িয়া গিয়াছে। বিবাহ-ব্যাপারেও নূতন কিছু করিবার ঝোঁক এত বৃদ্ধি পাইয়াছে যে, গীর্জায় বিবাহ সম্পন্ন করা নিত্যমাত্র সেকেলে হইয়া দাঁড়াইয়াছে। উড়ো জাহাজে চড়িয়া শূণ্যে বিবাহ, রেলগাড়ীতে বিবাহ, ইয়াবো চড়িয়া বিবাহ, মোটর-লরিতে বিবাহ করার অনেক সংবাদ শোনা গিয়াছে। জর্শ্বেলীও একজন জেল-কর্মচারী অনেক গবেষণার পর বধ্যভূমির কাঁসি-মঞ্চকেই বিবাহের উপযুক্ত আসন মনে করিয়া সেখানেই শুভ-পরিণয় সম্পন্ন করিয়াছেন। সে বিবাহে বিভিন্ন জেলের তিনশত জন্মান বরযাত্রীরাপে উপস্থিত হইয়া সভার শোভা বর্ধন করিয়াছিলেন। আবে-রিকার এক সৌধিন দম্পতি সিংহের পিঞ্জরে প্রবেশ করিয়া বিবাহ-স্বত্রে বন্ধ হইয়াছেন। বেলুন চড়িয়া বিবাহ করিতে যাইয়া একবার এক ক'নে ভয় পাইয়া বেলুন হইতে নীচে পড়িয়া যান। বরের কপাল ভাল, তাই ক'নেটি জলে আঁগিয়া পড়ে এবং প্রাণে রক্ষা পায়। মাটিতে পড়িলেই বিবাহের সব রস মুহূর্ত্ত মধ্যে freezing point-এ বাইয়া পৌঁছিত। সাবমেরীনে করিয়া সমুদ্র-গর্ভে এক রসিক-দম্পতি বিবাহ সম্পাদন করিয়াছেন। তবে ভিন্ন আছে সে বিবাহে কঁাসর বাজাইয়াছে এবং কুমার রঞ্জীন-কাগজে ছাপা প্রীতি-উপহার বিতরণ করিয়াছে, এতদ্ব্যতীত কোন সংবাদ



জানিতে পারি নাই। সম্ভ্রুতি কর্ণেল ওয়ার্টন নামক একটি মাত্র একশত বৎসরের বয়ের সহিত বাঁহার বিবাহ হইয়াছে, সেই ক'নেটি এই সবে সাতাত্তর বৎসরে পা দিয়াছে। বিবাহ সংবাদটা শুধন শুনিয়াছি, তখন একবার উলুধনি না করাটা বড়ই দৃষ্টিকটু দেখা যায়।

### প্রাণদণ্ডের রকনাক্ষী।

পৃথিবীর নানা দেশে হত্যাকারীদের প্রাণদণ্ড বিধান বিভিন্ন প্রকারে হইয়া থাকে।

গ্রেট ব্রিটনে হত্যাকারীদেরকে ফাঁস দেওয়া হয়।

রুশ রাজ্যে হত্যাকারীকে লবণের খনিতে কাজ করিবার জন্য প্রেরণ করে।

আমেরিকার যুক্তরাজ্যে বৈদ্যাতিক শক্তি প্রয়োগে অপরাধীর জীবন জীলা শেষ করা হয়, আবার কখনও বা বিনা বিচারেও ঐরূপ করা হয়।

স্পেন দেশে অপরাধীকে নির্জন স্থানে গোপনে খাঁস বন্ধ করিয়া মাটির ফেলার নিয়ম।

ফ্রান্স, বেলজিয়ম ও বাভেরিয়ার হত্যা করিবার জন্য এক প্রকার যন্ত্র ব্যবহার হয়, এই যন্ত্রের উপরিভাগে একটি শাণিত গোড়া লৌহ ফলাকা থাকে, অপরাধী সামন্তরাল ভাবে তাহার গলাটি ঐ শাণিত লৌহ ফলাকার নীচে রাখিয়া শয়ন করিলে উপর হইতে উহা সজোরে তাহার গলার উপর পড়িয়া দেহ হইতে মস্তককে বিচ্ছিন্ন করে।

ওল্ডেনবার্গ ও ইকুডোরে গুলি করিয়া প্রাণ হনন করে।

কোরিয়াতে বোঁচাইয়া বোঁচাইয়া মারা হয়।

চীনদেশের নিয়ম এই যে দণ্ড প্রাপ্ত ব্যক্তিকে প্রথমে বিনা লবণে খাওয়া দেওয়া হয়, এবং পরে তাহাকে দেওয়ালের সহিত একরূপ ভাবে গাঁথা হয় যে সে নিশ্বাস বন্ধ হইয়া মরিয়া যায়।

প্রুসিয়াতে নির্জন স্থানে তলোয়ার দ্বারা বিধৃত করা হয়, কিন্তু সুইজারল্যান্ডে 'সর্বসাধারণের সম্মুখে উপরোক্ত ভাবে তরবারীর দ্বারা বধ করিবার প্রথা।

(সম্মিলনী)

—ত্রীপতিপ্রসন্ন—

## সপ্তমী প্রাতে

আনুয়ে তারে, আনুয়ে তারে, আনুয়ে তারে, ডেকে আন,  
সে বিনা আজ্ বিফল বত ধরার আলো হাসি-গান।  
সে বিনা আজ্ সকল ঋতুর উৎসব যে রয় তুষাভূষ,  
সে বিনা আজ্ “পূজার” পূলক হয়ে আসে ত্রিগম্য।  
সে বিনা আজ্ বিফল বোধন, বিফল ঘেরে সব আয়োজন,  
বিফল “পূজার” জয়ধ্বনি, বিফল “মাকে” অর্ঘ্যদান।

আনুয়ে তারে, আনুয়ে তারে, আনুয়ে তারে ডেকে আন,  
সে বিনা আজ্ বিফল বত “পূজার” আলো হাসি-গান।  
সবাই ঘরে এল ফিরে, এল না সে পাষাণীরে,—  
এতই কি তার বড় হলো আমাঃ পরে অস্তিমান।  
এদিক ওদিক চেয়ে দেখি, লুকিয়ে কোথাও আছে সে কি,  
পর্যাপ্ত আমার বেহিরে পড়ে শুনলে বাঁশীর মিঠে তান।  
তাই আজি এ বোধন প্রাতে প্রাণ সঁপেছি বিজয়াতে,  
ভাব্চি বসে আসবে কবে মধু পারের আহবান।

ত্রীআশুতোষ মুখোপাধ্যায়।

## প্রতীক্ষা

কখন আসিবে তুমি প্রাণেশ আমার,  
পূর্ণ করি জীবনের দৈব হাহাকার।  
মরমের তটে শুনি বাঁশীর তান  
উছলি উঠিবে প্রেম—কান্দিবে পরাণ,  
তোমারি আসাব আশা অজস্র ধারায়  
শিহরি উঠিবে মোর শিরায় শিরায়।  
শুভ-দৃষ্টি কালে যখন বনৌনা বধুর  
সলাজ আনন হয় উজল মধুর,  
তোমারি তোমারে হেরি হে মোর প্রাণেশ,  
উছলি উঠিবে প্রাণে সুখের আবেশ।  
আমারে সাজাতে কবে অতুলন সাজে,  
আবার আসিবে তুমি হৃদয়ের মাঝে;  
তুলি দিবে মোর গলে আপনার মালা,  
তুচ্ছ করি আছি তাই দৈব দুখ আলা।

ত্রীসরোজকুমার সেন



## স্মৃতি-পূজা ।

স্বনামধন্য রায় বাহাদুর কালীপ্রসন্ন ঘোষ বিজ্ঞানসাগর ছিলেন। আমি তাঁহারই রচিত নিম্নলিখিত প্রসিদ্ধ সি, আই, ই মহোদয় আমাকে বড়ই দ্বৈধের চক্ষে গানটি গাইলাম—

দেখিতেন। তাহারই নিদর্শন স্বরূপ দুই একটি কথা আজ এখানে বিবৃত করিব।

প্রায় পঁচিশ বৎসর অতীত হইতে চলিল একদিন সন্ধ্যার পরে আমার বন্ধু সে সময়ে ডাক্তার এখন মুনসেফ শ্রীযুত জ্ঞানচন্দ্র বন্দ্যোপাধ্যায় এম্. এ, বি, এল্ এবং শ্রীযুত অম্বকুণ্ডলচন্দ্র গুপ্ত কাব্যতর্ক অধুনা শাস্ত্রী মহাশয়-দ্বয়ের সঙ্গে “বান্ধব-কুটীরে” ঘোষ মহাশয়ের সমীপে প্রথম সাক্ষাৎ করিতে যাই। ইতিপূর্বে তাঁহাকে বহুবার দেখিগেও, তাঁর জলদগম্ভীর বক্তৃতা শ্রবণ করিগেও তাঁহার বাড়ীতে কখনও যাই নাই বা তাঁহার সঙ্গে আলাপ করিবার সুবিধা সুযোগ হয় নাই। অমুসন্ধানে জানিতে পারিলাম তখন তিনি উপরতালার বৈঠকধানার আছেন। ধবর পাঠাইলে তিনি আমাদিগকে ডাকিলেন। উপরে উঠিয়াই তাঁহার বহু আলমারী সজ্জিত বিস্তৃত বৈঠকধানার ঘরে প্রবেশ করিলাম। সকল আলমারী গুলিই সময়ে সজ্জিত গ্রন্থরাঞ্জিতে পূর্ণ। দেখিলাম সৌম্যদর্শন মনস্বী আশে পাশে রক্ষিত গ্রন্থ রাশি মধ্যে ফরাশের উপরে বসিয়া আছেন। আমরা প্রবেশ করিয়া তাঁহাকে অভিবাদন করিতে না করিতেই তিনি দাঁড়াইয়া উঠিয়া আমাদিগকে প্রত্যাবিবাদন করিলেন, এবং সাদরে আসন গ্রহণ করিতে বলিলেন। বার বার অমুরোধ করিলেও আমরা সকলে না-বস; পর্য্যন্ত কিছুতেই নিজে বসিলেন না। আমরা তিন জনই তাঁহার কাছে ছেলে ছোকরা তাঁহার এইরূপ অভ্যর্থনায় আমরা অত্যন্ত লাজ্জিত হইলাম। আমরা পরস্পর পরস্পরের পরিচয় দিলে তিনি আমাকে “আপনি” ছাড়িয়া “তুমি” বলিয়াই সম্বোধন করিতে লাগিলেন।

সাহিত্য বিষয়ে নানা আলাপের পর, বন্ধুদের মধ্যে একজন বলিলেন যে আমি একটু একটু গাইতে পারি। শ্রবণ মাত্রই আমাকে একটি গান করিবার জন্ত সনির্বন্ধ অমুরোধ করিয়া অন্তঃপুর হইতে হারমোনিয়াম আনাইয়া

তিলক—কামোদ আপতাল।

“নীরব ভারতে কেন ভারতীর বীণা।

সোণার প্রতিমা আজি শোকে মলিনা ॥

কুঞ্জে কুঞ্জে বার কোকিল কণ্ঠে খেলিত সুধা তরঙ্গে,

সে কবি-নিকুঞ্জ-কান্তি শ্মশান সমান। ॥

বীর-রাগ-মদে যেই তানে গঞ্জিত ভারত।

আজি সে দীপক রাগ শ্রবণে তনি না ॥”

রায় বাহাদুর শ্রীযুক্ত বোগেশচন্দ্র মিত্র মহাশয় এক সময়ে ঢাকায় ডিষ্ট্রিক্ট ও সেশন্স জজের পদে সমাদীন ছিলেন। তিনি যখন অবসর গ্রহণ করিয়া এখান হইতে চলিয়া যান, তখন “পূর্ব্বঙ্গ কায়স্থসভা” হইতে তাঁহাকে একটি বিদায় অভিনন্দন দেওয়া হয়। সেই সভার গান গাওয়ার তার পরে আমার উপর।

আমি সভার অধিবেশনের দিন সকাল বেলা ঘোষ বাহাদুরের শরণাপন্ন হইয়া দুইটি গান রচনা করিয়া দিবার জন্ত অমুরোধ করিলাম। তিনি হাসিমুখে সম্মত হইয়া নিম্নলিখিত দুইটি গান তখন তখনই লিখিয়া দিলেন,—

মিশ্র বাগেশ্বরী—আড়াঠেকা।

“নয়ন জলের মাগা গাঁথিয়াছি বিনা স্মৃতে,

তোমা হেন প্রিয়ভনে প্রীতি-উপহার দিতে।

প্রফুল্ল নয়ন দুটি ফুলের মতন ফুটি,

কিবা শোভিতেছে মরি তব অই মুরতিতে।

কি প্রসন্ন মধুরতা কহিছে কতই কথা,

বিয়োগ-বিধুরা স্মৃতি পারিবে কি পাশরিতে ॥

বিচার আসনে বাঁস অমৃত হৃদয়ে পাশ,

তুষিয়াছ বহু প্রাণ আপনার পুণ্যত্রেতে।

সে পুণ্য পবিত্র গাথা গাবে লোকে যথা তথা,

সামান্য নহে এ সুখ এ নশ্বর অবনীতে ॥”



লুন—বিবিট—আপ্তাল।

“বিদায় সঙ্গীত মোরা গাইব বল কি হবে;

বিদায়ের কথাটিও কোটেনা কার অধরে ॥

বাজিতে চাহেনা বীণা বিদায় দুঃখ-মলিনা,

কোটেনা ভাবের ফুল ফুরায়ের কোন শুভে ॥

তাই এ বিরস গানে, তাপিত বিরস প্রাণে,

শুধুই আশীষ মোরা স্রুখে ধেক নিজপুরে ॥”

একবার ভাওয়াল জয়দেবপুরের রাজবাটিতে সার  
ঐযুত কৃষ্ণগোবিন্দ গুপ্ত মহাশয়কে নিমন্ত্রণ করিয়া  
মেওয়া হয়। সেই সময়ে কুমাররা সকলেই জীবিত।  
আমরা বন্ধু ময়মনসিংহের ঐযুত উমেশচন্দ্র চাকলাদার  
মহাশয়ের এবং আমার উপর তদনুপলক্ষে অত্যাধিক  
সঙ্গীত গাইবার ভার পড়ে। সম্মোচিত দুইটি গান  
রচনার জন্য আমি অগতঃ গীতি ঘোষ বাহাদুরেরই  
শরণাপন্ন হইলাম। পূর্বে গান যে রচনা করিতে  
হইবে সে কথা আমার বলা হইয়াছিল না। বেলা  
১১ টার সময় বলা হইল, পরদিন সকাল বেলাই  
আমাদের জয়দেবপুরে যাইতে হইবে। ইহার মধ্যে  
গান রচনা করাইয়া তাহাতে সুর দিয়া অভ্যাস করিয়া  
লইতে হইবে। আমি বেলা সাড়ে এগারটার সময়  
বাইরা ঘোষ বাহাদুরকে খবর দিলাম। শুনিলাম তিনি  
আহায়ে বসিয়াছেন। তাবিলাম কি অসময়েই না  
তাহাকে আলাভন করিতে আসিয়াছি। কিন্তু খবর  
পাইয়াই আমাকে অপেক্ষা করিতে বলিয়া পাঠাইলেন।  
আমি দোতালার বৈঠকখানার তাহার অপেক্ষায় উদ্বিগ্ন  
চিত্তে বসিয়া রহিলাম। প্রায় আধ ঘণ্টার পরে তিনি  
আসিলেন। আমাকে প্রয়োজন জিজ্ঞাসা করিতেই  
আমি আমার অস্ত্রার আবদার তাহাকে জানাইয়া কথা  
চািলাম। তিনি হাসিয়া বলিলেন—“একটু অপেক্ষা কর  
আমি একটু বিশ্রাম করিয়া নেই।” মিনিট পাঁচ সাত  
পরেই একটি পেঙ্গল ও এক টুকরা কাগজ লইয়া  
লিখিতে আরম্ভ করিলেন এবং প্রায় ২৪ মিনিটের  
মধ্যেই দুইটি গান রচনা করিয়া আমার হাতে দিলেন।  
আমি আশ্চর্যবোধিত হইয়া গেলাম। তিনি ব্রহ্মাণ্ড  
ধরে আমাকে বলিলেন, “এমন সময়ে তুমি ছাড়া আর

কেহ আমাকে দিয়া গান লেখাইয়া লইতে পারিত না।”

আমি গর্জিত বনে তাঁহার পদধূলি নিলাম। তিনি  
হাসিয়া বলিলেন, “তুমি প্রতিবারই এমন সঙ্গীর্ণ বিষয়ে  
গান রচনা করিয়া দিতে আমাকে ধর যে, আমি  
মুন্ডিলে পড়িয়া বাই।” আমি বলিলাম “মুন্ডিল বলিয়াই  
আমাদের জন্য আপনাদের কাছে আসা।” গান দুইটি  
এই—

ইমন—তেওড়া।

“দেশের রতন জুড়াল নয়ন

নিজদেশে আজি নিরখি তোয়ার।

নিজ জন বলি এনেছি আঙুলি

তুলি ভয়ধ্বনি প্রীতির ভাষায়।

অমল গৌরবে ফুটেছে পূরবে

উজলি পূরব আপন প্রাণ,

এ প্রশান্ত প্রভা দিগন্তে কি শোভা

বিধারিছে আজি তব প্রতিভায়।”

খান্সাজ—একতালি।

“ধন্য আজি মোরা তোমার গৌরবে,

ধন্য পূর্ববঙ্গ তোমার সৌরভে,

যশোধ্বনি তব স্বদেশে-বিদেশে

বহে স্রুথ-সমীরণ।

প্রতিধ্বনি গায় তব গুণ-গাথা,

কবির ত্রিতন্ত্রী তব কীর্তি কথা,

তব আকর্ষণে আজি স্বত্বনে

এই স্রুথ সন্মিলন।

চিনি না রতন, জানি না যতন,

শুধু জানি তুমি আমাদেরই ধন,

তাই মোরা সবে প্রীতির উৎসবে

করি তব সন্তাষণ।

যে ধনিতে মণি জনমে আপনি

সে ধনিই তার যশোধ্বনে ধনী,

সুদূর যুগেতে প্রভা তার ফোটে,

তব সে ধনিরই ধন।”

অগ্নির মহারাজা সার গিরিজানাথ রায় মহোদয়  
তাঁহার পুত্র কুমার বাহাদুরের (অধুনা তিনিই মহা-



রাজা) উপনয়ন দেন ঢাকার। ঐ ঘটনার পরে এই দুইটি গানের প্রথমটি শ্রীযুক্ত অবনীকান্ত সেন ঢাকার কার্জন সত্বে একটি বিরাট অধিবেশন হয়। সাহিত্য-বিশারদ মহাশয় এবং দ্বিতীয়টি ঢাকা বারের ঐ সত্বে গান গাইবার ভারও এই অক্ষয়ের উপরেই পড়ে। এবারও গান রচনা করাইবার জন্য বিজ্ঞাপন মহাশয়ের নিকটেই গেলাম। তিনি দীক্ষিত হইয়া আমাকে উহা সত্বে পূর্বের দিন সন্ধ্যার সময়ে তাঁহার নিকট হইতে নিয়া বাইতে বলিলেন। কথামত সন্ধ্যায় বাইয়া দেখি তাঁহার ঘোড়ালার বসিবার ঘরে বিনয় ও ভক্ততার অবতার মহারাজা বাহাদুর, বসিয়া বোম্ব বাহাদুরের সঙ্গে আলাপ করিতেছেন। আমি প্রবেশ করিতেই মহারাজার নিকটে আমার পরিচয় দিয়া, রচিত গানটি আমার হাতে দিলেন। গানটি এই—

#### মূল তান—বাঁপতাল।

“পিতৃপূজা মহাযজ্ঞে জাগক সবার প্রাণ,  
প্রাণে প্রাণে সবে মিলে কর যজ্ঞ অগ্ৰষ্ঠান।  
পূণ্যক্ষেত্রে বঙ্গভূমে এ যজ্ঞের মহাধূমে  
জাগক জাতীয় ধর্ম, স্বজাতি কল্যাণ মান;  
স্বজাতি কল্যাণ তরে, যাচ সবে যুক্ত করে,  
হউক আবার বঙ্গে দেবতার অধিষ্ঠান।  
দেবব্রহ্ম, দেবকীর্তি, দেবধর্ম, দেবমূর্তি,  
লভিতে চাহিলে পুনঃ ক্ষত্রিয় সন্ধান,  
জীবনে পবিত্র হও, যজ্ঞহুত্রে যন্ত্র লও,  
যজ্ঞের দক্ষিণা দাও স্বার্থ অভিমান।”

উপরের গানটি ১৩১৬ সনের ২৯শে চৈত্র তারিখে রচিত হয়।

ইহার পর কোনও গান রচনার জন্য বোম্ব বাহাদুরের নিকট উপস্থিত হওয়ার ভাগ্য আমার আর হয় নাই। তিনি আর বেশী দিন জীবিত ছিলেন না। আমি বিদেশে তাঁহার পরলোক-গমন সংবাদ শুনিতে পাই। উহার কিছু দিন পরেই ১৯১০ সনের আগষ্ট মাসে ঢাকা নর্যক্রম হলে সর্বসাধারণের এক বিরাট শোক-সত্বে অধিবেশন হয়। সেই শোক-সত্বেও আমার উপরই গান গাইবার ভার অর্পিত হয়, এবং আমি নিম্নলিখিত গান দুইটি যথাসাধ্য গাইয়া সেই স্বর্গীয় মহাপুরুষের চরণ কমলে শ্রদ্ধা ও ভক্তির পুষ্পাঞ্জলি অর্পণ করি।

সাহিত্য-বিশারদ মহাশয় এবং দ্বিতীয়টি ঢাকা বারের উকিল আমার প্রিয়-বন্ধু শ্রীযুক্ত কামিনীকুমার সেন এম্, এ, বি, এল মহাশয় কর্তৃক রচিত। ঐ দুইটি গান লিপিবদ্ধ করিয়াই এই ক্ষুদ্র প্রস্তাবের উপসংহার করিব।

#### লুন-ঝিঁঝিট-বাঁপতাল।

“কোথা গেলে হে বীরান, সিংহাসন শূন্য করি।

অনাথা বাঙ্গলা ভাষা, নয়নে বরিছে বারি।

তোমা হেন আর কেবা ভাষার করিবে সেবা,

অকালে ডুবিল আজি ভাষার আশার তরী।

হে সাহিত্য-মহারথি, জ্ঞানের সাগর মধি,

কে আর উঠাবে এবে চিন্তা-অমৃত লহরী।

বঙ্গের সাহিত্যাকাশে একে একে গেল খসে’

তারি বলি, পূর্ণ শশী ; বিরিচ কাল-শরীরী”।

#### কেদারী—একতাল।

“আজি শোকবিকলা বঙ্গজননী

উঠিছে স্বপনে কীদিয়া,

হের শ্রাবণ গগন চাহিছে চমকি

সিক্ত নয়ন মেলিয়া।

আজি বাঙ্গালার মুক সাহিত্য কামন,

নিবিছে পূর্ণ শশী’র কিরণ,

বঙ্গভাষা হীনা “বাঙ্গাব” হীনা,

ধুলায় পড়িছে লুটিয়া।

তাই এস গো শান্তি ! ত্রিদিব হুহিতা,

ভগবত-পদ-কমল-পদ্মতা,

তুমি এসগো গঙ্গা ! অধীর বঙ্গে

অমিয় প্রবাহ ঢালিয়া।

তুমি কহ বরে বরে, ত্রিদিব-নগরে,

বাণী-জননী “কালীপ্রসন্নয়ে”

অমর-কিরীট পরাইলা শিরে

আপনি অক্কে তুলিয়া।

মাগো, হেথা শুধু ঘন আঁধারের তলে

ভাসি যোরা সব নয়নের জলে ;

হোথা দেব-বালা গাঁধে জরমালা

দেব-রূপে তাঁরে নিতে বরিয়া।”

শ্রীযোগেন্দ্রকিশোর রক্ষিত রায়।



## সাহিত্যিক-পত্র

( স্বর্গীয় রায় বাহাদুর কালীপ্রসন্ন ঘোষ বিজ্ঞানাগর,  
দি-আই-ই মহোদয়ের নিকট লিখিত। তদীয় পৌত্র  
শ্রীযুক্ত শ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ মহাশয়ের নিকট প্রাপ্ত। )

পণ্ডিত তারাকুমার কবিরত্নের পত্র।

কলিকাতা

২২ নং পটলডাক্সা স্ট্রীট্

৩০-এ চৈত্র, ১২৯৫ সাল।

সৌহার্দিনিধে।

আপনাদের নিকট বিদায় হইয়া আসিবার সময়  
বাস্তবিক আমার প্রাণ কাঁদিয়াছিল। যখন আমি গৃহ  
হইতে ঢাকা যাত্রা করি, তখন শকুন্তলার এই শ্লোকটি  
ভাবিতে ভাবিতে গিয়াছিলাম;—

“গচ্ছতি পুংঃ শরীরং বাবতি পশ্চাদসংস্থিতং চেতঃ।

চীনাংসুকমিব কেতোঃ প্রতিবাৎ নীরমানস্ত ॥”

আবার যখন আপনাদের নিকট বিদায় হইয়া আসি,  
তখন ভবাদৃশ ‘প্রীতিরদায়ন’ মিত্রগণের, আকর্ষণে এবং  
স্বর্গের মেহতন্ত সস্ততির আকর্ষণে যুগপৎ ‘দোলাচল-  
চিন্তাবৃত্তি’ হইয়া বারবার শকুন্তলার এই শ্লোকটি অংগ  
করিয়াছি;—

“কৃত্যোর্তিরিদেশবাৎ বৈধীভবতি মেঘনঃ।

পুংঃ প্রতিহন্তং শৈলৈঃ স্রোতঃ স্রোতোবহাৎ যথা ॥”

আমি আত্মাকে বাস্তবিক পুণ্যবান্ বলিয়া জ্ঞান করি,  
কেননা, ভবাদৃশ মিত্রের দর্শন লাভ ‘কথমপি হি পুণ্যেন  
ভবতি’।

\* \* \* \* অবিলম্বে আপনার আরোগ্য সংবাদে  
আমাদিগকে সুস্থ করিবেন। আপনাকে সুস্থ শরীরে

দেখিয়া আসিতে পারিলাম না, পিপাসা মিটাইয়া আপ-  
নার প্রণয়ামৃত আকর্ষণ পান করিতে পারিলাম না, আমার  
এ আপশোস্ কিছুতেই বাইবে না।

দাদা! আমাদের সমাজে একটি বড় মারাত্মক  
দোষ ঘটিয়াছে। অথবা তাহা ক্রাণজাতির পতনের  
অবশ্যজ্ঞাবী লক্ষণ। সমাজ যতই ক্রাণশক্তি হইতে  
থাকে, ততই তাহাতে অস্থির মাত্রা বাড়িতে থাকে।  
আপনার স্মরণ মিত্রের নিকট আমার কিছুই গোপন  
করিবার নাই। বর্তমানকালে চিন্তাশীল লেখকগণের  
আপনি বাহাতে অগ্রগণ্য না হন, এ স্থানে অনেকেরই  
সেই ইচ্ছা। কিন্তু দাদা! কে কবে প্রদীপ্ত পাবকে  
বসনাফলে ঢাকিতে পারিয়াছে? সহস্র চেষ্টা করিয়াও  
কেহ কখনও প্রকৃত গুণী ব্যক্তির গুণের অপলাপ করিতে  
পারে না। যে ব্যক্তি গুণের অপলাপ করিতে চেষ্টা করে,  
সে, গুণের অগুমাত্র অপলাপ না করিয়া, নিজেরই নীচ-  
তার পরিচয় দেয়। ‘তত্ত্বেন্দ্রন মিবানলঃ’ অগ্নি যেমন  
তৃণকাঠ ভেদ করিয়া প্রদীপ্ত হয়, গুণও তেমনি অপলাপ  
কারীর সমস্ত কুহক ভেদ করিয়া বতই প্রদীপ্ত হয়।

\* \* \* \* \*

আপনার স্বর্গীয় বন্ধুগণের মধ্যে আমাকে স্থান  
দান করিলেই আমি কৃতার্থ হইব। \* \* \* \* ইতি

আপনার

শ্রীতারাকুমার—

## গান

ঘরের ছেলে আনলি ঘরে

সেই ভালো মা, সেই ভালো!

খুলে গেল অন্ধ-নয়ন

দেখা দিল নুতন আলো।

ভুলেছিলাম হট্টগোলে

চেয়ে সবার মুখ পানে!

ছটেছিলাম কেপার মত

বস্তু হয়ে অভিমানে।

সে মোহ আজ ভাঙ্গল মাগো,

পরশ করি দৃঢ় করে!

বুঝিয়ে দিলে ধরার আশা

মায়া কেবল মরু ‘পরে’।

স্বপনখানি বুঢ়ল বদি

জীবন-ধারা ভবে ঢালো।

আমার ছোট কুটীর-কোণে

পূজার বাতি শুধু আলো!!

শ্রীজীবেন্দ্রকুমার দত্ত।



স্বরলিপি

পরজ-বসন্ত—একতালা ।

|             |     |          |        |       |          |      |      |       |       |
|-------------|-----|----------|--------|-------|----------|------|------|-------|-------|
| ১           | ২   | ৩        | ৪      | ৫     | ৬        | ৭    | ৮    | ৯     | ১০    |
| না II সনুসা | ধা  | না I সা  | -১     | মা    | মা       | মা   | গা   |       |       |
| ধ রেওবু     | ছে  | লে আ     | নু     | লি    | ধ        | রে   | ০    |       |       |
| ০           | ১   | ২        | ৩      | ৪     | ৫        | ৬    | ৭    | ৮     | ৯     |
| -১          | -১  | মমা      | মা     | মা    | মা I মা  | গা   | -পা  | মা    | -পা   |
| ০           | ০   | সেই      | ভা     | লো    | মা সে    | ই    | ০ ভা | লো    | ০     |
| ০           | ১   | ২        | ৩      | ৪     | ৫        | ৬    | ৭    | ৮     | ৯     |
| -১          | -১} | মা       | মা     | মা    | গা I মা  | -দা  | দা   | পা    | দা -১ |
| ০           | ০   | খু       | লে     | গে    | ল অ      | নু   | ধ ন  | র     | নু    |
| ০           | ১   | ২        | ৩      | ৪     | ৫        | ৬    | ৭    | ৮     | ৯     |
| ১           | ১   | মা       | মা     | মা    | মগা I মা | মগা  | পা   |       |       |
| ০           | ০   | দে       | ধা     | দি    | ল ০      | নু   | ভ ০  | নু    |       |
| ৩           | ৪   | ৫        | ৬      | ৭     | ৮        | ৯    | ১০   | ১১    | ১২    |
| মা          | মা  | -গা      | -১     | -১ II |          |      |      |       |       |
| আ           | লো  | ০        | ০      | ০     |          |      |      |       |       |
| ১           | ২   | ৩        | ৪      | ৫     | ৬        | ৭    | ৮    | ৯     | ১০    |
| না II সা    | মা  | মমা I মা | মা     | মা    | -১       | মা   | মা   | -গা   |       |
| ভু          | সে  | ছি       | লাম্ হ | টু    | ০ গো     | লে   | ০    |       |       |
| ০           | ১   | ২        | ৩      | ৪     | ৫        | ৬    | ৭    | ৮     | ৯     |
| -১          | -১  | মা       | মা     | মা    | মগা I মা | মগা  | -পা  |       |       |
| ০           | ০   | চে       | রে     | স     | বার্     | মু   | ০    |       |       |
| ৩           | ৪   | ৫        | ৬      | ৭     | ৮        | ৯    | ১০   | ১১    | ১২    |
| মা          | মা  | -১       | -১     | -১ }  | মা       | মা   | মা   | পগা I |       |
| পা          | নে  | ০        | ০      | ০     | ছ        | টে   | ছি   | লাম্  |       |
| ২           | ৩   | ৪        | ৫      | ৬     | ৭        | ৮    | ৯    | ১০    | ১১    |
| মা          | দা  | -১       | পা     | দা    | -১       | -১   | -১   | মা    |       |
| ধে          | পা  | বু       | ম      | ত     | ০ ০      | ০    | ০    | ম     |       |
| ১           | ২   | ৩        | ৪      | ৫     | ৬        | ৭    | ৮    | ৯     | ১০    |
| -মগপা       | মা  | মা I     | পা     | গা    | -মা      | মা   | সা   | -১    |       |
| ভত ০        | হ   | রে       | অ      | ভি    | ০ মা     | নে   |      |       |       |
| ০           | ১   | ২        | ৩      | ৪     | ৫        | ৬    | ৭    | ৮     | ৯     |
| -১          | -১  | {মা      | মা     | মা    | ধধা I    | না-ঃ | -ঃ   | না    |       |
| ০           | ০   | সে       | মো.    | হ     | আজ্      | ভা   | ভু   | লি    |       |



|   |     |      |      |      |     |              |      |     |      |
|---|-----|------|------|------|-----|--------------|------|-----|------|
| ৩ | সাঁ | সাঁ  | -১   | -১   | -১  | খাঁ          | খাঁ  | সাঁ | সাঁ  |
|   | মা  | পো   | ০    | ০    | ০   | প            | র ন্ | ক   | রি   |
| ২ | সাঁ | নখাঁ | -সাঁ | সাঁ  | সাঁ | -১           | -১   | -১  | সাঁ  |
|   | বু  | চু   | ০    | ক    | রে  | ০            | ০    | ০   | বু   |
| ১ | সাঁ | সাঁ  | সাঁ  | না   | না  | -১           | খাঁ  | খাঁ | -১   |
|   | ঝি  | রে   | দিলি | ধ    | রা  | বু           | আ    | খা  | ০    |
| ০ | -১  | -১   | মা   | মা   | ধা  | ধখাঁ         | ধা   | ধনা | -সাঁ |
|   | ০   | ০    | মা   | রা   | কে  | বলু          | ম    | রু  | ০    |
| ৩ | না  | মা   | -১   | -১   | -১  | { সাঁ   -সাঁ | গাঁ  | গাঁ |      |
|   | প   | রে   | ০    | ০    | ০   | { ব   পন     | খা   | নি  |      |
| ২ | গাঁ | -মঃ  | গাঁ  | খাঁ  | সাঁ | -১           | -১   | -১  | সাঁ  |
|   | বু  | চু   | ল    | ব    | দি  | ০            | ০    | ০   | জী   |
| ১ | সাঁ | না   | না   | ধা   | ধা  | -১           | মা   | মা  | -১   |
|   | বন্ | ধা   | রা   | ত    | বে  | ০            | তা   | লো  | ০    |
| ০ | -১  | -১   | মা   | মমা  | মা  | পা           | মা   | দাঃ | -১   |
|   | ০   | ০    | আ    | মাবু | ছো  | ট            | কু   | টী  | বু   |
| ৩ | পা  | দা   | -১   | -১   | -১  | মা           | মগা  | মা  | মা   |
|   | কো  | পে   | ০    | ০    | ০   | পু           | জাবু | বা  | তি   |
| ২ | মা  | মগা  | -পা  | মা   | মা  | -গা          | -১   | -১  | II   |
|   | তু  | ধু   | ০    | জা   | লো  | ০            | ০    | ০   | II   |

শ্রীমোহিনী সেন গুপ্তা



It is requested that all articles intended for publication may be sent to Professor S. N. Bhadra, Nyabazar, Dacca.

All business communications and all complaints regarding non-delivery of the Magazine should be addressed to—

*The Manager, "DACCA REVIEW,"*  
5, Nayabazar Road, Dacca.

V.B.—I take this opportunity of expressing our sincere gratitude to the numerous gentlemen of light and leading who have encouraged us in this venture, either by the assurance of their warm and sympathetic support or by offering to contribute to this Magazine. Among other we may mention the names of:—

|  |   |
|--|---|
| The Hon'ble Mr. P. C. Lyon, C.S.I.                                       |   |
| The Hon'ble Sir Harcourt Butler, K. C. I. E.                             |   |
| The Hon'ble Nawab Syed Sir Shamsul Huda, K. C. I. E., M.A., B.L.         |   |
| The Hon'ble Sir Asutosh Mookerjee, Sastra. Vachaspati Kt., C.S.I., M.A., |   |
| The Hon'ble Mr. H. LeMesurier, C.S.I., C.I.E., I.C.S.                    | Hon'ble Maharaja Bahadur of Dinagpor, K.C.I.E.  |
| " Sir Henry Wheeler, K. C. I. E.   | The " Maharaja Bahadur of Cassimbazar, K.C.I.E. |
| " Mr. R. Nathan, B.A., C.S.I., C.I.E., I.C.S.                            | The Hon. Maharaja Bahadur of Nashipur.          |
| " Mr. H. Sharp, C.S.I., C.I.E., M.A.                                     | The " Raja Bahadur of Mymensing.                |
| " Sir N. D. Beatson Bell, C.S.I., C.I.E., I.C.S.                         | Prof. J. N. Das Gupta, M.A., (Oxon).            |
| " Mr. J. Donald, C. I. E., I. C. S.                                      | The Hon'ble Sir Devaprasad Sarvadhicari M. A.   |
| " Mr. W. W. Hornell, C. I. E., M. A.                                     | L. L. D. C. I. E.                               |
| " Mr. W. J. Reid, C.I.E., I.C.S.   | " Mr J. H. Kerr, C. S. I., C. I. E., I. C. S    |
| " Mr. J. G. Cumming, C. S. I., C. I. E.                                  | " Mr. Justice B. B. Newbould, I.C.S.            |
| " F. C. French, C.S.I., I.C.S.   | " Nawab Syed Nawab Ali Chowdhuri.               |
| " W. A. Seaton Esq., I. C. S.  | " Babu Ananda Chandra Roy.                      |
| " D. G. Davies Esq., I. C. S.  | J. T. Rankin Esq. I.C.S.                        |
| Ven'ble Archdeacon W. K. Firminger, M.A.                                 | G. S. Dutt Esq., I.C.S.                         |
| Sir John Woodroffe.  | S. G. Hart, Esq., M.A., I.C.S.                  |
| Sir John Marshall, K.C.I.E., M.A., LITT. D., F.S.A.                      | F. D. Ascoli, Esq., M.A., I.C.S.                |
| The Hon'ble Mr. K. C. De, C.I.E., B.A., I.C.S.                           | J. McSwiney, Esq., M.A., I.C.S.                 |
| " Mr. L. Birley C. I. E., I. C. S.                                       | W. R. Gourlay, Esq., C.I.E., I.C.S.             |
| " H. M. Cowan, Esq. I. C. S.   | T. O. D. Dunn Esq., M.A.                        |
| " J. N. Gupta Esq., M.A. I.C.S.  | E. N. Blandy Esq., I.C.S.                       |
| " W. L. Scott, Esq., I.C.S.  | D. S. Fraser Esq., I.C.S.                       |
| " Sir. J. C. Bose, C.S.I., C.I.E.  | Rai Jamini Mohon Mitra Bahadur.                 |
| " W. A. J. Archbold, Esq., M.A., L.L.B.                                  | Raja Monmotho Nath Rai Chaudhury of Santosh.    |
| " H. E. Stapleton Esq., M.A., B.Sc.                                      | Khan Bahadur Syed Aulad Hussein.                |
| " Dr. P. K. Roy, D.Sc.   | Mahamahopadhaya Dr. Satis Chandra Vidyabhusan   |
| " Dr. P. C. Ray, C.I.E. M.A., D.Sc. (London)                             | Kumar Sures Chandra Sinha.                      |
| " B. L. Choudhri, Esq., M.A., D.Sc. (Lond.)                              | Babu Chandra Sekhar Kar, Deputy Magistrate.     |
| Mahamahopadhaya Pundit Hara Prasad Sastri, C.I.E.                        | " Jatindra M han Sinha, Deputy Magistrate.      |
| Principal Evan E. Biss, M.A.   | " Hirendra Nath Dutt, M. A., B.L.               |
| " Rai Kumudini Kanta Bannerji Bahadur, M.A.                              | " Rakhal Das Banerjee, Calcutta Museum          |
| " Rai Lalit Mohan Chatterji Bahadur M. A.                                | " Hemendra Prosad Ghose.                        |
| " J. R. Barrow, B. A.  | " Akshoy Kumar Moitra                           |
| Professor R. B. Ramsbotham M. A., (Oxon).                                | " Jagadananda Roy.                              |
| " J. C. Kydd, M. A.  | " Binoy Kumar Sircar.                           |
| " W. Douglas, M. A., B. Phil., B. D.                                     | " Gouranga Nath Banerjee.                       |
| " T. T. Williams M. A., B. Sc.   | " Ram Pran Gupta.                               |
| " Egerton Smith, M. A.   | Dr. D. B. Spooner.                              |
| " G. H. Langley, M. A.   | Kunwar Sain Esq., M.A., Bar-at-Law              |
| " Rai B. N. Das Bahadur, M. A. B.Sc.                                     | Principal, Lahore Law College                   |
| " Debendra Prasad Ghose.   | Khan Bahadur Syed Abdul Latif.                  |



## CONTENTS.

|                        |     |                                     |     |
|------------------------|-----|-------------------------------------|-----|
| 1. Buddhists in Bengal | ... | Mahamahopadhyaya Pandit Hara Prasad |     |
|                        |     | Sastri, C. I. E.                    | 98  |
| 2. In Memoriam         | ... | D. M. S.                            | 105 |

---

## সূচী ।

|  |     |  |     |
|--|-----|--|-----|
| ১। আব্বান ( কবিতা )                      | ... | শ্রীযুক্ত নেপালচন্দ্র চক্রবর্তী, এম্. এ          | ৯৭  |
| ২। সুখচেনা ( গল্প )                      | ... | শ্রীযুক্ত সুশীলকুমার রায়                        | ৯৮  |
| ৩। দাসী ( কবিতা )                        | ... | শ্রীযুক্ত বীরেন্দ্রনাথ মুখোপাধ্যায়, বি, এ       | ১০৩ |
| ৪। রবীন্দ্রনাথের পতিতা ( আলোচনা )        | ... | শ্রীযুক্ত সরোজকুমার সেন                          | ১০৪ |
| ৫। প্রেমের তত্ত্ব ( কবিতা )              | ... | শ্রীযুক্ত কালিদাস রায়, কবিশেখর, বি, এ           | ১০৭ |
| ৬। ডালি                                  | ... | ...  | ১০৭ |
| ৭। উষারানী ( কবিতা )                     | ... | শ্রীযুক্তা ভক্তিসুধা রায়                        | ১১১ |
| ৮। নাটক                                  | ... | ৮৭৭ বাহাদুর কালীপ্রসন্ন ঘোষ বিভাগসাগর, সি, আই, ই | ১১১ |
| ৯। আনন্দোৎসব ( কবিতা )                   | ... | শ্রীযুক্ত ত্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ, বি, এ...           | ১১৬ |
| ১০। হাসির সঙগাত                          | ... | ...  | ১১৬ |
| ১১। উৎসব ( কবিতা )                       | ... | শ্রীযুক্তা বেলা শুহ                              | ১১৭ |
| ১২। সাহিত্যিক পত্র                       | ... | ...  | ১১৮ |
| ১৩। আব্বান ( কবিতা )                     | ... | শ্রীযুক্ত ত্রিপুরাশঙ্কর সেন, এম্. এ              | ১১৮ |
| ১৪। কীর্তিমান্দের পৈত্রিক ইতিহাস ( চরন ) | ... | ...  | ১১৯ |
| ১৫। পুস্তক পরিচয়                        | ... | ...  | ১২০ |

---





# THE DACCA REVIEW.

---

VOL. XI.

OCTOBER, 1921.

No. 7.

---

## **BUDDHISTS IN BENGAL.**

MR. PRESIDENT AND GENTLEMEN,

When I came to Dacca, my friend Rai Satyendra Nath Bhadra Bahadur was very anxious to introduce me to the elites of the city and he was kind enough to propose to take me round himself. But on a second thought he proposed that I should read a paper on some subject which may interest the Dacca public as that would serve as a good preliminary introduction. After much discussion it was settled that I should read a paper on Buddhism in Bengal giving an account of the survival of Buddhism or the underground working of Buddhism among the people of this vast and densely populated province.

The task is rather difficult, for the Muhammadan rulers of Bengal did not know, from 1200 A. D. the approximate date of their conquest to the last quarter of the 18th century when even

the civil and criminal jurisdiction of the country slipped from their hands that the people whom they called Hindus were only Buddhists in a thin disguise; and our English rulers too have still no idea that among the so-called Hindu population of Bengal there are still large bodies of men who are to all intents and purposes Buddhists though in various stages of assimilation with the Hindus. The people of Bengal have for many centuries lost all memory of Buddhism which was the prevailing religion of their country before the 13th Century when the country slowly passed into the hands of the Muhammadans. The Bengali Literature knows of no Buddhism and the Sanskrit Literature of Bengal has but faint traces of that religion in its extensive and voluminous works. The society of Bengal knows only of two great communities Hindus and Muhammadans and knows of no third. No extensive ruins have been discovered in Bengal testifying to the greatness of Buddhist religion as in



Magadha, Benares and other places in India. Yet we read in Fa-Hien and Yuan Chwang that Bengal was in their time as good a Buddhist country as Tibet or Burma with only a sprinkling of Deva worshippers and heretics. Later, we hear of Tibet and Mongolia receiving their Buddhism as much from Bengal as from Magadha, Burma being reformed by Buddhists from Bengal and even the great stronghold of Buddhism, Ceylon, revering and worshipping banished Buddhists from Bengal. The Tangyur Collection of Buddhist works in Tibet contains translations of numerous Sanskrit and Bengali works written in Bengal and by Bengalees. At the end of the 12th Century just a few decades before the Muhammadan conquest a proud Brahmin, a Banerji, quoted about 30 Buddhist Sanskrit works for the correct use of Sanskrit words. The last Hindu king of Bengal wanted to have a grammar in Sanskrit without the Vedic section and he selected a Buddhist pandit for the work. This testifies to the flourishing state of Buddhist learning before the Muhammedan conquest.

But where is all that Buddhism gone with all its learning, all its proselytizing zeal, its magnificent worship and its vast influence on the arts and finer crafts of the country? This question agitated the minds of all who took an interest in Buddhism, in Europe and in India in the early eighties of the last century ; and Prof. Bendall of Cambridge

who had then just finished his Catalogue of Buddhist Manuscripts came to India to find if all that lost Buddhism could be traced. Raja Rajendra Lal Mittra had then just finished his "Nepalese Buddhist Sanskrit Literature," in the Preface to which in a few appreciative words, he acknowledged the assistance he received from my humble self. So Prof. Bendall was naturally anxious to find me out. But then nobody among the Europeans knew me and so he could not trace me. One day when he was driving in a carriage from Sharnagar to the tols at Bhatpara my Guru Mahamahopadhyaya Pandit Mahesh Chandra Nyayaratna asked me to accompany him as the Mahamahopadhyaya was suffering from an attack of rheumatism and could not go with the professor. In the carriage the professor asked me if I knew Haraprasad Sastri and could introduce him to the Sastri. I said with a significant smile "Yes, I can"; and so from that day we were friends and our whole conversation on that day and whole correspondence in subsequent years were on one topic, Buddhism and the last traces of Buddhism in Bengal. But we could do nothing for years.

At the end of the eighties of the last century several Bengali translations of Buddhist works in Pali by Dharmaraja Barua appeared from Chittagong and I thought perhaps traces of old Bengali Buddhism might be found there. But a careful study showed that the Chitta-



gong Buddhism was rather a late importation from Ceylon. \*Disappointed in tracing old Bengal Buddhism there, I looked round and found some traces of it in the hill tracts of Rangamati, where Buddhism took the shape of Kali worship and other later forms of Buddhism in Bengal. But the Chittagong Buddhists were fast obliterating all traces of old things at Rangamati.

In the year 1882 A. D. the *Dharma-mangala* by *Ghanarama* was published for the first time. It was a Bengali poem on the manifestation of the divinity of Dharma worshipped by the Domes, Hadis and other lower classes of Hindu society. I read the work several times, there was no Hinduism in it,—no mention of a Brahmana, or of a Ksatriya. The scenes were laid in Bengal with Gaud as its centre during the ascendancy of the Pala kings. The king kept swine, and the swine-herd was one of the principal characters in the poem. Ramai Pandit, the originator of the Cult was an actor in the poem and it spoke of Ichhai Ghosh who ruled somewhere on the Ajaya and of Karnsena who ruled at Mayna in the Hughli District. All this appeared strange. What was it? Was it an aboriginal form of worship? Or was it a survival of old Bengal Buddhism? I was very much perplexed. I wrote to Prof. Bendall who asked me to persevere. I visited some of the shrines of Dharma in Calcutta, notably one at No. 45, Old Janbazar Street, now named Corporation Street

and one at Balaram De Street,—and my perplexities were increased. I always found Dharma Thakura accompanied by the goddess of Small-Pox god of Fever, Ganesa, Pancananda and, other deities. I visited some of the shrines in the District of Burdwan. The priests were everywhere non-Brahmins and in some cases the Brahmins had only recently taken possession of the shrines and worshipped Dharma as Siva. Then I besought the non-Brahmin priests to give me the *mantras* of worship. Disappointed in many places, I at last got the Principal *mantra*, the *dhyana* from a sweetmeat-maker, who kept a shrine of Dharma at Suogachhi in the sub-division of Katwa; and I found that the *dhyana* described Dharma as *Sunyamurti*, a void and as a *Munindra* or an ascetic. This was certainly a survival of Buddhism. No Brahmin would describe his deity as a void. I went to see the Dharmaraj at Jamalpur near Patuli, where 1200 goats are sacrificed on the full-moon day of Baisakh which is supposed to be the birth-day of Buddha. I found there the image of a *Naga-kanya*, a beautiful Buddhist symbol in the form of an English "W", and the foundation of a big stupa. The place belonged to a *Hadi*, but Brahmins would not offer their vowed worship through so low-born a man. He had to employ a Brahmin for their sake. The Hadi has now disappeared and the shrine belongs to a Brahmin who thinks Dharma to be a form of Siva. But



hogs and fowls, the abominations of the Hindus, are still sacrificed there behind the shrine.

From that time I began to take greater interest in the literature of the Dharma Cult and gradually found a liturgy of the Dharma worship attributed wrongly to our great law-giver of the 16th century, Raghunandana. The liturgy gives in extenso the prevailing form of this worship. Dharma is the chief deity, his wife is Kaminya ; he is above Brahma, Visnu and Siva. These all are his companion deities. But he has a lot of other deities some known to the Hindu Pantheon, some absolutely unknown. It is several times told that the origin of the worship was on the banks of the Valluka and that Ramai Pandit was its high priest. I began to search for the river Valluka, but it was nowhere to be found, and no maps would show it. At last I found it by an accident in the District of Burdwan where I had gone to visit a Tol endowed by Babu Hiralal Mukherji who in the course of conversation told me of a river Valluka close by. It used to flow from the Damodara to the Hughli and fell into it near Kalna. But it is no longer a flowing river. It has no connection with the Ganges now. Its mouth has silted up. On the banks of this river I found a village of goodly size called Badaon or the Great Village. It has a broken temple of Dharma, rather of goodly dimensions, of the fourteenth century architecture. The broken

pieces of carved bricks are scattered all round the ruins but no one touches them, because there is a superstition that anyone touching them would vomit blood and die. The Dharma Thakur there has still a rich endowment and an annual festival on the full-moon day of Baisakha is held with great eclat. When I went there a female of the Dom caste was the Sevait of the Thakur and she gave me the same formula of the Dhyana as the sweetmeat maker at Suogachhi. She told me that she conducted the ordinary worship, but on great occasions she secured the services of pandits of her own caste knowing Vyakarana.

This brings us a good deal of information about the Dharma Cult and when it is remembered that Dharma is the second member of the Buddhist Trinity or Tri-Ratna generally represented by a stupa, the identification of this worship with Buddhism becomes complete, because every stupa laterly had five niches (four on four cardinal points and one on the South-East) for the five Dhyani Buddhas ; and a stupa with five niches would look like a tortoise with four legs and the protruding neck. This is the form in which Dharma is generally worshipped. Dharma is often described as Kachha-parupi.

Ramai Pandit too, seems to have flourished sometime after the Muhammadan conquest, for there is a ballad found in many books of the Dharma Cult



in which the Muhammadan Conquest of a certain District in Bengal is described. The worshippers of Dharma were greatly annoyed with the Brahmins, so against them they invoked the aid of Dharma, who appeared in the guise of a Moslem with a black skull cap on his head with a large army and fought against the Brahmins, who were treated with so much severity that even Ramai Pandit, the poet of Dharma records the event with regret.

The success of my endeavours in tracing some survival of the Buddhism in Bengal greatly encouraged me and I wrote a pamphlet giving it a sensational title, the "Discovery of Living Buddhism in Bengal" in the year 1897 and it pleased all who were interested in Buddhism. It was presented to the Paris Congress of Orientalists by M. Foucher and Prof. Sylvain Levi told me it was a real discovery.

A few years later I received a batch of palm-leaves written in Udiya character and some notes in English and Bengali from Sir Edward Gait with, a request that I should study them. The study of these leaves gave me another clue for tracing another survival of Buddhism. The leaves contain the rituals of a certain weaver class called Saraki Tanti in the Western Thanas of the Districts of Puri and Cuttack and even in the neighbouring Tributary Mahals. In these rituals the worship of Buddha plays a prominent part. They worshipped him even in marriage

ceremony and then on enquiry I came to learn that Saraki Tantis are to be found in almost all the districts in Western Bengal. These however, do not worship Buddha but abstain carefully from meat and drink and are more cleanly than their brother caste men. The word "Saraki" seems to be a corruption of Sravaka, an undoubted Buddhist term. In the Chandi written during the reign of Emperor Akbar, the author describes the Sarakis as a queer people averse to fish and meat and weaving Tasar cloth. From the same author I have come to know that about that time Buddhist monks assumed the names of Brahmanas; thus a great effort was made to merge Buddhism into Hinduism. The passage is,—  
বৰ্ণ বিপ্র হয় ঋষীশ্রী ।

The reformation of Buddhism in Pegu, in the Province of Burma was laid by a monk from Tamralipti or Tamluk in the year 1276 A. D. This event is recorded in the Kalyani Inscription in Pegu. So the monk who went to Pegu belonged to the Southern School of Buddhism and we now find in South-Western Bengal all round Tamralipti, in Howrah and Midnapore Districts, a class of men called "*Dharmaghore Yogi*" or the monks of the home of Dharma. These generally practise medicine, specially in epidemic diseases, like Small-Pox, measles and so on,—(a profession which is the last resort of the monastic order of India,) and always keep a piece of copper about their



person either in the form of a ring or in the form of a bracelet. They worship in secret and they worship Kali in a variety of forms. These beg all over the country with the image of the goddess of small-pox, placed on a wooden chair besmeared with vermillion, ornamented with brass-nails driven through her body.

In Nepal, the two communities Buddhist and Hindu live in complete isolation from each other and their attitude towards each other is one of complete non-co-operation. A Brahmin would not take water from a Buddhist nor a Buddhist from a Brahmin. They do not use even the same well or the same spring. At the head of the Hindus are the Brahmins and at the head of the Buddhists are the *Gubhajas*. They both call themselves Hindus and a Buddhist would be greatly offended if he is called Non-Hindu. He will immediately retort "Tom bi Hindu hai, Mai bi Hindu hum, Lekin Tom Siomargi hai, mai Bodhamargi". (You are a Hindu and I am a Hindu. But you are a worshipper of Siva and I am a worshipper of Buddha). All the ruling castes are Hindus and all the skilled labourers are Buddhists. The goldsmiths, the carpenters, the masons, the weavers, the painter are all Buddhists, while the fighting races are Hindus. The merchants are divided between the two communities. Those engaged in foreign trade are as a rule, Buddhists, and those engaged in home trade are Hindus.

The analogy of Nepal would show that the so-called depressed classes in Bengal were at one time Buddhists and lived in complete rivalry with the Hindus. The goldsmiths, the carpenters, the painters were by the analogy of Nepal once the flowers of the Buddhist community. The painters have all been converted into Muhammadanism but they still retain many of their Hindu customs. They bury their dead bodies, they repeat Kalma, but they also worship Laksmi, Durga and other Hindu deities. The goldsmiths and carpenters however are still Buddhists but they do not know that they are so. The word used in English "Depressed" is a misnomer. These classes or castes are not really depressed. They were rivals and were very exclusive. But now they are all disorganised. They have lost their monks who were either killed or had to flee the country. Those who remained were not powerful enough to organise their community and laterly as priests they called themselves Brahmins and are known as Varna-Brahmins i.e. priests of those castes with whom Brahmanas and their followers hold no intercourse. The large majority of them have been converted into Islam and that is the reason why Bengal has a much larger number of Muhammadans than Persia and Turkey put together.

In the Hindu community of Bengal there are two exclusive sections, called by Brahmins the *Acaraniyas* and *Anacaraniyas* that is, those



with whom there may be intercourse and those with whom there can be no intercourse. In English the latter are wrongly called "Depressed Classes" It is wrong because there is no evidence that there was any persecution or suppression. Both were equally under the Muhammadans. How then could one depress or suppress the other? Before Muhaminadan conquest they were the lords. The Government was for four centuries their hands. They had vast monasteries, exercised great influence in their own country and in other neighbouring countries. They had learning on their side. The Brahmins lived only by their sufferance. They were tolerated for their piety, learning and legal and philosophical acumen. The Senas were to a certain extent Hindus, but they lived in constant dread of these Buddhists who often rebelled and refused co-operation. Ballabhananda, a Suvarnavanik financed Vallalasena's warlike expeditions as long as he showed a liking for Buddhism, but as soon as Vallala fell under the influence of Simhagiri a Saiva sanyasi from Josimath and became anxious to lead an expedition against the king of Magadha who was presumably a Buddhist, he refused to lend money any more and read a lecture to him about the immorality of war. The Suvarna Vanikas refused to eat in Vallala's sacrifice and created disturbance. They stopped slave trade and dislocated the business of the whole community as servants became unavailable and compelled Vallala to give a

higher level to the Kaivartas who were hitherto untouchables in order to enable high caste people to employ them as Servants.

So there is no evidence that the so-called Depressed classes were depressed by the Brahmins or their followers. On the contrary there is evidence that they stopped all intercourse with the Hindus, and were proud of their power and position. But with the Musalman conquest the Buddhists went down, while the Brahmins were left where they were. For the brunt of the miseries of a revolution fell on the ruling classes and so the Buddhists felt the blow more bitterly than the Hindus. The Brahmins have improved the organisation of the society. But the Buddhists have lost their organisation, lost their proud tradition, lost their self-consciousness and are now coming to be incorporated in some form or other to the Hindu community of four castes. Some claim to be Vratya Brahmins, some as Vratya Ksatriyas, some Vratya Vaisyas. They interpret the word Vratya to mean "patita" or outcasted. This is wrong. I have shown elsewhere that the word meant in the Vedic world a nomad horde living in temporary habitations like the Vedias or Gypsies of the present day. So the so-called Depressed classes, the classes with whom the Brahmins and their followers are not in the habit of keeping any intercourse are really, "most of them" the survivals of the once most powerful, royal, nay, imperial race of Buddhists in Bengal. They have



not been depressed or suppressed by the Hindus, but they are disorganized, disintegrated, dismembered and demoralized

It is easy to trace many Buddhist customs among them even now and any one who has carefully observed the habits of both the communities will find marked difference between the two. What can be more deplorable than that their old priests, the remnants of the monastic order of the Buddhists had to take shelter under the name of Brahmins and to get themselves invested with the holy thread?

The Tributary Mahals of Orissa kept concealed under their jungles many remnants of Buddhism. The state called Bodh is said to be still a Buddhist state. The Mayurabhanja State contains many remnants of later Buddhism. Babu Nagendra Nath Vasu has brought together a mass of information on this in his publications on this subject. He speaks of a recent reformation among the Buddhists led by one Bhima Bhoi called the Mahimapanthi reformation initiated in the year 1875. These are prepared to partake of cooked rice from all castes except Brahmins. They have the memory of many old Mahayana doctrines and they closely follow in the wake of that Yana of the Buddhists. Their books are written in easy Udiya and though modern, have profoundly influenced the masses in the jungles.

These jungles were in the 9th and 10th centuries the cradle of a new form of Buddhism called the Sahajayana

preached by one of the Udiya chiefs named Indrabhūti and his gifted daughter Lakmidevi or Lakismkara Devi.

Their works are a mixture of profound philosophy and spiritualized sensuality. I give below the translation of some of the verses from the daughter's work.

"Om Vajrasattva be praised. I bow down to the Omniscient Lord Vajra, the Illuminator of Nature, the Originator of life in its three aspects and the Giver of objects desired."

"I shall expound in brief the mode of the worship of Vajrasattva, which has nothing to do with any particular country, time, moon-day, week-day, constellation or mystic diagrams. The worshippers uninitiated into it, can never attain success in millions and billions of years, by their rigid observances of fasts and vows or by their recitation of and meditation on the sacred syllables. The initiated worshipper should worship his own Self with nightsoil with water and seeds of the Vajra and with the products of the interior of the nose, meditating on the Great Truth."

"The initiated would worship, as directed in the cult of Prajna and Upaya, his mothers, sisters, daughters and nieces. He should always worship (even) the maimed woman (if) artful and of independent mind. (?) In this these are the sacred syllables. OM AH HUM."

"By the very fierce act, with which people, who are but contemptible creatures, are bound down, men are delivered from the fetters of existence, provided



that the act is accompanied with the (sacred and the mysterious) means (upaya). He should continue the heavenly observances which have their origin in the five kulas (senses) and conduct their worship with lights and Bel leaves with milk."

"The initiated worshipper, with his smiling face and eyes beaming with delight should have his mind thoroughly enlightened and should meditate on the Infinite Wisdom."

"Every object, movable or immovable which exists in this world with its three aspects is to be looked upon as the Holder of Vajra Himself by the worshipper wedded to Truth."

"Other schools of thought in spite of their sexual discrimination are not to be looked down upon in the evolution of Vajrasattva."

"The initiated worshipper should equally enjoy as "of the same taste" all entities coming as they are from the absolute non-entity, and should regard this corporeal body as by nature pure."

"He worships the Lord with sandal, garlands, clothes, incense and other offerings as well as with dancing and music, vocal and instrumental—these always accompany Upaya."

"He should think of no hardship. He should neither fast, nor perform any rite nor bathe nor wash, nor need he give up the virtue of nature."

"He need not and should not worship the images of gods, made of wood, stone and clay. He should only worship

this body always with a concentrated mind."

"He should worship the Vajradharini with wine and nightsoil mixed up with the filth of the flies—all purified—as well as with the usual five lights."

"He should worship the deity situated in his body, with "the ladies first grown flower" (technically the blood of her first mense) and the "Bel fruit with milk."

"He should make no scruple to carry away other's property enjoy other's wives, tell lies and kill the whole lot of Buddhas."

"He should build no shrine of stone or clay and should not be fond of reading books. He should not dream of drawing Mandalas."

"The initiated should loathe nothing as in everything there lives Vajrasattva by Himself."

"He should have no hesitation whatever, as to what he should enjoy and what he should not, what he should eat and what he should not, what he should drink and what he should not, always having his mind concentrated."

"He should shrink from no woman of whatever castes they may be ; as they are the goddess Prajna herself, embodied through illusion."

My object in giving these translations is to tell you how the teachings of the father and the daughter profoundly influenced Buddhist ideas in Bengal, Magadha, Nepal, Tibet and Mongolia. In about fifty years their doctrine had



taken a profound hold in Western Bengal and in another form in Eastern Bengal. In Western Bengal they produced Nada Pandit, his wife Nadi, Lui, Savara and a whole host of pious men called Siddhacaryyas, each with a large following. They are still worshipped in Tibet. Their wooden images are to be found in many monasteries and their books both in Sanskrit and in Bengali have been carefully translated and preserved in the Tangyur. Their songs the prototype of modern Kirtanapadas are exceedingly musical and melodious and their doctrines have with certain modifications been adopted by the Vaisnavas of Bengal. The followers of Nada and Nadi and of the Siddhacaryyas are still numerous now in the district of Midnapore, Birbhum and Bankura. They gather in their thousands and tens of thousands on the Ajaya at Kenduli, the place hallowed by the dust of the feet of the immortal poet Jayadeva. Last year I purposely went there to meet them and gather first hand information about their doctrines. They were very unwilling to give me any information whatsoever and I knew why they were. It was in the indelicate nature of the doctrine that made them unwilling to impart it to outsiders and to the uninitiated. I began however, to explain to them the Sahaja doctrine as I knew them from the writings of Sahajayanists of the 9th and 10th centuries in Sanskrit and Bengali. They listened attentively and

were very thoughtful. They looked at each other and then their foreman said addressing his companion "These gentlemen have come all the way from Calcutta to know our doctrine and it seems that they have made some study. Let us tell them what we know." They agreed and he said "Yes, you are right ; the Sahaja doctrine is the doctrine of union of the male and female energies." This exactly tallied with what I read in those old works. I then asked him what the meaning of the words "Nadha" and Nadhi was by which their sect was known. Babu Dinesh Chandra said that they are so called because they had bald heads. Is this true?" The foreman said, "This cannot be true ; for you can see here." There are about 5000 Neda Nedis assembled here and there is not a single bald head amongst them. I looked round and found that he was absolutely right. Instead of bald heads they had flowing hair. So the theory that Neda Nedis received their name from the fact shaving their heads like Buddhist monks fell through. I then asked them what was the meaning of the term Neda Nedi. They could not give me any reply. Then I asked them the meaning of the term 'Nada' used by Chaitanya in addressing the elderly Advaita. They could not give any satisfactory answer. I then suggested to them that in the 10th century A. D. five hundred years before Chaitanya there was a preacher of Sahajiya doctrine in Bengal called



Nada Pandit and he had a wife more learned than himself and that their followers might be called Neda-Nedi. They thought I might be right. I asked them if they believed in the divinity of Chaitanya. They said he was a great man. But they did not believe in his divinity. Krishna too, they did not believe in. Their doctrine was Dehattva. I found an exact resemblance between their doctrine and that of Bhagavati Laksmi as translated a few minutes ago.

Continuing the conversation I asked if they had any Guruparampara in their Akhdas. They said that the succession of the heads of these Akhdas do not go beyond the time of the Mahaprabhu. I said that cannot be true for the custom of bathing at Ajaya must have originated three hundred years earlier. They then found the fallacy of their statement and said, "That is true; Jayadeva preceded Mahaprabhu by several centuries. Our Guruparampara must commence earlier than the time of Chaitanya. But we do not know and we will enquire in old and well-known Akhdas."

This opens a vast and fruitful source of real useful and valuable investigation. Another of their leaders told me "It is extremely difficult to attain success in our doctrine. It cannot be attained without the favour of the Guru and you must identify yourself with your Guru. You should so study him as to know what he thinks, what he

wants and what he wishes by intuition." I told him to give a concrete example. He said, "I know when my Guru wants a smoke and I at once make his hukka ready. No success can be attained without his Prasada." This is pure Gubhaju or Guru worship of Nepal, *i. e.* Buddhism. Buddha, as time went on became known as Sugata, Guru, Lama, Karta and by many more similar names. The old Sanskrit Sahajiya doctrine says that so long as you have not secured your Guru's favour you are responsible for your work, good or bad, virtuous and sinful, but after you have secured his favour and known the truth that the whole world is void you can do anything. He is no other than Vajrasattva the Being honoured by all the Buddhas. He is "Tathata" or the highest and absolute Truth.

Thus is it clear that the modern Shahajiyas or Neda-Nedis are successors of the followers of Nada Pandit, a continuation of the old Buddhism and an extension lecture so to say of the old Birbhum University. They are still in the place where they had their origin. They now call themselves Vaisnavas and live by begging, and conform outwardly to Hindu usages and customs but are not Hindu in any sense of the term.

The other form of Buddhism which is supposed to have prevailed in Eastern Bengal was known as Vajrayana, but it is very difficult to distinguish it from Sahajayana. The names of the beings



worshipped begin with the word Vajra or Thunderbolt, such as Vajrayogini, Vajrasana and so on. The worship of various forms of Kali and Tara form a peculiar feature of this School. In the 16th century they were absorbed in Hinduism under the influence of the three great Tantrika saints, Tripurananda, Brahmananda and Purnananda. Any one reading their works will be struck with the amount of Buddhist doctrines and Buddhist ideas to be found in them. Their heavens are Sunyas. Their five Sunyas are inhabited and presided over by various forms of Tara, the highest being Kalika. I have not much opportunity of investigating this had form of Buddhism and its working in Eastern Bengal. But I hope to do so now as I have made it my home. The Vajrayana must have left traces of it and it would be very interesting to find the traces out.

I have up to now given my own views on the traces of Buddhism in Bengal but let us hear what other people say of these traces. Lama Taranath, the Grand Lama of Urga in Mongolia sent an emissary to India to learn the condition of Buddhism in the country of its birth. The emissary came to Bengal in Jahangir's time and he has recorded for our benefit the fact that Buddhism was still the prevailing religion in Western Bengal and Tipperah. But we get no trace of it in Raghunandan's voluminous digest of Hindu Law nor in the numerous poetical works

written in that and preceding centuries. The Hindus might not take any notice of their existence. But did they not write anything themselves? Yes, they did. They seemed to have rallied under the banner of Vaisnavism of Chaitanya and one section tried to infuse their doctrines into Chaitanyaism. These Sahajiya Vaisnava works and the real unalloyed Sahajiya works of the period are a study by themselves and revolutions in thought and doctrine are to be found in these.

The prevalence of Vajrayana in East Bengal may appear to you as my *ipse dixit*, a theory started by me without any authority and therefore, not worthy of consideration. But it is not so, I have authorities for the statement. My friend and pupil, the late lamented Ganga Mohan Laskar read a number of copper plates from East Bengal bringing to light a powerful dynasty of Buddhist monarchs whose names contain the word Khadga either in the beginning or at the end. There were four or five powerful kings of this dynasty in the 7th and 8th centuries. They made new grants to Buddhist monasteries, and renewed their old grants and amalgamated two grants into one. It is held in many quarters that the Palas who, during the 8th, 9th, 10th and 11th centuries were the rulers not only of Bengal but often of the entire Northern India and who sometimes parts of held Southern India also under their sway, came originally from East Bengal,



bordering on the sea and therefore, claiming to be the descendants of the Rajabhatavamsa Ocean (Samudra.) Dharmapala is called patita and a Chinese traveller found Rajabhata reigning in East Bengal.

In the latter days of Buddhist ascendancy in Bengal there was a big monastery named Jagaddal, the name of which I discovered from the dusty archives of the Durbar Library, Nepal. Prof. Bendall described a manuscript written in this monastery but now lying at Cambridge. But he could not read the name properly. He read it as Jagandal. This is the monastery where Tibetans used to come in large numbers to receive their initiation in Vajrayana doctrine and to translate the Vajrayana work with the help of the pandits of Bengal. Some pandits are credited to have translated some of these books into Tibetan without the help of the Tibetans. The site of the monastery has not yet been identified. It may be in East Bengal but the balance of the evidence tends to fix it at Mhassthana in the district of Bogra and the question would be soon settled as my friend, Mr. Diksit, Superintendent of Archaeological Survey in Bengal, thinks of excavating Mahasthana, which is ancient Pundravardana and in the vicinity of which this great monastery seemed to have flourished. Vibhuricandra and Danasila are two names celebrated in the annals of this monastery and they were very great

scholars and had great influence in their time.

We need not go to so early a period. I got a copy of the Buddhist Pancaraksa written in East Bengal in bold Bengali character dated 1289 A. D. The king's name at the time of copying was Paramesvara Maharajadhiraj Paramasaugatra Sri-Madhusena. This was exactly ten years after Ghiyasuddin Balban made a treaty with the Raja of Sonargaon, with a view to intercept his rebellious vassal, Tughril if he attempted to fly by water. This shows that Buddhism was still flourishing in East Bengal hundred years after the conquest of Northern and Western Bengal by Muhammadans.

Coming later still we find many Buddhist ideas, customs and even deities absorbed into the Tantrik works of Tripurananda, Brahmananda and Purnananda. Brahmananda's name is connected with the Kalivadi of Ramna and his Tararahasya is saturated with Buddhism. Purnananda's descendants are still to be found in many parts of Eastern Bengal and they are the spiritual guides of many many high class Hindus. My friend, Nalini Kanta Bhattasaly would like to identify the place called Sabhar with the Tibetan Zohor. If he succeeds in proving his case, East Bengal will be regarded as a cradle of Buddhism for Zohor is the birth place of Santideva, the writer of three of the most extensively studied works of Mahayana Buddhism.



The great man who reformed Buddhism in Tibet in the 11th century and who is worshipped in Tibet next after Buddha is Prajnakara-jśrinana. called in Tibetan, Atisha. He was the son of the King of Vikramanipur, east of Vajrasana. My friend Bhattasali says that this Vajrasana is Vajasana and Vikramanipur is Vikramapur.

These are rather disputed points. But I shall give you some facts about which there is no dispute. Śīlabhadra, the teacher of Hieuen Tshang, and the abbot of the monastery of Nalanda was an inhabitant of Samatata, East Bengal. His nephew who succeeded to the abbey hailed also from the same quarter. In the ruins at Bodhgaya I found written in the character of the 7th century the name of a Buddhist monk from Samatata.

It is a curious fact which I have learnt but very lately, that the greater part of

the district of Dacca outside Vikrampur is called the Vaju country. Now the word Vaju is familiar to me in its various forms in the old Bengali writings of the 11th century. It is the vernacular form of Vajraguru, sometimes called Vajagu, sometimes Vajula, sometimes Vaja. One verse occurs to me just now—

বাকুলে দিন মোহকরু ভবিয়া

"The Vajraguru explained to me the stronghold of ignorance."

If the Vajudesā is really the country of the Vajragurus, I think my theory will not be easily exploded.

There are many villages the names of which begin with the word Vajra notably Vajrayogini.

These are some of the evidences on which I have built my theory that East Bengal was a Buddhist country before Mohammadan conquest and remained so far a long time after that conquest.

HARA PRASAD SASTRI.



---

**IN MEMORIAM.**

•  
VISCOUNT BRYCE, O. M.

*Born 1838, Died January 22nd 1922.*

So long a day waning in light so clear.

Shines o'er a world perplexed and malcontent,  
Like a fair sunset whose first stars appear  
Before its fire is spent.

Fulness of years was his, a stainless scroll  
Of high achievement ; and men loved in him  
That ardour of the indomitable soul  
Which time could never dim.

The vanished frontiers of a world obscure  
To him were as familiar walks of home ;  
And his swift spirit trod with footsteps sure  
Byzantium and Rome.

His garnered wisdom and his prophetic eyes  
Showed him the ancient and the unborn years ;  
So he died dreaming of a world made wise  
By sorrow and pure by tears.

And one dream which he followed through many lands  
Shall now an earnest of fulfilment have,  
When the two nations whom he loved clasp hands  
In silence o'er his grave.

D. M. S.

---







# তাকারিভিউ সান্মিলন

১১শ খণ্ড }

ঢাকা—কার্তিক, ১৩২৮।

{ ৭ম সংখ্যা।

## আহ্বান।

রৈলে যদি সত্যার নাকে তুমি  
হে যোর মহারাজ !  
শুভ ঘরে কেনন ক'রে বল  
কাটাই বেলা আজ ?  
বাহির পথে তোমার বাশীর ডাকে,  
তোরের আলোর ঝরা যেখের কঁাকে,  
তব কান্ত-অরুণ শান্ত-তরুণ দিগ্টি  
প্রাণের পরতে—  
বলে “যর ছেড়ে তুই আররে বাহির পানে  
আজকে শরতে।

বিজয় ঘন ভিমির ঘেরি তব  
নিবিড় ব্যাকুলতা,  
অসীম ছেয়ে জোনা বৃকে করে  
প্রাণের তরলতা ;  
বেদনাহত নিখিল হৃদয় জুড়ে

কণ্ঠ তোমার গাইছে অমৃত সুরে ;  
পুত্রহারার নীরব অশ্রুজলে—  
হে যোর দয়িত,  
ডাকে আমার আকুল তোমার বাণী  
জ্বলন তরি তো !  
ভেবেছিলাম আমার নাকে আমি  
তোমায় লব চিনে,  
শেষ কড়িটা বিলিরে দিয়ে ও পো  
তোমায় লব কিনে ;  
একলা ঘরে বতাই খুঁজি একি  
আমার নাকে আমার শুধুই দেখি !  
বাইরে শুনি তোমার বেণুর ধ্বনি  
দিবস বামিনী—  
বিশ্ব নাকেই তোমার হবে পেতে  
তখন জানি নি।  
ত্রিনেপালচন্দ্র চক্রবর্তী।



## মুখচেনা।

(পল্ল)

কুরাঙ্গা ঘেরা শীতের প্রভাত। বাড়ীর নীচে গলি-রাস্তা দিয়ে কত বৃদ্ধ-যুবা হর-হর বোম্-বোম্ ব'লতে ব'লতে কেদার ঘাটের দিকে চ'লে গেল। সমস্ত কান্না সহ্যটা যেন জগতের চকলতা, উৎসাহ দিয়ে ভরা। আমি প্রায় হ'লান্ন মাস হ'ল কান্নাতে আছি কিন্তু কই, আমার এই বেহটার ভেতর ত' এক কণাও উৎসাহ আজ পর্যন্ত পাই নি।

• টেবিলের ওপর সত প্রভাত এক পেরালা চায়ের দিকে চেয়ে চেয়ারের ওপর ব্যাপার মুড়ি দিয়ে চুপ ক'রে বসে আছি এমন সময় পায়ের কাছে সাদা লোমের ঢাকা স্প্যানিয়েল কুকুরটা খেঁট খেঁট ক'রে চোঁচিয়ে উঠল। পেছনে চেয়ে দেখি অলস্টোরে-ঢাকা লাঠি হাতে বন্ধুর ত্রিপতিপ্রসন্ন মুখ টিপে টিপে হাসছে। আমি চেয়ার ছেড়ে উঠছি দেখেই সে সম্বন্ধে একথানা চেয়ার টেবিলের কাছে টেনে নিয়ে চায়ের পেরালায় একটা চুসুক দিয়ে বলে “মাদের মন হালকা আর বড্ড কুঁড়ে, তাদের মুখের জিনিষ প্রায়ই ফসুকে যায়।” আমি তার মুখের দিকে অবাক হ'য়ে চেয়ে রইলাম। তার মুইবি মাথানো হাসি যেন বলছিল “আমি তোমার প্রাণে আঘাত ক'রে ক'রে সব কথা টেনে বার করব।”

আমি ঠাকুরকে দিয়ে আর এক পেরালা চা আনিতে চুসুক দিতে দিতে বললাম “আজ এমন মিলিটাগী সজ্জার বে?” ত্রিপতি মুখখানাকে রীতিমত পঙ্কীর ক'রে বলে “আজ কাল শক্তির অর। বার বতটা শক্তি, সে ততটা পরিমাণে জরী।”

“তোমার হেঁয়ালী আমার বুদ্ধিতে আসে না। কি রকম শক্তিই বা তোমার হ'ল আর কোন্ কোন্ দিক জর ক'রে এলে এই সকাল বেলা।”

ত্রিপতি তার কোটের লম্বা পকেট থেকে একখানা কটো বার ক'রে বলে “এই মুখ খানা কি চিন্তিতে পারো?”

অত শীতের সকালেও আমার কপালের ওপর বিন্দু বিন্দু ঘাম ঝমে উঠল। পায়ের ব্যাপারটা ভাড়াভাড়ি

খুলে ফেলে, সোজা হ'য়ে ব'সে বললাম “ভূমি দেখছি পাক। চোর হ'য়ে উঠেছে। দাঁড় শিশুগীর কটোখানা এদিকে।”

ত্রিপতি মুখ টিপে হাসতে হাসতে বলে “আগে ত একটা কথাও চোঁচের আগা থেকে খসাতে পারি নি, আজ তার ওয়ুধ পেয়েছি। এইবার গুপ্তচর বিভাগে কাজ নেবো মনে ক'রছি।” আমার কাণে তখন কোন কথাই ঢুকছিল না। প্রাণের সমস্ত শক্তি গুটিয়ে নিয়ে বললাম “তাই ওসব কথা নিয়ে আর আলোচনা ক'রো না। যদি একান্তই শুনতে চাও কাল সকাল বেলা এস, আমি সমস্ত ঘটনা লিখে রাখবো।”

ত্রিপতি ধীরে ধীরে কটোখানি আমার কাছে বেখে দিয়ে বলে “হিঃ মণি, তুল বুঝো না। তোমার প্রাণ ভরা বেদনার খানিকটা কমিয়ে দেবার জন্যই আজ এক সপ্তাহ ধরে আমি অস্থির হ'য়ে আছি। আজ হঠাৎ তোমার বালিশের ধীচ থেকে এই ফটো পেয়ে বুঝতে পারলাম তোমার কথা কোথায়।”

বন্ধুর মুখের দিকে চেয়ে দেখলাম তার চোকের কাপে ছ এক ফোঁটা জল টল্ টল্ করছে। বুঝলাম ঐ কঠোর বুক খানার নীচে একটা কোমল প্রাণ আছে। নিজেই সংক্ষেপে দিয়ে বললাম “মনে ক'রে ছিলাম এ জীবনে আমার এই গোপন রহস্য কাউকে বলব না কিন্তু আজ বুঝলাম ভগবানের তা উদ্দেশ্য নয়।”

ত্রিপতি আর কিছু না বলেই উঠে পাড়াল। আমি তাকে নীচ পর্যন্ত এগিয়ে দিয়ে সমস্ত বিনটা ভয়ে ভয়েই কাটিয়ে দিলাম। একবার কেবল খাবার সময় ছুটি খেতে নেমেছিলাম। রাত্রে দোর বন্ধ ক'রে টেবিলের ওপর কুঁকে প'ড়ে নিজের আত্মকথা লিখতে লুফ করলাম।

দুই

পঁচিশ বছর আগে পৃথিবীর এই আনন্দ পুরীতে বেদিস প্রথম জেগে উঠেছিল। সেই দিন থেকেই ভাগ্য-বিধাতা যে তাঁর গোপন তুলি দিয়ে আমার জীবন পটে একটি মাননী মূর্তি একে তুলছিলেন তা



জানতে পারি নি, কিন্তু যেদিন তার প্রাণ প্রতিষ্ঠা হ'য়ে গেল সে দিনটা বেশ মনে আছে।

মাছুষ অন্ধ। দুহাতে নিজের প্রিয় বস্তুকে আঁকড়ে ধরে প্রাণের সঙ্গে মিশিয়ে নিতে চায় কিন্তু তখন যদি তার ভবিষ্যত বুঝতে পারত তা হ'লে বোধ হয় আজ এগতে এত বুকফাটা কান্নার সৃষ্টি হ'ত না।

আমিও একদিন আমার মানসীর প্রেমে বিভোর হ'য়ে গেছিলাম, তার ভবিষ্যত নিয়ে নাড়াচাড়া করি নি। আজ তার পরিণাম বুকের প্রত্যেক হাড়টির কঁাকে কঁাকে অনুভব করছি।

সে দিন রবিবারে আনন্দের হিল্লোল মেলের ধরের বাতাসকে ঘিরে রেখেছিল। মাধার শিররের জানালা খোলা। খোলা জানালার ভেতর দিয়ে দূর আকাশের গায়ে দু'একটা উড়ন্ত পাখীর গতি দেখতে দেখতে গুণগুণ ক'রে পান ধরে ছিলাম “এই লভিসু সঙ্গ তব, সুন্দর হে সুন্দর।” এমন সময় বা'রে দোরের পাশে সাবিত্রীপ্রসন্ন মিঠে গলার গেয়ে উঠল “বন্ধ হ'ল অঙ্গ মম, পুণ্য হ'ল অন্তর।” তার পরেই ঘরের ভেতর ঢুক আমার টেনে তুলে বসে “শিগ গীর কাগড় প'রে নে। সমাজে যাব চল। “আমিও অঙ্গ সমরটা কাটাবার সুযোগ খুঁজছিলাম, বললাম “তথাক্ত।”

হুজনে গিয়ে যখন সমাজের ভেতর বসলাম তখন পান সুরু হ'য়ে গেছে। যার হেঁট ক'রে গিয়ে কোন রকমে হুজনে একজায়গায় বসে পড়লাম। আমার মনে হ'তে লাগল যেন সবগুলি চোক আমাদের দিকে চেয়ে নীরব ভৎসনা ক'রছে।

পান শেষ হ'য়ে গেল। অন্তরের প্রত্যেক পরদায় বা মেরে-মেরে পানের কোমল মধুর সুরগুলি সৃষ্টি হ'য়ে যেন ওঠানামা ক'রতে লাগল। সাবিত্রী আমার হাতটা ধরে একটা টান দিয়ে বসে “সমাধি নাকি?” বিরক্ত ভাবে তাকে কি ব'লতে গিয়ে বা পাশের দিকে চোক প'ড়ে গেল। একজোড়া উজ্জ্বল কালো চোক আমার দিকে একতৃষ্ণিতে চেয়ে আছে। সুধের কথা সুধেই রয়ে গেল। সে তৃষ্ণা যেন আমার ভেতরের সব জিনিষ একটি একটি ক'রে নেড়ে চেড়ে পরখ করে দেখতে।

আমি যেন একশো বছর পেছিয়ে গেলাম। কতকক্ষ অস্বস্তির ধ'রে যেন আমাদের এই চোকের পরিচয় চলেছে। অথচ কাউকে ভালকরে চিন্তে পারছি না।

সাবিত্রীর সঙ্গে যখন বাইরে এসে দাঁড়ানাম তখন আমার আঙ্গুর পাঞ্জাবীটা একেবারে ঝামে ভিজে গেছে। চলতে গিয়ে পায়ে পায়ে জড়িয়ে যেতে লাগল।

সে সপ্তাহটা যে কি ক'রে কেটেছে জানি না। কলেজে গিয়ে একটাও নোট নিতে পারি নি। সেই যেন প্রাণপণ শক্তিতে আমার ভেতরের অন্তরটাকে টেনেছে।

সেই দিন থেকে সমাজে যাওয়া আমার একটা নেশার মত পেয়ে বসল। ঠিক সেই জায়গায় সেই একই চোক আমার দিকে চেয়ে থাকত। আগুন দেখে বাতাস যেমন তার বুকের উপর কাঁপিয়ে পড়ে, আমারও ইচ্ছে ক'রত ঐ চোকের পতীর উৎসের মধ্যে নিজেকে হারিয়ে দিতে। সাবিত্রী আমার অবস্থা দেখে মুখ টিপে টিপে হাসত। মনে মনে কি ভাবত সেই জানে। বিকেল বেলাটা আমার অভ্যাস ছিল হেদোর চাবুদিকে ঘুরপাক খেয়ে বেড়ান। সে দিনও চটি জুতো পরে তাড়াতাড়ি মেরে থেকে বেরিয়ে ফুটপাথের ওপর দিয়ে ছুটছি এমন সময় দেখি একটা পানওয়ালার দোকানের নোচে কাঁকড়া কাঁকড়া সাদা লোমে ঢাকা ছোট একটি কুহুর ঘুরে ফিরে বেড়াচ্ছে। ছোট বেলা থেকে ঐ লাতের কুহুরের ওপর আমার বড় কাঁক। বীরে বীরে কাছে গিয়ে মাধার টোকা মেরে-মেরে তাকে আদর ক'রতে লাগলাম। এই বেয়াদু রকমের আদরে সে বোধ হয় অত্যন্ত ছিল না। হটাৎ খেউ খেউ ক'রে চেচিয়ে আমার আঁচড়ে দিলে। মাধার ওপর দোতালার জানালা থেকে একটা হাসির আওয়াজ আসতেই—চেয়ে দেখি সেই মুখ। নিজেকে আর বেশ রাখতে পারলাম না। বেহারায় মত দ্রুত হাতটা টিপে ধরে ওপর দিকে কতদূর চেয়ে ছিলাম জানি না, হটাৎ সাবিত্রী দরজা খুলে বেরিয়ে এসে কুহুরটাকে চেনে বেঁধে আমাকে টেনে বাড়ীর ভেতর নিয়ে গেল। পরিচয়ে জানলাম এটি তার বছর বাড়ী।



আমার সাক্ষ্য গ্রহণের নিয়ম বদলে গেল। আজ পর্যন্ত কখন পান খাই নি, কিন্তু পান খাবার নেশার বেন পেয়ে বসল। যখন তখন পানওয়ারার দোকানের সামনে এসে দাঁড়াই। রাস্তার ধারে যত জিনিস

বেচত সবগুলোই দর দস্তুর করে কেনবার লোভ বেন বেড়ে উঠত। মেশের ঘরের কোস কত ছোটখাটো জিনিসে দিন দিন বোকাই হ'য়ে উঠতে লাগল।

ছুটির একদিন হুপুরবেলা ঠ্যাংভাঙ্গা একথানা চেয়ারে বসে তাবছি দিনটা কি করে কাটাও এমন সময় সাবিত্রী ঘবে ঢুকে বলে “মণি, মাহু আজ তোমার চা খাবার নেমন্তন্ন ক'রেছে।” আমি অশ্রুচর্য হ'য়ে গেলাম, বললাম “মাহু বলে কোন মেয়েকে ত আমি জানি না, অথচ নেমন্তন্ন হয়ে গেল? কোন দিন এসে বলবে ক'নে ছাঁদুলাতলার দাঁড়িয়ে আছে, চল তোমার সাতপাক ঘুরিয়ে আনি।” সাবিত্রী হেসে বলে “না গো না, যেদিন “বেলু” তোমার আঁচড়ে দিলে সেদিন মাহুর মুখের চেহারা তুমি বদলি দেখতে। সেই তোমার নাম ধাম, কে আছে, কে নেই সব নোট বইতে টুকে নিয়েছে।”

আমার প্রশ্নের ভেতর তখন আনন্দের ঝোঁপ বইছিল। বাঁহিরে কিছুই প্রকাশ না করে বললাম “ও নাম মাহু বুঝি? কুন্সের নামটিও ত বেশ বেলু।”

\* \* \*

দেখতে দেখতে একটা বছর কোথা দিয়ে যে কেটে গেল টের পাই নি। এবার গরমের ছুটিটা ক'লকাতার কাটাব মনে ক'রেছি। বাবা পুরুলিয়ার বাবার জন্ত চিঠি লিখতে লাগলেন কিন্তু মাহুর হাতের তৈরী করা আইসক্রীম আর বরফজল আমার মেজাজটা এমন ঠাণ্ডা ক'রে এনেছিল যে বাইরের কোন গরম কথা আমার ত্রিসাণানার আসতে সাহস ক'রত না।

সাবিত্রী আজকাল কেমন হ'য়ে গেছে। সেদিন ক্যামারায় নিয়ে এসে মাহুর যখন ফটো তুলে নিচ্ছি সাবিত্রী তখন বাড়ীর ভেতর থেকে বাইরে আসছিল। মাহু টেটিয়ে ব'লল “সাবিত্রী বাবু দেখুন ত আমার কাঁধের কাছে সেন্ট্রিগিনটা ঠিক হ'য়েছে, মাথা লাগ

ফিতের বোটা বৈকে বার নিত’?” সে ফিরেও চাইলে না। মূখ্যনা তার ক'রে নতুন কালো মশরু জুতোর ডগায় একটা কাঁকরকে ঠোকর মারতে-মারতে বাইরে চ'লে গেল।

আর একদিন, তখন বেশ রাত্রি হয়ে গেছে। আমি আর মাহু দুজনে ড্রিংকবে বসে একথানা ছবির এলব্যাম দেখছিলাম। বেলু পারের কাছে তরে-তরে ল্যাক নাড়ছে, সবুজ সিঙ্কের ঢাকনার ভেতর থেকে ইলেকট্রিকের আলো ঘরের চারদিকে ছড়িয়ে পড়েছে, মাথার ওপর পাখা ঘুরচে, মাহুর লোসানে ভেজান চুল একটা মধুর গন্ধ ছড়িয়ে আমার কপালে ঠেকে ঠেকে বেন শিউরে উঠছিল। মাহু তখন হ'য়ে ছবি দেখছিল আর আমি বিভোর হ'য়ে তার মুখের দিকে চেয়েছিলাম। পাশের দরজার ঘুট্ ক'রে শব্দ হ'ল। তারপর চাপা গলায় ফিস্ ফিস্ ক'রে কথা হ'তে লাগল। অনেক কথাই হ'ল একটা ভাঙা-ভাঙা আওয়াজ কাণে এসে প'হঁচোচ্ছিল, কিন্তু তখন আমি আত্মহারা। ঘেহের সমস্ত শক্তি বেন মাহুর ঝপের নেশার ঝাঁকে অবশ হ'য়ে গেছে।

বীর-গভীর স্ববে আওয়াজ এল “মাহু।” বেহালার তারে হুরের চেড ঝেলতে খেলতে যখন উদার থেকে মদার, মদার থেকে তারার গিয়ে প'হঁচেছে সেই সময় হঠাৎ বেন মাঝখানে তারটা ছিঁড়ে গেল। দুজনেই মুখ তুলে চেয়ে দেখলাম মাহুর কাকা, শচিশ বাবু দাঁড়িয়ে। সাবিত্রী পেছনে দাঁড়িয়ে আছে। তার চোখ দিয়ে বেন হিংসার একটা তীব্র জ্বালা ফুটে বেরুচ্ছে।

মাহু বীরে বীরে বাড়ীর ভেতর চলে গেল। তারপর আমার ওপর দিয়ে যে কি ঝড় ব'য়ে গেল তা আর এখন কলম ধরে বলতে পারব না।

\* \* \*

অনেক দিনের পুরোণো মেসে আবার ফিরে এসেছি। সেই ঘরের কোণে এমন কত ছোটখাটো জিনিস জড় হয়ে আছে।



আজ চারদিন হ'ল কলেজ থেকে নাম কাটিয়ে এসেছি। সংসারের ভেতর যে ভালো ভালো পা ফেলে চ'লব মনে করেছিলাম আজ তার ভেতর যেন অনেকটা ফাঁক প'ড়ে গেছে। বুকের ভেতর এমন একটা ব্যাধী ধরে যে হু একঘণ্টা অজ্ঞান হ'য়ে প'ড়ে থাকি।

দূরে সন্ধ্যাতারা মিটমিট ক'রে জ্বলচে। একবার কীপতে কীপতে যেন লজ্জানত বধূর মত বাতাসে তর দিয়ে এগিয়ে আসছে আবার তরে হুইয়ে গিয়ে কতদূরে পেছিয়ে যাচ্ছে।

মেষের একটি চাকর এসে বলে "আপনাকে একটি লোক ডাকছে।" ধীরে ধীরে নীচে নেমে গেলাম। একটি দশ বার বছরের ছেলে আমার দেখে একটা সেলাম ক'রে বলে "এই চিঠি আর এই কুকুরটি আপনাকে দিতে বলছেন।"

অবাক হ'য়ে বেলুর দিকে চেয়ে রইলাম। মানুষ সবখানি জ্বরের স্পর্শ নিয়ে সে যেন আজ আমার ঘারে অতিথি। পকেটে হাতদিয়ে তখন কিছুই হাতে ঠেকল না শুধু দশটাকার একখানি নোট তখন প'ড়েছিল। ছেলেটির হাতে নোটখানা গুঁজে দিয়ে বেলুকে বুকের ওপর চেপে একেবারে আমার ঘরে এসে দোর দিলাম। সে আমার বুকের ভেতর মুখটি গুঁজে চুপ ক'রে রইল,—যেন কত অপরাধী।

\* \* \* \*

কালীতে এসে হাড়ারবাগে এই বাড়ীখানা ভাড়া নিয়েছি। সেখানে থাকতে চিঠিখানা খুলে দেখিনি, পাছে নিজেকে সান্নায়ে না পারি। মাত্র দুটি লাইন লেখা— "ভুলে যেয়ো। কোন বক্তৃতা প্রাণ খুলে বিশ্বাস ক'রো না। আমার স্বাভি হ'য়ে রইল বেলু।

অন্য-অপরাধী—

মাস্তা।"

কটোখানা বাজ থেকে বার করলাম। কি প্রাণ খাতানো চাউনি। বেলুর মুখের দিকে চাইলাম। সে আমার মুখের দিকে অবাক হ'য়ে চেয়ে রইল।

রাত্রি অনেক হ'য়ে গেছে। ধীরে ধীরে বাইরে এসে চাঁদের দিকে চাইলাম। তার কাণার-কাণার

জল যেন টলু টলু ক'রছে। সেই থেকে আমি তিনটি জিনিষ নিয়ে আছি। চাঁদ, বেলু, আর কটো। তিনজনে হাত ধরাধরি ক'রে আমার ঘিরে রেখে দেব। আমি তাদের ছেড়ে যে এক পাও বাড়াতে পারি না।

বাবা মাঝে মাঝে পত্র লেখেন শরীর একটু সারসেই চ'লে এস। মাসে মাসে টাকা আসে শুণে নিই, ডাক্তারের নিয়ম মত উঠি বসি, কিন্তু ভাঙ্গা জিনিষ কি আর জোড়া লাগে। বার বিসর্জন হ'য়ে গেছে তার আবার প্রতিষ্ঠা হবে কোথা থেকে?

তিন

সমস্ত রাত্রি কেপে ভারেই লিখে তোরবেলাটা ঘুমিয়ে পড়েছিলাম। হঠাৎ পাশের বাড়ীর সামনে একটা গোলমাল হওয়াতে ঘুম ভেঙ্গে গেল। উঁকি মেরে দেখলাম আমার বাড়ীর সামনে দু'তিনখানা ঘোড়ার গাড়ী, একাগাড়ী এসে জড়ো হ'য়েছে আর একটি ভদ্রলোক তাদের ভাড়া দিতে গিয়ে এই গণ্ডগোল বাধিয়ে তুলেছে।

যাক্ এতদিন বাদে আমার সামনের বাড়ীতে একজন ভাড়াটে এল। সারা দিন চেয়ারে বসে বসে ঐ সামনের দোর জানালা বন্ধ বাড়ী খানার দিকে চেয়ে চেয়ে চোক যেন ঠিকরে আসত। কখন এক একটা সাদা পায়রা উড়ে এসে ঐ কার্নিসটার বসত, বাস ঐ যা।—

সকাল হ'তেই আমার ঘরের জান্নাগুলি সব খুলে দিয়েছি। সোণা গলানো প্রভাত সূর্য্যের আলো জান্নার ফাঁক দিয়ে এসে মেঝের ওপর লুটিয়ে প'ড়েছিল। বেলু আমার চিরদিনই সৌখিন। সে ঐ জায়গাটিতে বসে আরামে ল্যাম নাড়তে লাগল।

আমি চেয়ারটিকে আজ ভাল ক'রে মুছে, টেবিলটি ভাল ক'রে সাজিয়ে বসে আছি। আমার প্রাণের ভেতরে অনেক দিন বাদে আবার যেন যৌবনের প্রথম তরঙ্গ খেলতে আরম্ভ ক'রেছে।

ঠাকুর এসে হু পেরালা গরম চা টেবিলের ওপর রেখে গেল। আজ ত্রিপতির আসতে এত দেরী হচ্ছে কেন? তার ত' খুব সকালে আসবার কথা!



বাঃ বেশ সুন্দর ফুটফুটে ঘেরেটি ত' ? পরম ফ্রক  
পায়ে পরা। কোঁকড়া কোঁকড়া সোণালী রংয়ের চুল  
মুখের ওপর পর্যন্ত ছড়িয়ে পড়েছে। হাতে একটা  
পশমের কুহুর।

একটি তরুণী ঘরের ভেতর ঢুকেই আবার বেরিয়ে  
গেল। বেশ একটু হোদুৰ ফুটে উঠেছে। ঘরের  
প্রত্যেক নিন্মিটি চোকে পড়ছিল। তার হালকা পায়ে  
বাতাসের ওপর ভর দিয়ে চলা ঠিক যেন চঞ্চলা হরিণীর  
যত। তরুণী এইবার ভেতরে ঢুকে ছুটি কমলা লেবু  
খুঁকীর হাতে দিয়ে গেল। চাঁপার কলির যত আঙ্গুল  
গুলি কেবল নজরে পড়ল আর কিছুই দেখতে পেলাম  
না। বোধ হয় সামনে এল না, আঁচি বলে আছি বলে।

বেগুটা বড় ছটু। সে এর মধ্যে জান্নার ওপর  
উঠে সেই ঘরের দিকে চেয়ে-চেয়ে ল্যাজ নাড়ছে আর  
মাঝে মাঝে যেউ যেউ করে ডাকছে। আলাপ পাতাবে  
কি ঝগড়া করবে তা সেই জানে।

সিঁড়িতে জুতোর শব্দ হল। আঁচি রূপারখানা  
ভাল করে মুড়ি দিয়ে বসলাম।

ঐগতি ঘরের ভেতর ঢুকেই বলে “আমার আজ  
অনেকটা দেবী হ’য়ে গেল। আমার একটি বজুর আসবার  
কথা ছিল রাঙারালপিঙ থেকে তাকে আনতে টেসনে  
গেছলাম। দাঁড়িয়ে দাঁড়িয়ে অনেকক্ষণ কেটে গেল।  
ট্রেন একটু লেই ছিল। ইঞ্জিন থেকে গার্ডের গাড়ী পর্যন্ত  
সব খুঁজে ফেলার কিন্তু বজুর ঘরের ছায়াটি পর্যন্ত দেখতে  
পেলাম না। ভাড়াভাড়ি বাড়ী এসে দেখলাম টেলিগ্রাম  
এসেছে। আকিস থেকে ছুটি পায় নি। যে বাবু ছুটিতে  
ছিল সে এখন কিরে আসেনি বলে।” আঁচি বলল “তা  
বেশই হ’য়েছে। এখন চা ত ঠাণ্ডা হ’য়ে গেল।—”

ঐগতি হেসে বলে “Old wife and cold Tea  
ছুটাই ভাল জিনিষ তা জান না ? আজ আঁচি চা খেতে  
থাকি তুমি তত’ক্ষণ তোমার ডায়েরীটা পড়ে ফেল।”

আঁচি এতক্ষণ ও কথাটা ভুলেই গেছলাম। রাতের  
লেখা ডায়েরীটা টেবিলের ওপর পড়েছিল। বীরে বীরে  
কলিত কঠে সব লেখাটা পড়ে গেলাম। চেয়ে দেখি  
ঐগতির চোকের কোণ জলে ভরা।

হঠাৎ বেলু জান্নার ওপর দাঁড়িয়ে খুব জোরে যেউ  
যেউ করে চেঁচাতে লাগল। ঐগতি ও আঁচি তার  
দিকে চাইতেই সার্মনের বাড়ীর জান্নার দিকে নজর  
পড়ল।—

আবার সেই মুখ! মায় জান্নার ওপর বুক পড়ে  
আমার দিকে এক দৃষ্টিতে চেয়ে আছে। বড় রোগা  
শরীর, কিন্তু চোক দুটি এখনও তেমনি আছে। কে  
একজন ভাড়াভাড়ি ঘরের ভেতর ঢুকে তার পেছনে  
এসেই থমকে দাঁড়িয়ে গেল। ঐ সাবিত্রীপ্রসন্ন না ?  
উঃ, তার চোকের দৃষ্টিতে কি রুদ্ধ লালসার জ্বালা  
মাধানো!

আর চাইতে পারলাম না। বুকের ভেতর সবটা  
কে যেন জ্বড়ে দিলে। পুরাণো রোগটা আবার বুক  
দেখা দিল। মাঝার ভেতর কিম্ব কিম্ব ক’রছে। পায়ের  
নীচে ছাতট: যেন ছলতে লাগল। টেবিলের পায়টা  
ঘরে সেই খানেই বলে পড়লাম।

\* \* \* \*

আজ পনেরো দিন হ’ল বিছানার পড়ে আছি।  
ডাক্তার একেবারে উঁতে বারণ করে গেছে। বাবা,  
মা, পুর্নালিয়া থেকে চলে এসেছেন। একটা লোককে  
বাচাবার জন্তে এত চেষ্টা কেন ? আঁচি কি সংসারে  
কোন কাজে আবার লাগব ?

বেলু আমার পায়ের কাছে রাত দিন ব’সে থাকে।  
রাত্রিতে সেই খানেই পড়ে ঘুমোর। ঐগতি জলভরা  
চোকে মুখের কাছটিতে বসে থাকে।

সংসার আমাকে বেঁধে রাখবার জন্তে যেন জাল  
বুনচে। ছিল ফটা, বেলু, আর চাঁদ, এখন ঐগতি  
এসে চতুর্ভুজান অধিকার করে বসেছে।

সে দিন একটু ভাল ছিলাম। বিছানার ওপর  
উঠে বসেছি। গলির জানালাটার দিকে চাইলাম,  
দেখলাম তার ওপর সুরু সুরু পাইন কাঠের চিড়  
চঃরচোকো করে গেরেক দিয়ে আঁটা। একটু হেসে  
বজুর মুখের দিকে চাইলাম। ঐগতি মুখে কিছুই বল না,  
একটা দীর্ঘশ্বাসে অনেক কথা জানিয়েছিল।

বেলু আমার কাছ বেসে বসেছিল। তাকে কোলের



ওপর টেনে নিয়ে বলায় “শ্রীপতি মাছুকে ভাল না বেশে  
একের ভালবাসতে পারলে বোধ হয় তার সার্থকতা  
আছে।”

এবারও বছর দুখণ্ডে কোন উত্তর গেল না।  
চেয়ে দেখি তার চোকের পাতা জলে ভরা।—শরীর বড়ই  
দুর্বল বোধ হতে লাগল। বিহানার ওপর শুয়ে পড়ে

বেজুকে পাশে টেনে নিয়ে শ্রীপতির হাত ধান্না বুকের  
ওপর চেপে ধরে বলায় “অভিমান ক’রলে বুঝি? যদি  
বৈচে উঠি তোমার ভালবাসব। ভুগতে পারব না।”

তার চোকের দুফোঁটা গরম জল টপ্ টপ্ করে  
আমার মুখের ওপর পড়িয়ে পড়ে অন্তরের গভীর প্রেম  
জানিয়ে দিলে।

শ্রীশশীলকুমার রায়।

## দাসী।

উদাস আমার ছিয়ার মাঝারে নিশার তারার মত  
একে একে একে উঠিত ফুটিয়া ভাঙ্গা ছবি কত শত।  
দিবসের কাজে অগ্রে নিশীথে  
কার কথা যেন জাগিত এ চিতে,  
ফুটিয়া উঠিত সহসা এ ঘোর মানস নদীর নীরে,  
কার যেন কারা, কার যেন ছায়া, কার যেন ছবিটিরে।

নিরুদ্ধ হৃদি-কন্দরে ঘোর উচ্ছল প্রেম ধারা,  
আঁশার লহরী আকুলি তুলিত আবেগে অপনা হারা,  
প্রতিপদে বাধা পাই অনিবার,  
প্রতিহত খর প্রবাহ তাহার,  
করুণ বিলাপে কাঁদিয়া দগ্নিত মর্ষের কুলে কুলে  
হতাশার শিলা সরণের সেতু-বন্ধন-পাদ-মূলে।

সেই সে সময়, যখন এ চিত আকুলিত চকল,  
সমবেদনার কাছে এলে ঘোর দুটা আঁধি ছল ছল,  
শুধুই স্বপ্নে স্বপ্নে করে তরে,  
মুগ্ধ দু’আঁধি মম আঁধি’পরে,  
অপলক রাধি, সরমে হরবে রেখে দিলে, বীরে বীরে  
নিমেষের সেই মৌন আলাপ বিমোহিত মনটীরে।

কিছু নয়—সেই নব পরিচয়—সেই নব অনুরাগ,  
অলস নিতি অন্তরে ঘোর বধা সান্নিক-বাগ!  
কম্পিত ঘোর চঞ্চল করে,  
রাধিছু অবশ কর ভব ধরে;  
কাঁপিল কনক চম্পক নিত ললিত তোমার দেহ,  
প্রতি পলে কত যুগ চলে গেল, কিছুই জানি না কেহ।

আবেশ জড়িত কণ্ঠে কহিছ—“কে তুমি রূপের রাণী?  
কল্যাণী-কম কপোপ ঢাকিছ অবগুণ্ঠন টানি?”  
সহস্র বার মানিলাম কথা,  
অসহ গভীর সে কি নীরবতা!  
জড়সড় ক্রমে ছোট হয়ে গেলে, অসুট মধুর হাসি,  
বহু—বহুপরে মুহূলে কহিলে শুধু এক কথা—‘দাসী’।

দাসী? সে কি কথা! জন্ম তত্ত্বী আবেগে উঠিল বেজে,  
আমি’ত তাবিনি—তাবিতে পারিনি আশার অতীত এ যে,  
প্রাণের খবর যতদূর জানি,  
সেবা তুমি চির-বন্দিতা রাণী  
মর্ষে বিশ্বম বিরোধ বাঁধিল কোথা রাণী—কোথা দাসী!  
প্রশ্ন করিছ উত্তর সেই, মুখে দেখি মুহূ হাসি।

আকুল আবেগে চকিতে তোমারে বকে লইছ টানি,  
কি-যেন-কি-এক-কি বকম-কিসে মুখে না সরিল বাণী;  
গলায় আমার বাহুটি রাধি,  
বুকপরে ঘোর মুখ ধানি ঢাকি,  
শিথিল অঙ্গে চলিয়া পড়িলে ঠিক যেন অচেতন,  
দাসী তুমি মোর?—রাণী তুমি মোর?—কার এ আলিঙ্গন।

শ্রীধীরেন্দ্রনাথ মুখোপাধ্যায়।



## রবীন্দ্রনাথের “পতিতা”।

‘পতিতা’ রবীন্দ্রনাথের অন্ততম শ্রেষ্ঠ কবিতা।  
বন্দী কবিতা সাহিত্যের অহুঙ্কল নহি। এখানে তাঁহার  
কবি-প্রতিভার একটা অপূর্ণ বিকাশ দেখিতে পাই।  
প্রত্যেক নর-নারীর হৃদয়ে দেবতা অধিষ্ঠিত। কোন  
খানে বা তাহার সত্তা পূর্ণ প্রসুতি আর কোনখানে  
বা তাহা আঁধারে আবৃত রহিয়া যায়। সে গুণে নর-নারী  
আপনার মাকে সত্য-সুন্দরের সত্তা অমূল্য করিতে  
পারে। ‘পতিতার’ সর্বত্র আমরা তাহারি একটা অভিব্যক্তি  
একটা অভাস পাই। আর পতিতার পাই আমরা নারী  
হৃদয়ের একটা পরিপূর্ণ উজ্জল ছবি। নারী স্বভাবতঃ  
দেহময়ী করুণাময়ী। যদিও তাণ্ড্য বিপর্যয়ে করুণাময়ী  
নারী হলনাময়ী হয় তবুও নারীর অন্তরে অন্তঃসলিলা  
কল্পর স্রাব দেহ-প্রীতির সেই চিরন্তন কমনীর ধারাটি  
ধীরে ধীরে প্রবাহিত হইতে থাকে। ‘পতিতা’র পাই  
আমরা হৃদয়ের লালিত্য—ভাষার স্বকীর আর স্বচ্ছ-  
সলিলা তটিনীর মত তর তর বেগে প্রবাহিত একটা  
মহানু ভাব।

সব চেয়ে বড় সত্তা এই যে যখন পূর্ণরূপে কোন  
অপরাধের জন্ত মনে অনুশোচনা আসে তখনই প্রতি-  
ক্রিয়া আরম্ভ হয়। তখন বুঝিতে পারি জীবনে কি বিষম  
ভুল করিয়াছি। তাই আমরা পতিতার প্রথমই পাই—

“বস্ত্র তোমাতে হে রাজমন্ত্রী

চরণ পয়ে নমস্কার,

লও কিরে তব স্বর্গমুদ্রা

লও কিরে তব পুরস্কার।”

পতিতা নিজের ভুল বুঝিতে পারিয়া পূর্ণরূপে  
অপরাধের মূল্য স্বরূপে বাহা পাইয়াছিলেন তাহা  
কিয়াইরা দিতে চাহিতেছেন।

তারপর মূল বিষয়টী। সেদিন পূর্বাকাশে অরুণো-  
দয়ের প্রথম লালিমা দেখা বাইতেছিল ঠিক এমন সময়ে  
এক করুণ ঋষি কুমার অবগাহনের নিমিত্ত ধীরে ধীরে  
নদী তীরে আসিলেন। তার রূপের প্রভার চারিদিক  
উদ্ভাসিত হইয়া উঠিল।

“তহু দেহখানি জ্যোতির লতিক।

তড়িত স্নিগ্ধ তড়িত শত।”

এই পতিতার সহিত ঋষি কুমারের প্রথম সাক্ষাৎ।  
তাহাকে দেখিয়া তাঁর মনে এক অপূর্ণ ভাবের সঞ্চার  
হইল।

“মনে হ’ল ঘোর নব জনমের

উদয় শৈল উজল করি।

শিশির-বৌত পরম প্রভাত

উদিল নবীন জীবন তরি।”

কিন্তু পতিতার সহচরীরা সেই ভাপস কুমারকে  
ঘিরিয়া নৃত্য আরম্ভ করিল।

“হুপূরে হুপূরে ক্রত তালে তালে

নদীজল-তলে বাজিল শিলা,

ভগবান তাহু রক্ত নয়নে

হেরিলা নিলাজ নিরুর লীলা।”

বাহার হৃদয়ে রূপ-রস-গন্ধ স্পর্শের অনুভূতি জাগে  
নাই—যে কোন দিক রমণী দেখে নাই সে আজ  
চতুর্দিকে রমণী বেষ্টিত হইয়া কি করিল? সে শুধু  
তার ‘বিমল বিশাল বিস্তৃত চোখ’ বিস্ময়িত করিয়া  
সেই অভাবনীয় দৃষ্ট দেখিতে লাগিল। তাঁর মনে এক  
অজানা পুলকে নাচিয়া উঠিল। আজ এক নিরুদ্ধেশের  
উদ্দেশ্য পাইয়া তাঁর অন্তর পুলকিত। শুধুই মনে হইতে  
লাগিল যিনি অন্তরবাসী দেবতা সেই সত্য সুন্দর  
যেন আজ তাঁর নিকট মূর্ত হইয়া উঠিয়াছেন, তাই  
দেখিতে দেখিতে ‘ভক্তি কিরণে’ তাঁর বদনবকুল সমুজ্জল  
হইয়া উঠিল। আর—

“বন্দনা গান রচিলা কুমার

গোড় করি কর কবল ছুটি।

করুণ কিশোর কোমল কণ্ঠে

সুবার উৎস পড়িল টুটে,

হির ভপোবন শান্তি মগন

পাতার পাতার শিহরি উঠে।”

সেই বন্দনা গান আকাশে বাতাসে হৃদয়ের পরতে



পরতে কক্কত হইয়া উঠিল। তারি মহিমায় পতিতার  
পাখাণ' স্বরও ত্রবীভূত হইল। নয়ন জলে সমস্ত  
কালিমা ধৌত হইয়া বাতাবিক গুণরাশি পুনরায় ফিরিয়া  
আসিল। তার স্বর সহস্রভূতিতে পরিপূর্ণ হইয়া উঠিল  
তাই পতিতা তাঁর সিক্ত অঙ্গ আপন পটবাসে মুছিয়া  
লইলেন। তারপর উর্দ্ধমুখী ফুলের মত তাপস কুমারের  
মুখের দিকে চাহিলেন।

“প্রথম রমণী-দরশন-মুহূর্ত্ত

সে ছুটি সরল নয়ন হেরি”

পতিতার স্বর এক অসীম পুলকে অভিভূত হইয়া  
পেল। নারীত্বের গৌরবে সৌন্দর্যের লীলায়িত ভঙ্গিমার  
বিকাশে এতদিনের জমাট বাধা মুক্ত হইল, তার  
স্বরের হৃদয় ছাপাইয়া আনন্দের প্রবাহ ছুটিয়া  
চলিল। আর আনন্দের দীপ্তি ঋষি কুমারের চোখে-  
মুখে ছুটিয়া উঠিল। তারপর—

“অননীর স্নেহ রমণীর দয়া

কুমারীর নব নীরব প্রীতি,

আমার স্বর্য বীণার তন্ত্রে

বাঁজারে তুলিল মিলিত গীতি।”

এই হইল পতিতার মধ্যকার সুরটি। নারীর  
নারীত্ব তখন পূর্ণ প্রস্ফুটিত হয় যখন তার মাঝে  
'স্নেহ-দয়া-প্রীতি'র একত্র সমাবেশ ঘটে। এখানেই  
হইল নারী প্রতিভার পূর্ণ-স্বরূপ। এতদিনের একটা  
জুকাবিত মহিমা আজ পতিতার মাঝে শতদলের  
মত দলে দলে বিকশিত হইয়া উঠিল। আর তখন  
হইল নারী মুর্ত্তিবতী দেবী। সব জিনিসের মাঝে যখন  
একটা সামঞ্জস্য দেখিতে পাই—সে সময়েই তার ভিতরের  
রূপটা আমাদের নিকট প্রতিভাত হইয়া উঠে। যেখানে  
সামঞ্জস্য নাই সেখানে তার সহজ রূপটিও নাই, সুরভিও  
নাই। তাই নারী চরিত্রের মাধুর্য্য সেখানেই প্রত্যক্ষ  
হয় যেখানে স্নেহ দয়া প্রীতি নারীর স্বভাব-সুন্দর এই  
ভিন্নটি গুণের একত্র সমাবেশ আমরা দেখিতে পাই।  
বহুদিনের এই গুণ ধারাটি আজ পতিতার মাঝে স্ফুটতর  
হইয়া উঠিল।

তাই ঋষিকুমার পতিতার মাঝে লাগ্নত দেবতাকে  
দেখিয়া আনন্দে অধীর হইয়া বলিলেন।—

“—

কোন দেব আকি আনিলে দিবা,

তোমার পরশ অমৃত সরস

তোমার নয়নে দিব্য বিভা।”

পতিতার মাঝে এমন লাগ্নত দেবতাকে দেখিয়াছে?  
কে কবে এমন অশ্রুতপূর্ণ মধুর সত্য পতিতাকে শুনা-  
ইতে পারিয়াছে? সুখের সময় অনেক চাটুকার  
পাওয়া যায় বটে, শুধু মিথ্যা কথা বলিয়া কপিক লাভ-  
সার তৃপ্তি সাধন করিতে সক্ষম অনেকেরই। কিন্তু  
করজনে সত্যবাদী শুনাইয়া অনন্তের বাজী মানবকে  
অমৃতের সন্ধান বলিয়া দিতে পারে? সাধনা না করিলে  
দেবতাকে পাওয়া যায় না। শুধু বাহিরের রূপের  
নেশার বিভোর হইয়া থাকিলে অন্তরের দেবতাকে  
মিলে না। জীর্ণ দেউলের সংস্কার চাই। দেবতার  
ভক্ত পূজারী চাই। একনিষ্ঠ সেবকের প্রয়োজন।  
এতদিন পতিতার অন্তর-দেবতা মূগ্ধ ছিলেন। সবাই  
শুধু তার বাইরের রূপ-মদে মাতাল ছিল। এতদিন  
শুধু হেলায় হেলায় কাটিয়াছে। জীর্ণ দেউলে আগাছা  
পবপাছা জন্মিয়া যখন উহাকে ধ্বংসাৎ করিবার উপক্রম  
করিতেছিল এমন সময়ে একদিন।—

“সেইখানে এল আমার তাপস

পথহীন সেই বিজন গেহ,

তব্ব নীরব গহন গভীর

যেথা কোন দিন আসেনি কেহ।

সাধক বিহীন একক দেবতা

ঘুমাতেছিলেন সাগর কূলে,

ঋষির বালক পুলকে তাহারে

পূজিলা প্রথম পূজার ফুলে।

আনন্দে মোর দেবতা আগিল

জাগে আনন্দ তরুত প্রাণে।”

অন্তরের মূগ্ধ দেবতা লাগ্নত হইলেন। ভক্ত ঋষিকুমারের  
প্রাণে আনন্দ উছলিয়া উঠিল। কিন্তু—



“এ বারতা যোর দেবতা ভাপস

দোহে ছাড়া আর কেহ না-কানে।”

অন্যদের সেই অন্য আনন্দ প্রবাহ পতিতার মাঝে উদ্ভূত হইয়া উঠিল। তখনি তার স্বভাব-সুন্দর রূপটা আশাদের নিকট ধরা পড়িল। পতিতার জীবনের সমস্ত কলুষ এক নিমেষে ধৌত হইয়া গেল। আর—

“নিমেষে ধৌত নির্মলরূপে

বাহিরিয়া এল কুমারী নারী।”

একটা পণ্ডিত ভাবের উদ্দীপনার কেবলি মনে হইতে লাগিল ‘সবই সুন্দর—সবই মধুর’। কিন্তু পতিতার সঙ্গিনীদের মনের ভাব তখনো পরিবর্তিত হয় নাই। তারা সেই আনন্দ প্রবাহের বিন্দুমাত্র স্পর্শ লাভ করিতে পারে নাই। অমৃতের মর্ম উপলব্ধি করিতে পারা যায় তখনি স্বপ্ন মানবের প্রাণে তাঁর প্রেরণা— তাঁর বিমল অহঙ্কৃত সাড়া দেয়। পতিতার মত সহচরীদের প্রাণে একটুও আশাত লাগে নাই বলিয়া প্রতিক্রিয়াও হইল না। তাই তা’রা—

“ধল ধল করিল হাসিল হাসি

আবেশে বিলাসে হলনার পাশে

চারিদিক হতে ঘিরিল আসি।

বসনাকল লুটায় ভূতলে

বেশী খসি পড়ে কবরী টুটি

ফুল ছুঁড়ে ছুঁড়ে মারিল কুমারে

লীলায়িত করি হস্ত দুটি।”

যে সন্ধানী আলোর সন্ধান পাইয়াছে, অচিন্ পথের রেখা বার নিকট পরিষ্কৃত সে আর অজানার অন্ধকারে থাকিয়া কি করিবে? যে অমৃতের স্বাদ বুঝিয়াছে সে কি সাধ করিয়া হলাহল পান করিবে? তাই কবিত্বময়কে বোহল্যালে বদ্ধ করিবার জন্য নিজ সঙ্গিনীদের হলনার কপট অভিনয়ে পতিতার মনে একটা বিভ্রান্ত ভাব জাগিয়া উঠিল আর সেই অমল কিশোর ভাপসকুমারকে অসহায় দেখিয়া নারী জগতের স্বাভাবিক করুণা উদ্ভলিয়া উঠিল। কি করিব—কি করিব এমনি একটা ভাব মনকে নিপীড়িত করিয়া তুলিল। তাই অসহ্যকৃত ও করুণার উদ্বেলিত হইয়া পতিতার

মুখ হইতে অমৃতময়ী ভাবার অপূর্ণভাবের নিকর বস্তু বহু বারে বহিয়া চলিল।—

কোথার তোমারে আড়ালে রাখি

আবার কাতর অন্তর দিয়ে

চাকিবারে চাই তোমার আঁখি।

হে যোর প্রভাত তোমারে ঘেরিয়া

পারিতাম যদি দিতাম টানি

উবার রক্ত মেঘের মতন

আমার দীপ্ত সরস খানি।

ও আহতি তুমি নিরো না নিরো না

হে যোর অনল তপের নিধি,

আমি হয়ে ছাই তোমারে লুটাই

এমন কমতা দিল না বিধি।”

সহচরীদের এরূপ ব্যবহারে ‘ব্যাকুল সরসে অসহ ব্যাধার’ তার হৃদয় সমানভাবেই ব্যথিত। নিজের পূর্ণরূপে অপরাধ ও সহচরীদের অন্য কাতর কণ্ঠে কমা প্রার্থনা করিতে দেখিয়া—

“চপল ভঞ্জে লুটায় রলে

পিঙ্গলচীরা পিছে উঠিল হাসি।”

কিন্তু পতিতা তখন দিশেহারা আনন্দে অধীরা; তার কাণে কেবলি কীলীর মতন মধুর সুরে বাজি-  
তেছে।—

“আনন্দময়ী সুরতি তোমার

কোন দেব তুমি আনিলে দিবা।।

তোমার পরশ অমৃত সরস

তোমার নরনে দিবা বিভা।”

যিনি তার অন্তরের দেবতা কে জাগ্রত করিয়াছেন, যিনি নারীর নারীত্বের পূর্ণ প্রস্ফুট করিয়া ভক্তি ও প্রহার অর্ধ্যাদানে পবিত্রভাবে পূজা করিয়াছেন তাঁর উদ্দেশে পতিতা বলিতে লাগিলেন।—

“দেবতারে, তুমি যেথেকে তোমার

সরল নরন করেনি ফুল,

যাও যোর মাঝে নিয়ে যাই সাধে

তোমার হাতের পূজার ফুল।



ভোমার পূজার গন্ধ আমার

বনোমন্দির ভরিয়া রবে,—

সেখার দুয়ার কুণ্ডল এবার

যতদিন বেঁচে রহিব তবে।”

এই খানেই ঋষিকৃষ্ণারের নিকট হইতে পতিভার

বিদায় গ্রহণ ।

কবি এই কবিতার ভাবের ও ভাবার যে নীলা-  
ময়ী সৌন্দর্যের অবতারণা করিয়াছেন তাহা অবর্ণনীয় ।

ভাবা সেখানে মুক—উহা জনয়ের পরতে পরতে লজ্জতব  
করিবার দ্বিনিস ।

শ্রীসরোজকুমার সেন ।

## প্রেমের তত্ত্ব

(Shelley.)

করণা মিশিছে তটিনীর সাথে

তটিনী মিশিছে সাগর সনে,

সবীরের সাথে সবীর মিশিছে

প্রাণের আবেশে তারকাবনে ।

এ নিমিলে কেহ নাহি ত একেলা

বিধির এমন বিধান গ্রহ,

দবাই মিলিছে, তব সাথে মোর

কেন নাহি হবে মিলন শুভ ?

হের ঐ গিরি চুমিছে গগন

কোলাকুসি করে লহরীগুলি,

প্রকৃতি জননী করেনাক কমা—

কুলেফুল যদি না পড়ে তুলি ।

সিঙ্গুরে চুম্ব ইন্দ্রকোহনা—

রাবি-কর চুম্ব শ্রামলা জুঁমি,

এত যে চুম্বার কিবা আসে যার

যোরে চুম্বা যদি না দাও জুঁমি ?

শ্রীকালিদাস রায় ।

## ডালি ।

### আকৃতি ও প্রকৃতি ।

কালো-অকালো, ঘরে-বাইরে অনেক লোকের সঙ্গেই প্রতিদিন সাক্ষাৎ হয়; কাহারও সঙ্গে শুধু চোখের পরি-  
চয়, কাহারও সঙ্গে ভাব-বিনিময়, কাহারও সঙ্গে বা সাময়িক আদান প্রদান, আবার কোন শুভ বা অশুভ মুহূর্তে এক আশ্রমের সহিত জীবন বিনিময় পর্যন্ত হইতে দেখা যায় । কাহাকেও দেখিবারাত্র মনে হয় নয়ন ভরিয়া তাহা দেখি, আবার কেহ চোখের আড়াল হইলেই স্তম্ভিত নিঃশ্বাস কেলিয়াবাঁচি । জুঁল ছেলেটা বুদ্ধিবান, ব্রজেন বাবু চৌধুরী লোক, নন্দ বাবু অমায়িক, প্রকৃতি সিদ্ধান্ত আমরা একবার চোখ চাখি-  
য়াই করিয়া গই । এইরূপ জীবন ভরিয়া হালার-হালার লোকের তত্ত্ব আকৃতি দেখিয়াই তাহাদের প্রকৃতি

সম্বন্ধে অনেক মন্তব্য প্রকাশ করিয়া বসি এবং অধি-  
কাংশ সময়ই তাহাতে বিশ্বাস স্থাপন করিয়া থাকি ।  
কেন এমন হয় ?

কলতঃ প্রকৃতির সঙ্গে আকৃতির এই সামঞ্জস্য যে  
মানুষের মনগড়া নয়, ইহার মধ্যে যে একটা গুঢ় সত্য  
নিহিত আছে ইহা সর্বতোভাবে স্বীকার্য্য এবং প্রায়  
প্রত্যেক সত্য জাতির ভিতরই এ সম্বন্ধে রীতিমত  
বৈজ্ঞানিক গবেষণা হইয়াছে এবং এখনও হইতেছে ।  
সে সব কথা ব্যাভ্যস্তরে প্রকাশ করিবার আশা রহিল,  
সম্প্রতি বোধ হয় ইহা বলিলেই যথেষ্ট হইবে যে  
আমাদের ব্যবহার্য্য ভাব এবং চিন্তার আধার সত্যিক,  
প্রত্যেকটি চিন্তাকে কার্য্যে পরিণত করিবার কল্প পূর্ব্বেই



উষার বীজ (Germ) মস্তিষ্কের বিভিন্ন কেন্দ্র বা কোষে (Brain Cells) নিহিত থাকে। এবং প্রতি চিন্তাপ্রবাহের আংশিক উন্মেষের সঙ্গে সঙ্গে মস্তিষ্কের সহিত অঙ্গা-বিক বিনির্বর্তা অনুযায়ী কর-প্রকোষ্ঠে, নয়নে, কপালে, কণোলে, চিবুকে এবং শরীরের আর সকল অবয়বের ভিতরই বিশেষ বিশেষ চিহ্নের আবির্ভাব হয়। মস্তিষ্কবিদ, পণ্ডিতগণ (Phrenologists) ইহা স্বীকার করেন। সুতরাং এই সকল বাহ্যিক চিহ্ন দেখিয়া তাহাদের বথোচিত শ্রেণীবিভাগ দ্বারা কার্য্যাকারণ সম্বন্ধানুযায়ী প্রত্যেক ব্যক্তির প্রকৃতিগত কতকগুলি সত্যের সন্ধান পাওয়া একেবারে অসম্ভব নয়। দুটোওধরপন করেকটী বিশিষ্ট চিহ্নের এবং তাহাদের প্রকৃতিগত কারণেব উল্লেখ করিতেছি।

(১) উচ্চ এবং সুপ্রশস্ত লগাট প্রধর স্থতি এবং বীণজ্ঞজ্ঞাপক ; উচ্চ এবং অপ্রশস্ত লগাট স্থতিশক্তি-বিহীন বৌলিকত্বের নিদর্শন।

(২) অত্যন্ত কপিল (tawny) নেত্রভারিকা ধূর্ততা-ব্যঞ্জক, পাচকক প্রাশস্ত-চকল এবং তরলমতির পরিচায়ক।

(৩) হৃদয় মালিকাগ্র, রাজনীতিজ্ঞের এবং অতিশয় মূল্য বীষানের লক্ষণ।

(৪) বহুর লগাট এবং মালিকা সর্বতোমুখী প্রতি-ভার (Versatile genius) চিহ্ন।

(৫) ক্ষুদ্র চিবুক ভীকৃতার পরিচায়ক, হৃদয় হৃদ্বিমতর, এবং সটোল (dimpled) নারী এবং পুরুষ-তেবে পরম্পরের প্রতি পাচ অনুগ্রাগের চিহ্ন।

(৬) বহু লোমশ ব্যক্তি দয়ালু, পরিশ্রমী, স্বাধীন চিন্তামূল এবং ধেরালী (impulsive)।

(৭) অতিশয় কুকিত কেশদান নির্দয়তার চিহ্ন, ঈর্ষা মীলানিত চিকণ অনতিশয় অলক দয়ালী ভাব-কের সঙ্গে পরিচর করিয়া দেয়।

এইরূপ শত শত চিহ্নদ্বারা মানব প্রকৃতিকে অঙ্গা-বিক পরিমাণে চিনিয়া লওয়া যায়।

## চীন দেশে কন্যার বিবাহ।

চীন দেশের কোন কোন অঞ্চলে কন্যার বিবাহের লগ অদ্ভুত প্রথা প্রচলিত আছে। এই সকল স্থানে যে যে গৃহস্থের অবিবাহিতা কন্যা আছে তাহারা তাহাদের বাড়ীর সদর দরজার একটা পূর্ণ কুন্ত রাখিয়া দেয়। তাহা হইতেই লোকেরা বুঝিবে যে সেই সেই বাড়ীতে বিবাহ-যোগ্য কন্যা আছে। তুমি বরপক্ষ, প্রয়োজন থাকিলে বিবাহসম্বন্ধ উত্থাপন করিতে পার। কিন্তু যদি দেখ কলনী উপুড় হইয়া রহিয়াছে, তাহা হইলে মনে করিতে হইবে যে, সে বাড়ীতে কন্যা আছে, তবে এখনও এত ছোট যে বিবাহের যোগ্য হয় নাই। আর যদি দেখ কলনীর মূখ রাত্তার দিকে হাঁ করিয়া রহিয়াছে, তাহা হইলেই বুঝিতে হইবে, কন্যার বিবাহের বয়স উত্তীর্ণ হইয়াছে, যেহেতু বেশ বয়স্কা আর কন্যাপক্ষ বরপক্ষকে সাগ্রহে আহ্বান করিতেছে। আর যখন দেখিতে পাইবে সদর দরজার কলনী ছিল, এখন আর নাই, তখনই বুঝিতে পারিবে সে বাড়ীর কন্যার বিবাহ সুসম্পন্ন হইয়া গিয়াছে। চীন দেশের এই প্রথার যে অনেক বরপক্ষের পরিশ্রম বাচিয়া থাকে, সে বিষয়ে আর কোনই সন্দেহ নাই। (স্বগল)

## আমেরিকার অদ্ভুত শিল্পম।

আমেরিকার নামা রাজ্যে এখন সব নগর নগর আইন আছে, যাহা শুনিতে শস্তর লোকেরাও না হাসিয়া পারিবে না। উর্ট-প্রদেশে ক্যান্সান-রাজনীরাও দেড় ইঞ্চির চেয়ে বেশী উচু গোরালিওয়ালা কুতা পরিলে পাহারাওয়ালা তাহাদিগকে থানার টানিয়া লইয়া যায়। মেরিয়ান্ড নামক স্থানেও এই ধরনের একটা বিধান আছে। দশ ইঞ্চির চেয়ে বেশী বেড়-ওয়ালা টুপি পরিয়া সেধানকার কোন রূপনী পথে বাহির হইতে পারে না।

টেমাস প্রদেশে কুতু-কুতু দেওয়া বেজার একটা যে-আইনি কাজ। কেন? যোধ হয় জোর করিয়া লোক হাণানোর দরুণ। কিন্তু এই বিচিত্র আইনও কি তেমন হান্তকর নয়? টেমাসে বাহাতক কেউ



কাজু-কাজুদের, তাঁহাদের ধরা পড়ে। তারপর সে বেচারীর ভিনশো টাকারও বেশী জরিমানা হয়।

সিকাগোতে একটা বিশেষ আইন আছে যে, জীর চূষনাম্পদ কপোলে বে পাষণ্ড স্বামী চপেটাঘাত করিবে, অপরাধের গুরুত্ব অনুসারে তাহার তিন হইতে পনের টাকা পর্য্যন্ত জরিমানা হইবে। সম্প্রতি একজন স্বামী বড় বেশী রকম চর-মারার দরুণ আদালতে একত্রিশ টাকা জরিমানা দিতে বাধ্য হইয়াছিল।

আমেরিকার চূষন সাধারণ প্রথা হইলেও স্থান বিশেষে তাহা দণ্ডনীয়। নিউইয়র্কের মার্শাল ম্যাক-ডানিয়েল নামক এক ব্যক্তি স্ত্রীলোকের নারী একটি মেয়েকে ধরিয়া তাহার গালে একটি ছুটি মর, একেবারে দেড়খোটি চুষা খাইয়াছিল। কি সর্বনাশের কথা! বাবা হউক, হাকিম তাহার প্রতি প্রত্যেক চূষন পিছু তিন টাকা করিয়া অর্থদণ্ড প্রদান করেন। এই স্বযোগে চূষনেরও একটা মূল্য নিরূপণ হইয়া গেল।

ইলিনয়সে মেয়েদের টুপীর কাঁটা নয় ইঞ্চির বেশী হইলেই তাহা সাংঘাতিক অস্ত্র আইনের মধ্যে গিয়া পড়ে।

আমেরিকার অনেক রাজ্যে আইবুড়োদের বড়ই মুঞ্চি। যেন-প্রদেশে যে সব আইবুড়োর বয়স ত্রিশের উপরে, তাহাদিগকে বৎসরে ত্রিশ টাকা কর দিতে হয়। সেই টাকা হইতে আইবুড়োদের ভাতা দেওয়া হয়।

বিবাহ-বন্ধনচ্ছেদ-ব্যাপারে আমেরিকার, কান্সাস বিচারও হার মানিয়াছে। একজন নারী আদালতে এই বলিয়া আবেদন করিয়াছিল যে, “আমার স্বামীর এত বড় সাহস যে, সে দাড়ী কাঁধাইয়া নিজের কথা-কার তিব্বকে হাটের মাঝে বাহির করিয়াছে। তাকে আমার স্বামী বলিয়া পরিচয় দিতে স্বণা হয়।” আদালতের সম্মতি লইয়া সে স্বামী ত্যাগ করিতে পারিয়াছিল। স্বামীর নাক এত জোরে ডাকে যে, রাজ্যে যুব হওয়া অনন্তব বলিয়া আর এক জী আদালতে গিয়া স্বামী ত্যাগ করিয়া আসিয়াছে। বর্ত্ত আমেরিকার কন্টিনেণ্টা নারী! (বিকাশ)

### চন্দ্রলোকের সান্ত্বনা।

করাসী জ্যোতির্বিদ মিসিয়ে লে বরডেন চন্দ্রের একখানি মানচিত্র অঙ্কিত করিয়াছেন। তাহাতে পর্যন্ত ও গহ্বরাদির স্থানও প্রদর্শিত হইয়াছে। তিনি এ যাবৎ চন্দ্রগ্রহের নানা অবস্থার ৮০০০ আলোক-চিত্র তুলিয়াছেন এবং ঐ সকলের ফল সমিবেশিত করিয়া সম্প্রতি তিনি ৪৮ খানি মানচিত্র ফ্রান্সের বিজ্ঞান-সমিতিতে প্রদান করিয়াছেন। তিনি বলেন, চন্দ্রমণ্ডলে পাঁচটি মহাসমুদ্র আছে। যথা,—“অমৃত-সমুদ্র”, “বান্দীর-সমুদ্র”, “তুহিন-সমুদ্র”, “উচ্চ-সমুদ্র” এবং “বাত্যা-সমুদ্র”।

### ফুলোৎসব।

বুদ্ধদেবের সুখ-স্বর্ণীয় জন্মোৎসব, জাপানে বৌদ্ধ-গণের নিকট “ফুলোৎসব” নামে পরিচিত। এপ্রিল মাসে এ উৎসব হইয়া থাকে। জাপানে ঐ সময়েই সর্বত্র ফুলের হাসি ছড়াইয়া পড়ে। ৮ই এপ্রিল বুদ্ধ-দেব জন্ম গ্রহণ করিয়াছিলেন বলিয়া ঐ তারিখেই এ উৎসব সম্পন্ন হয়। চীনে প্রায় ৪৬২ খৃষ্টাব্দ হইতে বুদ্ধের জন্মোৎসব অত্যন্ত প্রচার সহিত সম্পন্ন হইয়া আসিতেছে। জাপানে ৬০৬ খৃষ্টাব্দ হইতে জন্মোৎসব-বিধি চলিয়া আসিতেছে। ১৯১৬ সনে প্রথম এই ফুলোৎসব-প্রথা প্রচলিত হয়। সেদিন অশোক তরু-তলে বুদ্ধদেবের প্রস্তর-মূর্ত্তিকে নানা ফুলে সাজাইয়া সকলেই নিষ্ঠার সহিত তাঁহার উদ্দেশে জ্বর-অর্থ্য নিবেদন করে। সে দিন বিজ্ঞানদের বালক বালিকারা ফুল বিক্রয় করে এবং বিক্রয়লব্ধ অর্থ কোন না কোন সংকার্থে ব্যয়িত হয়।

(Asian-Review).

### বৈজ্ঞানিক আবিষ্কার।

আলফ্রেড রসেল ওয়ালেস, তাঁহার “The Wonderful Century” নামক বিখ্যাত পুস্তকে দেখাইয়াছেন যে, অষ্টাদশ শতাব্দীর পূর্ব পর্য্যন্ত পৃথিবীতে বিজ্ঞানের প্রসারে বর্ণাশ্রমিক লিখন-পদ্ধতি, আরবীয় অঙ্ক, দিশর্দশন বস্ত্র, মুদ্রাবস্ত্র, দূরবীক্ষণ-বস্ত্র, বায়ুমান বস্ত্র ও বায়ুীয় বস্ত্র আবিষ্কৃত হইয়াছিল। কিন্তু এক উনবিংশ



পতাকাতোই বিজ্ঞান-জগতে, রেল-বন্দা, বাষ্পীয়পেতা, বৈজ্ঞানিক ভাণ্ডার-বার্ডা, টেলিফোন, দেশলাই, গ্যাসালোক, বৈজ্ঞানিক-বাতি, আলোকচিত্র, কলের গান, রজন-রশ্মি বর্ণজ্যে বিশ্লেষণ, বিশ্ব-নিবারণের ব্যবহার আবিষ্কৃত হইয়া বিশ্ববাসীকে চমৎকৃত করিয়াছে।

(Munsey's Magazine of America.)

### আন্দোলন বাহ্যিক।

নিম্নোক্ত বাঙ্গালী ডাল-ভাত খাইয়া ঘরের কোণে চুপটি করিয়া হরির নাথের মালা জপিতেই খুব ভাল-বাসে, কিন্তু ভাগ্যান্ধোষে মাঝে মাঝে 'খাবী খাইয়া' বড়ই কাঁদিল হইয়া পড়ে। শুনিখোর গুলি না খাইলে আনন্দ পায়ের লহর তুলিয়া কি করিয়া মজলিস্ মঙ্গল করিবে? আবার সুখে আর এক প্রকার গুলি খাইয়া অনেক বেচারা অকালে অকাল পায়। এই সে দিন পুট্টকে 'আছাড় খাইয়া' জিহ্বার কামর খাইতে দেখিয়াছি। হঠাৎ বিষম খাইয়া কত সময়ই না বিপর হইতে হয়। 'মাথা খাও, যদি কথা না রাখ', প্রিয়জনের এ প্রকার সোহাগবচনে কে না আত্মহার্য হইয়াছে? গোবর্দ্ধন পণ্ডিত মাথা খাইয়া সংস্কৃতের শ্লোক বুঝাইতে বুঝাইতে যখন চাহিয়া দেখেন যে, আবাহ ছাত্রস্বয়ং তাঁহার কথার অঙ্কণ না করিয়া বয়ং হাই তুলিয়া জানাইয়া দিতেছে যে অগতটাই বিষয়। তখন পণ্ডিত মহাশয়ের উপায়ান্তর না দেখিয়া এই প্রকার উদ্বাসীন ছাত্রদিককে বাস খাওয়ার ব্যবস্থা দেন। অনেক খাইয়াও যে পরিতৃপ্ত হয় না, তাহার পক্ষে কচুপোড়া ও বটী খাওয়ারও না কি বিধি আছে। রাগের বোঁকে অনেক কলা খাওয়ার ব্যবস্থা দিয়া যদে। এত পেন বাঙ্গালীর মানা প্রকার খাওয়া। এখন পরের স্টেটে একবার উঁকি দিয়া দেখেন, তাঁহার

কি ধান। অবশ্য এ কথা তাঁহারের খাওয়া হউক, ইহা মোটেই বাঙ্গালীর নয়।

ও কি! স্মৃতি করাসীর স্মৃতি স্টেটে ব্যাংপোড়া দেখিয়া এত নাক সিটকাইতেছেন কেন? বাহু না হইলে কি তাঁহার উঁহা আভার করিতেন? বেচারী প্রজাপতিও তাঁহারের ভীকৃ হুটি হইতে মুক্তি পায় নাই। "আরশোলা মুখে দিয়ে মুখে খায় চীনারা" এ'ত জ্যামিতির সত্যসিদ্ধের মত সর্ববাদী-সম্মত। যথু মধ্যে সত্ত প্রহৃত ইঁদুরকে ভিজাইয়া খাইতে যে কি যথু তাহা একমাত্র তাঁহারাই ভাল জানেন। শুটি-পোকা পাতার পাতার থাকিয়া কেন অকারণ কষ্টভোগ করিবে, এ জন্তই ত দয়াসু চীনবাসিন্দা এই গুলিকে তাঁহাদিগের স্বীয় উদরে স্থান দিয়া উদারতার পরাকর্ষ্য দেখাইতেছেন। ফোরমোদা স্বীপবাসীর নিকট কুকুরের পা'র মাংস না কি খুবই উপাদেয়।

জাভা ও কোচিঙের লোকেরাই বুদ্ধিমান। তাঁহার পাখী অপেক্ষা পাখীর বাসা খাইতেই ভালবাসেন। তাঁহার জানেন যে, কখন খরিয়া চীন দিলে মাথা আপ-নিই আসিয়া পড়িবে।

সাদা পিপীলিকা দেখিলে জাপানীর জিহ্বার জল আপনা হইতেই পড়িয়া যায়।

সারা ব্রাণহার্ডট নারী একটি মহিলা একবার "ওরাং ওটাং"-এর মাংস খাইয়া না কি আনন্দে গদগদ হইয়া বলিয়াছিল—"আহা কি সুস্বাদু!"

আমরা পশু-পক্ষীর খাওয়া দেখিয়া বলি, উহার বা পায় তাই খায়। কিন্তু মানুষ যে সর্বভুক তাহা একবারও ভাবিয়া দেখিতে চাই না। স্থলচরের মধ্যে চৌকি-টেবিল, জলচরের মধ্যে নৌকা-জাহাজ ও খেচ-রের মধ্যে এরোপ্লেন, বৃড়ি প্রকৃতি ছাড়া সে কাহাকেই বা খাওয়ার বিরাট তালিকা হইতে বাদ দিয়াছে?

—শ্রীপতিপ্রসন্ন—



## উবারাণী ।

কে গো তুমি বর্ষে এসে নিত্য ঢালো নূতন ধারা,  
চিহ্ন জাপে পরশ পেরে—অপন-ভাঙ্গা তল্লাহার।  
সোহাগ-ভরা চুখনে কার সরস-রাঙা অধর-পুটে—  
হাল-পোলাপী হাস্য খানি উথলে যেন উঠে ফুটে  
অন্ধকারের ওড়না টুটি রূপ-মাধুরী লুটছে গো,  
অরুণ-আলোর তরুণ শোভা উজ্জ্বলিয়া উঠছে গো।

কাহার লাগি গাঁধুছ বালা, সাজাও ফুলের অঞ্জলি,  
শিউরে কেন উঠছে দেহ, উঠছে হৃদয় আন্দোলি।  
এলিয়ে দিয়ে কুঞ্চিত কেশ স্বর্ণ-শোভার অকলে—  
বিজলী সম চমকে এমন লুকাও কোথা ঢকলে।  
ধরায় এসে দত্ত হৃদয়কে খেলুছ নিতি প্রেম খেলা,  
সোণার কাঠি পরশ দিয়ে জাগিয়ে তোলা হুঁই-বেলা।

চঠাৎ কাহার পায়ের জ্বনি কাঁপিয়ে তোলে জ্বর মন,  
ভিলেক মাঝে নিচ্ছ বিদায় কাঁদিয়ে ধরার কুজবন।  
পরীর রাণী প্রেম পারিজাত রও কি শুদ্র নন্দনে ?  
নিত্য ধরায় আসছে নামি কাহার আকুল বন্দনে ?  
পবন তোমার চারদর করে—ফুল গুলি গার জ্বরবাণী,  
কি নামে যে বন্দি তোমায় দাগ বলে দাগ রূপ-রাণী।

শ্রীভক্তিসুধা রায় ।

## নাটক ।

কোন এক প্রসিদ্ধ কবি বলিয়াছেন যে, মানব চরিত্রের বৈচিত্র্যই মহুগ্ৰন্থ উৎকৃষ্টতম পাঠ্য পুস্তক। কবি বা দার্শনিক, ব্যবসায়ী বা রাজনীতিজ্ঞ, সকলের পক্ষেই মহুগ্ৰন্থচরিত্রের কোন না কোন ভাগ মূলধন। যিনি মানবচরিত্রের বৈচিত্র্য উত্তমরূপে শিক্ষা করিয়াছেন, তিনি কবি হইলে ব্যাস বা সেক্ষপিয়র, দার্শনিক হইলে শঙ্করাচার্য বা কোম্বু, ব্যবসায়ী হইলে টেইটম্যান কোম্পানি এবং রাজনীতিজ্ঞ হইলে কণিক বা মেক্সিকোবেল, চাপক্য বা ডিসুরেলি।

এই মানবচরিত্রের বৈচিত্র্য নানা প্রকারে সাধিত হয়। মহুগ্ৰন্থ সময় স্রোতের তাড়নায় নিরন্তরই ভিন্ন ভিন্ন বৃত্তি পরিগ্রহ করিতেছে। এই রূপেই প্রাচ্য আৰ্য্যজাতির অধঃপতন ও প্রাচীন আমেরিক জাতির অভ্যুত্থান। এই জন্তই ইংলন্ড তেরিঞ্চ জমাখরচ দেখিতেছে, স্পেন গৃহবিবাদ করিতেছে, ফ্রান্স ক্ষতদেহে প্রেলপ দিতেছে। ইত্যাদি রূপে সময়স্রোতের তটভিত্তিক ইতিহাসের সমালোচ্য। মহুগ্ৰন্থ আবার কিয়ৎপরিমাণে ক্রিয়াপ্ৰভ-কোমরুৎ এই ভূত চতুর্দয়ের দাস; এবং আহাৰ ও পরিচ্ছদ বৈচিত্র্যেও মানবীয় চরিত্রের বৈচিত্র্য হইয়া থাকে। মহুগ্ৰন্থচরিত্র লইয়া শ্রীতবাত্তপের ক্রীড়া

কুর্দন উন্নত পদার্থবিজ্ঞান এবং আধুনিক আকলবিজ্ঞান সমালোচ্য সামগ্রী।

আবার দেখিতে গেলে মহুগ্ৰন্থ কিয়ৎ পরিমাণে নীতি শিক্ষার বহুস্ত গঠিত পুস্তক। বর্ণিত্বিক ইংরেজের নিকট নিত্য নীতি শিক্ষা করিয়া, আধুনিক আৰ্য্যসন্তান এখন অনায়াসে অভিধিকে প্রত্যাখ্যান ও বীরত্ববন হইতে বহিষ্কৃত করিয়া দেন; মুসলমানের নিকট নীতিশিক্ষা করিয়া পক্কাফাকলের মত, সুগন্ধি কর্পূর খণ্ডের মত, মহিলাগণকে বাহুস্পর্শ বিরহিত অবরোধে

রুদ্ধ করিয়া রাখেন। আবার এই নীতিশিক্ষার প্রভাব বলেই পরমভাগবত নিত্যানন্দ গোষ্ঠীসমূহ সুবক সুরা সেবনে মগ্নিত, আর এই শিক্ষাবলেই প্রবন্ধকের প্রিয়শিষ্য বর্ণাচার্যের পদে অভিষিক্ত।

আর এক প্রকার দেখিতে গেলে মহুগ্ৰন্থ প্রাসাদ শোভিনী বাতশলাকার স্তায় সর্বদাই ভাঙিত হইয়া থাকে। সেই ভাঙনাকারি কারণ সমষ্টিকে সংসার বলা যায়। সকল মহুগ্ৰন্থই এই জগৎ সংসারের ক্রীড়াকন্দুক। সময়ের তরঙ্গাতিঘাতকে, জড় জগতের শক্তি সামর্থ্যকে, বা নীতির উপদেশ পরিচালনাকে সংসার ভাঙনা বলি না; মহুগ্ৰন্থ এই কর্ষক্ষেত্রে প্রবিষ্ট



হইয়া পরকীর আবেগের উপর যে পরকীর আবেগের আঘাত প্রাপ্ত হয়, তাহাকেই সংসার তাড়না বলি। সংসার তাড়নার একটি অপূর্ণ নিয়ম আছে। তাহা এইরূপ;—দশদিক হইতে দশদিকের ভিন্ন ভিন্ন অভিজ্ঞ প্রায়ে তোমার তাড়না করিতেছে, অথচ তোমার প্রকৃতিবলে তুমি একটি নির্দিষ্ট দিকে চালিত হইতেছ। আমরা যাহাকে প্রকৃতি বলিলাম এক শ্রেণীর দার্শনিকেরা তাহাকেই অদৃষ্ট বলেন। এই অদৃষ্ট বা প্রকৃতি-পরিণত স্বাভাবিক সহিত, সংসার বলিয়া অভিহিত পরকীর আবেগসমষ্টির যে বুদ্ধ, তাহাই নাটকে বর্ণিত হইয়া থাকে। এই বুদ্ধ যে একের সহিত অনেকে-করিতেছে, এমন নহে। এই সংসারে সকলেই সকলের সহিত বুদ্ধ করিতেছে, অথচ সময় বিশেষে এই সময়কেন্দ্রে এক একজন মাত্র অধিনায়ক বা অধিনীত রূপে পরিলক্ষিত হইতেছেন। কুরুক্ষেত্রের ভীষণ সমরে সপ্ত অকৌহিলীর সহিত একাদশ অকৌহিলী সমরে প্রবৃত্ত ছিল, অথচ তাহার ভাগবিশেষ অধিনায়কের নামে ভীষ্মপর্ক, বা ভীষ্মপর্ক বলিয়া কথিত হইয়া থাকে। নাটকে সেইরূপ; কেট, গুট, এড্‌মন্ড, এড্‌মন্ড, বিদ্রূপক, গণ্ডিল, রিপান, ও কন্ডেলিয়া সকলের মধ্যেই আবেগের “বাতপ্রতিঘাত” চলিয়াছে; কিন্তু সকলের মধ্যে বার্ডেকোর বেগপরিচালিত নৃপতি লায়রই অধিনীত, সুতরাং সমস্ত নাটক ধানির নাম ‘লীয়র’। নাটকের অভিমুখ্যাক্রমী নিমেষের রাজকুমার সপ্তরথী পরিবেষ্টিত,—রজনীবোণে ভূতবোনি কর্তৃক আক্রান্ত, পরদিন প্রগয়িনী কর্তৃক প্রাত্যহায়াত, কখন পাণ্ডিত্য পর্ভাবারিনীর সহিত বাগ্‌বুদ্ধ করিতেছেন, আবার কখন বা প্রাণবন্ত হোরেনিয়োর পরামর্শে সংশয়াক্ষর হইয়া অবিস্থিত করিতেছেন; লেয়ার্টসের বিবাক্তবাণে লজ্জিত কলেবর হইয়া স্বেদন কপটচরণে স্থগায় অভিভূত; আবার সেই মুহূর্তেই বজ্র প্রাণকোষে মৃত্যুব্রা হইতে উত্থান করিতেছেন। তিনিই অধিনায়ক এবং তিনিই অধিনীত; সুতরাং সেই নাটকের নাম ‘হেমলেট’।

স্থূলভঃ বলিতে গেলে অধিনায়ক বা অধিনীত বিশেষের সংসার তাড়নার বা পরকীর আবেগসমষ্টির উত্তেজনায়

যে চরিত্রগত পরিবর্তন ও পরিণাম হইয়া থাকে, তাহা প্রদর্শন করাই নাটকের মূখ্য উদ্দেশ্য। যিনি শিথিতে জানেন তিনি নাটক হইতে ইহলোকের চরমশিক্ষা লাভ করিতে পারেন। বিষয়কণ্ঠে মৃত্যু হয়, বঙ্গদেশে বাস করিলে শরীর দুর্বল হয়, কেবল মাত্র অন্নভোজী হইলে বহুস্থল লম্বোদর সুতরাং অগ্নি প্রকৃতি হয়, বিলাসপ্রিয় জাতি ক্রমে কঠোরপ্রাণ জাতির কর কবলিত হয়, ইতিহাস বা বিজ্ঞানের সমীপে যেমন এইরূপ নানা কথা শিক্ষা করিতে হয়, সেইরূপ কাব্য নাটকের স্থানেও আমরা নানা গভীর নীতি শিক্ষা করিয়া থাকি। যদি যুগাকরেও সরলা প্রগয়িনীকে অনর্থক অবিবাস কর তবে তুমি ওগেলো যুগা পাঠ করিয়াছ; আবার যদি প্রগয়িনীর অসঙ্গত আকাজক্ষা পরিপূরণ করিতে যুগাকরে সঙ্গত হও, তবে তুমি মেকবেথ যুগা পড়িয়াছ। সম্মানলুক ব্যক্তির প্রায়ই চাটুঘটন প্রিয়। তুমি লায়র পড়িয়াছ এখনও কি চাটুঘটনে মৃত্যু করিবে? আর তুমি নেপোথিয়ান, লিঙ্কন, বিমবার্ক বা ডিল্লুরেলি, তোমরা কি মনে কর যে কেবল সৌভাগ্যের বিরুদ্ধেই ক্রেটসের বিশ্বাসঘাতকতার সমাধা হইয়াছে? শত শত ক্রেটস হয়ত এই মুহূর্তেই তোমাদের নিমিত্ত গুপ্ত অস্ত্র শাণিত করিতেছে। কবির কল্পনা হইতে এইরূপ গভীর উপদেশ সকল পাওয়া যায়। তবে কেহ তিন বৎসরেও অঙ্কুপাঠের ব্যাখ্যা করিতে পারে না, আবার কেহ বাবজীবনেও উৎকৃষ্ট নাটকের মর্ম্মকথার বর্ণ মাত্র বুঝিতে পারে না। সংসার তাড়নার অধিনায়ক বা অধিনীত বিশেষের চরিত্রগত পরিবর্তন ও পরিণাম বখন নাটকের উদ্দেশ্য, এবং মানসিক আবেগের বা অন্তঃ প্রকৃতির উচ্ছ্বাসিত তরঙ্গের দ্বারা প্রতিঘাতই বখন নাটকের জীবন, তখন কথোপকথন বা স্বগত বচনই নাটকের একমাত্র দেহ।

অন্তরূপ কাব্যে কল্পনার অধিকতর লীলাচাতুরি আছে, সৌন্দর্য্যের সুটতর বিকাশ আছে, গদ্যের তরতর উচ্ছ্বাস আছে, ইঞ্জির গ্রাম অবশ করে এমন যৌবনীয় শক্তি আছে, এবং হয়ত অনেক স্থলে আবেগেরও তরঙ্গ আছে, কিন্তু কেবল মাত্র নাটকেই সেই তরঙ্গের



“বাত্ত প্রতিবাদ” দেখিতে পাওয়া যায়। একজন কোন বস্তুর নিকট চিন্তাবোধ প্রকাশ করিলেন; বস্তু তাঁহাকে সাধুনা বাক্যে উত্তর দিলেন; প্রথম বক্তার আবেগ অবশিষ্ট অতীতকে ধাবিত হইল, বস্তু জন্মের আর এক দিকৈ এবার আঘাত লাগিল, বস্তু এবার সাধুনা না করিয়া সহানুভূতিভরে দুইটি কথা কহিয়া ক্লান্তকণ্ঠ হইলেন, তাহাতেই আবার প্রথম বক্তা বিচলিত হইলেন। এইরূপ কথোপকথন নাটকের দেহ। কিন্তু কথোপকথন থাকিলেই যে নাটকের আর আনা হইল একরূপ মনে করা নিতান্ত প্রযাশ্চক্য। তাহা হইলে প্লেটোর তর্কবাদ বা ক্লডমোহন বন্দ্যোপাধ্যায়ের বড়দর্শন সংবাদ উৎকৃষ্ট নাটক; কেন না তাত্ত্বিকের মধ্যে যত আবেগ আছে, এত বোধহয় সংসারের আর কাহারও নাই। কিন্তু তাহাতে সংসার কৈ? সংসারের তাড়না কৈ? অধিনায়ক বা অধিনীত কৈ? ইহাতে অনেক মনে করিতে পারেন, ঐ বড়দর্শন সংবাদে বা প্লেটোর তর্কবাদে যদি দুটি একটি জীলোক থাকিত, ও সঙ্গে সঙ্গে একটি অস্থির গল্প থাকিত, তাহা হইলেই ঐ গ্রন্থগুলি নাটক বলিয়া পরিগণিত হইতে পারিত। এটিও নিতান্ত ভ্রমের কথা। তাহা যদি হইত তবে টেকচাঁদেব হরিহর, পদ্মাবতীর কথোপকথন, এবং বহুবাবুর ধাত্রী শিকাগ উৎকৃষ্ট নাটক বলিয়া সেকপিয়রের সমকক্ষতা লাভ করিতে পারিত। আধুনিক বাঙ্গালা নাটকের দেহ আছে, প্রায়ই প্রাপ্য নাই। কেবল রসপূর্ণ কথোপকথন আছে, আবেগ তরঙ্গের চলাচল নাই। কেবল নাটক বলিয়া নয়, আমরা সর্বত্রই শুদ্ধ বাহ্যিকত্বের প্রতি চুটি রাশি, এবং বাহ্য চিত্রের উদ্দেশ্য কি তাহা ভুলিয়া বাই। অস্তিত্ব কাব্যোত্তেও এইরূপ হইয়াছে। এতদিন বাঙ্গালা বাহ্যিক প্রধান কবি বলিয়া প্রভা করিতেছিল, সেই ভারতচন্দ্র একজন বাহ্যিকত্বপ্রিয় কবি; তাঁহার দৃষ্টি কেবল ছন্দে আর লালিত্যে, অন্ত-প্রাণে ও বশক। এখনও বাহ্যিককে আশ্রয় কাব্য-কাননের সারী শুক বলিয়া প্রিয় সজ্ঞাষণ করি, তাঁহা-রাও কি অনেক সময়ে কেবল বাহ্যিকত্বে মগ্ন নহেন? শুধন সাজু বারু, নিধু বারু, কোকিল কমল, ভ্রমরগুণন,

কদম্ব, দাড়িম্ব লইয়া ব্যস্ত ছিলেন- এখন হইয়াছে “নৈশগগনের সাক্ষ্যসমীক্ষণ”—আর “নৈশাঘ তপনের সুখুদ্দাহন”। ফল কথা বর্ণনাকাব্য এখনও আশ্রয় শব্দের অহুচিত শাসন এড়াইতে পারি নাই। সেইরূপ সঙ্গীতে দেখিবেন, কলাবত কেবল তান নয় মান প্রকৃতি সঙ্গীতের বাহ্য প্রকৃতি লইয়াই ব্যস্ত। এদিকে করুণরসের গানে বীতংস রসপূর্ণ গমক সন্নিবেশিত করিতেছেন, বা তন্ত্রিরসে উৎকট বিকট গীটকারি যোজন্য করিয়া সম্পূর্ণ রসভঙ্গ করিতেছেন, সঙ্গীতের অন্তঃপ্রকৃতির প্রতি তাঁহার দৃষ্টিই নাই। এইরূপ সকল বিষয়েই আশ্রয় বাহ্যিকত্বের সমুদ্র। আমাদের মধ্যে সভা আছে, সমিতি আছে, সমাজ আছে, কিন্তু একতা নাই। ত্রিকগ্নিশোভিত, ত্রিগুণ-চর্চিত, সর্বদেহ হরিনামাক্তিত গোস্থায়ী বাবাজী আছেন, আর ইম্ব-গীতি-পরিপূরিত, চল-বীজন-সেবিত, স্ফটিক-দীপাধার-বিলম্বিত প্রার্থনা-মন্দির আছে, কিন্তু কোথাও এক শতক ভক্তি আছে কি না সন্দেহ। এখন গেকরা বসন পরিধান করিলেই বোগী, আর কথোপকথন প্রসঙ্গে গল্প রচনা করিলেই নাটক।

কথোপকথন নাটকের শরীর, এই কথার নাটক-বয়ব বর্ণনের পর্যাপ্তি হয় না। আবেগের তরঙ্গ চলাচল সাধারণতঃ কথোপকথনেই বিকশিত হয় বটে; কিন্তু আবেগ চলাচলের আরও দুইরূপ পরিণাম আছে। এক, আবেগের দুইটি প্রতিপক্ষী সংঘাত হইতে ঘোরতর সংশয়ের উৎপত্তি এবং তাহা হইতে আত্ম-চিত্ত পরীক্ষা; আর আবেগের পূর্ণতা হইতে উচ্ছ্বাস এবং সেই উচ্ছ্বাসের পরিণাম গান। এই আত্মচিত্ত পরীক্ষা ও কঠোচ্ছ্বাস উভয়ই স্বগত হইয়া থাকে, এবং ইহাও নাটকের অবয়বের মধ্যে। একাধিক ব্যক্তি মিলিয়া যে নাটকের মধ্যে গান করে, এবং কাহারও আত্মচিত্ত পরীক্ষা না হইয়াও যে স্বগত বাক্যের বিস্তার থাকে—সে সকল নাটকের অদ্বীভূত পদার্থ নহে।

এখন নাটকের পরিচ্ছদের কথা। নাটকের ছন্দো-বন্ধন, তাহার গাঁথনি বা রচনা-প্রণালী কিরূপ হওয়া উচিত? এইবার অনেক কৃতবিদ্যের মতের সহিত



আমাদের মত বিরোধ উপস্থিত। আমাদের মূলমন্ত্র-  
জুসারে বঙ্গীয় নাটককারের আবেগের তরঙ্গই যখন  
নাটকের জীবন, তখন ইহার পরিচ্ছদ ঃ ভাবাত্ত সম্পূর্ণ  
তরঙ্গায়িত হওয়া আবশ্যিক। ভাবার নিরমিত তরঙ্গকেই  
রচনার চন্দ বলিতে পারা যায়। নাটকে সেটরূপ  
ছন্দোবদ্ধ রচনা হইলেই স্বভাব সঙ্গত হয়। স্বভাবে  
যেখানে দেখিবেন মানসিক উৎসেগ, সেইখানেই  
দেখিবেন কথা ছন্দোময়ী। আনন্দের যে নৃত্য, তাহাতে  
বেরূপ ছন্দ আছে, শোকের যে উচ্ছ্বাস ও ক্রোধের যে  
গর্জন, তাহাতেও সেইরূপ ছন্দ আছে।

মহুত্বময় আবেগপূর্ণ হইলে কথা কেন ছন্দোময়ী হয়,  
যদিও এ প্রশ্নের উত্তর দান করা তত সহজ নহে, কিন্তু  
এরূপ যে হইয়াছে, তাহাতে অণুপ্রাণও সংশয় নাই  
এই লজ পৃথিবীর সকল উৎকৃষ্ট নাটককারাই ছন্দোময়ী  
ভাষাতে নাটক রচনা করিয়াছেন। যদিও সংস্কৃত  
ভাষার প্রাথম নাটককারেরা পদ্ম পদ্ম উভয়বিধ প্রকারেই  
নাটকের পরিচ্ছদ প্রদান করিয়াছেন, কিন্তু তাহাতে  
আমাদের মূলমন্ত্রের সমর্থন হয়, অপিত খণ্ডন হয় না;  
কেন না সংস্কৃতের যে পদ্ম তাহা অস্ত্র ভাষার পদ্ম  
বলিলেও চলে। যখন শাপাংশে লুপ্তস্বতি হুম্মত  
মুগ্ধতা শব্দভাগকে শুদ্ধান্তারিণী করিতে অস্বীকৃত  
হইলেন, তখন সেই যে শব্দভাগ একবার মাএ উর্জ্বল  
করিয়া আবার নতনয়না হইয়া সর্বসংস্রাকে সম্বোধন  
করিয়া ছন্দ তেজিনী উক্ত প্রয়োগ করিলেন,—বলিলেন  
ভববিহি বহুত্বেরে ঘেহি মে অন্তরং" এই উক্তিকে  
আমরা পদ্ম বলি না ইহা পদ্মের চরমোৎকর্ষ। ইহাতে  
তরঙ্গ আছে, ছন্দ আছে, ভ্রাস আছে, লয় আছে।  
সংস্কৃত নাটকের পদ্ম এইরূপ, আর তাহাতেই সংস্কৃত  
নাটকে পদ্ম পদ্ম উভয় পরিচ্ছদই সন্নিবেশিত আছে।  
বাঙ্গালা পদ্মের অংগা সেরূপ নহে, বাঙ্গালা এখনও  
এলাইয়া এলাইয়া পড়ে, ধরি ধরি করিয়া রাখিতে হয়।  
সুতরাং বাঙ্গালা নাটকে অমিত্রাকর ছন্দ প্রচলিত করা  
নিতান্ত আবশ্যক। যে ছন্দে হিন্দুস্থানী সিপাহী হুর্ল  
বাঙ্গালির উপর ঝাঁপ প্রকাশ করে, বেরূপ ছন্দে  
পুন্ড্রশোকবিহ্বলা জননী বিদায়ী বিদায়ী আপনায়

শোক প্রকাশ করে, আবেগের তাহাই প্রকৃত পরিচ্ছদ।  
আবেগ জীবন নাটকে, সেইরূপ তরঙ্গায়িত রচনা থাকা  
নিতান্ত আবশ্যক, অর্থাৎ নাটকের ভাষা সাধারণতঃ  
অমিত্রাকর ছন্দে নিবদ্ধ হওয়া উচিত।

এই সঙ্গে আর একটি কথা বলা আমাদের নিতান্ত  
কর্তব্য হইয়া উঠিয়াছে। নাটকের ভাষা কেবল তরঙ্গায়িত  
বা ছন্দোময়ী হইলেই যথেষ্ট হইবে না। ভাষার জমাট  
গাঁথনি হওয়া চাই। যেখানে মানসিক আবেগের গভীরতা  
আছে, সেখানে ভাষার গাঁথনি কখন বালকের মত  
আধ আধ বা গোম্বাধীর গীতিকাব্যোক্ত ললিত-লবঙ্গলতা-  
পরিশীলন কোমল-মলয়-সমীরের স্তায় বীরবাহী ও নিজা-  
কর্ষণকারী হয় না। না বাঙ্গালা দেশেই আছে, আর না  
বাঙ্গালা কাব্যেই আছে, কোথাও শোকের বা ক্রোধের,  
স্বপ্নার বা সাহসের গভীরতা নাই। সুতরাং বাঙ্গালা ভাষা  
সর্বত্রই চিহ্নবিরহাভে মিলিত নারক সমীপে এলাইয়া  
যায় ও হেলিয়া হেলিয়া পড়ে। ভাষার এ বিলাসিতা  
হইতে আমরা কবে মুক্তিলাভ করিব বলিতে পারি না।

সংবাদ পত্রে সর্বত্র দেখিতে পাই, বাঙ্গালি আজি  
কালি পৃথিবীর মধ্যে সর্বাপেক্ষা নিস্পীড়িত জীব।  
গুনিতে পাই জমিদার বা মহাজন, মহামারী বা জন-  
কষ্ট সকলেই না কি বাঙ্গালির উপর সমান দৌরাগ্ন্য  
করে। ইহা যদি সত্য হয়, তবে এই নিস্পীড়িত  
জাতির ভাষার এত বিলাসিতা কেন? বাহার মর্মে পীড়া,  
গাত্রে কশাঘাত, হৃদয়ে বেদনা, সে কেন গালি গালি  
আধ্বার তালে কিংকিট খাচ্চা গাইয়া ভ্রমণ করিয়া  
বেড়ায়? তাহার ভাষার আবার এত রসাবেশ কেন?  
লালিত্য কেন? মাধুর্য্য কেন? আর সেই বাঙ্গালির  
রচিত নাটক নামধারি কথোপকথনঘটার এত  
প্রণয়, প্রণয়, প্রণয়, কেন? পূর্বে এই প্রশ্নের তাড়নার  
জটাবদ্ধ ধারী বোগী সেতুবন্ধনে প্রবৃত্ত হইয়াছিলেন,  
এই প্রশ্নের বেগে শত শত সতী নারী জলজটিভার  
সুখশয্যাবোধে বৃত পতি পার্শ্বে শয়ন করিতেন, আর  
এখনকার প্রশ্ননিগূণ ভর্তার দূত লহরীবেগে দুর্গেশদেবিনী  
পাঠ করেন, আর প্রশ্নাবতার প্রশ্ন প্রতিবার অহরোধে  
তাৎকালিক সঙ্গে লইয়া ইডেন উতানে বাহুসেবন করিতে



যান। সমাজে প্রণয়ের বেগ এইরূপ; তবে নাটকে ভদ্রপেক্ষা যে গভীর হইবে,— তাহার সম্ভাবনা কেন কর? রাজী এলিজাবেথের সময়ের ইংলণ্ডবাসীর মানসিক আবেগের গভীরতা ছিল, সেই সময়ের তাহার প্রগাঢ়তাও সেইরূপ ভূরি পরিমাণে ছিল, তাহার কল বেকন ও ফুলার, রালী ও সেকপিয়র, বেনজনসন ও মাসিঞ্জর। আমরা মনোমধ্যে একটুমাত্র আবেগ হইলেই শফরীর মত ফর ফর করি, দুখানি ক্ষুদ্র পক্ষ পাইলেই পিপীলিকার মত আকাশে উড্ডীন হইয়া হিংস্র পক্ষিগণের কবলাশ্রয়ে নির্ঝগপদ প্রাপ্ত হই। আমাদের মনের বৈকল্য বেগ নাই, আমাদের তাহার সেইরূপ গাঢ়তা ও তেজ নাই। সেকপিয়রের প্রণয়বীর রোমীয় যখন একটীমাত্র শ্লোকার্জ উচ্চারণ করেন,—He jests at scars that never felt a wound—আমাদের লীলাবতীর প্রণয়বাতুল ললিত-মোহন সেই সময়ে আপনার পুস্তকাগারে বসিয়া কেবল হৃদয়ভাবে ব্যাখ্যার উপর ব্যাখ্যা ও টীকার উপর টীকা ও ভাষ্যের উপর অমুভাষ্য লক্ষ্যনা করিত। বাহাদুরের বৈকল্য স্বভাব চরিত্র, তাহাদের ভাষাও সেইরূপ, নাটকও সেইরূপ। তাহাতেই নাটকের সুদীর্ঘ বক্তৃতা সকল লম্বাট করিয়া লিখিতে বলি। একে সংক্ৰান্তের কুট প্রমোদগীর্ষ অর্থবাদ করিতে এই ‘সাদুভাষার’ সৃষ্টি হইয়াছে, বিদ্যালয়ের অল্পবয়স্ক বালকগণের সস্ত্রসারিত অমুবাদে বা তাহাদের উপযোগী অধিকতর সস্ত্রসারিত পাঠ্য পুস্তকে তাহার স্থিতি হইতেছে, ইহার উপর যদি আবার বয়স্ক-জন-পাঠ্য কাব্য নাটকেও তুলির উপর তুলি দসিয়া বর্ণকের উপর বর্ণক কলাইয়া কেবল রঙ চড়াও, ও চিত্র বিবৃত কর, এখনও যদি—হে জীবিতেশ্বর, হে দয়িত প্রাণবল্লভ, হে কাশী-কাশী-ত্রাণিড়-মধুরা-উৎকল-অঙ্গ-বঙ্গ-কলিঙ্গ-ভ্রমণ-কারিন্! হে তাল-ভয়াল-শাল-হিতাল-পিয়াল-রসাল-

কিশলয়--সদৃশ ভ্রামল-শোভন-নয়ন-রজন। বিপুল-বিশাল বক্ষঃ, অভুল-রশাল-চক্ষুঃ, কমলচরণ, চন্দ্রাকাঙ্গুল, বিশেষ বিদ্যানু, অশেষ গুণানিধান বলিয়া সস্ত্রসারিত পদে বিনাইয়া বিনাইয়া কাদিতে বস, তাহা হইলে আর নিস্তার নাই। যদি বাণালির কোথাও কিঞ্চিদ্ভ্রাম্য স্বাধীনতা থাকে, তবে সে কেবল তাহাতেই আছে। আমাদের বর্ষের গিরাজে কেবল যাত্র এক সন্ধান আছে এই ভাষা। যদি আমরা বেওয়ারিস ময়দার মত তাহা লইয়া এখন খেলা করি তবে কি আমরা মহাপাপে পাপী নহি? এইজন্য এক নাটকের ভাষা উপলক্ষ করিয়া আমরা এত কথা বলিতে সাহসী হইতেছি। তাহার ভরে ক্রমে ভাবের প্রণয়তা জন্মবে, তাহা হইলে হৃদয়ের আবেগপূর্ণও ক্রমে গভীর হইবে।

অনেকে মনে করিতে পারেন, আমরা উপরোক্ত হেতুবাদে সাধ্যসাধনের বিপর্যায় ঘটনা করিতেছি, আবার অগ্রে, শকট যোজনা করিতেছি, বাস্তবিক তাহা নহে। আপাততঃ বোধ হইতে পারে বটে, যে অগ্রে মানসিক পরিবর্তন তাহার পর তাহার পরিবর্তন, ও তাহার পরে কাব্য নাটকাদির পরিচ্ছদের পরিবর্তন। অনেকস্থলে এইরূপ হয়, তাহাতে আর সন্দেহ নাই। কিন্তু জাতীয় তাহার উন্নতি বলে জাতীয় চরিত্রের উন্নতি হওয়াও বিচিত্র নহে। জর্মাণির পঞ্চম চার্লস বলিভেন, যে আমি নূতন একটি ভাষা শিক্ষা করিলে আমার বোধ হয় যেন আমি আর একটি অভিনব আত্মা পাইয়াছি। ইহার প্রত্যক্ষ প্রমাণ আমরা দেখিতে পাই। একজনকে বেকনের প্রগাঢ় তাহার শিক্ষাদান করুন, দেখিবেন তিনি ক্রমেই স্থির গভীর হইবেন। তাহার এইরূপ-মহীয়সী শক্তি আছে বলিয়াই আমরা নাটকের, তাহার দিকে নাটককারগণকে বিশেষ দৃষ্টি রাখিতে বলি।

(ক্রমশঃ)

৮কালীপ্রসন্ন বিদ্যাসাগর।



## আনন্দোৎসব।

(১)

নীল-সাগর টুটে—  
 যেখ পড়িল স্মৃতে,  
 হের গগন-পটে উঠে নবীন ভাতি।  
 ওই ধরনী-রাণী  
 জাগে নয়ন মাজি,  
 ব্যথা বন্ধে বহি  
 কে গো স্মৃণ আজি ?  
 আঁখি কাজলে মাখি  
 গুঠ আলোরে জাপি,  
 আজি পোহাইল ধরণীর হৃৎক রাতি।  
 বন-কক্ক বিরি  
 গাহে লক্ষ অলি,  
 মধুবন্ধে ভরি  
 ফুটে শিউলি কলি।  
 ধান-ক্ষেতের ফুলে  
 আশা-তটিনী ফুলে,  
 হের লক্ষী রেখেছে তুমে আঁচল পাতি।  
 কালো আঁধার টুটে  
 আলো উঠিল ফুটে,  
 প্রাণবদ্ধ ও গো—আগো পুলকে মাতি।

(২)

সুখা-সাগর দহি,  
 সুখা-গাগরী বহি,  
 এস নন্দন-বন-প্রাণ-নন্দরাণী।  
 আজি শূন্য হিয়া  
 প্রেম পুণ্য ভরা,  
 প্রীতি পবিত্র রাখী  
 সব পহার ধরা।  
 হেম-পল্লী মাঝে  
 শোন নুপুর বাজে,  
 ওই কণ্ঠস্বর—প্রেম মধুবানী।  
 শত বরগ পরী  
 ফুটে উঠেছে ফুলে,  
 লীলা-তটিনী ফুলে  
 ধরা-তরণী ফুলে।  
 শিশু পুলকে হারা,  
 বঁধে হাসির ধারা,  
 আজি আলোকে ভরা—ধরা-চিত্ত ধানি।  
 শুভ শারদ-প্রাতে,  
 বৃহ-বন্দ বাতে  
 এস নন্দন-বন-মধু-নন্দরাণী।  
 ত্রিপ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ।

## হাসির সঙগাত।

প্রভেদ।

কত। বাবা, আকাশের বিদ্যুৎ, আর আমাদের  
 ঘরে যে বিদ্যুতের আলো জলে, দুয়ের মধ্যে প্রভেদ কি ?  
 গিতা। ঘরের বিদ্যুতের জন্তে মাসে মাসে বিল  
 আসে। আকাশের বিদ্যুতের জন্তে আমাদের দান  
 দিতে হয় না।

তুরুরক জবাব।

শিক্ষক। দেখ নীতীশ, তোমাদের বইতে যে লেখা  
 আছে—‘গুরুজনদিগকে মাত্ত করিবে’—কেন মাত্ত করবে  
 তা বলতে পার ?  
 নীতীশ। তাঁরা আমাদের চেয়ে গায়ে অনেক  
 বেশী জোর রাখেন।



## পঙ্কতার কাল্পনা।

নীরদ। ওহে ললিত, তোমার দাড়ি গৌর কঁচা  
আছে, কিন্তু মাথার চুল এত পেকে গেল কেন?  
ললিত। পাকবে না? মাথার চুল যে দাড়ি  
পোকের চেয়ে বেশি বৎসরের বড়।

## উপদেশের পল্লিপাশ।

কিশোরগার্টেন শিক্ষক। আমি সবচেয়ে তোমাদের  
অনেক কথা বলিলাম। এখন বল দেখি নরেন, কোন  
সময়ে গাঁহ হইতে আমি পাড়িতে হয়?

নরেন। আজ্ঞে, যখন কোথাও কেউ না থাকে।

## ভূমিকম্প।

জী। (ভীত কণ্ঠে) ওপো, ওঠো ওঠো।

স্বামী। (জড়িত স্বরে) কেন বিরক্ত কচ্ছ বাবা  
পাহারাওয়াল। খাটুলি আন, উঠ চি।

জী। ওপো পাহারাওয়াল। নয়, আমি, আমি।

স্বামী। ও হুইই সমান।

জী। (অধিকতর ভীত কণ্ঠে) এখন ও যুঝ্ছো?  
আবার ডাকছেড়ে কারা পাকে যে পো। ওঠো, ওঠো,  
তরানক ভূমিকম্প হচ্ছে, বাড়ীটা হয়ত এখন পড়ে যাবে।

স্বামী। হুহ পরোয়া নেই। তাড়াটে বাড়ী—

পড়ে যায় বয়েই গেল। (মানসী ও স্বর্নবাণী)

## ছাত্ত-নাতে।

স্বামী। দেখ বীণা, মূর্খ আর ছোটলোকেরাই  
চৈতন্য কথা কয়।

জী। চূপ—চূপ, থোকা যুঝ্ছো! এত চৈতন্য  
কথা বলো না। (হিন্দুস্থান)

## আশীর্বাদ।

আফ্রিকার অসভ্য লোকেরা মাহুয খায়। বিলাত  
হইতে যত পাদরী বাইত তাদেরকে পেলেই খেয়ে  
ফেলত। একবার এক যুবক পাদরী আফ্রিকার  
যাওয়ার কালে বুড়ো পাদরীর সঙ্গে দেখা করিতে  
গেলে বুড়ো পাদরী বলিল—আফ্রিকার যাহু।  
যুব সাবধানে থেকো। শুনি যে সে দেশের লোক  
প্রভাতে পাদরীর মাংস না খেয়ে জল খায় না। তোমার  
সঙ্গে যে আর দেখা হয় তা যেন হয় না। তবে  
এই আশীর্বাদ করি যে লোক তোমাকে খাবে তার  
পেটে যেন চিরকালের জন্য গোলমাল সৃষ্টি হয়। (বদরস)  
—শ্রীপতিপ্রসন্ন—

## উৎসব

নিখিল-ভুবনে একি আমল,

উৎসব কলরোল!

উতলা করিয়া নিধর-জয়

কে দিল এমন দোল!

যুচায়ে দিরাছে সকল বন্দ,

শঙ্কা-সুরম সকল বন্ধ—

ঝঙ্কারি উঠে বিশ্ব-বীণায়

একি এ মধুর বোল!

নিধির-সিদ্ধ লতিকার বুকে

কিরণের কোলাহুলি,

অসীমের সাথে মিলিতে সসীম

দিরাছে পরাগ খুলি'।

ফুটে উঠে হাসি সবার আননে,

স্বধ-তরঙ্গ ভুবনে-ভবনে,—

বিরহ-বিধুর অধীর হৃদয়

পেরেছে শান্তি-কোল।

বিশ্ব-সভার উৎসব আজি

উজ্জল কলরোল!

বেলা শুহ।



## সাহিত্যিক-পত্র

( ৮ রায় বাহাদুর কালীপ্রসন্ন ঘোষ বিভাগসাগর,  
সি, আই, ই, মহোদয়ের নিকট লিখিত। উদীয় পোস্ত  
; ঐগুক্ত ত্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ মহাশয়ের নিকট প্রাপ্ত। )

শ্রীযুক্ত অমৃতলাল বসুর পত্র।

শ্রীত্ৰিভূগঙ্গাসহায়।

(পরমশ্রদ্ধাশ্রম সুহৃৎসে—)

গোয়ালনন্দ রেলগাড়ীতে একখানি ও কলিকাতায়  
পৌছিয়া একখানি মহাশয়ের এই দুইখানি স্নেহ লিপি  
পাইয়া আনন্দ সাগরে ভাসিতেছি। এ বয়সে এ  
হৃদভাগ্যকে এতদূর স্নেহ করিতে এমন একজন কৃপাময়  
এ পৃথিবীতে ছিলেন—একথা আমি স্বপ্নেও জানিতাম না।  
জন্মান্তরে আমার দৃঢ় বিশ্বাস আছে। নিঃসন্দেহ  
আপনার সহিত আমার সঙ্কল্প এক জন্মের নহে। \* \* \* \*

সত্য বাবু, হরনাথ বাবু, উমেশ বাবু ও পরিবারস্থ  
অজ্ঞাত সকলের কুশল সমাচার জানাইয়া সুখী কর-  
বেন। (একখানি নূতন নাটক শীঘ্র লিখিতে হইবে  
এ জন্ত অত্যন্ত চিন্তিত আছি। শেষ নূতন নাটক

“চন্দ্রশেখর” ও শেষ নূতন প্রহসন “একাকার” সাধা-  
রণের বিশেষ সম্ভাষণ বিধান করিয়াছে। এবার বাহা  
অভিনীত হইবে তাহা উক্ত পুস্তকদ্বয় অপেক্ষা হৃদয়গ্রাহী  
হওয়া চাই। কলিকাতায় দর্শকের নিকট নাটকের  
গুণাগুণ এইরূপে বিচার হইয়া থাকে,—কচুরি কচুরির  
মত ও রসগোল্লা রসগোল্লার মত সুবাদ হইলে হইবে  
না। কচুরির পর রসগোল্লা আহার করিলে রসগোল্লার  
লবণস্বের অত্যাচার অভিযোগ হইবে এবং ঐরূপ  
রসগোল্লার পর কচুরি দিলে কচুরির ভিতর শর্কর রস  
নাই বলিয়া ভোক্তা মুগ্ধ বিরক্ত করিবেন। অনন্তগতি  
হইয়া চির-অভ্যস্ত প্রণয় দয়াময়কে বলিতেছি “হরি—  
লেখনীতে আশ্রয় অবতীর্ণ হয়—নাতির্গতিরূপাধা। \* \*  
\* \* ইতি ২রা জ্যৈষ্ঠ—বুধবার—১৩০২।

স্নেহাভিলাষী

অমৃত—)

## আবাহন।

আমার আঁধার কুটীরে হে নাথ  
সাক্ষ্য-প্রদীপ জ্বালো;  
বহু দিবসের জন্মাট আঁধার  
নিমেবে হইবে জ্বালো।  
যত কাছে তুমি এসেছ আমার  
তত দূরে সরে গেছি বারবার,  
রেখেছি রুদ্ধ হৃদয়-ভ্রমর  
বাসি নি তোমাতে ভালো;  
আমার আঁধার কুটীরে এবার  
সাক্ষ্য-প্রদীপ জ্বালো।

বেখেছি পাতিয়া হৃদয়-আশন,  
গেঁথেছি যতনে মালা;  
বিশ্লিষ্ট কাশ-কুসুম রাশিতে  
সাজায়ে রেখেছি ডালা  
ছিন্ন এ মোর বাঁগায় আবার  
তুলিয়া দায়িত্ব মধু-ঝড়ার  
চিরবাহিত এসো হে আমার  
জুড়িয়ে সকল জ্বালো;  
রেখেছি পাতিয়া হৃদয়-আশন  
গেঁথেছি যতনে মালা।

মিষ্ট-শাস্ত্র রূপে নিতি-নিতি  
এসো হে সকাল-সাঁজ;  
প্রতি নিমেবেই দিও ভগ্নো ধরা  
সকল কাজের মাঝে।  
হৃদয়-কুঞ্জে নেমে এস চূপে,  
হেরিব নীরবে সে বিশ্বভূপে  
নিখিলে যে জন প্রতি রোমকূপে  
অশ্রুতে-অশ্রুতে রাঙে;  
মিষ্টশাস্ত্র-রূপে নিতি-নিতি  
এসো হে সকাল-সাঁজ।

ত্ৰিপুরাশঙ্কর সেন



## কীৰ্ত্তিমান্দের পৈত্ৰিক ইতিহাস

পৃথিবীর বড় লোকদের বাপমায়ের জীবনের ধারা কোন পথ ধরিয়া বহিয়া গিয়াছে তাহা জানিবার জন্য কৌতূহল হওয়া স্বাভাবিক। এখানে আমরা তাহার কয়েকটা নমুনা তুলিয়া দিতেছি। আমাদের সাধারণ ধারণা ছেলের ভবিষ্যৎ এবং উন্নতি বিশেষ ভাবেই নির্ভর করে জনকের চেষ্টা, চরিত্র, শিক্ষা ও আদর্শের উপর এ ধারণার ভিতর যে কতখানি সত্য আছে, পাঠক নিজেই তাহা বিচার করিয়া দেখিবেন।

ডিকেন্সের গ্রন্থাবলীর সহিত ইহাদের পরিচয় আছে, যিঃ মিকবারের কথা তাঁহার নিশ্চয়ই তুলিতে পারেন নাই। বস্তুতঃ এই চরিত্রটী লোকের মনের উপর পড়ার সঙ্গে সঙ্গেই যথেষ্ট দাগ রাখিয়া যায়। অনেক মনে করেন এই চরিত্রটী ডিকেন্সেরই জনকের। অস্বতঃ তাঁহাকেই আদর্শ করিয়া যে ডিকেন্স চরিত্রটি অঙ্কিত করিয়াছিলেন তাহাতে সন্দেহ নাই।

চেণামের গম্ভৰ্ণমেট আফিসে তিনি যখন কেরানীর কাজ করিতেন তখনও যেমন, দারুণ দারিদ্র্যের ভিতর যখন জীবন কাটাতে হইয়াছে তখনও তেমান। এমন কি ঋণের জন্য কারাগারে থাকিয়াও ডিকেন্সের বাবা কখনও ভাঙ্গিয়া পড়েন নাই। তিনি চিরদিন তরুণ আশাবিত্ত জুদরের মাদিক ছিলেন। তাহা ছাড়া সমস্ত পরিবার যখন উপবাসের দারুণ দুঃখ বহন এবং তাহার আশাপথ চাহিয়া দুই এক টুকরা রুটির অপেক্ষা করিয়া ছেলেমেয়েরা যখন বসিয়া আছে তখনও ডিকেন্সের বাবাকে দেখা গিয়াছে তিনি তাহার সামাজিক গর্বের তথ্য সোপান বাহিয়া সমান তালে ছুটিয়া চলিয়াছেন।

সম্রাট নেপোলিয়ানের পিতা চার্লস বোনাপার্ট দরিদ্র আইন ব্যবসায়ী ছিলেন; পশারও তাঁহার বিশেষ কিছু ছিল না। কিন্তু তাঁহার মত রেহাঙ্গি পিতা খুব কমই দেখিতে পাওয়া যায়। তাঁহার পরিবারে ১৩টা শিশু ছিল। নিজের অবস্থা ধারণা হইলেও পুত্রদিগকে শিক্ষার সর্বপ্রকার সুবিধা দিতে তিনি কিছুমাত্র কসুর করেন নাই। নেপোলিয়ানকে তিনি ১০ বৎসর বয়সের সময় ব্রেইনের সামরিক বিদ্যালয়ে শিক্ষার জন্য পাঠাইয়া দেন। সেখানে নেপোলিয়ানের ব্যয়ভার বহন করিতে তাঁহাকে কতকটা বেগ সহ্য করিতে হইয়াছে তাহা বোঝা কঠিন নহে। নেপোলিয়ানের পিতা যদি দারিদ্র্যের এই দারুণ দুঃখ সহ্য করিয়াও ছেলেকে ব্রেইনে না পাঠাইয়া দিতেন,

তবে হয় তো পৃথিবীর ইতিহাস আজ অন্য রূপ হইত।

উইলিয়াম সেক্সপিয়রের পিতা জন সেক্সপিয়র ছিলেন কতকটা ভিন্ন প্রকৃতির লোক। তাঁহার যে টুকু ব্যবসয় পাওয়া যায় তাহাতে তিনি যে কি কাজ করিতেন তাহা জোর করিয়া বলা কঠিন। কেহ বলেন, তিনি কৃষক ছিলেন, কেহ বলেন তিনি কষাই ছিলেন, কেহ বলেন তিনি উলের ব্যবসা করিতেন।

উইলিয়ামের বয়স যখন ১৪ বৎসর তখন জন সেক্সপিয়রের দারিদ্র্য ও দুঃখ চরম সীমায় গিয়া পৌঁছে। পরে তিনি দেনার দায়ে কারা-রুদ্ধ হন। জীবনের শেষ দিকটায় পুত্রের সাহায্যে আচ্ছন্ন্যের মুখ তিনি খানিকটা দেখিবার অবসর পাইলেও তাঁহার ছেলে যে কত বড় প্রতিভার অধিকারী তাহা বুঝিবার অবকাশ হয় নাই,—তাঁহার আগেই ভগবানের দরবার হইতে তাঁহার ডাক আসিয়া হাজির হইয়াছিল।

আমেরিকার ইতিহাসের অধিতীয় পুরুষ এড্রাহাম লিঙ্কনের পিতা ব্যবসায়ে ছুতোর ছিলেন। অত্যন্ত সোজা মানুষ; কোনো রকমের উচ্চাশ তাঁহার ভিতর ছিল না। লেখা-পড়াও কিছু জানিতেন না। দ্রৌর সাহায্যে অতি কষ্টে তিনি কেবল নিজের নামটী বানান করিতে শিখিয়াছিলেন। ১৮০৯ খৃষ্টাব্দে এড্রাহাম জন্ম গ্রহণ করেন। এই সময় তাহার দারিদ্র্য একেবারে শেষ সীমায় গিয়া পৌঁছিয়াছিল। কাজের সময় খুব ওস্তাদ ছুতোর বলিয়া খ্যাতি থাকিলেও এড্রাহামের বাপ যে আদর্শ পিতা ছিলেন না তাহা বলাই বাহুল্য। জীবনে এড্রাহাম লিঙ্কন যে অদ্ভুত উন্নতির শিখরে আরোহণ করিয়াছিলেন তাহার পথে তিনি পিতার কোন সাহায্যই পান নাই বলিলে অতুক্তি হয় না।

ধর্ম জগতের নেতা মাটিন লুথার এবং জন উজলে এই দুই জনের পিতার দারিদ্র্যও ছিল অত্যন্ত গভীর। উজলের পিতা যেতারেণ্ড স্ত্রায়ুয়েল দেনার দায়ে লিঙ্কন-ক্যাসেলে কারাদণ্ড ভোগ করিয়াছেন অনেক দিন। মাথার উপর বিরাট ঋণভার রাখিয়াই তাঁহার মৃত্যু হয়।

মাটিন লুথারের পিতা অবশ্য যেতারেণ্ড স্ত্রায়ুয়েলের মত অভাবানি দরিদ্র ছিলেন না। তিনি জীবন আরম্ভ করেন কুঠুরিয়ারূপে। শেষের দিকে তিনি অবস্থার অনেকটা উন্নতি করিয়াছিলেন। ম্যানসকেণ্ড সহরে



তিনি কাউলিলর হন। শেষ বয়সে তাঁহার বহুবাহুবদেয় ভিত্তি প্রতিপত্তিশালী লোকেরও অভাব ছিল না।

বিখ্যাত শিশু সাহিত্য লেখক হ্যান্স ক্রিস্টিয়ান এন্ডারসনের পিতা ছিলেন ডেনবার্কে'র ওডেন্স সহরের একজন চৰ্ফকার। চৰ্ফকার হইলেও তাঁহার বুদ্ধি ছিল অত্যন্ত তীক্ষ্ণ এবং শিল্পকলা-সম্বন্ধে তাঁহার বেশ একটা অভ্যুত্তি ছিল। দিনের কালের শেষে তিনি ছেলেদের কাছে আরব্য উপক্ৰাসের গল্পগুলি চৈতাইয়া পাঠ করিতেন। হ্যান্স এন্ডারসনের প্রথম লেখা রচনাক্ষের উদ্দেশ্যেই লিখিত হয়। পরে তিনি ছেলেদের জন্য পরীক্ষার পত্রের আশরে আদিরা দাঁড়ান। এ রাস্যে এন্ডারসনের তুলনা বেলা ভার। তাঁহার খেলার ভিতর তাঁহার পিতার এন্ডার নিত্যাত্ম কম নহে।

বৰ্দ্ধমান রাজনীতি-ক্ষেত্রের মহাপ্রসূতির উইলিয়ম এন্ডার্ট গ্যাডটোনের অবস্থা ছিল ইহাদের অপেক্ষা সম্পূর্ণ স্বতন্ত্র। দারিদ্র্যের দাবিদাহ তাহাকে কখনো সহ্য করিতে হয় নাই। তাঁহার পিতা ছিলেন লিভারপুলের একজন বনৌ ব্যবসায়ী। দক্ষিণ আফ্রিকা এবং আমেরিকার দাস প্রথার সহিত তাঁতার বেশ ভালো-রকমের যোগ ছিল। গ্যাডটোনের প্রথম জীবনের অনেক জলি বক্তৃতার দ্বারা ব্যবসায়ীদিগকে সম্বর্জন করিয়াছেন—গ্যাডটোনের পিতার ব্যবসায়ের কথা জানা থাকিলে ইহার কারণ বোঝা কঠিন হয় না। সে বাহাই হোক, ইহার পিতা যে বিজ্ঞ ও সাবধানী লোক ছিলেন তাহাতে সন্দেহ নাই।

কুভিয়ার্ড কিপলিং এর পিতা জন লক উড কিপলিং ভারতের আধুনিক শিল্পশিল্পকার পথপ্রদর্শক বলিয়া খ্যাতি লাভ করিয়াছেন। শিল্পে তাঁহার যে প্রতিভা ছিল তাহাও বড় সন্দেহ নহে। কুভিয়ার্ড কিপলিংএর 'কিম্' নামক গল্পের বইখানি তিনিই আগাগোড়া সচিত্র করিয়া দেন। এই চিত্রগুলির ভিতর শক্তির পরিচয় বর্ণেই আছে। বাণের প্রতি কিপলিংএর যে কতখানি কৃতজ্ঞতা ছিল তাহা তাঁহার নিজেই কথাতোই ব্যক্ত হইয়াছে। তিনি স্পষ্ট বাক্যেই স্বীকার করিয়াছেন—“আমার বাহা কিছু সব আমার বাবার দান।”

সম্ভবতঃ সর্কাপেকা মহৎ এবং সর্কাপেকা শোচনীয় ইতিহাস হইতেছে ঘটন্যাণ্ডের অমর কবি বার্ণসের পিতা উইলিয়ম বার্ণসের। নিজে অসাধারণ দৃষ্টি সহ্য করিয়াও, হাড়তালি খাটুনি খাটিয়া তিনি ছেলের লাইব্রেরীর পরমা যোগাইয়াছেন। তাহার প্রেত লাইব্রেরী এই লাইব্রেরীতে ছিল এবং এই লাইব্রেরীই বার্ণসের প্রতিভাকে বিকশিত করিয়া তুলিবার সাহায্য করিয়াছিল। জীবিকা অর্জনের জন্য সাধ্যাত্মিক পরিশ্রম করিতে করিতে উলিয়ম ১৭৮৪ খৃষ্টাব্দে দেহ ত্যাগ করেন। বার্ণসের গৌরবময় ভবিষ্যতের সম্বন্ধে তাঁহার কোনই সন্দেহ ছিল না। কেবলমাত্র সেটা দেখিয়া বাইবার যত নোভাগ্য তাঁহা হয় নাই। (স্বরাজ)

## পুস্তক-পরিচয়।

জহান্নাম আল দুর্গোৎসব।—(গল্পগ্রন্থ) শ্রীযুক্ত সুরেশ চক্রবর্তী প্রণীত। কলিকাতা, বিমোহিনী সাহিত্য-বন্দির হইতে জ্ঞানদাচরণ দাস কর্তৃক প্রকাশিত। মূল্য দেড় টাকা।

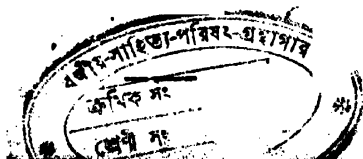
রবীন্দ্রনাথ ঐহুপের ছোট গল্পের সম্পর্কে যথার্থই বলিয়াছেন—“আজকালকার গল্পগুলি ছোট হয় বটে, কিন্তু গল্প হয় না।” সুরেশ বিবর, সুরেশ বাবুর এ পুস্তকের সবগুলি গল্পই ছোটও হইয়াছে এবং গল্পও হইয়াছে। তাঁহার রচনার বর্ণেই মূল্যায়ন আছে। তাহাও কবিরমোচিত লালিত্যপূর্ণ।

পুস্তকের ছাপা, কাগজ, বাঁধাই চমৎকার।

মানসী।—(উপক্ৰাস) শ্রীযুক্ত সুরেশ চক্রবর্তী প্রণীত। কলিকাতা, অন্নদা বুকস্টেল হইতে প্রকাশিত। মূল্য আট আনা। ছাপা, কাগজ, বাঁধাই মন্দ নহে।

এ উপক্ৰাসখানি ইত্যপূর্বে ধারাবাহিকরূপে “আলোকে” প্রকাশিত হইয়াছিল। আখ্যানভাগে বৈচিত্র্য না থাকিলেও লেখকের রচনা-চাতুর্য্যে উপভোগ্য হইয়াছে। তাহাও তটিনীর মত তর তর বেগে ছুটিয়া যাইতেছে, কোথার কোন কৃত্রিমতা নাই। এ উপক্ৰাসের সঙ্গে ‘পুরোতে দিনকয়েক’ শীর্ষক একটি ভ্রমণ-কাহিনীও সংযুক্ত হইয়াছে। পৃষ্ঠা তিরিবার অন্তই বোধ

—সাহিত্য বান্ধব—





## CONTENTS.

|                                |  |     |
|--------------------------------|--|-----|
| 1. How to know the Planets ... | ... Prof. George Forbes, M. A., F. R. S. ... | 107 |
| 2. India a Retrospect ...      | ... ..                                       | 116 |
| 3. Vale ...                    | ... Guy Colin Campbell . ...                 | 124 |

---

|                                 |                                     |     |
|---------------------------------|-------------------------------------|-----|
| The Lure of the south downs ... | ... P. Leo Faulkner F. R. G. S. ... | 125 |
|---------------------------------|-------------------------------------|-----|

## সূচী ।

|                              |  |     |
|------------------------------|--|-----|
| ১। নাটক ...                  | ... ৮কালীপ্রসন্ন ঘোষ ...                   | ১২১ |
| ২। বীরের পত্নী ( কবিতা ) ... | ... ত্রিযুক্ত ত্রিপতিপ্রসন্ন ঘোষ ...       | ১২৬ |
| ৩। জাত না যায় ( গল্প ) ...  | ... ত্রিযুক্ত সুরেশ চক্রবর্তী ...          | ১২৭ |
| ৪। অভিনন্দন ( কবিতা ) ...    | ... ত্রিযুক্তা ভক্তি-সুধা রায় ...         | ১৩০ |
| ৫। হাসির সঙ্গগাত ...         | ... ..                                     | ১৩১ |
| ৬। কতদিন ( কবিতা ) ...       | ... ত্রিযুক্ত আশুতোষ যুগোপাধ্যায় ...      | ১৩২ |
| ৭। নারী সমস্তা ...           | ... ত্রিযুক্ত নেপালচন্দ্র চক্রবর্তী ...    | ১৩২ |
| ৮। প্রকাশ ( কবিতা ) ...      | ... ত্রিযুক্ত কুমুদরঞ্জন বরিক ...          | ১৩৬ |
| ৯। ডালি ...                  | ... ..                                     | ১৩৭ |
| ১০। পাগল ( কবিতা ) ...       | ... ত্রিযুক্তা বেলা গুহ ...                | ১৩৮ |
| ১১। গৌড়ীয় পীঠস্থল ...      | ... ..                                     | ১৩৯ |
| ১২। হাওয়া ( কবিতা ) ...     | ... ত্রিযুক্ত অগদ্যোদয় রায় গুপ্ত, ...    | ১৪২ |
| ১৩। নেপার লোভে ( গল্প ) ...  | ... ত্রিযুক্ত জ্ঞানেন্দ্রনাথ চক্রবর্তী ... | ১৪২ |
| ১৪। সাহিত্যিক পত্র ...       | ... ..                                     | ১৪৬ |
| ১৫। ব্যথিত ( কবিতা ) ...     | ... ত্রিযুক্ত সরোজকুমার সেন ...            | ১৪৬ |

---

|                               |                                      |     |
|-------------------------------|--------------------------------------|-----|
| ১৬। হাসিব কেন ? ( কবিতা ) ... | ... ত্রিযুক্ত যোগেশচন্দ্র চৌধুরী ... | ১৪৭ |
| ১৭। কীদিব কেন ? ঐ ...         | ... ঐ ...                            | ঐ   |



It is requested that all articles intended for publication may be sent to Professor S. N. Bhadra, Nyabazar, Dacca.

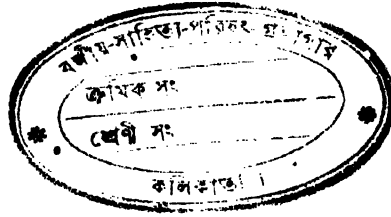
All business communications and all complaints regarding non-delivery of the Magazine should be addressed to—

*The Manager, "Dacca Review,"*  
5, Nayabazar Road, Dacca.

N.B.—I take this opportunity of expressing our sincere gratitude to the numerous gentlemen of light and leading who have encouraged us in this venture, either by the assurance of their warm and sympathetic support or by offering to contribute to this Magazine. Among other we may mention the names of:—

- |   |   |
|---|---|
| The Hon'ble Mr. P. C. Lyon, C.S.I.                                      | Hon'ble Maharaja Bahadur of Dinagpur, K.C.I.E.  |
| The Hon'ble Sir Harcourt Butler, K. C. I. E.                            | The „ Maharaja Bahadur of Cassimbazar, K.C.I.E. |
| The Hon'ble Nawab Syed Sir Shamshul Huda, K. C. I. E., M.A., B.L.       | The Hon. Maharaja Bahadur of Nashipur.          |
| The Hon'ble Sir Asutosh Mookerjee, Sastra Vachaspati Kt., C.S.I., M.A., | The „ Raja Bahadur of Mymensing.                |
|   | Prof. J. N. Das Gupta, M.A., (Oxon).            |
| The Hon'ble Mr. H. LeMesurier, C.S.I., C.I.E., I.C.S.                   | The Hon'ble Sir Devaprasad Sarvadhicari M. A.   |
| „ Sir Henry Wheeler, K. C. I. E.  | I. L. D. C. I. E.                               |
| „ Mr. R. Nathan, B.A., C.S.I., C.I.E., I.C.S.                           | „ Mr J. H. Kerr, C. S. I., C. I. E., I. C. S.   |
| „ Mr. H. Sharp, C.S.I., C.I.E., M. A.                                   | „ Mr. Justice B. B. Newbould, I.C.S.            |
| „ Sir N. D. Beatson Bell, C.S.I., C.I.E., I.C.S.                        | Nawab Syed Nawab Ali Chowdhuri.                 |
| „ Mr. J. Donald, C. I. E., I. C. S.                                     | Babu Ananda Chandra Roy.                        |
| „ Mr. W. W. Hornell, C. I. E., M. A.                                    | J. T. Rankin Esq. I.C.S.                        |
| „ Mr. W. J. Reid, C.I.E., I.C.S.  | G. S. Dutt Esq., I.C.S.                         |
| „ Mr. J. G. Cumming, C. S. I., C. I. E.                                 | S. G. Hart, Esq., M.A., I.C.S.                  |
| „ F. C. French, C.S.I., I.C.S.  | F. D. Ascoli, Esq., M.A., I.C.S.                |
| „ W. A. Seaton Esq., I. C. S.   | J. McSwiney, Esq., M.A., I.C.S.                 |
| „ D. G. Davies Esq., I. C. S.   | W. R. Gourlay, Esq., C.I.E., I.C.S.             |
| Ven'ble Archdeacon W. K. Firminger, M.A.                                | T. O. D. Dunn Esq., M.A.                        |
| Sir John Woodroffe.   | E. N. Blandy Esq., I.C.S.                       |
| Sir John Marshall, K.C.I.E., M.A., Litt. D., F.S.A.                     | D. S. Fraser Esq., I.C.S.                       |
| The Hon'ble Mr. K. C. De, C.I.E., B.A., I.C.S.                          | Rai Jamini Mohon Mitra Bahadur.                 |
| „ Mr. L. Birley C. I. E., I. C. S.                                      | Raja Monmotho Nath Rai Chaudhury of Santosh.    |
| „ H. M. Cowan, Esq. I. C. S.  | Khan Bahadur Syed Aulad Hossein.                |
| „ J. N. Gupta Esq., M.A. I.C.S.   | Mahamahopadhyaya Dr. Satis Chandra Vidyabhusin  |
| „ W. L. Scott, Esq., I.C.S.   | Kumar Sures Chandra Sinha.                      |
| Sir J. C. Bose, C.S.I., C.I.E.  | Babu Chandra Sekhar Kar, Deputy Magistrate.     |
| W. A. J. Archbold, Esq., M.A., L.L.B.                                   | „ Jatindra M han Sinha, Deputy Magistrate       |
| H. E. Stapleton Esq., M.A., B.Sc.                                       | Hirendra Nath Dutt, M. A., B.L.                 |
| Dr. P. K. Roy, D.Sc.  | „ Rakhal Das Banerjee, Calcutta Museum          |
| Dr. P. C. Ray, C.I.E. M.A., D.Sc. (London)                              | „ Hemendra Prosad Ghose.                        |
| B. L. Choudhri, Esq., M.A., D.Sc. (Lond.)                               | „ Akshoy Kumar Moitra.                          |
| Mahamahopadhyaya Pundit Hara Prasad Sastri, C.I.E.                      | „ Jagadananda Roy.                              |
| Principal Evan E. Biss, M.A.  | „ Binoy Kumar Sircar.                           |
| „ Rai Kumudini Kanta Bannerji Bahadur, M.A.                             | „ Gouranga Nath Banerjee.                       |
| „ Rai Lalit Mohan Chatterji Bahadur M. A.                               | „ Ram Pran Gupta.                               |
| „ J. R. Barrow, B. A.   | Dr. D. B. Spooner.                              |
| Professor R. B. Ramsbotham M. A., (Oxon).                               | Kunwar Sain Esq., M.A., Bar-at-Law              |
| „ J. C. Kydd, M. A.   | Principal, Lahore Law College                   |
| „ W. Douglas, M. A., B. Phil., B. D.                                    | Khan Bahadur Syed Abdul Latif.                  |
| „ T. T. Williams M. A., B. Sc.  |   |
| „ Egerton Smith, M. A.  |   |
| „ G. H. Langley, M. A.  |   |
| „ Kai B. N. Das Bahadur, M. A. B.Sc.                                    |   |
| „ Debendra Prasad Ghose   |   |





# THE DACCA REVIEW.

VOL. XI.

NOV. & DEC., 1921.

No. 7.

## HOW TO KNOW THE PLANETS.

BY PROFESSOR GEORGE FORBES,

M. A., F. R. S.

I.

Every one who has seen Turner's picture of the Dogana, Venice, or even the fine engraving of it, must have felt that it owes not a little of its charm to the bright evening star shining in the glow of sunset. Many an artist besides Turner has known how to catch, on a still evening, the soft beauty of Venus beneath the thin crescent of the young moon, as a part of his sunset-picture, say of the warships in Portsmouth harbour. Or, at that hour, he has been able to add something to the pink antiglow of sunset in the east, by choosing an evening when Jupiter and the full-moon are reflecting their beams on the harbour's ripples.

Jupiter, Venus, and the other planets (that is, wanderers) differ from the rest

of the stars in two respects. They are not fixed, but move about from one constellation of stars to another. And again, each of them varies in brightness, from month to month, and it is only now and then that any one of them actually compels our attention, unless we are very careful watchers of the stars.

It may surprise some of the less careful watchers to know that there are only five of these planets ever visible to the naked eye. All of them are occasionally very bright. They are Mercury, Venus, Mars, Jupiter, and Saturn. And for practical purposes Mercury may be left out of account, because he is small and, being never more than twenty-three degrees away from the sun, he is seldom seen in our climate.

The four principal planets, brilliant lamps of the sky, are admired by all, and often we hear the query, 'What is that lovely star we see every evening now in the west?' The answer is very



sure to be, 'The planet Venus,' a round planet that shows in a telescope all the phases of the moon, but in a year and a half instead of one month.

Sometimes the query may take this form: 'Before going to bed, lately, we have been noticing a wonderful great star in the south. What star is it?' The answer will be, 'It must be a planet—either Mars, Jupiter, or Saturn.' An astronomer might, of course, know which of them is in that direction at that time. But a moment's inspection would suffice to make this known to any one who cares enough about the stars to notice things for himself.

It is certainly a pleasure to know some of the fixed stars by name; but they are always in the same place among the others, and of the same brightness, except in hazy weather. It is a much greater pleasure to find a planet in its wanderings, and to be able to welcome Mars or Jupiter by name after many months of absence.

Everybody knows about the solar system—that you can make a rough representation of it on a flat plane table by putting a ball in the middle of the table for the sun, and drawing circles on the table for the orbits of the planets. These would be represented by little balls moving on the circles all in one direction (anti-clock-wise, if we suppose ourselves to be looking at the table from the northern hemisphere). And the planets in the smaller circles move quicker than those in the

larger circles. Of course, it is also well known that the orbits of different planets are not exactly circles, but ovals, and they are very slightly tilted of the table, on whose surface our earth is supposed to move. But the tilt is found to be very small, and need not be considered at first.

Now it is all very well to say that everybody knows this because he has read it in a book, but it is far better if we can find it out for ourselves. Then we shall be able to distinguish the planets from other stars and from each other, and that is what the books do not generally tell us.

## II.

There are three ways of knowing a planet as such when we see it. The first two are very quick and easy to apply, but not so certain as the third. The first clue is this: Whenever you see an unusually bright star, unless it be Sirius, it is probably a planet in that part of its orbit where it becomes brightest to the inhabitants of our planet in that part of its orbit where it becomes brightest to the inhabitants of our planet, the Earth. Take Venus, for instance, on a circle that is always inside the earth's orbit. She does not shine by her own light. The half of her next the sun is lighted by the sun; the rest of her is dark to us. So, when Venus is nearest to us, we are looking at her dark side, which is invisible. When she moves a little away



from there we see a little of the illuminated half like a crescent moon. Venus is never at a greater distance from the sun than about forty-five degrees. When at that place she looks in the telescope like a half-moon. She is then nearly at her brightest. For when she goes farther round, turning to us the whole of the illuminated hemisphere, she is so far away that the light is much feebler.

During the period that Venus is about forty-five degrees from the sun she is brighter than any other star or planet, and can easily be seen before sunset. In fact, she can then be sometimes seen at midday, if you know where to look ; and she casts a shadow on the deck of a steamer.

None of the other three planets is brightest when near the sun. So if we see an extremely bright star in the west at sunset, or in the east at sunrise, we are very safe in asserting that it is Venus. The crescent moon also is never far from the sun. This is the reason why a very brilliant star near a delicate crescent moon is probably Venus. But the full-moon is always at the opposite part of the sky to the sun. And for that reason a brilliant star near the full-moon cannot be Venus.

As to the other planets (Mars, Jupiter, Saturn) outside the earth's orbit, they are brightest when nearest to us—that is, when sun, earth, and planet are nearly in line, and we see the whole hemisphere that is illuminated by the sun. The moon also,

when at the full, is nearly in the same line as the planet, away from the sun. That is the reason why a very bright star near the full-moon is probably Mars, Jupiter, or Saturn.

It is generally possible to judge, by mere inspection, which of the three planets we are looking at. Mars is always red, and becomes fiery-red when he is nearest to the earth. Jupiter is much the largest of all the planets, and is invariably a very bright star ; but he has not the red colour of Mars, which colour is, doubtless, due to the sandy soil of Mars. The more distant planet, Saturn, is duller and yellowish.

With a pair of opera-glasses Jupiter can always be positively recognised, because he has four moons large enough to be almost visible to the naked eye, besides four very small ones. Some of the four Galilean moons (discovered by Galileo)—possibly all four—may be seen with a small glass, and, as they are close to Jupiter and all lie on a line going through the planet, they cannot be mistaken, though constantly changing position. If, then, the glass shows three or four small specks of light, on a line going through the planet, we may be sure we are looking at Jupiter. These moons changing their positions on the line are a constant delight.

If you direct upon the planet Saturn a telescope larger than the little one that shows Jupiter's moons, you know at a glance which planet it is. For it is not round, but elongated, owing to



the marvellous flat ring that surrounds its equator, generally tilted at an angle.

### III.

The second clue for identifying a planet among the stars is most useful when the planet is not at its brightest—not brighter than some of the fixed stars. *The fixed stars generally twinkle, the planets almost never.* Every one has noticed on a clear night the rapid flashing of stars, called twinkling or scintillation. It is caused by small particles in the atmosphere which deflect from the eye a ray of light that ought to reach it. The effect is momentary, because the particles are in motion, and quite small. It is constantly repeated, because there are many particles. Some stars twinkle more than others.

Every one knows that our atmosphere bends a ray of light from a star downwards, and that the light of a star contains rays of different colours that are bent to different degrees by the atmosphere. Thus the rays of different colours do not follow exactly the same paths from a star to our eye. It follows that the atmospheric particles causing scintillation, in their motion, deflect the different colours not all at once, but in succession. This is easily seen in a spectroscope attached to a telescope. But a very pretty experiment may be made without any special apparatus, showing the effect in a beautiful manner.

If a small telescope or an opera-glass be pointed to a star, and if we keep on tapping the instrument, then the star

seems to move about. Its image persists on the retina for a fraction of a second. So the moving star-image looks like a string of light that can be twisted into a coil of different shapes by judicious tapping.

Now, if the star be a good twinkler, the string of light seems to have gaps in it, showing when a particle is deflecting the ray of light out of our line of vision. But this is not all. The particle deflects different colours in succession. Sometimes green, sometimes red, is deflected from the eye. The result is that the string or coil of light is converted into a beautiful pearl necklace interrupted, not by mere dark gaps, but by the brilliant scintillations from diamonds, rubies, sapphires, and emeralds. Try this experiment, and show it to your friends.

These remarks on twinkling help to explain why fixed stars twinkle and planets do not. A star is at such an enormous distance that, in spite of its great size, it looks like a mere point of light. But a planet is near enough to show a disc of sensible size in a telescope. A particle in the atmosphere may deflect from our line of sight a ray of light coming from a point, and yet be too small to affect all the rays coming from different parts of the planet's surface. This is the reason why you may be sure that a star which twinkles is not a planet.

### IV.

The two clues already given for distinguishing planets from other stars are



not absolute. The third clue is the only sure and certain test. It depends upon the position of the doubtful object among the other stars.

After we have got to know some of the constellations, and noted the places occupied by planets, we make this great discovery: that planets do not turn up in all parts of the heavens. In the greater number of the constellations planets are never seen. There is, in fact, only one straight road or track among the stars, and not a very broad one, in which we ever see a planet, or the moon or the sun. At first it seems almost absurd to speak of the sun following a track among the stars, as we don't see the stars in day-time. But this happens only because the sun's light illuminates the atmosphere, and makes it brighter than the stars. It is a surprising truth that the stars are shining just as brightly by day as by night. The sun and the moon, being both wanderers among the stars, were in old days included among the planets.

• How can we find the path among the stars followed by the sun, the moon, and the planets? Sometimes we have the good fortune to see three planets at the same time. In that case we can see for ourselves that the path is a straight line right round the earth. It is not easy to imagine correctly a straight line among stars. The best plan is to hold up a walking-stick, and we find that it covers all three planets at the same time, provided no two are

very close together. This is true all the year round, so the track is continuous right round the earth. Thus we learn from our own observation that the planetary orbits lie all nearly in one plane, like the flat table spoken of above.

While holding the stick in line with any two planets it is easy to note those stars and constellations that are covered by the stick, and to continue the line among the stars that forms the apparent path of the sun, the moon, and the planets. This path is called the ecliptic—a word strictly used for the path of the sun among the stars, but applicable also as a rough guide to the paths of the planets and the moon.

In this way we might be fortunate enough to see the moon half-way between Aldebaran and the Pleiades, while Mars might be in the Twins, below the bright stars Castor and Pollux. If Saturn happened at the same time to be near the bright star Regulus in the Lion, and Jupiter at Spica in the Virgin, we should be able very easily to trace out with our stick the whole of the northern half of the ecliptic, which, to us in these latitudes, is its most interesting part.

With the help of a star-atlas, or some 'Easy Guide' containing pictures of the constellations, it is a very simple affair to get to know the constellations lying upon the ecliptic, the twelve signs of the zodiac, which divide the yearly path of the sun into twelve months. This occupation goes far towards completing our familiarity with any stars that hap-



pen to be shining at any time of the year.

After this has been done no one can be in doubt about a planet. If a star we are looking at is not on the ecliptic it cannot be a planet, and, knowing all the bright stars on the ecliptic, we cannot mistake them for planets.

## V.

Every astronomer can remember the time when he first reached this stage and acquired the habit of watching the movements of the planets along the ecliptic. It is a good plan to draw a picture of the stars among which Mars or Jupiter is moving, and to mark the planet's place from week to week. Saturn takes thirty years to complete the circuit. Jupiter passes into a new sign of the zodiac each year, taking twelve years to go right round. Mars takes about two years.

All the planets revolve in their orbits from west to east—that is to say, from *right to left*, as we look at them in the southern half of the sky. But, strange as it seems, our star-picture on which we mark, from week to week, the place of Mars, Jupiter, or Saturn at its brightest—that is to say, 'in opposition'—shows it to be apparently moving for some months in a retrograde path, from *left to right*. It was the understanding of this retrograde motion that led Copernicus to insist that our earth is a planet revolving round the sun between Venus and Mars. He recognised it as an

optical illusion, such as we ourselves are accustomed to see when two railway trains or two ships are moving side by side and we are in one of them. The motion may be so smooth that we do not take account of it. The other ship seems to move in the true direction of motion only when it is going faster than we are. If our ship is the faster, the other seems to lag behind or to be moving with retrograde motion when we compare its place with the distant shore.

So it is with Mars, Jupiter, or Saturn. At a time of 'opposition' the earth and the planet are moving on parallel courses and the earth moves quicker than any of them, so the planet seems to move backwards among the stars, until the earth in its circular orbit has changed its direction, and no longer gives us the optical illusion of retrograde motion. Of all the optical showing retrograde motion Mars is the most remarkable. It is so much nearer to us than Jupiter or Saturn that the extent to which it seems to double on its track and go backward makes it appear to be the most flighty and erratic of them all.

These hints and clues that have been thrown out to help any one to know the planets have often led people to take a new interest in the firmament. Then with the help of books and a telescope they have rejoiced in a new hobby. Others, fortunately for us all, have gone further, and have therein found a new and permanent aim in life. It is thus



that many an astronomer has made himself, and has trained his eye, hand, and intellect to work as the servants of the human race by revealing to us the wonders of the heavens, and the immutability of the Creator's will in the enforcement of those laws which He has established for the working of a world and the evolution of a universe.

## VI.

It is not possible in this article to describe the planetary phenomena that are disclosed by the telescope. These can be studied in special books, whose revelations may now be hinted at, by a brief glance at the telescopic wonder that exist on two of the planets.

Pointing a good telescope at Saturn, the most distant planet visible to the naked eye, we have a vision of so startling a character that no other sight known to astronomers could have suggested the possibility of such a structure. We on this earth are glad to have our single moon to guide our way on a dark night. Saturn rejoices in ten moons. But the really marvellous feature of Saturn, stranger than any other heavenly object, is the great bright flat ring surrounding its equator, tilted at an angle to us. Twice in each revolution of Saturn—that is, every fifteen years—when we see Saturn in the constellation Leo or Aquarius, this ring is edge-on to us; and it is so thin (only fifty miles thick) that at these times the ring is invisible in a telescope. It has been

like that in the past year. That fifty miles, at the distance of Saturn, is like the thickness of a sheet of paper at three miles, and cannot be seen. Tilt it, and the reflected light from the paper or from Saturn's ring is brilliant. Large telescopes show this marvellous flat ring to be divided into concentric circulation flat rings, separated by black empty space. The innermost ring is dark and semitransparent.

If Saturn is a marvellous object as seen from the earth, our imagination is bankrupt in attempting to think of the midnight splendour as seen on that distant world. It has ten moons, mostly on the line of the ecliptic, many of them above the horizon at the same time, some full moons some at the quarter or crescent, and they differ greatly in size. Winter on that planet must be appalling, as it lasts for seven years instead of three months, and all that time the ring acts as a screen, shutting out the sun's rays by day from nearly half the planet. But who can truthfully describe the aspect of the great flat equatorial ring, illuminated on the one side by the sun during the nights of a Saturnian summer?

For during the summer of the northern hemisphere the great arch of light is shining as if with the light of a thousand moons upon land and sea, with an inner arch of clear sky and stars low down on the southern horizon. The bright surface is divided by thin black rings that separate the concentric



bright rings. And at this season, at midnight, the sun casts a shadow of the planet on the ring, and a great upright arch of the ring is cut out from the sun's light, leaving it black. Thus at midnight the central southern parts of the ring are in darkness, though tinged at their edge by the colours refracted through the planet's atmosphere. This leaves only two horns of white light, with a rainbow-coloured sunset on their inner edge, rising from broad bases in the south-east and the south-west, both curving southwards and towering upwards, to meet in a thin bright connecting line at the top. This wonderful pair of luminous horns of the ring rise in the east, and set in the west every night. The height to which the brilliant arch of light attains in the sky depends on the latitude. In the Arctic regions the ring is wholly invisible, and from places nearer to the equator the stars could be seen under the central arch, which there is nearly overhead. Certainly a telescopic examination of Saturn opens the gates of speculation and conjecture to an extent that ought to satisfy the most imaginative of poets.

## VII.

To pass from the most distant of the three exterior planets to the nearest one Mars is so much closer that it excels all other planets in distinctness of details. Its surface is marked by shades and tints, dark and bright, with definite boundaries and shapes that are perma-

nent. These suggest the notion of continents surrounded by oceans. We see the planet rotating regularly in twenty four hours as the earth does. We observe its axis, of rotation to be inclined like the earth's axis, giving the seasons of summer and winter on Mars, as with us. The North and South Poles are each covered with a brilliant white cap, suggestive of snow and ice, like our Arctic and Antarctic regions. Moreover, astronomers have discovered by exact measurements that after the season has passed, in northern latitude, from winter to summer, the size of the ice-cap at the North Pole has diminished, probably from the snow melting, while that at the South Pole has increased. Signs of vegetation growing at that season and darkening the soil have been suspected. Be this as it may, enough has been certainly observed to assure us that in many respects the two planets Mars and Tellus (our earth) have much in common.

When this has been accepted, not merely as an authoritative statement, but from frequent examination with a telescope, we remain convinced that Mars is a world like ours, and that our world is a planet like Mars.

On reaching this conclusion speculation becomes inevitable, and we ask ourselves the great question, 'Do men and women inhabit Mars and the other planets?' Once started, speculation will carry us still further. We know that



the stars are suns, like our sun. We know that some at least, and possibly all, have colder bodies, or planets, revolving round them; and we ask, 'Are there solar systems among the stars? And is each star the centre of a system of planets, as our sun is, and is each one of these planets inhabited by a race of human beings?'

Such questions are hard to deal with. There are astronomers who have watched the annual changes on the planet Mars for years and years, who assure us that they have detected signs of human contrivance and workmanship upon Mars, in the form of gigantic canals made for irrigation.

The ruddy hue of Mars which we perceive is due to its soil. Of that there is little doubt. This seems to imply that the continents upon Mars are mostly made of sand like our deserts. If this be so, the Martians may suffer from drought, and might well be expected to tap the source of water in the melting polar ice-caps, and lead it in huge irrigation canals to water the deserts, and to cultivate their banks and near-by lands with crops and vegetables, in the manner of the

Egyptians with their source of water supply, the Nile.

Much has been written in favour of this view by responsible astronomers; but the disbelievers are many, both as to the accuracy of the observations and the fairness of the deductions. For the present we will leave it at that. It must, however, be remarked that on most of the planets, if not on all, the conditions of temperature are such that it is unlikely that human beings made as we are could exist.

People who delight in controversy as to whether there are human beings on the other worlds generally admit the truth that there is no scientific evidence on one side or the other. So they indulge in non-scientific speculations as to what they themselves consider the most probable, and this opinion depends often upon their notions about what the Creator's purpose was in the creation. In all this kind of discussion most astronomers patiently and in all humility await some real evidence. 'Canst thou by searching find out God? Canst thou find out the Almighty unto perfection?'



## INDIA A RETROSPECT

*(from an American point of view)*

Exploited more than three hundred years ago by merchant ventures of London as a source of fabulous revenue and developed, if we believe Macaulay, by what may be euphemistically termed a get-rich-quick company, India to-day is on the high road to swaraj (self-rule), tho whether that self-rule is to be of a nation within the British Commonwealth or of one independent of all ties with the British crown depends, we are told, on how British statesmanship meets India's present unrest. For, in spite of the fact that greatly increased autonomous powers were recently given her and that she was represented in the imperial Conference and is a member of the League of Nations, India is seething with the yeast of rebellion. Hindu and Mohammedan, once held to be irreconcilable foes, have joined forces under the leadership of Mohandas K. Gandhi and the Ali brothers in a movement for absolute independence, and the structure of the British Empire is threatened at one of its vital supports.

India is the land of extremes. Most of the population is illiterate, yet one of her poets, Rabindranath Tagore, has won the Nobel prize for literature, and Sir Jagadis Chandra Bose is famous for his discoveries in science. It is the home of the philosopher and the fakir, of the mystic and the juggler, of the most rigid caste system in the world.

Here are private hoards of jewels and precious stone which would shame a European royal treasury; but 70,000,000 of the people are said to be perennially hungry. This great peninsula, we are told, produces to-day two-fifths of the world's total supply of cane sugar; one-third of its total tea, tobacco, rice and cattle; one-fifth of its cotton; and one-tenth of its wheat. It contains one-fifteenth of the world's total railroad mileage. Such is the country whose recorded history dates back, according to orthodox Hindu opinion, more than 3,000 years before the Christians era, the country which has been a coveted prize since the first Aryans, ancestors of the Hindus staked out their claim here some thousands of years ago. Six times it has been overrun by the Mohammedans. Alexander swept through it with his legions before he sighed for more worlds to conquer. It has been fought for by the Portuguese, the Dutch, the French and the British, and at last young Clive, a clerk turned soldier, won it for the British.

Out of the millions in India who, directly or indirectly, now are under British rule, more than half, according to various histories, may claim descent from those Aryan conquerors who, long before Hellas defied the Persian, were pushing the earlier races of Hindustan back into the forests and sheltering hills, where their descendants may still be found. The history of that old civilization is written in the sacred



writings of Sanskrit speaking Hindus, and in poems which as vividly portray the social life of prehistoric India as Homer portrayed that of early Greece. In 1025-26 the country was conquered by Sultan Mahmud of Ghazni, first of the Mohammedan invaders, and the Punjab, except for a brief period, has been a Mohammedan province ever since. Tamarlane, first of the Great moguls, overran India in 1308, and his descendant, Baber, reconquered the land in 1526, and founded the Mogul Empire which, with varying fortunes, lasted untill 1857, the year before Queen Victoria was proclaimed Empress of India. In later years came the white man. Vasco da Gama, a portuguese discoverer, landed at Calicut in 1498, and for a hundred years the Portuguese enjoyed a monopoly of India's trade. The British followed when the English East India Company was founded by Queen Elizabeth and two years later other rivals appeared in the form of the Dutch East India Company.

Trade wars resulted in the ousting of the Portuguese by the British, in the Battle of Swalley in 1612—the year in which British ascendancy began. For years the British at Fort St. George and the French at Pondicherry traded side by side without active rivalry or territorial assumption; but the wars in Europe led to clashes in far India, and Dupleix, the French commander at Pondichary, was fired with the ambition to found here a French empire.

But he was not supported by his government, and in 1760 he was defeated by Clive. A year later Colonel Sir Eyre Coote won the decisive victory at Wandewash, and the French power was ended.

Following the great tragedy of the Black Hole of Calcutta, in which 123 persons perished, Suraj-ud-Dowlah, last of the Moguls, was conquered in the battle of Plassey, June 13, 1757, a date generally adopted as marking the beginning of the British Empire in the East. Warren Hastings secured the British footing and gave the country its first civil administration.

The modern history of India begins with Governor-General Lord William Bentinck, who, we are told, introduced humane and civilizing influences. According to the inscription on his statue at Calcutta from the pen of Macaulay, "He abolished cruel rites; he effaced humiliating distinctions; he gave liberty to the expression of public opinion; his constant study it was to elevate the intellectual and moral character of the nations committed to his charge." The chief of the customs prohibited by Lord Bentinck were *suttee*, the burning alive of a widow along with her husband's body; *thagi*, the strangling and robbery of travelers; female infanticide and human sacrifice. It was decided, too, that no native of India should suffer in any way because of his religious opinions, but that all should be absolutely equal before the law. The



mutiny of 1857 sealed the fate of the East India Company, and a year later the government of the country passed to the British Crown. Twenty years later through the diplomatic genius of Disraeli, Queen Victoria was proclaimed Empress of India.

The Empire now ruled by the Viceroy of India, Earl Reading, includes not only the great Indian peninsula stretching under the shadow of the Himalayas, from the valley of the Indus to that of the Brahmaputra, but also the broad regions watered by the Irrawaddy and the Salween. This vast area of nearly 1,700,000 square miles, a subcontinent in itself, exceeds that of all Europe outside of Russia; and possesses a population of approximately 300 million people of diverse breeds, tongues and creeds, which is the next largest population to that of China. From the northernmost corner of the Punjab to Cape Comorin in the south its greatest length is about 1,830 miles, while its breadth eastward from Karachi, near the mouth of the Indus, to the easternmost point of Burma, is even greater. The whole length of the coastline from Karachi, nearly 4,000 miles, while the extent of land frontier is a thousand miles longer.

According to the census of 1911, writes L. J. Trotter in his "History of India" (Society for the Promotion of Christian Knowledge), British India, as apart from the tributary native states, contained an aggregate population of

nearly 250 millions souls, of whom about two-thirds live by husbandry alone. To this may be added probably 70 millions in all for the Native States. The 70 millions in the Native States are ruled by some 200 chiefs and princes, great and small, whose joint possessions cover an area of more than half a million square miles from Kashmir to Travancore. Of the whole Indian population about 217 millions are Hindus by religion, and several millions more are probably Hindus by race. The Mohammedans of all races, Aryan, Semitic and Mongol, may be reckoned, we are told, at 66 millions, most of whom profess the Sunni or Turkish form of Islamism. The aboriginal or prehistoric races, scattered everywhere among the hills and forests, are supposed to number about 10 millions. The Jains, an offshoot from Buddhism, number 1,248,000. The Parsis, descendants of Persian fire-worshippers, are a few in number, but fill a front place in the commercial life of Western India. Christians of all sects and races may be set down at nearly four millions. The languages and dialects used by all these peoples number 130, and exceed in variety those of all Europe.

Agriculture is India's chief support, and the preponderance of agriculture without any offset of industry to give the country greater purchasing power, is given as one of the chief reasons for the famines which, following failing harvests in time of drought, have so



often stricken the land. In 1900 it was said that "there are 70 million continually hungry people in British India at the beginning of the 20th century." The population, write Fred B. Fisher in "India's Silent Revolution" (Macmillan), had no reserve on which to fall back when the crops failed. However, the British Government "has administered famine relief on a colossal scale by providing work in building roads and digging canals. In July, 1900, relief was given daily to six and one-half million persons. That there has been no general famine since 1900 gives hope that the experts are finding out how to check them." Furthermore, "India's poverty and her ill-adjusted economic organization should not necessarily be interpreted as an indictment of the British Government in India. Some element of the situation could have been avoided by a more liberal and more generous statesmanship. It is scarcely fair, however, to demand of British statesmen of the 18th and 19th centuries a perfection still far beyond our 20th century grasp. The modern social consciousness will produce new economic policies. On the other side of the slate, the British administrators of India have splendid achievements to their credit. They have built 30,000 miles of railroad. They have put nearly 17 million acres of land under irrigation. They have given India the beginning of an educational system. They have made head-

way against India's two most colossal and overwhelming problems, famine and plague. Gradually they are introducing all the complex and labor-saving machinery of modern life—cold storage, transport of food and fruit, grain elevators, scientific methods of agriculture, modern sanitation in the cities, co-operative banks and credit societies. Trade conditions since the war are hopeful. Her total export trade for 1915-16 was \$775,000,000, an advance of 21 per cent. over the previous year, while the gap between her exports and imports amounted to \$295,000,000 as compared with \$200,000,000 for the previous year. Mostly subtly pervasive of all, the standard of living in the cities is rising. Indians in industry are spending more money on themselves. They are wearing more clothes and of better quality. They are putting on shoes, and carrying umbrellas to protect them against the burning Indian sun."

But in rural India, where 97 per cent. of the population live, mud walls a foot thick, grass-thatched roof and dirt floor from the home of the people. In the south, says the writer, the tiny huts nestle in luxuriant exotic greenness, and dense palm groves shadow the wet rice fields. Farther north, on the scorched plains of the Pnnjab, the sun-baked mud cabins stand out stark and brown in desolate fields. There are no attempts at decoration in ordinary village homes; no rugs, embroideries,



pictures; most Indians being too poor. The well-to-do ryot (husbandman), the zamindar (landowner), each is distinguished by his brass bowls and cooking utensils, instead of earthenware, and by the value of the gold and silver bracelets, anklets, and nose rings of his women-folk. Among the very poor of the lower castes and outcastes it is customary to share this one room with whatever cattle, goats, and chickens the family are lucky enough to own.

Important as representing one of the oldest civilizations recorded in history, India bears title to respect also as the Motherland of religion. It gave birth to the greatest ethnic religion the world has seen—Hinduism, and it is also the birth-place of one of the three great missionary religions of the world—Buddism. These two religions, says Dr. John P. Jones, in "India, Its life and Thought" (Macmillan) "count among their followers more than a third of the human race, and are, in some respects, as vigorous now as at any time in their history. It is the foster-mother of Mohammedanism and counts among her sons and daughters more of the followers of the Prophet of Mecca than are found in any other land. It has also been the asylum of many followers of the Nazarene for at least sixteen centuries; many even claim that Christianity has found a home here since apostolic days." Jainism and Buddhism were born of Hinduism in the sixth century before

Christ. Islam and Zoroastrianism arrived in the eighth century of our era, Judaism and Christianity arrived at early dates in the Cristian era not yet ascertained, and the shoots the planted still survive. Catholic missions began their work in 1500; Protestant, in 1706.

Out of Hinduism grew the caste system, which to-day permeates the whole social and religious life of India. No other people in the history of the world, says Dr. Jones, have erected a social structure comparable to this of India. The Hindu community is divided into four "water-tite compartments," writes Fred B. Fisher in "India's Silent Revolution" (Macmillan)—four castes which in orthodox circles maintain the most rigid social barriers against each other. "There is no inter-marriage, interdining, or personal relationship between them. A low-caste person may not be a personal servant in the house of a higher caste, because his touch would contaminate the latter. In southern India, where caste has been most strictly enforced, even the shadow of a lower caste man defiles, and there is a graduated scale of distances which the lower castes must observe. The Kammalan group masons, blacksmiths, carpenters, and leather workers—pollute at 24 feet, toddy-drawers at 30 feet, pulayan or Cheruman cultivators at 48 feet, and Pariahs—beef-eaters—at 64 feet." Men have frequently died, we are told, rather than accept food from a lower caste in



time of famine. According to the census of 1901 there were 2378 main castes, and the subcastes and divisions under these are innumerable. Lower than the Sudra, lowest of the main castes, "in a lowest deep of their own," live a submerged mass of fifty-three million outcastes, or Untouchables, one-sixth of the entire population of India. To them is prohibited the use of public roads, bridge, ferries, temples and residence inside the village community. Their children may not attend the public school. Not only does their touch defile, we are told, but they pollute everything they use, so that they are not allowed even to draw water from the village well. They live in a degree of poverty that surpasses any western imagining. They have little or no furniture in their one-room hovels; "many of them do not even have straw mats or rags on which to sleep, but when the nights are cold they snuggle up against the sides of the bullock or cow, with which they share their home." However, a slow reform in regard to the Pariahs is on the way. It is said to be a curious fact that after outcastes have been baptized, Hindus themselves cease to regard them as Untouchables, and they are received on the same footing as those who became Christians from within the castes. The Gaekwar of Baroda has undertaken many reforms, while in the eye of the British law, which does not recognize this social usage, all castes

are equal. The "deprest classes" themselves are working energetically to remove the social ban against them, and are now, we are told, in the throes of a silent revolution to have it disregarded altogether.

While India's social evolution progresses, the country is in the midst of a political upheaval which Premier Lloyd George has said is a matter of "grave concern," tho no "cause for panic." The causes of all this tumult were laid by premier Lloyd George in a recent address before the House of Commons to the inoculation of the East with Western ideas, race consciousness, the defeat of Turkey in the World War, with its religious reaction on the Moslems; and to the economic conditions produced by the war. Inoculating the East with Western ideas of democracy, he said, was like, "putting new wine into old bottles. They burst. The wine ran out and intoxication spread over the He East." declared that "nothing can be gained by unjust concessions to fear. We accepted a great trust as a people when we occupied India. We invested ourselves with that trust to the exclusion of all others. We can not divest ourselves of this trust without shame and dishonor. There is nothing left between India and confusin except British rule." It is peculiar that the agitation began assuming its most serious proportions almost at the hour when the great experiment of investing India with an extension of home rule was undertaken.



The home rule scheme, we are told, in the London *Times*, establishes effective provincial autonomy and liberates India from the dead-weight to a centralized administration over 319 millions of people. It gives very large departments—education, public health, forests, excise—in this provinces to Indian Ministers directly responsible to their constituents. It establishes elected majorities in the Provincial Councils, the All-India legislative assembly, and in the Upper House, or Council of state. "It is true that large powers are reserved to the Governor-General and Governors ; that important heads of expenditure are theoretically immune from interference. But these exceptional powers and reservations, which exist in all constitutions not least in that of the United States, do not alter the cardinal fact that in future the administration of India must be carried on in accordance with the desires of the representatives of India, elected on a considerable and direct franchise." Political power, we are told, has moved from Whitehall to Delhi ; the services are being rapidly Indianized, with the idea of preparing India for full self-government.

That rapid strides toward swaraj are being made under the British regime is also the conclusion of the Right Hon V. S. Srinivas Sastri, an Indian, who declares in the London *Times* that the inauguration of the recent reforms marks an epoch in India's history.

After speaking of the "happy augury" of diarchy (dual form of government in which the Indians share), he remarks of India's advance that—

"Her representatives participated in the deliberation of the imperial War Conference on a footing of absolute equality with Versailles whereby India because a member of the League of Nations. In the Assembly she has the same vote as the British Empire, and it is not at the command of the British Empire, but is hers, to be exercised at will, and her interests.

"Even more significant was the position attained by her at the last Imperial Conference in London. In the plenary meetings she had, curiously enough, three representatives who could all speak, instead of the one that every other dominion has.

"As regards the self-governing Dominions, the equality of India with these is completely established. She is free to treat with them as equals ; to establish full reciprocity of relationship in every respect."

One of the most marked causes of unrest and discontent, held by several writers to be largely racial in its origin, is said to be Japan's victory over Russia. It is hard, we are told, for the West to realize how much that event stirred the imagination and quickened the ambition of all the people of the East, who regarded the Russo-Japanese War as the great conflict of the East and the West. Japan and its people



are said to have been immensely popular in India since their recent victory, and Hindus, we are told, believe that the peace perfected at Portsmouth was the harbinger of a new era of liberty and independence for all the East. It is not surprizing, writes Fred B. Fisher in "India's Silent Revolution" (Macmillan), "that the dark-skinned races, rebelling against the subtle sense of superiority which the white race feels and shows,

should look forward to the turning of the tables."

But Britain has lighted a beacon in India, declares Sir Valentine Chirol in "India, Old and New" (Macmillan), which, "if she keep it burning, will show to both the way of escape from a more disastrous conflict than that from which the West has emerged battered and bleeding—a conflict not between nations but between races."



## VALE.

Hushed are the chapel bells—all hushed  
The myriad sounds that fill our day ;  
The 'Last Post's' throbbing, lingering note  
Faint o'er the river dies away :  
Soft, kindly, night, with lulling hands,  
Spreads wide her dream-brocaded pall,  
And wraps our little world in sleep,  
As darkness closes over all.

Framed in my lattice, widely flung  
To lure each vagrant summer breeze,  
Wafting the garden frankincense,  
Whispering blessings on the trees,  
Pensive I muse, all unaware  
How swiftly flies each quartered hour,  
Throbbing upon the drowsy air  
In deep-voiced chimes from Lupton's tow'r.

A tardy bee drones slowly by.  
Leaving a waning trail of sound ;  
The crescent moon ascends on high,  
Fantastic shadows etch the ground ;  
All ghostly in the silver light  
The dear, familiar buildings rise,  
Like gracious spirits beaconing  
A pilgrim into Paradise.

Alas ! they beckon but in vain,  
For dawn shall ring my passing bell :  
A swallow flown comes not again ;  
Old days—old ways—farewell ! farewell !

GUY COLIN CAMPBELL.



## THE LURE OF THE SOUTH DOWNS.

BY

P. LEO FAULKNER, F. R. G. S.,

(Indian Police)

*Author of "Saints of the Sundarbans"*  
*etc. etc.*

A few weeks back, one unusually hot afternoon, I was marching at the head of my Garhwali detachment through forest glades, across hard sunbaked paddy fields and along so called kutchra "roads" when my thoughts turned back to the summer of last year. I conjured up before me the many happy days I had then spent tramping the dales and down land of Sussex. There are those who can think of nothing else than the mountains of Switzerland: there are those again who are passionately fond of the Lake district of Cumberland and Westmoreland: there are not a few who place the South Downs first with the rest a long way behind, and I must confess that I belong whole-heartedly to those who hold this view.

It was George Gissing who said:—"I am walking upon the South Downs. In the valleys, the sun lies hot, but here sings a breeze which freshens the forehead and fills the heart with gladness. My foot upon the short, soft turf has an unwearied lightness; I feel capable of walking on and on, even to that farthest

horizon where the white cloud casts its floating shadow. Below me is the summer sea, still and silent. Inland spreads the undulant vastness of the sheep-spotted Downs, beyond them the tillage and the woods of Sussex weald." Does not such a picture make one's thoughts turn homewards? A little cottage midst these surroundings might even cause one to regard with greater equanimity the thought of a proportionate pension.

Lewes was my headquarters for some months and a more delightful centre it would be difficult to find. It is a typical downland town nestling in part in the valley of the lazy little Ouse and occasionally mounting the sides of the hills. There is a long narrow High Street marked by interesting old houses and the Castle from the top of which a wonderful view of the surrounding country can be had on a clear fine day. There is also another phase of Lewes which certainly deserves mention. Writing eulogistically of this county town precisely one hundred years ago William Cobbett remarked "and though last, not least, the girls are remarkably pretty." It is pleasing to be able to affirm that in the course of a century Lewes has certainly not changed at all in this direction.

The most imposing hill near Lewes is Mount Caeburn. A wonderful view over land and sea can be had from its summit: Lewes nestles below, the Ouse trickles its lazy winding way to the sea



and the Channel lies glimmering and shimmering sleepily in the distance. As William Hay has said :—

From this proud eminence the  
ravish'd eye  
Sees earth with Heav'n and  
Heav'n with Ocean vie,  
To form a second Eden.

Often and anon I would walk across the Downs from Lewes to Brighton. Away on the right for some considerable time the grand-stand of the Lewes race-course shows prominently on the sky line. The railway track down in the valley soon dwindles and disappears. Well bred hunters out at grass and the kine for which Sussex is so justly famous hardly trouble to raise their heads as an engine goes grunting by. Then as one wends his way over the Kingston and Newmarket Hills he hears the bleat of the sheep and the tinkle of their bells as the shepherd and his dog direct their steps to the pasture land for the day. Up hill and down dale, the springy turf always underneath, a wonderful wind blows into one's face filling the lungs with ozone and the heart with hope. Finches and other birds make merry with their melodious music while skylarks as they mount higher and higher into space vie with each other in a rivalry of song.

Now and again large patches of gorgeous red catch the eye—poppies growing amongst the corn in abundant profusion: wild thyme grows almost everywhere and occasionally cheeky little rabbits

emerge from their burrows and run full of the joy of life over the beautiful green turf. Furze too is often to be seen and above all and embracing all is a sense of mystical and overpowering silence which gives one that wonderful and well nigh indescribable feeling of freedom and goodness and isolation. And then what a view as one strikes the coast : Ovingdean and Rottingdean two charmingly beautiful Sussex villages lie behind the traveller : the Brighton and Hove piers shining like silver in the sunlight jut out into the Channel which is dotted with hundreds of smart sailing boats displaying with obvious pride their immaculate white sails. Rottingdean was the home of Rudyard Kipling, William Black and Burne Jones. In Kipling the Sussex Downs have an ardent admirer for he has praised them several times in his poetry. Two excerpts must certainly find place here :—

(a) I've given my soul to the South-  
down grass,

And sheep-bells tinkled where you  
pass.

Oh Firle am' Ditching an' sails  
at sea,

I reckon you keep my soul for me.

(b) Each to his choice, and I rejoice  
The lot has fallen to me,

In a fair ground—in a fair ground  
Yea, Sussex by the Sea.

Firle Beacon is practically half way between Lewes and Berwick. Some will perhaps remember passing Berwick



on the way to Eastbourne. It is on the Cuckmere, a tiny stream which flows placidly and lazily into the English Channel some little distance to the east of Seaford. From Firle Beacon can be had one of the most striking views in Down land. The Beacon must be nearly 750 feet in height and from its summit one looks across several miles of woodland and valley to Mount Caeburn away in the north west. Ditchling Beacon is in the other direction, to the west of Lewes beyond Plumpton where there is a well-known steeplechase course. It is about one hundred feet higher than Firle Beacon and here again can another soul-stirring view be obtained. It is perhaps not so picturesque as that from Firle, but still it is one that will not readily fade from the memory. Ditchling, a typical Sussex village has a cruciform church like that at Alfriston and both those edifices attract the attention of these whose wanderings lead them into Downland. Who has not heard of Pyecombe which is almost due north of Brighton, between Poynings and Ditchling Beacon? In the good old days no Sussex shepherd ever carried a crook that did not hail from Pyecombe but times and customs change for no longer does this pretty village turn out even a single crook.

Motoring from Lewes to Eastbourne one comes to Wilmington shortly after passing through Berwick. There is a great long collection of Downs to the right throwing out a spur at each end,

About the middle of this mass is the Long Man of Wilmington—a grotesque figure cut out in chalk. He is in the true sense of the word a really long man for he measures two hundred and thirty feet from top to toe. No one is sure of the origin of this immense person. There is a legend in the neighbourhood that he was first marked out by the monks of Wilmington Priory, but this is of course, mere surmise. The priory which belonged to the Benedictine order, was suppressed as long ago as 1414 and is now in a very bad state of preservation.

It is difficult to know where to stop when writing of the attraction and beauty of the South Downs but as I must end perforce I will do so after a reference to the Devil's Dyke. Surely this is a haunt of trippers from Brighton but it has at once to be conceded that these good people show excellent taste in selecting such a place for pilgrimage. The Dyke is a short drive to the north west of Brighton and from it I cannot remember how many miles of country stretch out before the wanderer. It is some stupendous number, at least that is what one is told by the oldest inhabitant. The story is that once upon a time in the long long ago his satanic majesty one day determined to see for himself the finest view in Sussex and as he stood upon the summit he spied so many Churches and crosses standing out from the Weald that he determined forthwith to excavate



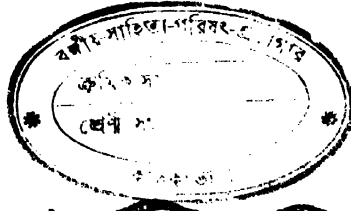
a great hole in the hills through which the water would come from the sea and drown each and every one of the pious inhabitants of these parts. Fortunately he could not finish his vile work in time, and so he was most reluctantly constrained to beat a hasty retreat having only succeeded in altering the contour of the country to what is now generally known as The Devil's Dyke.

"He fled—his work undone,  
Scared at the sight of a new Sun,  
And muttering curses that the day  
Should drive him from his work  
away."

To those who are about to go Home on leave or retirement I would say and say again "Remember Sussex and the South Downs." It is often times urged that after one has left India for *good* (now is it altogether for *good*?) he hears the East—a-calling. That may be so, but at the same time it is equally true that after one has left Sussex—silly Sussex as some facetiously say—the lure of the South Downs still remains.







# তাকারিভিউ ও সামিলন

১১শ খণ্ড } ঢাকা—অগ্রহায়ণ ও পৌষ, ১৩২৮। } ৮ম ৯ম, সংখ্যা।

## নাটক।

(পূর্বপ্রকাশিতের পর)

এখন নাটকের পরিণামের কথা। এখানে সংস্কৃত আলঙ্কারিকগণের সহিত, আমাদের বাঙ্গালির প্রচলিত গ্রন্থিতর সহিত এবং ড্রাইডেন প্রভৃতি সমালোচকগণের “কাব্যে সুবিচার চাই” ইত্যাদি কথার সহিত আমাদের সম্পূর্ণ মতবিরোধ। উৎকৃষ্ট নীতি ও উৎকৃষ্ট নাটক একই শিক্ষা প্রদান করে, উভয়ই স্পষ্ট বাক্যে আমাদের মনে করিয়া দেয়,—“শেষের সে দিন ভয়ঙ্কর।” মনুষ্যজীবনের যে পরিণাম, সংসার-ভাঙিত মনুষ্য-জীবন চিত্রেরও তাহাই পরিণাম। ঐ যে জনাকীর্ণ সভাস্থলে ঘোর বাগ্মী স্বদেশী বিদেশী উভয়কে দক্ষিণে বামে কশাঘাত করিতেছেন, তাহার পরিণাম কি? আর ঐ যে পতিবিরোগ-বিধুরা-বন্ধীর-বালা, নীরবে অতি নীরবে, অশ্রুধারা বর্ষণ করিতেছে,—ইহারই বা পরিণাম কি? আর ঐ যে শত গ্রন্থিবন্দনা ভিখারিণী রোগ-শোক-জরা-জীর্ণা হইয়া রাজপণ পার্শ্বে পড়িয়া আছে, ইহার ক্ষণ কর্তব্যর কেহ

উহার রক্তহীন পাণ্ডুর ছবি কেহ দেখিয়াও দেখিতেছে না, উহারই বা পরিণাম কি? সকলেরই একই পরিণাম, সেই সার্বত্রিক পরিমিত ভূমি খণ্ডোপরি “দৃষ্টিহীন নাড়ী ক্ষণ, হিমকলেবর।”

এই জন্যই সকল ভাষারই উৎকৃষ্ট নাটকের পরিণাম সেইরূপ হৃদয় ভেদকর। নাটক বলিয়া নহে, উৎকৃষ্ট কাব্য যাদেরই পরিণাম এইরূপ। বাগ্মীকি ও ব্যাস-দেবের অদ্বৃত্ত গ্রন্থদ্বয়, হোমরের ইলিয়দ্ প্রভৃতি উৎকৃষ্ট কবিসৃষ্ট পৌরাণিক কাব্য বা মহাকাব্যগুলির পরিণামের বিষয় সকলই জানেন। সুতরাং নাটকের পরিণামও যে সেইরূপ ঘোর বিবাদ পূর্ণ হইবে তাহাতে আর আশ্চর্য্য কি? নাটকের বিবাদ পরিণাম সম্বন্ধে কয়েকটা আপত্তি আছে। আমরা বলিয়াছি যে “মৃত্যুরেব ন সংশয়ঃ” এই কথাই স্বাভাবিক এবং নাটকে তাহাই থাকে যাত্র। ইহাতে আপত্তি হইতে পারে যে, স্বাভাবিক হইলেই যে কাব্যোপযোগী হইবে, এমন কি কথা



আছে? বরং কবির সৃষ্টি সংসার সৃষ্টি হইতে সম্পূর্ণ পৃথক। কবি আবেগপূর্ণ চরিত্র সৃষ্টি করিয়া কল্পনার সাহায্যে মানব মণ্ডলীকে শিক্ষা প্রদান করেন। সুতরাং তাহার সংসার কৌশল সাম্প্রদায়িক না হইয়া বরং অনেকটা কাল্পনিক; সুতরাং কাব্যের পরিণাম সংসারের পরিণামের অনুরূপ না হইলেও ক্ষতি নাই। ষাঁহারা এইরূপ সৃষ্টিবাদ প্রদর্শন করেন এবং সঙ্গে সঙ্গে বলেন যে, “কাব্যশাস্ত্রবিনোদন কালো গচ্ছতি বীমতাম্,” ষাঁহাদের মতে কাব্যকলাপ তাস জীড়ার মত কাল কাটাইবার ও বিনোদনের সামগ্রী তাহাদের সহিত আমাদের কোন তর্ক নাই। কিন্তু ষাঁহারা শিক্ষাবলে কাব্যের উচ্চতর উদ্দেশ্য উপলব্ধি করিয়াছেন এবং মহর্ষি বাজীকি বা কৃষ্ণধিপায়নকে সংহিতাকারগণ অপেক্ষা আন্তরিক শ্রদ্ধা করেন, তাঁহাদিগকে অবশ্য স্বীকার করিতে হইবে যে, বিবাদ পরিণাম নাটক হইতে আমরা গভীরতর উপদেশ প্রাপ্ত হই, এবং সেই সকল উপদেশ গভীরতর ধাতে হৃদয়ে বহিতে থাকে। কেন থাকে তাহা পরে দেখান যাইতেছে। এক্ষণে আপত্তিকারিগণের আর দুই একটা হেতু বাদের কথা বলিব।

অনেকে বলিতে পারেন যে কবিগণকে নীতি-শিক্ষক বলিয়া স্বীকার করিলেও বিবাদ পরিণাম নাটক যে অল্প নাটক অপেক্ষা অধিকতর নীতিপূর্ণ একথা স্বীকার করা যায় না। প্রথম আপত্তি এই যে, সংসারে এত বিবাদ আছে যে, বিবাদে হৃদয় দ্রাবিত করিবার জন্য একরূপ কাব্য-নাটক পাঠের কোন প্রয়োজন নাই। এই তর্ক সারগর্ভ হইলে ইহাই প্রতিপন্ন হয়, যে সাগর দেখিয়াছে সে আবার বায়রণ বা কালিদাস হইতে কি সাগর বর্ণন পাঠ করিবে? যুবক যুবতী যদি বৃন্দাবন ভ্রমণ করিয়া থাকে, তবে তাহার আর জয়দেব ভারতী শ্রবণ করিয়া কি করিবে? ইহাই প্রতিপন্ন হয় যে—যখন সংসার রহিয়াছে তখন আবার কাব্য কেন? স্বভাব সৃষ্টিই যথেষ্ট ইহার উপর আবার কবির কল্পনা কেন? বাস্তবিক বিবেচনা করিতে গেলে কবির কাব্য একরূপ অপদার্থ পদার্থ নহে।

কাব্য-জগৎ এইজন্ম জীব-জগতের সার,—এখনকার ভাষায় বলিতে গেলে এসেন্স বা আরক। কাব্য-শোধিত সংসার এক অপূর্ণ সামগ্রী। কাব্যে যে তীব্রতা, যে উপকারিতা আছে, সংসারে তাহা নাই। কেন না সংসার যদি গোলাপ-বাগি হয়, তবে আমরা বলিব কাব্য আতর; আবার সংসার যদি জীবক হয় তবে কাব্য মহাদ্রাবক। কাব্য তীব্র বলিয়াই অধিকতর উপকারী। সুতরাং সংসারে বিবাদ আছে বলিয়া কাব্য নাটকে বিবাদ থাকিবার প্রয়োজন নাই, এ কথা সারগর্ভ নহে। সংসারে ভূমি আশি আছি বটে, আমাদের বিবাদও আছে, কিন্তু কাব্যে রাম ও হরিশ্চন্দ্র, জ্যোত ও হেমলেট, গুথেলো ও লীয়র, সীতা ও দেসদিমোনা আছেন, সংসারে সেরূপ কোথাও নাই। যে জন্ম কর্পূর থাকিতেও কর্পূরের আরকের প্রয়োজন সেই জন্মই কাব্যের প্রয়োজন। আর এক প্রকার আপত্তি আছে। কেহ কেহ বলিবেন যে বিরোধ পরিণাম নাটকের একটা মহান দোষ, এই যে, ইহাতে মনোমধ্যে সহানুভূতি সমুৎপন্ন হয়, অথচ তাহা হইতে কোন কার্য হয় না। এইরূপ বারংবার হইলে মনের এমনই একটা স্বভাব হইয়া উঠে যে, তাহাতে কেবল সহানুভূতিই হইতে থাকে, সেই চিন্তাবেশ কখনও কার্যে পরিণত হয় না। ঐ কথাটি সম্পূর্ণ মজ্জা স্বভাবের গতির বিপরীত কথা। মহাবীর আলেকজান্ডার জপমালার মত হোমরের অন্তর্ভুক্ত তাঁহার সঙ্গে সঙ্গে রাখিতেন; একরূপ প্রবাদও আছে যে, উহার সমস্তই তাঁহার কণ্ঠস্থ ছিল। কে বলিবে যে সেই বীররসাত্মক মহাকাব্য পুনঃপুনঃ পাঠ করিয়া তাঁহার হৃদয়ে কেবল বীররসের উদ্বাপনা হইত, কখন প্রবর্তনা হইত না। মহাবীর নেপোলিয়ন সেইরূপ জুলিসের স্বরচিত ইতিহাস অত্যন্ত ভাল বাসিতেন। নেপোলিয়ন কি কিছুই বীরের কার্য করেন নাই? চৈতন্যদেব দ্বিবারাঙ্গি বিদ্যাপতি চণ্ডী-দাস প্রভৃতির কৃষ্ণ ভক্তির পদাবলী পাঠ করিতেন। গৌরঙ্গ কি কেবল ভক্তিতেই অভিভূত রহিয়া ছিলেন, কোন কার্য করেন নাই? বালক বালিকার মনে মত



ভয়ের ভাব উপােন করিবে, কার্যকালে তাহারা তত ভীত থাকিবে। সংস্কৃতে আলঙ্কারিকগণেরও এই মত। তাহারা বলেন যে, কোন রসের স্থায়িতাব হইতেই কাব্যের উৎপত্তি হয় এবং সকল কাব্যেই প্রধান উদ্দেশ্য হৃদয় মধ্যে স্থায়িতাবের উদ্দীপনা। উৎকৃষ্ট নাটকের স্থায়িতাব শোক। যিনি কাব্যের লুক্কিশিয়া বা জৌপদৌ দেখিয়া শোকতপ্ত হইয়া রহিয়াছেন, সে নব্য টারকুইন বা জয়দ্রথ দেখিলে অবশ্য তাহার আক্রমণ বিকল করিতে অগ্রসর হইবে। আরও এক প্রকার আপত্তি আছে। প্রকৃত প্রস্তাবে সেটি আপত্তি নহে, আব্দার। অনেকে অবদার করেন যে, ভগবানের সৃষ্টিতে স্রুবিচার হউক না হউক, অন্ততঃ কাব্যে স্রুবিচার চাই। এ সকল কাব্যপ্রিয় শিশু প্রকৃতির সমালোচক মহর্ষি বাহ্ম্যাকিকে দেখিতে পাইলে এইরূপ সংপরামর্শ প্রদান করিতে প্রস্তুত আছেন,—‘মহর্ষে! আপনি আপনার মহাকাব্যের পরিণামে সীতাদেবীকে পাতালগতা করাইয়া স্রুবিচারকের কার্য্য করেন নাই! আহা! সেই দিন যদি রামচন্দ্র সীতা সতীকে বাসে বসাইতেন, আর কুশীলব যদি তাঁহাদের সম্মুখে উপবিষ্ট হইত, তাহা হইলে কি শোভা হইত! কি আশ্চর্য্যের কথা হইত! আবার কিছুদিন পরে অষ্ট ভ্রাতার বিবাহের পর সীতা ভগিনী জয় সহ নবদম্পতী চতুষ্টিয়কে বরণ করিয়া গৃহে লইতেছেন, দেখিতে কি সুন্দর হইত!’ এই সকল সমালোচকের ইচ্ছা যে, নিমজ্জমানা ওফেলিয়াকে কোন ধীর গৃহে লইয়া গিয়া রাখে, আর হেমলেট লোয়ার্টসকে বধ করিয়া ও ক্লাদিয়সকে কারাকন্দ করিয়া পোরার বাঞ্ছনা বাঞ্ছিয়া তাঁহাকে বিবাহ করিয়া লইয়া আসেন। ইহাদেয় ইচ্ছা যে, বৃদ্ধ লায়র কর্দ্দেলিয়াস পুত্রকে জোড়ে করিয়া তাহার বড় মাসীদের রীতি চরিত্রের ব্যাখ্যা করেন। ইহাদেয় ইচ্ছা যে, দ্রৌবধ্যোত্ত ভবেলোর নিকটে কঠাগত প্রাণ ইয়াগো মুর্মূজিতেও আপনার ষড়যন্ত্রের কথা স্বীকার করে এবং যেরূপ একটি ক্ষুদ্র শিশু ষাপরের ভাত্রাষ্টমীর মিনীখে বাসুদেবের জোড় হইতে যমুনার স্নান হইয়া পড়িয়াছিল, কিছুদিন

পরে সেইরূপ একটি নীলকান্ত কাল মাণিক ওথেলোর অঙ্ক হইতে বেশদিমোনার গলা জড়াইয়া ধরে। এ সকল আব্দার বালকের মুখে শুনিতে যন্দ শুনা যায় না। কিন্তু বখায় সমালোচকগণ যখন ড্রাইডেনের চরিত্র চর্চণ করিতে করিতে কুন্দনন্দিনীর সমালোচনার উপলক্ষে এই সকল কথা উল্লেখ করেন, তখন আমরা হাত সংবরণ করিতে পারি না।

যদি কর্দ্দেলিয়াস আবার বাঁচিয়া উঠিতেন, তবে লায়র বাহা বলিয়াছিলেন বাস্তবিক তাহাই প্রকৃত হইত। তাহা হইলে লায়রের যে এত শোক তাহা কেবল উপজ্ঞানের রচনা ভঙ্গী মাত্র, আর কিছুই নহে। সেক্ষণের কিন্তু তাহার উৎকৃষ্ট কাব্য কল্পনামিতে সে প্রকার উপজ্ঞান রচনার চেষ্টা করেন নাই। তিনি এক এক খানিতে এক একটি গভীর রসের অবতারণা করিয়া গিয়াছেন। আকি লায়রের লজ্জা কাঁদিতোঁছি, কাল আবার লায়রের দৌহিত্রের সঙ্গে কোঁজুকলাপ দেখিয়া আশ্চর্য্য হইতেছি, একজন কাব্য লায়র নাটক নহে। লায়রের লজ্জা যে দুঃখ তাহা আমাদের হৃদয়ে চির-অঙ্কিত রহিয়াছে। সেইরূপ হেমলেট, সেইরূপ ওথেলো। সমস্ত শকুন্তলাকে যখন দুঃখ পরি-বর্জন করেন, তখন কেবল দুর্দাসার উপরেই ক্রোধ হয়, শকুন্তলার লজ্জা তত দুঃখ হয় না, কেন না জানি যে আবার সেই রামদম্পতীর মিলন হইবে। কিন্তু চির-দুঃখিনী সীতার দুঃখের কথা শ্রবণে আছে বলিয়া অত্মপি কেহ আপন কজ্জার নাম সীতা রাখিতে পারে না। আমাদের পূর্ব্বতন মহর্ষিগণ বা পাশ্চাত্য কবিগণ যদি এখনকার যাত্রাকারগণের মত যুগলরূপের মিলন করিয়া সকল কাব্যের সমাপ্তি করিতেন, তাহা হইলে করুণ রসের স্থায়িতাব আমরা কাব্যে কখনই দেখিতে পাইতাম না। তাহা হইলে হৃদয়ের প্রধান শিক্ষার অভাব থাকিত। হৃদয়ের প্রধান শিক্ষা এই রোগ-শোক-দুঃখ-দারিদ্র্য জড়া-জড়িত সংসারে, মানব হৃদয়ের প্রধান শিক্ষা করুণ রসের স্থায়িতাবে। যে পরের দুঃখ দেখিয়া অন্তরের সহিত চিরদিন কাঁদিতে পারে, কখনও ভুলে না, ইহৎপক্ষে তাহার নীতিশিক্ষার



পরাকর্ষ্য হইয়াছে। একদিন ছিল, এক কাল ছিল, যখন আর্ধ্যসত্ত্বান সেইরূপ উচ্চ শিক্ষা লাভ করিয়া পরের জন্ত প্রাণ দিতে অগ্রসর হইতেন! তখন আর্ধ্যসত্ত্বান বুঝিতেন যে, যে নদীতে জল ডালকে যায়, আবার এদিকে আসে, তাহা জোয়ার ভাটার নদী, সমুদ্র উচ্ছ্বাসের লীলাখেলার সামগ্রী, কিন্তু কখনই গভীর নারেন্দ্র প্রপাতের মত আত্মার উচ্ছ্বাসক নহে। তখনই রামায়ণ মহাভারতের সৃষ্টি হয়। তাহার পর আর্ধ্যের অধঃপতন। এই অধঃপতনের পর না হইলে ভবভূতি কখনই রামসীতার পুনর্মিলনের কল্পনা করিয়া বালকবৃন্দের করতালির প্রত্যাশায় দণ্ডায়মান হইতেন না। তদবধি আমরা অধঃপাতে বাইতেছি, তাহাতেই আমরা এখন শোকের স্থায়িত্ব বরপূরক পরিহার করি। আর তাহাতেই নীলদর্পণ আমাদের তত ভাল লাগে না। বাস্তবিক ভারতবাসীর এখন আর হৃদয় নাই, ধর্ম নাই, আবেগ নাই। তীব্রতর, কঠোরতর, গভীরতর, গভীরতর, ভাব প্রকৃতিতে কিছুই নাই। এখন বালকের মত কখন তাহিয়া তাহিয়া আছে; কখন বা “ধাবার ঘেনা” করিয়া মা মা করিয়া উচরবে চীৎকার আছে; কখন বা দিলি না বলিয়া কেশাকর্ষণ করিয়া ভূমে গড়াগড়ি আছে; আর কখন বা বজ্রতে সর্প বোঝ করিয়া ভয়ে লড়সড় হইয়া মুদিত নখনে অবস্থান করা আছে। সকলই বালকের মত। জ্বর মধ্যে কোন ভাবেরই স্থায়িত্ব নাই, গভীরতা নাই, প্রগাঢ়তা নাই। জলতলে শৈবালরাগির স্নায় আমাদের হৃদয় ভাব সকল শবনদেবের স্বেচ্ছাচার ফুৎকারে উত্তর দক্ষিণ পূর্ব পশ্চিমে ঘাইতেছে। ভ্রামের ত্রিবেণী বন্ধনের ত্রায়, ভগীরথের গঙ্গা আনয়নের ত্রায়, গাখানে গভীর ঋতে ক্ষোদিত নদীশব্দায় মত চিরদিন একদিকে বহে না।

আমরা পূর্বেই বলিয়াছি, মানসিক আবেগের বা অন্তঃপ্রকৃতির উচ্ছলিত তরঙ্গের বাত প্রতিঘাতই নাটকের জীবন। এখন আর আমাদের অন্তঃপ্রকৃতির প্রকৃত আবেগ নাই। মানসিক হ্রদ সামান্য কুলকলি আছে, কিন্তু গভীর প্রপাতের সহিত কল্লোল নাই।

আমরা এখন বাতুলের মত হাসিতে হাসিতে কানিয়া ফেলি, কানিতে কানিতে হাসিয়া ফেলি। স্মৃতরাং আমাদের মধ্যে এখন উৎকৃষ্ট নাটকের প্রত্যাশাও করা বাইতে পারে না। ভাল নাটক যে হয় না, সে এখন আমাদের জাতীয় প্রকৃতির বৈশিষ্ট্য হেতু; কেবল গ্রন্থকারগণের দোষ নহে। এই জন্ত আমাদের দেশে ভাল নাটক হয় নাই। অথচ ভাল গ্রন্থসন হইয়াছে। এরূপ গ্রন্থসন অল্প কোন দেশে আছে কি না সন্দেহ। কবি মধুসূদনের কৃষ্ণকুমারী, পদ্মাবতী, শর্মিষ্ঠা নাটক গণনায় কোথায় স্থান পায় তাহা নির্দেশ করাও কঠিন; কিন্তু দস্তদ্বন্দ্বিত “একেই কি বলে সভ্যতা” ও “বৃদ্ধ শালিকের ঘাড়ের রৌ” নামক গ্রন্থদ্বয় গ্রন্থসনের আদর্শ। আবেগপূর্ণ মানব চরিত্রের কিছুই তাহাতে নাই।

তাহার পর পণ্ডিতবর রামনারায়ণ তর্করত্ন বিবেচনা করিতে গেলে তিনি পণ্ডিতের পদ্ধতিতে গ্রন্থসনের কবি, নাটকের কেহ নহেন। তাহার ‘কুলীনকুল সর্বস্ব’ পাঠ করিলে, কুলীন কন্যাগণের কথাবার্তা শুনিলে, যেমন সকলই গড়াগড়ি বলিয়া বোধ হয়, মর্ম্মকথা যেরূপ কর্ণে বাজে সেরূপ হয় না। তাহার নায়িকার মধ্যে একটি বিবাহের কথা শুনিয়া বলিলেন—

“লাহুরী বাইয়া বুঝি কাহুরী ঘাট।

পাইবে সুন্দর বর সুন্দরীর কাঠ।”

স্মৃতরাং তর্করত্নের নাটক বিষাদ পরিণাম হইয়াও একরূপ গ্রন্থসন। তর্করত্নের নাগিতিনী ভাল, যখন সে অলস্তক সজ্জা লইয়া—

“বাড়ী মোর বংশীপুরে, দেবা যায় কিছু দূরে,  
যেরা ঘোরা ঘর ছই খানি।”

বলিয়া আত্মপরিচয় দিতে দিতে রজাঙ্গণে প্রবেশ করে, তখন আমরা তাহাকে ভারতের হীরায় সহচরী করিতে প্রস্তুত হই, আর তাহার উদর পরায়ণ শর্ম্মা যখন—

“যিয়ে ভাঙ্গা তপ্ত মূর্তি, দুচারি আদার কুচি  
কচুরি তাহাতে খান হুই”

বলিয়া উত্তম কলার বর্ণনা করিতে থাকেন, তখন



তর্করত্নের নরম লেখনীর গুণে সত্য সত্যই আমাদের 'রসনা বসাল হইয়া উঠে, এবং পণ্ডিতবর রামানারায়ণকে বৈদিক-কুল-চূড়ামণি বলিয়াই বোধ হয়। তর্করত্নের নব নাটকও সেই;—নাটক নহে, প্রহসন। নবনাটকের সকল কথা ভুলিয়া গিয়াছি, কিন্তু গবেশ বাবুকে ভুলি নাই।

তাহার পর দীনবন্ধু। দীনবন্ধু এককালে প্রকৃত দীনবন্ধু ছিলেন। প্রসিদ্ধিত প্রকার জ্ঞান দীনবন্ধু বাহা করিয়াছেন, এখন পর্য্যন্ত বাঙ্গালার কোন গ্রন্থকার তাহা করেন নাই। তাহার অক্ষয় কীর্ত্তি—সেই নীলদর্পণ। অনেকে মনে করেন যে, নীলদর্পণ কেবল সাময়িক তরঙ্গের উচ্চাশ্রয় মাত্র; এই কথাটা কতক দূর সত্য হইলেও সম্পূর্ণ সত্য নহে। নীলদর্পণ যদি সত্য সত্যই একদিন বা দশদিনের জ্ঞান হইত, যদি নেতুবর্গের অভ্যুত্থার কেবল এক দেশেই পর্য্যাপ্ত হইত, তাহা হইলে এ সংসার সোণার সংসার, এ ভারত সোণার ভারত। আমেরিকায় যে ধোরতর যুদ্ধ হইয়াছিল, তাহাও একরূপ নীলদর্পণের অভিনয়। তবে সেখানে শত সহস্র বিদ্যুৎমাধব ও নবীনমাধব একবারে উত্থান করিয়াছিলেন, আর এখানে কেচিৎ এক আধ জন দেখা দেন এইমাত্র প্রভেদ, বহুদিন হইল মিস্ টোয়ে অঙ্কল টেম্‌স্‌ কাবিন লিখিয়াছেন, তাহাও নীলদর্পণ—আর ব্রিটিশ গায়েরনার শ্রমজীবী গৃহস্থগণের কষ্ট বর্ণনা করিয়া একজন বিলাতের বারিষ্টার যে কুলী নামক গ্রন্থ প্রণয়ন করিয়াছেন, তাহাও নীলদর্পণ।

দীনবন্ধু বাঙ্গালার উৎকৃষ্ট নাটককার। কিন্তু দুর্ভাগ্য ক্রমে নীলদর্পণ রচনার পর হইতেই তাহার কাব্যরস তরল হইতে থাকে। তাহার পরিচয়—সম্ভবায় একাদশী। তাহার নিমেষদন্ত কবির একটি অদ্ভুত সৃষ্টি। নিমেষদন্ত স্বর্গভ্রষ্ট সন্ন্যাস, তাহার সম্মুখে কাচপাত্রে নরকাগ্নি; নিমিচাঁদ, এখন আর স্বর্গে অধিকার নাই বলিয়া স্বর্গের উপর রাগ করিয়া, অবাধে সেই নরকাগ্নি দিবারাত্রি গলাধঃকরণ করিতেছে। এই স্বর্গ-নরক সমষ্টিকে দীনবন্ধু ভরলম্বিত বন্দী যুবকের দলে স্থাপিত করিয়াছেন। সুতরাং তাহার নিমিচাঁদ, পূর্ণকলেবর

হইয়াও ক্ষুধি পায় নাই। নিমিচাঁদের প্রয়োজন ছিল কেবল এক নরকাগ্নি। এ স্বর্গভ্রষ্ট সন্ন্যাসে তাহার অভাব কোথায়। যে নরকাগ্নি হরিশ্চন্দ্রকে অকালে অতলে গইয়া গেল, যে অগ্নিতে রামগোপাল এতদিন দগ্ধ হইয়াছিলেন, তাহা অমূল্যমান করিতে অটলের টেবিলে, গোকুলের উপবনে, কাঞ্চনের ভবনে, নিমিচাঁদকে পাঠান কেন? নিমিচাঁদকে সেই হরিশ্চ, সেই রামগোপাল মধ্যে স্থাপিত করিতে হয়। তবে নিমিচাঁদ ক্ষুধি পাইত। আর নীলদর্পণকার যেরূপ পল্লীগোমের চিত্র প্রদর্শন করিয়াছিলেন, সেইরূপ নাগরিক চিত্রের পরাকাষ্ঠা প্রদর্শন করিয়া অধিকতর যশস্বী হইতেন। তাহা হয় নাই; দীনবন্ধু ক্রমেই তরলভাব অবলম্বন করেন। সেই জ্ঞান তিনি নবীনতপস্বিনীতে নাটক লিখিতে প্রহসন করিয়াছেন, আবার জামাইবারিক প্রহসন লিখিতে গিয়া নাটক করিয়াছেন। তাহার লৌণাবতীর নায়ক নায়িকাকে যত না মনে পড়ে, তাহার নদের-চাঁদকে তাহার অধিক মনে পড়ে। প্রহসনে দীনবন্ধু অধিতীয়।

তাহার পর নয়শোরপেয়াকার। তাহার নায়ক নায়িকা ঠিক লৌণাবতীর মত, কিন্তু তাহার সাভুলাল একটি প্রকৃত শোণিত চিত্র। একসম্প্রদায় সমালোচক বলিয়াছেন, সাভুলাল গাঙ্গায় নিমিচাঁদ। সুতরাং বাঙ্গালার পূর্বতন নাটককারগণ সকলেই প্রহসন পট্ট। কেবল এক নীলদর্পণকারই প্রগাঢ় ও নীলদর্পণ প্রকৃত নাটক-পদ বাচ্য।

মহুয়া নানারূপে ভাঙিত। সংসার-ভাঙিত মানব বিশেষের পরিবর্তন ও পরিণাম প্রদর্শন করা নাটকের উদ্দেশ্য। মহুয়া ফলের আবেগ প্রসঙ্গের চলাচলে এই পরিবর্তন হইয়া থাকে। জীব-শরীরে শোণিত সফালন যেমন জীবনী শক্তির মূল; আবেগ চলাচল সেইরূপ নাটকের জীবন। আবেগ পূর্ণ কথোপকথন বা স্বগত আশ্চর্য্যিত পরীক্ষা বা কঠোচ্চাশ্রয় নাটকের শরীর। তরলায়িত বা ছন্দোবদ্ধ রচনাই নাটকের উপযুক্ত পরিচ্ছদ। অস্ত পরিচ্ছদে একরূপ চলে, কিন্তু সাজে না। উৎকৃষ্ট নাটকের পরিণাম অতীব শোককর; একরূপ না



হইলে ভাবের প্রগাঢ়তা হয় না, এবং রসের স্থায়িত্ব হয় না।

উৎকৃষ্ট কাব্য নাটক রচনার জন্য ভাষার প্রগাঢ়তা অবলম্বন করা আমাদের নিত্যান্ত কর্তব্য। নহিলে রসের ঘনীভাব হয় না। ভাষার প্রগাঢ়তা হইতে আমাদের ভাবের গভীরতা হইবে, তাহা হইলে ক্রমে ক্রমে আমরা কার্যকর মনুষ্য হইব। এখন আমাদের ধ্বংসপ্রাপ্ত ভাষা, আর ধ্বংসপ্রাপ্ত এলায়িত ভাষা, ইহাতে উৎকৃষ্ট কাব্য নাটকের উৎপত্তি হওয়াই অসম্ভব। ভাল প্রহসন হইতে পারে, তাহাই হইয়াছে। মধুসূদন, রামনারায়ণ, দীনবন্ধু, ইহারা সকলেই প্রহসন লেখক। প্রহসনে বাঙ্গালা অধিতীয়। আধুনিক বাঙ্গালা নাটকে কেবল দুই এক খানি ব্যতীত সকল গুলিই অসার। যেখানে

দেশহিতৈষিতা উদ্দীপনের চেষ্টা সেখানে গ্রন্থকার প্রায়ই অকৃতকার্য। বাঙ্গালি দেশহিতৈষিতা কহিতে শিখিয়াছে, মর্শ্বকথার দার্ঘ্যবশে এখনও অপরের হৃদয়ে দেশ বাৎসল্য উদ্দীপন করিতে শিখে নাই। কোমল বাঙ্গালি একটু কোমল প্রণয় লিপিতে বলিতে শিখিয়াছে। অপকৃষ্ট নাটকগুলি তাই লইয়াই ব্যস্ত। কিন্তু আমরা পূর্বে বলিয়াছি, আবারও বলি—মর্শ্বের যার পীড়া, গাত্রে যার কশাঘাত, গৃহে যার অন্নকষ্ট, বাহিরে যার দণ্ডবিধি, মন্তকে যার অগ্নিরিতি, পদে পদে যার বিপদ, সে কেন আধার তালে কবিতা রূপিনীতে প্রণয়ের গীত গাইয়া বেড়ায়? বঙ্গবাসিন্ একবার প্রগাঢ় ভাষায় কঠোরভাবে উদ্দীপন করিবার চেষ্টা কর দেখি।

৩কালীপ্রসন্ন বিদ্যাসাগর।

## বীরের পত্নী।

( একটি ইংরেজী কবিতার ভাবানুবাদ । )

সেনাপতি যবে দেশ-জন্যের রক্ষা করিতে যান—  
বীরের মতন সমর-ক্ষেত্রে করিল জীবন দান,  
চারিদিকে উঠে ক্রন্দন-ধ্বনি—জাগে মহা-হাওয়ার,  
আশার গগন ফেলিল ঢাকিয়া শোকের জলদ তার।  
সন্মানভরে শবদেহ তার আনিল নগরে যবে,  
মানাদিক হতে স্রোতের মতন আসে নবনারী সবে।  
বেদনা-মখিত সব অন্তর—যুখে নাই কারো বাণী,  
আঁধারে লুকায় নীরবে প্রকৃতি নীল-আবরণ টানি।  
মৃত-স্বামী পাশে স্থির-চিতে যবে আসে বীরে বীর-জায়া,  
পরিণাম তার ভাবিয়া সবার মুখে পড়ে কালো ছায়া।  
কল্পনার কারো চোখে আসে জল, কাণাকাণি করে কেহ,  
ভাবে বুঝি শোকে নিমেষে বালায় ধলায় লুটিবে দেহ।

অচল অটল রাহিল রমণী—পড়িল না ভূমে লুটি,  
বাহিরি এল না অশ্রুর ধারা নয়নের বাঁধ টুটি।  
হেরিয়া বালার অপক্লম ভাব বলে ভক্তের দল—  
‘যার স্বামী-শোকে কাঁদিলে সকলে তার নাই চোখে জল।  
এমন নিষ্ঠুর কঠিন কঠোর রমণী কেমনে হয়?  
কুম্বের বুকে কালসাপ একি গোপনে লুকায়ে রয়!’  
বীর-জায়া কোলে শিশুকুমারেরে তুসে দিল যবে দাসী,  
অমনি বেদন মলিয়া অশ্রু বাহিরিল বেগে আসি।  
শিশুপানে চাহি কহিল রমণী—‘তুই যে প্রেমের দান,  
রক্ষা করিতে তোরেই নিয়ত রাখিব এ ছাড়-প্রাণ।  
যতদিন তুই না হবি মামুষ তোরই কল্যাণ তরে—  
যাতনার জালা গোপন রাখিয়া চলিব ধৈর্য ধরে।’

পুলকে ভরিল সব অন্তর—চিরতরে হৃদি-পটে—

জগে রবে বাণী—‘হাঁ এ রমণী বীরেরই যোগ্য বটে!’

শ্রীশ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ।



## জাত না যায়

( পন্ন )

সেটা আজ কএক বছরের কথা, ইষ্টারের ছুটিতে মেসের পাঁচটি সেকেন্ড ইয়ারের (Second year) ছেলের সখ হল পল্লীগাম দেখতে দেখতে পছন্দে রাণাবাট দেখতে যাওয়া। যেমনি ইচ্ছা—অমনি কিছু জলযোগ করে বেরিয়ে পড়া—তখন বেলা সাতটা। মেসের ঝি-ঠাকুরকে উপদেশ দেওয়া হল, রাতের ধাবার যেন প্রস্তুত থাকে।

প্রথমটা খুব সুর্জিতে মাঠ, ঘাট, পল্লীশোভা, পল্লীর শ্রাবল সৌন্দর্য্য, আনন্দগুলির সৌরভ, চাষীর গান, পল্লীবধু, ধোলা হাওয়া, অসীম আকাশ, উন্মুক্ত প্রান্তর দেখতে দেখতে কখনও বা Wordsworth এর কবিতা কোট করতে করতে প্রায় তিন ক্রোশ পথ বেশ উৎসাহে কেটে গেল। তারপর ছায়ালীল পথ আর বাগান খুঁজে খুঁজে চন্দা আরম্ভ হল। ক্রমে পিপাসা, পরে ক্ষুধা, শেষে শ্রান্তি এসে যেন যাত্রা পথ রোধ করে দাঁড়াতে লাগল। অগত্যা তারা কখনে একটি সান বাঁধান পুকুরের ঘাটে, বটের ছায়ার বিশ্রামের জন্য বসলো, ইচ্ছা কাকেও না জিজ্ঞাসা করে আর একপাণ্ড এগোন হবে না। পুকুরের ওপার থেকেই হৃদয়ে বড় বড় গাছের সাগ দেওয়া ছায়া মাখান বেশ একটি প্রসস্ত পথ আরম্ভ হয়েছে। তারা ভাবলে এইবার রাণাবাটের সীমায় পৌছেছি। তখন বেলা সাড়ে বারটা কি একটা।

সেই পথে একজন লোককে যেতে দেখে একজন জিজ্ঞাসা করলে,—“মশাই, আর কতটা গেলে রাণাবাট?” এই ‘মশাই’ কথাটা অনেক ইতস্ততঃ করেই ব্যবহার করা হয়েছিল, কারণ জুতোর বদলে লোকটির পায়ে এক পা ধূল, জামার বদলে পায়ে একগা ঘাম, চাদরের পরিবর্তে একখানা ভিজে গায়ছা—বিরল বেশ মন্তকটিকে হুপুয়ের প্রচণ্ড রৌদ থেকে রক্ষা করছিল। একহাতে একটি লাউ আর বগলে লাউ শাপ। ‘মশাই’ বলার

সময়ে ডানহাতে একখানা মোটা বাঁধান বই আর গলার পৈতা ছিল মাত্র।

তিনি যে তাদের প্রশ্ন শুনে কেবল থমকে দাঁড়িয়ে পড়লেন জান্ন—হাঁ করে তাদের দেখতেও লাগলেন। পরে জিজ্ঞাসা করলেন, “তোমারা কোথা থেকে আসছ বাবা?”

“একজন বললে, কলকাতা থেকে।”

তিনি আবার প্রশ্ন করলেন, “কোন বিশেষ কাজে কি রাণাবাট যাওয়া হচ্ছিল?”

আর একটি ছেলে উত্তর দিলে “না—এই ছুটির বন্ধে বেড়াতে আসা।” লোকটি হেসে বললে, তোমাদের রাস্তা বলে দিয়েছিলেন কে? এষে বাঁরাসাতে এসেছ—তা বেশ হয়েছে, আমার বাড়ী এই নিকটেই, চল সেইখানেই বিশ্রাম করবে।

যুবক কয়টি বোকার মত এ ওর মুখ চাওয়া চাওই করতে লাগল। লোকটি হেসে বললেন, “তা আর হয়েছে কি, ছুটির বেড়ান, কোন কতি তো নেই, নতুন জায়গা দেখা নিয়ে কথা। উঠে পড় বাবা, অনেক বেলা হয়ে গেছে যাওয়া দাওয়া হয়নি।”

সে সময় তা ছাড়া আর উপায়ও ছিল না—তারা লোকটির সঙ্গে সঙ্গে চলল। সকলে লোকটির বাড়ী পৌছে দেখে, বহির্কোণীতে গরু বাছুর, ধানের গোলা, বাঁধান পাকা কোয়া আর সুন্দর পরিষ্কার চণ্ডীমণ্ডপের হুপাশে দুখানি ঘর—একটু তফাতে অন্দরমহল, তাতে কএকখানি কোঠা ঘর, পশ্চাতে পুষ্করিণী আর প্রকাণ্ড আম কাঁঠালের বাগান। যুবকেরা নান করে এসেছিল, হুটি রুবাণ চাকর হাত মুখ ধোবার জল দিলে, আর চণ্ডীমণ্ডপে সুন্দর সপ বিছিয়ে পাঁচটি তাকিয়া এনে দিলে। ইতিমধ্যে গৃহকর্তা পাঁচটি ডাব, পাতঙ্গুর, আর নারিকেল লাড়ু এনে জল খেতে দিলেন। চাকরেরা ষিড়কীর পুকুরে হাছ ধরতে জাল নিয়ে গেল।



জলযোগ করে খুবকদের নাড়ী এলো। তারা পান মুখে দিয়ে এদিক ওদিক দেখতে দেখতে পাশের ঘর দুটিতে নজর পড়ায় দেখে সাত আলমারী ঠাণ্ডা বই। তাদের খুব কৌতূহল হওয়ায় গৃহকর্তা হেসে বললেন, “বাও দেখগে, কোন সঙ্কোচ নেই যেখানে ইচ্ছা এনে পড়তে পার।” তারা গিয়ে দেখে চমক, হোমার, দান্তে, লক্‌পেঙ্কে আরম্ভ করে বেন্‌, হব্‌সলে, স্পেন্সার টেনিসন কেউ বাদ যান নি। একটা আলমারীতে বক্সমস্ট্রে, রবীন্দ্রনাথ, মাটকেল, বিবেকানন্দ, গিরীশচন্দ্র এই সব শ্রেষ্ঠ বাঙ্গলা লেখকগণের গ্রন্থে পূর্ণ। তারা অবাক হয়ে মুখ চাওয়া চাওয়া করতে লাগল। গৃহকর্তা হেসে বললেন, “আহারের একটু বিলম্ব আছে, ততক্ষণ কিছু পড়বে কি কিছু শুনেবে?” ছেলেরা সম্মত হয়ে বলে উঠল, “আমরা কিছু শোনবার জন্তেই উৎসুক হয়েছি। কলকর্তার বাইরে যে এসব দেখতে পাওয়া যায় সে ধারণা আমাদের ছিল না—এসব কি আপনারই!”

গৃহকর্তা আবার হাসতে হাসতে বললেন, “হাঁ, যে কদিন বেচে আছি—তাই বটে।” তাদের মধ্যে বয়সে সবচেয়ে বড় যে ছিল সে বললে, “আমাদের কথা করবেন—আপনাকে দেখে আমরা আগে এতটা ভাবতে পারিনি,—অপরাধ করেছি।”

গৃহকর্তা সহাস্যে বললেন, “দেত ন: পারবারই কথা, তাতে ত অন্তায় কিছুই হয় নি। আমি যে কি করে লাভ বাঁচিয়েছি, সেইটেই তবে বলি শোন।” ছেলেরা অবাক হয়ে তাঁর মুখের দিকে তাকিয়ে যেন একটা কিছু আশ্চর্য্য আবিষ্কারের আশায় উদ্‌গীর হয়ে রইল। তিনি বলতে আরম্ভ করলেন—

—“আমি English এ M.A. পাশ করবার পর কলকাতা কোন এক কলেজে অধ্যাপক নিযুক্ত হই। বছর দেড়েক কাজ করেছি, এমন সময় একদিন একজন বিশিষ্ট শিক্ষিত লোক আমাদের কলেজে বেড়াতে এলেন—আমি তখন Second year ক্লাসে প্যারাডাইস লস্ট (Paradise Lost) পড়াচ্ছিলুম। তিনি হাসতে হাসতে আমার ক্লাসেই এসে চুকলেন, তাঁকে চিনতুম না,—কিন্তু মুতি চান্দর পর। হলেও তাঁকে দেখে

দাঁড়িয়ে উঠতে হল। সে চেহারার এমন একটা স্মন্দর ভাব, তেজব্যাক্ত সৌম্যতা, আর সে চোখে এমন একটা দীপ্তি ছিল যে, তা সকলের কাছেই সম্মান আদায় করে ছাড়তো। তিনি আমাকে বললেন, “ভূমি বুঝি প্রফেসার অনুক! তোমার M.A. রেজাল্ট দেখে অবধি তোমাকে একবার দেখতে বড় ইচ্ছা হয়েছিল। আজ বড় আনন্দ হল। কি পড়াচ্ছিলেন—প্যারাডাইসলস্ট (Paradise Lost) স্থানে স্থানে মিটনের কি ইন্সপিরেশন্‌ই এসেছিল। দাঁড়িয়ে রইলে কেন? বস।” আমি চেয়ার খান ছেড়ে দিয়ে একখানা টুল নিয়ে বসলুম। তিনি হেসে বললেন, ‘আমি অত বড় লোক নইহে।’ পরে আমার বহু অনুরোধে সেই চেয়ারেই বসলেন, আর আমাকে বললেন,—‘তোমাদের ছাত্রদের সঙ্গে একটু আলাপ করতে পারি?’ আমি বললুম—সে কি কথা! আপনারা উৎসাহ না দিলে হবে কেন?’

“তিনি তখন ছেলের দিকে চেয়ে বললেন, ‘তোমাদের সঙ্গে খানিকক্ষণ দুচারটে কথার আলোচনা করা যাক! তোমরাই আমাদের দেশের ভাবী আশা ওরসা। দেশ তোমাদের মুখ চেয়ে আছে; কারণ আমি আশা করি তোমাদের সময় দেশের অনেক কাজই তোমাদের হাতে আসবে। স্তত্রাং ভারত সম্বন্ধে অন্ততঃ বাঙ্গলাদেশ সম্বন্ধে তোমাদের এখন থেকে সজাগ থাকতে হবে। অর্থাৎ আমাদের কোথায় কি ছিল, কোন কোন মহাত্মারা দেশের জন্তে কি করেছিলেন, কে কি সম্বন্ধে যে কোন দেশের বিখ্যাত মনীষীদের সঙ্গে একাসন পেতে পারেন এই সব জানা তোমাদের আবশ্যিক তত্ত্বির তাঁদের সম্বন্ধে ধারণাগুলি ঠিক ঠিক হওয়া দরকার। আমি আজ সেই সম্বন্ধে দুচারটে খুব সহজ আর সাধারণ প্রশ্নের অবতারণা করছি—কেবলমাত্র আমার মনের ভাবটা তোমাদের বোঝাবার জন্তে।’ এই বলে ছেলের তিনি স্তর ওয়ালটার র্যাগে কে ছিলেন—তাঁর জন্মস্থান কোথায় ছিল, তিনি কি কি উল্লেখযোগ্য কাজ করেছিলেন; ‘ওয়াশিংটন সম্বন্ধে কি জানা আছে, বেকট সম্বন্ধে কি জান প্রভৃতি প্রশ্ন করে সন্তোষজনক উত্তর পেয়ে খুবই আনন্দ প্রকাশ



করলেন। তারপর প্রশ্ন করলেন, চার্লস কাট্টের মাথাটা যে কেটে ফেলেছিল তার নাম কি ছিল।” প্রেসবাইটেরিয়ান, ক্যাথলিক ইংলিশ প্রভৃতি চার্চের বর্ষ সম্বন্ধে প্রভেদ কি; “হোমার লংকেলো ওয়ার্ডসওয়ার্থ প্রভৃতি কবিদিগের জন্মস্থান কোথায় আর তাঁদের ছুটার লাইন করে কবিতা আবৃত্তি করতে বললেন, কিন্তু, কোন ছেলেকেই ঠকাতে পারলেন না। দেখে আমার বুকটা দশহাত হয়ে উঠল, তিনিও আমার দিকে চেয়ে বললেন, বাঃ! বেশ পড়িয়েছ। আচ্ছা এইবার নিজের দেশের ছুচারটে কথা শোনা যাক। তিনি বললেন—“আচ্ছা রায়মোহন রায় রায়গোপাল ঘোষ, কৈলাসচন্দ্র সিংহ এরা কোথায় জন্মেছিলেন, আর আমরা এদের কাছে কিসের জন্তাই বা খণী বল দেখি?”

“একজন ছাত্র উত্তর করলে—“রায়মোহন রায় ব্রাহ্মবর্ষ প্রবর্তন করেন, সম্ভবতঃ কলকাতাই তাঁর জন্মস্থান।” এছাড়া কবির কাছে কোন উত্তর পাওয়া গেল না। তিনি তখন বললেন, “কবি রঙ্গলাল বন্দ্যোপাধ্যায়, আর বিহারীলাল চক্রবর্তীর জন্মস্থান কোথায় বলতে পার? আর কবিতা ছাড়া বিহারীলাল অল্প কিসের অল্প বিশেষ ভাবে পরিচিত তা বলতে পার?” তাঁদের ছুচার লাইন কবিতা শোনাও দেখি?” ছাত্রেরা নির্ভীকারই রইল। তিনি হেসে বললেন,—“ওদের কথা থাক। মুহম্মদরায় কে ছিলেন,—তিনি কিসের জন্ত খ্যাত?” সকলই নীরব।

“আচ্ছা বঙ্গদেশে আর শাস্ত্র কোথা থেকে আসে, আর কে আনেন ও গ্রন্থদ্বয়ের সমসাময়িক কোন দেশ প্রসিদ্ধ লোকের নাম কর দেখি?” ক্লাসের একটি ভাল ছেলে অতি লজ্জিত ভাবে বললে “এসব আমাদের কিছুই জানা নাই।” তিনি সম্বোধে বললেন, তা না জানবার কথা। আচ্ছা এই গুলো বোধহয় জানা আছে। ইটালী থেকে লগুন যেতে হলে কোন পথ সহজ আর কোন কোন বড় সহর ও নদীপার হয়ে যেতে হয়?” তৎক্ষণাৎ তিনি আশ্চর্য উত্তর পেলেন, আর বললেন—“বাঃ বেশ! কিন্তু হুগলী হতে বাহুড়া কোন পথে বেড়ে হয় আর মধ্যে কি কি নদী পড়ে বল

দেখি?—না বলতে পারলে—তাতে লজ্জার কিছু কারণ নাই—জেন।”

“তিনি যখন এই শেষ কথাটি বললেন, অর্থাৎ ‘তাতে লজ্জার কিছু নেই’—সেই কিছু নেই রেরই লজ্জাটা আমাদের তখন বাটার সঙ্গে মিশিয়ে দিলে। ইতিপূর্বে আমার পেটলুন আর আলপাকার চাপকাণ্ডটা ঘামে আমাদের ঘেন আটপেটে আঁকড়ে ধরেছিল। আমি আর তাঁর দিকে চাইতে পারছিলাম না। “আচ্ছা থাক” বলে তিনি বললেন—কেদার রায়, হলান্দ্র রায়গুপ্ত সম্বন্ধে কিছু বলতে পার? “সকলকে নীরব দেখে তিনি উৎসাহ দিয়ে বললেন, এঁত আর তোমাদের কোর্সের জিনিষ নয়—তাতে হয়েছে কি? এ আমাদের ছুটো ঘরো কথাযাত্র—একটা বিশেষ কথা, কিন্তু এখন থেকে জানতে চেষ্টা করা উচিত। তাগবত আর উপনিষদের মধ্যে প্রভেদটা কোথায় সেটা জান কি? পরে আমার দিকে চেয়ে বললে—“আপনি এগুলো এদের বুঝিয়ে দিবেন তা না ত এরা দেশের ছেলে হবে কি করে! আমার তখন কোনও কথাই কাশে যাচ্ছিল না—কাশে কেবল রাবণের চিতা জ্বলছিল। তিনি উঠে বললেন, “তোমার অনেক সময় নষ্ট করলাম, কিন্তু বড় খুশীও হলুম—বেশ পড়িয়েছ, এরা সবাই পাশ হবে। তোমার সঙ্গে সঙ্গে ছেলেদেরও Paradise Lost পড়া সার্থক হয়েছে।”

তারপর তিনি সহাস্ত্রমুখে প্রীতিপূর্ণগতনে বিদায় নিলেন। আমি টুলেতেই বসে পড়লাম। ছেলেরা বলে উঠলো—“লোকটা intentionally (ইচ্ছা করেই) আমাদের লজ্জা দিতে এসেছিল। কিন্তু ওসব রাবিশ জেনে কি বিশেষ কল আছে—তাতে জানিনে। “আমি অনেকক্ষণ পরে বললাম, না উনি প্রথমেই বলেছিলেন আমি নিজের দেশকে জানা সম্বন্ধে একটা স্বজ্ঞ নিরে আলোচনা করছি মাত্র। তারপর বাসার চলে গেলাম। সেদিন বারবার একটা কথা আমার মনে হতে লাগল। যখন বারাসতে বাহালা দুলে পড়ি—তখন একজন দুল ইন্সপেক্টর আমাদের দুল পরিদর্শন করতে এসেছিলেন। সে সময় ভূগোল পড়ান হচ্ছিল, আর



পৃথিবীর আকার আর পৃথিবী ঘোরে এই সম্বন্ধে পণ্ডিত-মশাই ছেলেদের বোকাছিলেন। পণ্ডিতমশাই পৃথিবী ঘোরার বিকল্পে বাচ্ছিলেন। ইন্সপেক্টর মশাই বললেন “আপনি ছেলেদের একি বোকাচ্ছেন? বধে কি বলে।” তাতে পণ্ডিত মশাই বললেন, “বইতে লেখা থাকলেই যে সেটা সত্য একথা স্বীকার করতে পারি না, যতক্ষণ সে বোরাটা নিজে না অনুভব করি। যদি পৃথিবী সত্যই ঘুরত, এই ৪৭ বছর বয়সের মধ্যে একদিন না একদিন মজরে পড়ত।” এই কথাই ইন্সপেক্টর দারুণ চটে উঠে বললেন “আপনার ও সব কথা ঘরে চালাবেন। স্থলে বই বা বলছে তাই শেখান চাই। এই বলছে—পৃথিবী ঘোরে।”

“পণ্ডিত মশাইও চটে উঠে বললেন, “তবে ঘোরে যুরক—যে করদিন আমার মাইনের ১৬ টাকার দরকার আছে, সে করদিন ঘুরতে দিতে আমার আপত্তি নেই। ১৬ টাকারে যে করদিন পারে-যুরক।

“আমিও ভাবতে লাগলাম Paradise lost ত হয়েছই। যে করদিন আমার মাসিক ২০০ টাকার দরকার আছে আরও সে করদিন হোক। তার দুমাস পরেই আমি চাকুরী ছেড়ে দিয়ে ‘হালঘোত’ কিনে চাব আরম্ভ করে দি। সতের বছর এই করছি। আমার

তোম কিছুর আর অশাব নেই! এখন বুঝতে পারছি আমি Lost Paradise regain করেছি।”

কলকাতার মৈসের সেই পাঁচটি ছেলে তার পর সুন্দর আহার আর বিশ্রামান্তে তাঁকে জিজ্ঞাসা করলে, আপনি কি তবে ইংরাজী পড়াটা খারাপ বলেন? তিনি বললেন, “সে কি কথা। কিছু মাত্র না! ইংরাজী না পড়লে আমরা! আজ এ যুগের উপযুক্ত মানুষ হতে পারতুম না; কিন্তু নিকেরটা আগে ভাল করে বোঝা চাই।

তখন ছেলেরা বললে “এখন আমরা বা পারি এমন একটা সহজ আরম্ভ করবার পথ বলে দিন।”

তিনি বললেন “আপাততঃ ভূদেব বাবুর বই কথানা মন দিয়ে পড়ো। এখন চলো হুটারট্রেনে তোমাদের তুলে দিয়ে আসি। কথাটার একটুও সত্যতা রইল না, কিন্তু কি করি, আমার আর সব আছে কেবল তোমাদের শুতে দেবার অতগুলি মশারিরই অসম্ভাব। বারাসত ম্যালেরিয়ার জন্ত প্রসিদ্ধ। মাঠারী করে পর্যন্ত ছেলেদের আপনার বলেই মনে হয় তাই আতঙ্ক শুতে দিতে ভরসা হয় না।”

ছেলেরা শবিনয়ে তাঁর পায়ের ধুলো নিয়ে এক সঙ্গে গল্প করতে করতে রওনা হল।

শ্রীহরেশ চক্রবর্তী।

## অভিনন্দন।

হৃদয়-আশনে বসিব আজিকে ও গো রাজ-অধিরাজ,  
ভক্ত-হিরার ব্যাকুল-কণ্ঠে বন্দনা লহ আজ।  
নাহিক আমার পূজা-আয়োজন হে মোর হৃদয়-ধন,  
নীরব-হিরার করিব আজিকে প্রেম-অভিনন্দন।  
লুপ্ত করিয়া সকল বিধ, অঁাধির হৃদয় মন,  
অন্তর-বেদী পূর্ণ করিয়া এস মোর প্রিয়তম।

শ্রীভক্তিসুধা রায়।



## হাসির সওগাত

## অপূর্ণ শ্লোক।

এক ব্রাহ্মণ রাজসভায় উপস্থিত হইয়া কহিলেন,—  
“মহারাজ! আমি একটি শ্লোক রচনা করিয়াছি,  
কিছু পুরস্কার প্রার্থনা করি।” রাজা বলিলেন,—  
“আপনার শ্লোক কি বলুন।”

“শ্লোকটি এই—‘হৃদয় পিবতি বিভাল’।”

“এই কি শ্লোক হইল ঠাকুর?”

“কি না হইল মহারাজ?”

“শ্লোকে চারিটি পদ চাই,—এবে একটি মাত্র পদ।”

“একটি! বলেন কি মহারাজ! শ্লোকে বিভাল  
রহিয়াছেন,—বিভাল ত চতুর্পদই বটেন।”

রাজা হাসিয়া কহিলেন,—“তাহা যেন হইল, কিন্তু  
রস ছাড়া ত শ্লোক হয় না। রস কোণায় আপনার  
শ্লোকে?”

“হৃদয় রহিয়াছে,—রসের অভাব কি?”

“আর অর্থ?”

“অর্থত আপনিই দিবেন মহারাজ! অর্থই যদি  
ধাক্কাবে, তবে আপনার দ্বারে প্রার্থী হইয়া আসিব  
কেন?”

## পাপমুক্তির ব্যবস্থা।

“পাঁচটি মেয়ে ঘরে ঠাকুর! আমার মত পাপের  
কল আর কার বলুন?”

“পঞ্চকত্তা তোমার! আহা, পাপের জ্ঞাত চিন্তা কি?  
এদের স্মরণ কর, সব পাপ কেটে যাবে। শাস্ত্রে আছে,—  
‘পঞ্চকত্তাং স্মরেন্নিত্যং মহাপাতক নাশনাম্’।”

## অর্থ বিভ্রাট।

বিমলা।—কৈকেয়ী কি না দশরথের কাছে দুটি বর  
চাইলেন—

কমলা।—মেয়ের কি বুদ্ধির পাটী তাই! সে হ’ল  
তার বর, আবার তার কাছেই চায় কি না আরও দুটো  
বর। বস্ত্রি মেয়ে বটে! তাই ত দশরথ পাপিষ্ঠে  
টাপিষ্ঠে বলে এত গাল দিলে,—যেদ্বার শেষে মরেই  
গেল।

বিমলা।—চুর হ! কি বলে শোন না? ওলো এ সে  
বর নয় লো, সে বর নয়। এক বর চেয়েছিল, রাশকে  
বনে পাঠাবে, আর এক বর চেয়েছিল, ভরতকে রাজা  
করে দেবে।

কমলা।—আমিও ত তাই ভাবছি। ঘরে যখন এমন  
প্রলজ্যস্ত বর আছে তখন বাইরের দুটো বর চাইবে  
কেন?

## চতুরে চতুরে।

মুন্সেফ বাবু বাদীকে বলিলেন, “ওহে মোকদ্দমা করতে  
এসেছে, কিন্তু উকিল দেও নাই কেন?”

বাদী—“ধর্ম্মাবতার! এবার যে বৎসর! টাকা  
পরস! কিছুই নাই। মাত্র এক টাকা আছে, এতে কি  
আর উকিল পাব?”

মুন্সেফ—“ওই ওখানে উকিলদের বসবার জায়গা,—  
এক টাকার কে উকিল আছে খোঁজ কর গিয়ে।”

বাদী সরল মনে গিয়া জিজ্ঞাসা করিল,—“এখানে  
এক টাকার উকিল কে আছেন?” একটি চতুর উকিল  
বেশ বুঝিতে পারিল, ইহা বাদীর নিজের কথা নহে।  
তাই জিজ্ঞাসা করিলেন,—“একথা বলতে কে তোকে  
শিখিয়ে দিয়েছে?” বাদী, মুন্সেফ বাবুর নাম করিল।

উকিল বলিলেন—“মুন্সেফ বাবুকে গিয়ে বল, এক  
টাকার উকিল সব মুন্সেফ হয়ে গেছে, এখন আর এক  
টাকার উকিল নেই।”

বাদীও সরল মনে মুন্সেফ বাবুকে গিয়া বলিল,—  
“হজুর! এক টাকার উকিল সব ধর্ম্মাবতার হয়েছে।”

(বালক)

## আঙু ছেলেন।

“কলু! গতে তিন কোড়া রেখেছি সন্দেশ,

এরি মধ্যে এক কোড়া ক হ’ল রমেশ?”

“এত অন্ধকার, মাগো, ওই কলুজিতে,

আরও যে কোড়া আছে, পাইনি দেখিতে।”

(ভারতবর্ষ)

বিসু রায় (দুলের শিক্ষয়িত্রী)—“বল ত শোভা Fort  
মানে কি?”

শোভা—“হুর্গা, যেখানে সৈন্তরা থাকে।

বিসু রায়—“এখন প্রতিভা, তুমি বল ত, Fortress  
মানে কি?”

প্রতিভা—“হুর্গা, যেখানে সৈন্তদের স্ত্রীরা থাকে।”

—ত্রীতীপতিপ্রসন্ন—



## কতদিন।

কতদিন এ জনর তোমাং পায়নি কাছে,  
কতদিন এ জনর একেলা পড়িয়া আছে।  
কতদিন মধু-সাঁঝে লয়ে হাসি মুখখানি—  
বসো নাই কাছে এসে—বসো নাই সেজে রাণী।

সন্ধ্যার মজল সাঁঝ মেনে দূর চক্রবালে—  
ভক্ত-চৈতে কুলদালা গৃহ দাপখানি জালে,  
নমে ইষ্টে দেবতার জুড়িয়া মৃগলপাণি,  
কতদিন আস নাই—বসো নাই সেজে রাণী।

কতদিন হয় তাই কবিতার আলাপন,  
তোমাং লইয়া যোর সাহিত্যের সম্মিলন।  
কতদিন চখে' চখে' হয় নাই জানাজানি—  
কতদিন আস নাই—বসো নাই সেজে রাণী।

অতীতে ভুলিতে গিয়ে, অতীতে আঁকড়ি ধরি,  
বারেক হাসিতে গিয়ে কেবলি কান্দিয়া বরি।  
কেলিয়া দিয়াছি আজ আশার শতক কাজে  
তোমাং বিবহ ব্যথা তবুও হৃদয়ে বাজে।

শ্রীআশুতোষ মুখোপাধ্যায়।

## নারী সমস্যা।

বর্তমান ভারতে নারীসমস্যা যে অল্পসমস্তার মতই  
জটিল হইয়া দাঁড়াইয়াছে ইহা দেশহিতৈষী চিন্তাশীল  
ব্যক্তি যাত্রাই মর্মে মর্মে অনুভব করিয়া থাকেন,  
অথচ এই অনুভূতিকে কার্যে পরিণত করিয়া এই  
কঠোর সমস্যার নিরাকরণের একান্ত চেষ্টা কোথাও  
দেখা যায় না। আমরা মঙ্গলিমে বসিয়া বহু বান্ধবদের  
সঙ্গে জরীকার মালোচনা করি, সভাসমিতিতে তারত্রে  
নারীজাতির উন্নতির আবশ্যিকতা প্রমাণ করিয়া শ্রোতৃ-  
বৃন্দের কৃতজ্ঞতাভাজন হই, হাসিকের পৃষ্ঠায় মাতৃহ,  
পত্নীসম্বন্ধে ভুরি ভুরি প্রবন্ধ লিখিয়া যথেষ্ট আত্মপ্রসাদ  
অনুভব করি, কিন্তু যে মুহূর্তে কল্পনা রাজ্যের সুরস  
বাগ্মিতার জাল কাটিয়া, অগ্নিপুত্রীর আবেশ বিভোর  
তন্ত্রা হইতে হঠাৎ জাগিয়া বাস্তবজগতের কঠোর সত্যের  
রক্ত আলোর প্রথম স্পর্শ অনুভব করি তখনই আমাদের  
হৃদয়দ পিথিল হইয়া আসে, আর সঙ্গে সঙ্গে অবসর  
সময়ের বার্ষ উদারতার মিথ্যা কল্পনাগুলি হাওয়ার  
মুখে কর্পূরের মত এক নিমিষে উড়িয়া যায়। এমন  
কি রাত্রি দিমের পর দিন, বাসের পর আস, বৎসরের

পর বৎসর আমরা ভারতের নৈতিক এবং সামাজিক  
সমস্যার মোমাংসা করিয়া আসিতেছি। কিন্তু হৃৎকের  
বিষয় এই যে, সত্য বহু অগ্নিরই হউক না কেন তাহাকে  
অস্বীকার করা চলে না; নিজের মা, বোন, জীকে  
না হয় ঠকাইলাম, কিন্তু তাবের ঘরে চুরি করা যায় না,  
নিজের মনকে চোপ ঠারিয়া পরিভ্রাণের উপায় নাই।  
তাই আজ আমরা এমন একটা প্রায়গায় আসিয়া  
দাঁড়াইয়াছি যেখানে হইতে আর অগ্রসর হওয়া সম্ভব-  
পর নয়। সমুখে কর্ম সাগরের ভৈরবগর্জন, পশ্চাতে  
অতীতের গভীর অন্ধকার; উভয়ের সন্ধিস্থলে আসিয়া  
দাঁড়াইয়াছি আমরা সহস্র বর্ষের আর্ষা গৌরবের  
উত্তরাধিকারিগণ; মস্তকে সমাজশবের পলিত  
দেহাবশেষ, নয়নে স্বপ্নজড়িতা, ধমনীতে হিমায়িতপ্রবাহ,  
চরণে কঠিন শৃঙ্খল, আজ বিশ্বব্যাপী যে প্রবল বস্তা  
দিক্দিগন্ত প্রাণিত করিয়া ছুটিয়া চলিয়াছে তাহা হইতে  
আত্মরক্ষা করিতে হইলে সাবধেয় এবং যোগ্যতার  
প্রয়োজন। আর হৃদয় মত প্রাক্তনের হাতে হাল  
ছাড়িয়া দিলে চলিবে না, যথোচিত শক্তি সঞ্চয় করিতে



A.

হইবে, যোগ্যতার প্রমাণ দিতে হইবে, নতুবা নিয়ন্ত্রার  
উন্নতির বঞ্চিত অবস্থায় আমাদের বুকের উপর দিয়া  
চলিয়া যাইবে, আর আমরা রক্তাক্ত দেহে দৈবতাকে  
অভিসম্পাত করিয়া নিখিল বিশ্বতির এক কোণে  
চিরদিনের জন্য চলিয়া পড়িব।

লোকে বলে আজ নাকি কুস্তকর্ণের নিদ্রা ভঞ্জে  
লক্ষণ দেখা যাইতেছে, নিখিল পঞ্জর ভেদ করিয়া স্মেরু  
হইতে কুম্ভক পর্য্যন্ত যে কৰ্মবিষাণ ভীষণদে ব্যঞ্জিয়া  
উঠিয়াছে তাহা কি ভারতের অন্ধতমসাজ্বর মৃতকর  
ভারতের ক্রীণ-প্রাণ-প্রবাহেও একটা সাড়া জাগাইয়া  
তুলিয়াছে; তাই আজ দেশমাতৃকার বরপুত্রগণ শত  
বৎসরের ক্রুদ্ধতারণ মন্দির পার্শ্বে সমবেত হইয়াছে  
জীর্ণ সংস্কারের প্রয়াসে। দেবতা জাগিয়াছেন এবার  
পুনরভিষেকের আয়োজন করিতে হইবে, পূজোপচার  
সংগ্রহ করিতে হইবে; জীবন যজ্ঞের আহ্বান পৌছিয়াছে  
এমন সমিধ আহরণ করিতে হইবে। তাই আজ এত  
সমস্তার কথা অন্ন সমস্যা, নারীসমস্যা, শিক্ষা সমস্যা আর  
ও কতকি। কোন্ দিকে অগ্রসর হইতে হইবে, পথ  
কোথায়?

কে বলিয়া দিবে পথ কোথায়। আমরা একটা  
নির্ভরশীল জাতি; যে কারণেই হউক পরমুখাপেক্ষিতাকে  
বরণ করিয়া পরের পলগ্রহ হইয়া থাকিতেই আমরা  
ভালবাসি, তাই আজ আমরা বিশ্বের ঘারে ঘারে  
আবেদন পাঠাইয়াছি আমাদের পথ কোথায় জানিবার  
জন্ত, উত্তরও আসিয়াছে! নারীসমস্যার কথাটাই এখন  
বলি। কেহ উপদেশ দিয়াছেন নারীকে পুরুষের  
সমানাধিকার দাও, কেহ বলিয়াছেন তাহাকে উচ্চ  
শিক্ষা দাও, তাহার আশ্রবোধের অবকাশ দাও তবেই  
এ সমস্যা তত্ত্ব হইবে, আবার কেহ কেহ একপঙ  
ইঙ্গিত করিয়াছেন নারী পুরুষের চুঃখের জন্তই জন্ম-  
গ্রহণ করিয়াছে এবং আজন্ম তাহার চুঃখ দিয়াই  
আসিতেছে, সুতরাং পুরুষের প্রতিহিংসা অনন্তকাল  
তাহাকে ছায়ার মতই অহুসরণ করিবে পরিভ্রাণের কোন  
উপায় নাই। ইহার প্রারম্ভিক কখনও পূর্ণ হইবে  
না। এ সকল উত্তরে কেহ পরিতুষ্ট হইয়াছেন কি না

আনি না, তবে সূর্যের বিষয় এই, সকলেই এক বাক্যে  
স্বীকার করিয়াছেন যে মানবজাতি বলিলে স্ত্রী পুরুষ  
উভয়কেই বুঝায় এবং এককে বাদ দিয়া অপরের অস্তিত্ব  
কল্পনা অসম্ভব। কথাটা আর একটুকু বুঝাইয়া বলি।  
এতদিন পরে আমরা স্থির সিদ্ধান্তে উপনীত হইয়াছি  
যে, জাতি হিসাবে নারী এত অন্ত হইয়া পড়িয়াছে  
যে তাহাকে উন্নতির পথে আনিয়া না তুলিলে আমাদেরও  
জীবন সঙ্কট! কাজেই স্বার্থের দিক দিয়াও ইহা  
আমাদের একটা অংশ কর্তব্যের মধ্যে দাঁড়াইয়াছে।

একটা উপায় নির্ধারণ করিতে হইলে আমাদেরকে  
সর্বপ্রায়ে দেখিতে হইবে এই অধঃপতনের মূল কোথায়।  
বিচক্ষণ নৈমিত্তিক নির্বাচনের পূর্বে বর সহকারে  
নিদান অহুসন্ধান করিয়া থাকেন। এক্ষেত্রে আমা-  
দিগকেও তাহা করিতে হইবে, ক্রীণ দীপালোকের  
সাহায্যে লুপ্ত আর্ধ্যকীর্তির অন্ধকার গহবরে প্রজ্জ্বলিত  
প্রজ্জ্বলিত বাহির করিতে হইবে কেমন করিয়া বৎসরের  
পর বৎসর এমন বিরাট অধঃপতনের সূচনা হইয়াছে।  
কিন্তু ভয় হয়, পাছে কেহ নাসিকা কুচিত করিয়া  
বণিয়া বসেন কীটমত জীর্ণ পুরাণেতিহাসের ধূলি  
ঝারিয়া তাহার মলিন গৃষ্ঠাঙ্গলি উৎসুকাবিহীন লোক  
চকুর সম্মুখে ধরিয়া এমন অহেতুকী বাহ্যত্বী নেবার  
প্রয়োজন কি? বাহা ছিল অথচ এখন নাই শুধু  
স্মৃতি মাত্র পর্য্যবসিত তাহার গর্ভ করিয়া লাভ কি?  
পূজ্যপাদ স্বামী বিবেকানন্দও বার বার এই কথাটা  
উল্লেখ করিয়াছেন, কোন লাভ নাই এমন কথা বলা  
চলে না। যে কোন জাতীয় জীবন অহুসন্ধান করি-  
লেই ইহার সত্যতা প্রমাণিত হইবে। জাতি, ব্যক্তিব  
সমষ্টি, কাজেই এই সমষ্টির গতিবিধি অনেকাংশে ব্যক্তির  
গতিবিধিরই অঙ্কুরপ। প্রত্যেক মানুষ যেমন তাহার  
পূর্বপুরুষদিগের সংস্কারপুট হইয়া তাহাদের বিশেষত্ব-  
গুলিকে অঙ্কুর বা অস্বাভিক পরিবর্তিত করিয়া তাহার  
নির্দিষ্ট সীমার দিকে অগ্রসর হইতে থাকে, তেমনি  
মানব সমষ্টি গঠিত জাতিও তাহার প্রাচীন কীর্তি-  
কলাপের প্রবহমান শোণিত ধারায় পরিপুষ্ট হইয়া  
তাহারই বিশেষত্ব বলায় রাখিয়া অথবা জাত্যন্তরের



সম্পর্কে আসিয়া নূতন শিক্ষার প্রভাবে সেগুলিকে কোন কোন অংশে নূনান্বিত পরিবর্তিত বা পূরিবর্দ্ধিত করিয়া অসীমের পথে ছুটিয়া যায়। এই অতীতই তো তাহার প্রাণ তাহার নিভর স্বষ্টি, ইহাকে বাদ দিলে কেমন করিয়া চলিবে। প্রকৃতপক্ষে অতীত, বর্তমান, ভবিষ্যৎ ইহা কি আমাদের কাল্পনিক সময় বিভাগ নয়? কে বলিয়া দিবে কোন মুহূর্তে অতীত হইতে বর্তমানের উদ্ভব হইয়াছে, কখন বা বর্তমান হইতে ভবিষ্যতের জন্ম হইবে। অতীতযুগের প্রজ্জ্বলিত আলোক ধারাই ত বর্তমানের পথ প্রদর্শক এবং ভবিষ্যতের আবিষ্কর্তা, অতীতের ভিত্তির উপরই বর্তমানের প্রতিষ্ঠা। বর্তমান আছে বলিয়াই ভবিষ্যতের করন। তাই বগিতে-  
হিলাস অতীতকে বাদ দিলে চলিবে না, প্রাচীন ইতিহাসকে দূরে সরাইয়া বর্তমানের সংস্কার অসম্ভব।

আজ আমাদিগকে আনিচ্ছাসবেও আবার নূতন করিয়া শুনিতে এবং বুঝিতে হইবে সীতা সাবিত্রীর কথা, দ্রৌপদী দময়ন্তীর কথা, গান্ধী মৈত্রেয়ীর কথা, খনা লীলাবতীর কথা, আজ আমাদিগকে স্মরণ করিতে হইবে নাতুলেন্দ্রানী পান্নার কথা, রাজপুত ললাটে চিরভাবর তিসিক লেখা পদ্মিনীর কথা, অংকের দেবীপ্রতিমা জয়মতীর কথা। ইহাদের অলস্ত ইতিহাস নবীন প্রেরণার অন্তরতম অন্তরে অম্লতব করিয়া শক্তিস্বরূপ করিতে হইবে, তারপর সংস্কার। ইহারা আমাদেরই দেশের নারী। সীতার কর্তব্যানিষ্ঠা, সাবিত্রীর গাতিব্রতা এখনও ভারতের অস্তিত্বজ্ঞার লুক্কায়িত আছে, কিন্তু দ্রৌপদীর ওজ নাই, দময়ন্তীর প্রেমপ্রাপ্ততা নাই, গান্ধী মৈত্রেয়ীর খবির নাই, খনা লীলাবতীর অপ্রতিহত প্রতিভা নাই, পদ্মিনীর ধ্বংসলোভু আলময় বীরত্ব নাই, জয়মতীর সর্বসংহা ধরিত্রীর মত অবিদ্যাপ্রাণী বৈধ্য নাই, অর্থাৎ আছে, ভারতের প্রতি ধূলিকণার সঙ্গে মিশিয়া আছে, প্রতি অণুপরমাণুর সঙ্গে জড়িত হইয়া গিয়াছে, তাই ভারত দেবভূমি, মুক্তির স্থান, পুণ্যবানের বিলাসক্ষেত্র। সীতার মৃত্যু হয় নাই, তাঁহার মৃত্যু হয় না, ধরনী দেবী তাঁহাকে বিবর দান করিয়াছেন বেদীন বৈদিক যুগের অধ্যাপতনের সঙ্গে সঙ্গে বর্ণপ্রভবধর্মের

শেষ পরিমাণ লুপ্ত হইয়া গেল সেই দিন, যে দিন সিদ্ধসৈন্যকর্ত নিবাসী আর্ষাগণের মানসপটে বৈদিক সমাজের মধুর চিত্রখানি ব্যর্থ পর্জের এবং মিথ্যা প্রেলোভনের কুহেলিকায় আচ্ছন্ন হইয়া গেল সেই দিন। সে আজ বহু শতাব্দীর কথা। তারপর জগতের ইতিহাসে কত ঘটনা ঘটয়া গিয়াছে, কত বিপ্লব, কত সংগ্রাম, কত যুগান্তর চলিয়া গিয়াছে—ভক্তের যুগ, পুণ্যপুণের যুগ, বৌদ্ধযুগ, মুসলমান আধিকারের যুগ, ইংরেজ আধিকারের যুগ, কিন্তু সে দিন হইতে আজ পর্য্যন্ত আমরা বাহুবল-বাবিষ্ক পতঙ্গের মত কেবলই অধঃপতনের দিকে ছুটিয়া চলিতেছি, সময় সময় স্থানে স্থানে একআধটুকু বাধা প্রাপ্ত হই বটে, কিন্তু এ ব্যাধার স্রোত রোধ করিবার ক্ষমতা তাহার কোথায়?

এত দীর্ঘকাল ব্যাপী অধঃপতনের পর একদিনে অভ্যুত্থান হয় না। শিশুর প্রথম মলমূত্র লাভের মত ক্রমে ক্রমে উঠিতে হইবে এবং ধৈর্য্য সহকারে প্রত্যেকটি অবসরের প্রতীক্ষা করিতে হইবে। প্রাচীন সভ্যতার বাহা কিছু অবশিষ্ট আছে তাহাকে ভারত-সাগরে বিসর্জন দিয়া তাহার স্থলে একটা কিছু নূতন জিনিষের প্রতিষ্ঠার করন। বাহা ছিল তাহা ফিরাইয়া আনিতে হইবে; সেই সমাজ, সেই শিক্ষা আবার মূঢ়রূপে তাহার ভিত্তি স্থাপন করিতে হইবে। এই মহান স্থাপত্য একজননের প্রয়াসসাধ্য নয়, হিমালয় হইতে কুমারিকা পর্য্যন্ত ত্রিখণ্ডকোটি ভারতবাসীর সমবেত চেষ্টার প্রয়োজন। কে জানে এমন সুদিন কখনও আসিবে কি না।

আমাদের সর্বপ্রথম কর্তব্য বর্তমান শিক্ষার আনুল পরিবর্তন। সভ্য বটে করুণাময় সরকার বাহাদুর ভারতললনাদের উচ্চশিক্ষার জন্ত পরিশ্রমের ক্রটি করেন নাই; গ্রামে গ্রামে এত বালিকাবিদ্যালয়, নগরে নগরে মহিলাদের জন্ত এত কলেজ আমাদের প্রাচীন ইতিহাসে নাই, এবং এই শিক্ষার জন্ত বৎসর বৎসর অল্প অল্প কলেজ মত ব্যয়িত হইতেছে। শিক্ষাও কম হইতেছে না। প্রতি বৎসরই কলিকাতা কিংবা ভারতীয় অন্তর্গত হুনিভাগিটি হইতে আমাদের তপস্বীগণ সর্বোচ্চ উপাধি



ভূমিত হইয়া আমাদের মুখোচ্ছল করিতেছেন। আর ঐহার দূর্ভাগ্য বশতঃ ততদূর অগ্রসর হইতে পারেন নাই, তাঁহারও সৌভাগ্যবতী অগ্রগামিনীদের ধূম ধরিয়া নিকটবর্তীস্থানে অপেক্ষা করিতেছেন। তাঁহাদের কমনীয় মুখে দৃষ্টিচ্যুত ইবসেন, মইতরলিক, তুর্গানিভের অনর্গল বুলি, জদয়পটে ডলস্ হাউস, লজ্জিনসায়লেন প্রতিকৃতি, অধিপন্নবে মজান সাগর পারের দমকা হাওয়ার ভেসে আসা সোণালি স্বপন। ইহাদের অসন, বসন, ভূষণ, চালচলন যে অশিক্ষিত কিংবা অর্ধশিক্ষিত আৰ্য্য মহিলাদের অপেক্ষা অনেক উচ্চতরের কৃচির পরিচায়ক তাহা কে অস্বীকার করিবে? আমাদের ললনাপণ এখন নানা প্রকার ব্যায়ামাদি শিখিতেছেন, পুরুষের মুখাপেক্ষী না হইয়া নির্ঝাঁবদে জীবন যাত্রা নির্ঝাঁবের উপায় শিখিয়া লইতেছেন, তথাপি আমাদের হৃৎযন্ত্র স্থূল ন', শিক্ষার অভাব দূর হইল না। এ দূর্ভাগ্যের কারণ কি?

কারণ এই, আমরা যাহাকে এতদিন শিক্ষা নামে অভিহিত করিয়া আসিতেছিলাম প্রকৃতপক্ষে তাহার মূল্য খুবই কম, নাই বলিলেও বোধ হয় অতুলিত হয় না। ফলকথা একদম শিক্ষার বীজ ভারত ভূমিতে অঙ্কুরিত হইতে পারে না। শিক্ষা অবশ্যই কোনও জাতির নিজস্ব বা পৈত্রিক সম্পত্তি নয়, প্রকৃত শিক্ষার অমূল্য রত্ন রাজিতে বিশ্বমানবের সমান অধিকার কিন্তু সে শিক্ষা আর এশিক্ষার প্রভেদ অনেক। সে শিক্ষা জ্ঞানের নির্মল্যলোকে মনোমন্দির চিরদিনের জন্য উদ্ভাসিত করিয়া দেয় আর এ শিক্ষার তীব্র রূপপ্রভা এক মুহূর্তে দিক্ দিগন্ত আলোকিত করিয়া চক্ষু বলসাইয়া দিয়া চলিয়া যায়, যাহা রাখিয়া যায় তাহা স্বচীভেদ অন্ধকারের দারুণ মর্ষদাহ। অথচ এতদিন আমরা এ শিক্ষারই আপাতমোহিনী শক্তিতে আকৃষ্ট হইয়া সর্বনাশের পথ পরিসর করিয়া তুলিয়াছিলাম। ইহারই প্রভাবে আমরা 'নিজ বাস ভূমে পরবাসী' হইয়াছি, আমাদের বা বোনদিগকেও সাধ করিয়া কতকগুলি পরগাহার পরিণত করিয়াছি; ইহারই প্রভাবে ভারত আজ আমাদের মাতৃষের

গৌরবাধিকার পরিত্যাগ করিয়া বাত্রীর আসন লাভ করিয়াছে। এ বর্ষাকার স্রোতে গা ঢালিয়া দিয়া যদি আমরা সর্বতোভাবে সাহেব হইয়া বাইতে পারিতাম তাহাতে কিছু ক্ষোভ ছিল না। কিন্তু তাহা যে হইবার বো নাই। প্রকৃতির নিয়মকে উল্লঙ্ঘন করিব কেমন করিয়া? তাই আজ আমরা ঘূর্ণাবর্তে হাবু ডুবু খাইয়া ন বহ্যো ন তত্ত্বো গোছের একটা অবস্থায় পড়িয়া ত্রিশঙ্কুর-মত অস্ত্রাঙ্গে অবস্থান করিতে বাধ্য হইয়াছি, আমাদের জাতিগত শ্ববিমুখ্যকারিতা ইহাই উপযুক্ত শাস্তি।

শিক্ষার প্রকৃত উদ্দেশ্য মানবের অন্তর্নিহিত বুদ্ধি-নিচয়ের সম্যক বিকাশ সম্পাদন। বিকাশ শুধু তাহারই সম্ভব যাহা অনিশ্চিত অবস্থায় বিদ্যমান আছে। যাহার অন্তত্ব আদৌ নাই তাহাকে মুকুলিত করিব কেমন করিয়া। "নাসতো বিদ্যতে ভাণঃ, না ভাবো বিদ্যাতে সত্যঃ" ইহাতে সর্ববাদী সম্মত কথা। এই কঠোর সভ্যতাকে অবহেলা করিয়া একটা অভিনব বস্ত্র সংস্থাপনের চেষ্টা মূর্থতা নামে অভিহিত হইবার যোগ্য। আমাদের আজন্মপুষ্ট সংস্কারগুলিকে উড়াইয়া দিয়া বিজাতীয় সংস্কার হইতে উদ্ধৃত একটা নূতন শ্রেণীর শিক্ষার ভিত্তি প্রোথিত করা অসম্ভব। সে শিক্ষাই আমাদের প্রকৃত শিক্ষা, যাহা আমাদের জাতীয় সংস্কারকে উদ্বোধিত করিয়া দিবে, যাহা আমাদের অন্তর্নিহিত বিশিষ্ট বুদ্ধিনিচয়কে মুকুলিত করিয়া তুলিবে। তাই বলি অতীত ইতিহাসের পৃষ্ঠা উন্টাইয়া আমাদেরকে সেই প্রাচীন শিক্ষা কিরাইয়া আনিতে হইবে যাহার বলে ভারত একদিন জগৎশীর্ষে কৌতুভমণি ছিল।

নারীর উন্নতিকল্পে আমাদের দ্বিতীয় কর্তব্য নারী সমাজের উদ্বোধন। নারীরও যে একটা সমাজ আছে একথা আমরা তুলিয়া গিয়াছিলাম। এখন আর তুলিয়া থাকিলে চলিবে না। সেই লুপ্ত প্রায় নারীসমাজকে জাগাইয়া তুলিতে হইবে। প্রাচীন সমাজের নিকলক চিত্রগুলি সমুখে রাখিয়া তাহাদিগকে বুঝাইয়া দিতে হইবে কি ছিল এবং কি হইয়াছে। ব্যক্তি প্রাণ স্কারের সঙ্গে সঙ্গে সমষ্টিরও প্রাণ স্কার হইবে, ভারতের ভাগ্যাকাশ আবার উজ্জল হইয়া উঠিবে। শেষ



কথা এই, জীশিকা এবং জীসমাজের উন্নতি বিধান জুলিয়া গিয়া, ব্রিহস্পতি হইলে চলিবে না। কারণ প্রকৃতির  
করিতে বাইবার পূর্বে আশাদিগকে স্বার্থভ্যাগের মূল ভগ্ন পত্রিকায় অলঙ্কৃত করিতে হইয়া গিয়াছে, আশাই  
মহাশয় উত্তমরূপে হৃদয়ঙ্গম এবং উপলব্ধি করিতে হইবে। হউক, কালই হউক, অদূর ভবিষ্যতে বিশ্বজগতের শাসন-  
প্রকৃত শিকার মরণ-হরণ-কিরণ-সম্পাতে সত্ত্ব শক্তির কর্তা নারী। তাঁহাদিগকে প্রভাবিত করিয়া রাখিবার  
উদ্দেশ্যের সঙ্গে সঙ্গে তাঁ পুরুষাপেক্ষা উন্নত হইবে ভাবিয়া, দিন চলিয়া গিয়াছে।  
পরিণামে যে ইহা সমগ্র জাতির স্বার্থ সাধন করিবে ইহা

শ্রীনেপালচন্দ্র চক্রবর্তী।

## প্রকাশ

নিদাঘের নিখালের আঁচে  
তুচ্ছ বলি করেছিলে ভুল,  
সেই চন্দ্রবারিকার গাছে  
আজি দেখ ধরিয়াছে ফুল।

ফুটিয়াছে কান্তিটুকু কিবা  
আজ তার ধূলি ম্লান গায়,  
ছড়াইয়া জ্বলিবার বিভা  
নবীন ধরণী পানে চায়।

অজাত বাসের শেষে আজ  
বৃষ্ণ তার প্রকাশের দিন,  
সপোরবে ধরণীর মাঝ  
প্রকাশিল মহিমা নবীন।

ওই পুষ্প ওই তার বাণী  
ওই তার পূর্ণ পরিচয়,  
প্রাণ দিয়া রচা কাব্যধানি  
যদিবার ঝরিবার নয়।

ওই সিঁদ্ধি সুদীর্ঘ তপের  
জন্মের বুদ্ধত লাভ ওই,  
বীজময় আশ্রয় যপের  
সদা নাই ওর উহা বই।

ওই তার মুকুতা বকের  
বিক্রমের আনন্দ অতুল,  
মূর্ত্ত হস্ত দেবতা মূখের  
চন্দ্র, বিজ্ঞ, অমৃত ও ফুল।

শ্রীকুমদরঞ্জন মল্লিক।



## ডালি

## সাম্প্রদায়িক প্রতিদ্বন্দ্বি।

পাশ্চাত্যদেশের লোকেরা স্বাস্থ্যের প্রতি তীব্র দৃষ্টি রাখে বলিয়াই আমাদের মত এমন 'চ্যাং চ্যাং-এ চিম্পে' হয় না। তাহার সকল বিষয়ে কিরূপ সতর্কতা অবলম্বন করেন, তাহার একটা নমুনা দেখুন। ওয়েলস্‌লী কলেজের মেয়েদের পড়ার সময় হাঁচি পাইলে তাড়াতাড়ি হাঁচির ঘরে বাইরা হাঁচিয়া থাকিতে হয়। যে যেহেঁচি হাঁচে, তাহার যদি কোন রোগ থাকে তাহা হইলে সেই রোগের বীজাণু হাঁচির সঙ্গে অল্প কাহারও শরীরে পিয়া প্রবেশ করিতে পারে, এই আশঙ্কায় হাঁচির অল্প ভিন্ন ঘরের ব্যবস্থা করা হইয়াছে।

(National Health)

## শিশু পরিষদ।

আমাদের দেশের অনেক মহিলাই নিমন্ত্রণে বা অন্য কোন প্রকার আশ্বাদ প্রমোদে যোগদান করিবার সময় একমাসের কাঁড়নে মেরেকও সঙ্গে লভয়া বাইতে সজ্জিত হন না, কিন্তু যুরোপের কুচিশীলা নারীদের নিকট ইহা রীতি-বিরুদ্ধ। সেখানে শিশুদিগের জন্য পরিষদ আছে। সেই পরিষদের কস্তীদের নিকট নারীরা তাঁহাদের শিশুদিগকে রাখিয়া নিশ্চিন্ত মনে আমোদ-প্রমোদে যোগদান করিতে যান এবং গৃহে ফিরিবার সময় সেখান হইতে নিজেদের শিশুগণকে লইয়া আসেন। অবশ্য এজন্য শিশু-পরিষদে তাঁহাদিগকে নিয়মিতভাবে চাঁদ দিতে হয়।

(Literary Digest)

## দাড়ির উপর ট্যাক্স।

এলিজাবেথের রাজত্বকালে যে ব্যক্তি পনের দিন পর্যন্ত দাড়ি কামাইত না তাহাকে তিন শিলিং চারি পেন্স ট্যাক্স দিতে হইত। পিটার দি গ্রেট ক্রসিয়ার তত্ত্বাবধিগণের দাড়ির উপর একশত ক্রবল এবং সাধারণ লোকের দাড়ির উপর পাঁচ ক্রবল কর নির্দ্ধা-

রণ করিয়াছিলেন। ইহাতে জনসাধারণের মধ্যে অত্যন্ত অসন্তোষের সঞ্চার হইয়াছিল, এবং চহা শেষে ১৭২৮ খৃষ্টাব্দে এই ট্যাক্স সেক্ট পিটার্সবার্গ পর্যন্ত বিস্তৃত হইয়াছিল। ১৭২৮ খৃষ্টাব্দে প্রথম কাব্যারিণ, ১৭২৮ খৃষ্টাব্দে দ্বিতীয় পিটার, ১৭৩৩ খৃষ্টাব্দে সম্রাট য়ানি, ১৭৪৩ খৃষ্টাব্দে সম্রাট এলিজাবেথ দাড়ির উপর ট্যাক্স সম্বর্ধন করিয়াছিলেন। ১৭৬২ খৃষ্টাব্দে দ্বিতীয় কাব্যারিণ এই ট্যাক্স তাহার রাজত্ব হইতে রহিত করিয়াছিলেন। ফ্রান্সে ধর্ম্মবাকগণের উপর এই দায় স্থাপিত হইয়াছিল। ফ্রান্সের লর্ড গাই চাপেলার বিখ্যাত উপদ্রাট এই আইনের পরামর্শদাতা ছিলেন। সমস্ত ধর্ম্মবাকগণের দাড়ি কামাইয়া ফেলিতে যোষের পোপের নিকট হইতে ঘোষণাপত্র বাহির হইয়াছিল। যাহারা এই আদেশ হইতে নিকৃতি পাইতে ইচ্ছা করিয়াছিলেন রাজ্য তাহাদের নিকট হইতে রীতিমত ট্যাক্স আদায় করিয়াছিলেন। তখন সঙ্গতিপন্নরাই দাড়ি রাখতে পারিতেন। নতুবা দরিদ্র বা সাধারণ গৃহস্থেরা দাড়ি কামাইয়া ট্যাক্সের দায় হইতে অব্যাহতি পাইত। (গম্বিলনা)

## বৌদ্ধান্যক সোজা।

আপনার ভূষণ যে, বৌদ্ধান্যক বলিয়া আপনার আকৃতি এত বিশ্রী হইয়া পয়াছে যে, সমাজে বাহির হইলে---

"ষোড়া ভড়কায় দেখে আচম্কা।

ছেলে ভয় পায় অন্তরে।"

কিন্তু আজ আনন্দেও সহিত আনাইতেছি, আপনার ভূষণের দিন কাটির। পিথাছে, শনির দশার অবসান হইয়াছে। ডাক্তার মূল্যের বোর্গেয়েত, কৃষ্ণ অন্ন চিকিৎসা যাত্রা বৌদ্ধান্যক সোজা করিয়া দিতেছেন। তবে এজন্য আপনার একটু কষ্ট স্বীকার করিয়া কালাপাশি পার হইতে হইবে।

(Popular Science)



## দীর্ঘ নিঃশ্বাসে নিশ্বাস।

যদিও আজকাল কোন কোন ডাক্তার বলেন যে, দীর্ঘ নিঃশ্বাসে স্বাস্থ্যের উন্নতি হয়, তথাপি পতীর গবেষণার সহিত নানা ঘটনার আলোচনার ফলে ইহাই প্রতীয়মান হয় যে, দীর্ঘ নিঃশ্বাস জিনিষটাই নারায়ণ। স্বামী যদি স্ত্রীর সম্মুখে দৈন্যে একটি দীর্ঘ নিঃশ্বাস কেলেম, তাহা হইলে এজন্য বেচারার কতবারই না স্ত্রীর নিকট কৈকিয়ৎ দিতে হয়। স্ত্রী দীর্ঘ নিঃশ্বাস ফেলিবার উপক্রম করিতেই তাবী বিপদপাতের আশঙ্কায় স্বামীর প্রাণ ছক্-ছক্ করিতে থাকে এবং দীর্ঘ নিঃশ্বাস পড়িবারাত্র স্বামীর হৃৎপিণ্ড ভরে শুকাইয়া যাইবার উপক্রম হয়। কিন্তু এবার নিউইয়র্কে যে ঘটনা ঘটিয়াছে, তাহা দীর্ঘ নিঃশ্বাসের

ইতিহাসে অমর হইয়া থাকিবে। সেখানের মিঃ কে, ই, জোন্স ধনকুবের এবং ওজনেও প্রায় ৩ মণ ৫ সের। এখন ব্যাপারখানি একবার চিন্তা করুন। তিনি এক নিমন্ত্রণে আহ্বারের পর আরাধ্য করিয়া ফুলে একটি দীর্ঘ নিঃশ্বাস কেলিয়াছিলেন। ফলে তাঁহার ওয়েস্ট-কোটের পকেটের একটি বোতাম ছইখণ্ডে বিভক্ত হইয়া একখণ্ড পার্শ্বের বজ্রবর ক্রাইটোকার শিথের একটি চক্রে প্রবল বেগে প্রবেশ করিয়া চক্কটিকে জন্মের মত নষ্ট করিয়া দিয়াছে। অপর খণ্ড, মিঃ ডেভিড নামক এক ভ্রমলোকের গালে দৃঢ়ভাবে বসিয়া যায়। গাল হইতে উহা বাহির করিতে তিন ইঞ্চি পরিমাণ স্থান কাটিতে হইয়াছিল।

—শ্রীপতিপ্রসন্ন—

## পাগল।

কার তরে তুই পথে পথে গুরে' বেড়াই দিবস-রাত্রি,  
ওরে পাগল, ওরে অবোধ, কি গানে তুই উঠিস্‌ বাতি ?

আপন ঘরে আগুন জ্বলে

অখ-সম্পদ পায়ের তেলে ;

কিদের আশে পথের পাশে

বসে আছিস্‌ আঁচল পাতি ?

আসবে কি সে' শুভ-লগন, মিটবে কি তোার সকল আশা,  
মুগ্ধ করি জীবন-বীণা বাজাবে কি আর প্রেমের তান ?

না-ই যদি হয় এ জনমে

আশা-ই যদি রয় মরমে,—

দিনের শেষে আঁখার পথে

জলবে কিঃ আলোর ভাতি ?

বেলা শুহ।



## গৌড়ীয় পীঠস্থল

কি প্রকারের পীঠ ও মহাপীঠের উদ্ভব হইয়াছে, সকলেই তাহা অবগত আছেন । কিন্তু পীঠ ও উপপীঠ সমূহের তালিকা সকল গ্রন্থে সমান নহে । কোথাও ৫১ পীঠ, কোথাও ৫৩ পীঠ এবং কোথাও ১০৮টি পীঠের উল্লেখ দেখা যায় । তন্ত্রচূড়ামণি, কালিকা পুরাণ, দেবী ভাগবত, শিবচরিত নামক সংগ্রহ পুস্তক, পীঠমালা ও ভারতচন্দ্রের অন্নদামঙ্গল পর্য্যন্ত আলোচনা করিলে, দেখিতে পাওয়া যায় যে পীঠ সংখ্যা সম্বন্ধে কেহই এক মত গোষণ করেন না ।

উপরি উল্লিখিত পীঠ ও উপপীঠের সংক্ষিপ্ত বিবরণ প্রদত্ত হইল—

### মঙ্গলকোট উজানী ।

দেবী শ্রীমঙ্গলচণ্ডিকা, ভৈরব কপিলেশ্বর ।

জেলা বর্দ্ধমানের অন্তর্গত পরগনা মনোহরসাহীর মধ্যে মঙ্গলকোট একটি পুলিশ ষ্টেশন ইহার অনতি উত্তরে অজয় নদ তীরে উজানী গ্রাম । বর্তমানকালে এই গ্রামের নাম কোগ্রাম । ইহা ঠ, আই. রেলের লুপলাইনে শুসকরা ষ্টেশন হইতে প্রায় সাতকোশ হইবে । বাদশাহী আমলে যেদিনীপুর হইতে একটি রাস্তা মঙ্গলকোটের মধ্য দিয়া পৌড়নগর পর্য্যন্ত প্রসারিত ছিল । শ্রীধনমঙ্গলের বজ্রেশ্বর মাহাত্ম্য নামক পুস্তকে মঙ্গলকোটের উল্লেখ আছে । পীঠমালায় ও অন্নদামঙ্গলে উজানীর কথা আছে ।

“উজানিতে ককোনি মঙ্গলচণ্ডীদেবী ।

ভৈরব কপিলেশ্বর শুভ ধীরে সেবি ॥”

—পীঠমালা ।

উজানীতে সতীর কুপরমেশ পতিত হইয়াছিল । এই স্থানের দেবী মঙ্গলচণ্ডি এবং ভৈরব কপিলেশ্বর । কবিকঙ্কনচৌ এই উজানীর কথায় অর্দ্ধেক পূর্ণ । মমসার গীতে উজানীর কথা আছে । তন্ত্রচূড়ামণিতে উজ্জয়িনী নামক স্থানে পীঠের উল্লেখ আছে । কুজিকাভক্তে মঙ্গলকোটে পীঠস্থান থাকিবার কথা আছে ।

মঙ্গলকোটে ও উজানী পরিভ্রমণকালে উজানী গ্রামে মঙ্গলচণ্ডিকার মন্দিরে পিতৃলম্বা দশভূজা মহিষমর্দিনী মূর্তি সিংহাসনোপরি বিরাজিত থাকিতে দেখিয়াছি । তাহার বামপার্শ্বে কৃষ্ণ প্রস্তরের একটি শিবলিঙ্গ বর্তমান রহিয়াছেন ; তাহার নাম কপিলেশ্বর । এই লিঙ্গ-মূর্তির বামপার্শ্বে কৃষ্ণ প্রস্তরে অতি সুন্দর একটি ধ্যানবুদ্ধ মূর্তি । বর্তমানকালে এই চণ্ডীর স্থানটিই পীঠস্থান বলিয়া প্রসিদ্ধ রহিয়াছে । কবিকঙ্কনচৌতে উজানী পীঠস্থান বলিয়া লিখিত হয় নাই । এই চণ্ডিকামন্দির শ্রীমন্তের মাতা খুন্না প্রভিক্তি । এই স্থানে সুবর্ণঘটে চণ্ডীর পূজা হইত । বর্তমান মূর্তিটি সুপ্রাচীন নহে । সুবর্ণের চণ্ডীর ঘটটি কিছুদিন পূর্বে চুরি গিয়াছে । সম্ভবতঃ মঙ্গলকোটেই পীঠস্থান ছিল ।

### ক্ষীরগ্রাম ।

দেবী যুগাতা, ভৈরব কীরণ্ডক ।

বর্দ্ধমান জেলার অন্তর্গত ধাইরা বা দেইরা পরগণার মধ্যে মঙ্গলকোট থানার অন্তর্গত ক্ষীরগ্রাম । বর্দ্ধমান ষ্টেশন হইতে কাটোয়ার রাস্তা ধারিয়া নিগনচি পর্য্যন্ত গমন করিলে পর তথা হইতে তিন চারি মাইল পূর্ব ভাগেই ক্ষীরগ্রাম ও মঙ্গলকোট সাত আট মাইল ব্যবধান । ক্ষীরগ্রামের অনতি উত্তরে কেশারকাহিনী ব্রাহ্মণী নদী প্রবাহিত রহিয়াছে । এই স্থানে দেবীর দক্ষিণাভূক্ত পতিত হইয়াছিল । দেবী যুগাতা, ভৈরব কীরণ্ডক বা কীরকঠ । ক্ষীরগ্রামের পূর্বভাগে দেবীর গভীরা এবং মধ্যভাগে কীরকঠের মন্দির বিদ্যমান রহিয়াছে । দেবীর পাবাণময়ী মূর্তি সমুদায় বৎসর ক্ষীর পুঙ্করগীতে নিমগ্ন থাকে । বৈশাখে পূজার সময় জল হইতে তুলিয়া গভীরামণ্ডলে আনীত হয় ।

কুজিকাভক্তে সপ্তম পটলে পীঠ স্থানের নামোল্লেখকালে ক্ষীরগ্রামের উল্লেখ আছে । তন্ত্রচূড়ামণির মতেও ইহা একটি পীঠস্থান । তথায় দেবী ভূতবাত্রী ও ভৈরব কীরণ্ডক (?) ইহাতে ক্ষীরগ্রামের স্থানে ‘যুগাতা’ লিখিত আছে ।



এই কীরগ্রাম ও পীঠ সম্বন্ধে বহু প্রবাদ প্রকাশিত আছে।

### কেতুগ্রাম।

বা

বহলা (৭)

দেবী বহলা, ভৈরব ভীষক।

কাটোয়া সদরের অনতি পশ্চিমে কেতুগ্রাম নামক স্থানে একটি পীঠস্থান বর্তমান আছে। দেবীর বাস ঘাছ পতিত হইয়াছিল। দেবী বহলা, ভৈরব ভীষক।

### মলহাটি (উপপীঠ)

দেবী ভ্রমরী, ভৈরব বিষ্ণুপাক।

মলহাটি স্থানের সন্ধান মিলে না। অনেকে বলেন কাটোয়ার দক্ষিণে পাইকপাড়ার সন্নিকটে যে 'ছোট ঠাকুর' দেবী আছেন সেই স্থানের নাম 'মলহাটি'। এই স্থানে সতীর ভান গভাংশ পতিত হইয়াছিল। দেবী ভ্রমরী এবং ভৈরব বিষ্ণুপাক।

### কিরীটকণা।

দেবী ভুবনেশী, ভৈরব কিরীটী।

কিরীটাবাদের অন্তর্গত কিরীটকণা। এষ্ট স্থানে দেবীর কিরীটী পতিত হইয়াছিল। দেবী ভুবনেশী এবং ভৈরব, কিরীটী। ইহা উপপীঠের মধ্যে গণ্য। এই স্থানের ভৈরব মূর্তিকে অনেকে বুদ্ধমূর্তি বলিয়া অনুমান করেন।

### কর্ণ স্বর্ণ।

(কর্ণ স্বর্ণ)

কর্ণাবাদের অন্তর্গত বর্তমানকাল সোনা নামক স্থানে কৃত্তিকা তরুর সপ্তম পটমে কর্ণ-স্বর্ণ পাঠস্থান বলিয়া উল্লেখ আছে।

### চক্রদ্বীপ।

(চাকদহ)

চক্রদ্বীপ বর্তমানকালে চাকদহ নামে খ্যাত। কেশরী নামক এক রাজা এই চক্রদ্বীপান্তর্গত দেবগ্রামে রাজত্ব করিতেন। এইস্থানে দেবীর অস্ত্র পতিত হইয়াছিল। পীঠাধিপত্যী দেবী চক্র ধরনী এবং ভৈরব শূলপাণি।

### মলহাটি।

(জেলা বীরভূম)

দেবী ভগবতী, ভৈরব ত্রিশঙ্কেশ্বর।

হ, আই, আর লুপলাইনের মলহাটি ঠেশনের অনতি সন্নিকটে 'মলহাটি' নামক পীঠস্থান বর্তমান রহিয়াছে। এইস্থানে সতীর নলী পতিত হইয়াছিল। দেবী ভগবতী এবং ভৈরব ত্রিশঙ্কেশ্বর পীঠস্থানের সন্নিকটে জাকনী নামে ক্ষুদ্র নদী বিস্তারিত আছে।

### অটুহাস।

(জেলা বীরভূম)

দেবী কুমারী, ভৈরব বিশেষ বা বিশেষ্বর।

উক্ত লুপলাইনস্থ আমোদপুর ঠেশনের প্রায় ৩৫ মাইল পূর্ব-দক্ষিণে 'অটুহাস' নামক পীঠস্থান বিস্তারিত রহিয়াছে। স্থানি হইতে যে পাকা রাস্তা আমোদপুরের ঠেশনের নিকট দিয়া রামজীবনপুর গিয়াছে সেই রাস্তার পার্শ্বে লাভপুর। লাভপুরে পুলিশ ঠেশন আছে। পূর্বে এই লাভপুরে একটি মৌল কুঠি ছিল। এই লাভপুরের অনতি পূর্বভাগে 'অটুহাস'। অটুহাসের নিকটে চণ্ডীপুর নামক গ্রাম। এই স্থানে দেবীর অধঃগত পতিত হইয়াছিল। প্রাক্ত অধঃগত শিলামূর্তি। শিবা ভোগাদি আশ্রয় অসুষ্ঠানাদি হইয়া থাকে। স্থানি সন্নিকটে ভৈরব বিশেষবের মন্দির বিস্তারিত রহিয়াছে।

### মন্দীপুজ (বীরভূম)

উপপীঠ।

দেবী মন্দিনী, ভৈরব মন্দিকেশ্বর।

উক্ত লুপলাইনের সাঁইখিরা ঠেশনের অনতিপূর্ব-ধানে ময়ুরাকী ভায়ে মন্দীপুর গ্রাম। এই স্থানে দেবীর হাত পতিত হইয়া ছিল। দেবী মন্দিনী ও ভৈরব মন্দীকেশ্বর।

### তারাপুজ (বীরভূম)

উক্ত লুপলাইনের ময়ারপুর ঠেশনের উত্তর পূর্ব দিকে চণ্ডীপুর নামক গ্রামের দক্ষিণে দারেকা নদীর পূর্বভায়ে তারাপুজ। তারাপুরে তারাদেবীর মন্দির ও



মূর্তি বর্তমান আছে । প্রাচীনকালে মহামুণি বশিষ্ঠ এই স্থানে সিদ্ধ হইয়াছিলেন । সেই কারণে এই স্থানটি পীঠরূপে মান্য পাইয়াছে । কৃষ্ণিকাঁ তন্ত্রের মতে তারা দেবীর পূজা ভারতের বহির্ভাগ হইতে এদেশে প্রবর্তিত হইয়াছে । ক্রম্ভা যানের মতে, বশিষ্ঠদেব চীন দেশে গমন করিয়া বুদ্ধদেবের উপদেশ অনুসারে তারা দেবীকে এদেশে আনয়ন করেন । শক্তি সঙ্গম তন্ত্রের মতে পৌড়-দেশে তারা দেবীর পূজার প্রচলন হইয়াছিল । তারা দেবীর অন্তরূপ কালী দেবী । বশিষ্ঠ দেব তারা দেবীর প্রতিষ্ঠা করিয়াছিলেন । এই স্থানেই সম্প্রতি লোকান্তরিত সাধক বামা ক্ষেপা ছিলেন ।

### বৈষ্ণব (বীলভূম)

দেবী মহিষমর্দিনী, ভৈরব—বক্রেশ্বর

বীলভূমের অন্তর্গত হরিপুর পরগণার মধ্যে ক্ষুদ্র বক্রেশ্বর নদীর তীরে বক্রেশ্বর নামক পীঠ স্থান । বীলভূমের নাগর বা রাজনগর নামক নগরের প্রাচীন প্রাচীরের বা গড়ের মধ্যে অবস্থিত । সিউড়ী হইতে যে পাকা রাস্তা পশ্চিমদিকে প্রসারিত রহিয়াছে সেই রাস্তা রাজনগর বা নাগরের মধ্যদিয়া গিয়াছে । গাড়ী হইতে চাঁদপুর পর্যন্ত বাইবার দেড় মাইল দক্ষিণ মুখে গমন করিয়া তাঁতীপাড়া গ্রাম পাওয়া যায় । এই তাঁতীপাড়ার মধ্যদিয়া এক মাইল দক্ষিণদিকে অগ্রসর হইলেই বক্রেশ্বর নদী । এই নদী পার হইলেই বক্রেশ্বর ধামে উপস্থিত হওয়া যায় ।

এই স্থানে দেবীর মন্দির বা জন্মস্থান পতিত হইয়াছিল । দেবী মহিষমর্দিনী এবং ভৈরব বক্রেশ্বর । ইহা একটি প্রাচীন তীর্থক্ষেত্র । বক্রেশ্বর তীর্থ ভূমির উত্তর, পূর্ব ও দক্ষিণভাগ বক্রেশ্বর নদীদ্বারা পরিবেষ্টিত রহিয়াছে । নদীর গর্ভে কতকগুলি উচ্চ প্রস্তর প্রস্রবণ রহিয়াছে । এই উচ্চ প্রস্তর বশিষ্ঠ স্থানের বায়ু গন্ধকময় ও হাইড্রোজেন বাষ্পে পূর্ণ । নদীর দক্ষিণ তীরে যে সমুদায় মন্দির বর্তমান রহিয়াছে তাহাদের সংখ্যা নুস্তাধিক তিনশত হইবে । এই স্থানে কয়েকটি জলাশয় আছে মাত্র । শিবালয়গুলির মধ্যে একটি অতি বৃহৎ এবং তাহার পটলপ্রাণী কতক বৈষ্ণবদেবের মন্দিরের অন্তর্ভুক্ত ।

ঐ মন্দিরের প্রবেশ দ্বারে একখানি অস্পষ্ট রূক্ষ প্রস্তরের উপর লিপি বর্তমান রহিয়াছে । সমুদায় মন্দিরগুলি ইষ্টক প্রাচীর দ্বারা পরিবেষ্টিত । প্রধান মন্দির অষ্টাবক্র মুনি প্রতিষ্ঠিত 'বক্রেশ্বর' শিবলিঙ্গ বর্তমান আছেন ।

উক্ত মন্দিরের উত্তর পূর্ব কোণে যে খোদিত লিপি-খানা বর্তমান আছে তদ্বারা বুঝিতে পারা যায় যে রাজ-নগরের রাজার মন্ত্রী দর্পনারায়ণ : ৬০৫ শকাব্দে ( ১৭৬১ খৃঃ অব্দ ) মন্দিরের উক্ত অংশ নিৰ্ম্মাণ করিয়াছিলেন ।

মন্দিরের পূর্বদিকের মধ্যভাগে আরও দুইটি খোদিত প্রস্তর ফলক সংবাদ আছে তদ্বারা বুঝা যায় হালবর্ষা ( হালবর্ষা ? ) ও সুরাধ নামক দুই সহোদর ছিল । তাহারা হয়ত এই মন্দির নিৰ্ম্মাণ করিয়া থাকিবে ! এতদ্ব্যতীত অত্র একখানি প্রস্তর ফলক ( ১৭৫৫ খৃঃ ১৬৭৭ সালবাহিনাক্ষ খোদিত আছে ) আছে ।

উচ্চ প্রস্তর গুলির দক্ষিণদিকে সাতকুলী চক্রপায়ের দাস সাগের নামক বড় বড় পুষ্করী আছে । উচ্চকুলু সংখ্যা নয়টি, ক্ষার কুলু, ভৈরব কুলু, অগ্নিকুলু, দোভাগ্য কুলু, জীবিত কুলু, ব্রহ্মকুলু, শ্বেতগঙ্গা, বৈষ্ণবী ও স্বর্ধাকুলু । সকল কুলুর জল সমান উষ্ণ নহে । শ্বেত-গঙ্গার জলের অর্দ্ধাংশ উষ্ণ ও অপরার্দ্ধাংশ শীতল । বক্রেশ্বর নদীর কূপে মহাপ্রাণ । অসংখ্য মরুৎপাল ইত্যন্ত : বিাকুল্য প্রদায়িত । শ্বেতগঙ্গার উত্তরে উচ্চ ভূমির উপর মাগিগী গোবামীর সমাধি মন্দির । ঐ স্থানের মৃত্তিকা ভঙ্গনে শূল রোগ আরোগ্য হইয়া থাকে প্রবাদ আছে । শ্বেতগঙ্গার পশ্চিমোত্তর দিকে ভৈরববেদী, তৎপর ক্ষুদ্রগোলাকার বেদী বিস্তারিত আছে ; ঐ টি ভৈরবের স্থান ।

### পটল তীর্থ (মাগদহ)

পটলচতী ।

মাগদহ ভেলায় জংস গোড়ের অন্তর্গত গোয়ামলতী নামক নীলকূসীর অনতি দক্ষিণে, লোহাগাড়ের সরিকটে গঙ্গার পরিত্যক্ত খাতের পূর্বপার্শ্বে পটলচতী নামক স্থান বর্তমান রহিয়াছে । বর্তমান কালে কয়েক ষণ্ড ভগ্নশীলা মূর্তি তথায় পতিত রহিয়াছে । দেশের লোকে পূজাদি ঐ স্থানেই প্রদান করে ।



পুণ্ড্র।

দেবী সর্বাঙ্গিনী তৈরব সর্ব।

নিবচকিত নামক সংগ্রহ পুস্তকে সতীর লোম পুণ্ড্র পতিত হইয়াছিল। সেই কারণে পুণ্ড্র একটি উপসীট। দেবী সর্বাঙ্গিনী তৈরব সর্ব। এই স্থানের অস্তিত্বসম্বন্ধে যথেষ্ট গোলযোগ বিস্তারিত আছে। কেহ বলেন অঙ্গর ভীরু বীরভূমকেলার পুণ্ড্র। কেহ বলেন মালদহে। আবার কে বিখ্যাস পুণ্ড্র মালদহে।

অক্ষয়কীর্তন।

দেবী কংকণা।

প্রাচীন লক্ষণাবতীর সন্ধ্যাত বড় মাটির দীপ্তির অন্তঃ সরিহটে বর্তমান কংকণাবতী নামক স্থানে গোড়ের অধিজাতী দেবী কংকণার স্থান ও মূর্তি বিস্তারিত ছিল। দেবী কংকণার উল্লেখ আছে। এই ভদ্র মতে এই স্থানে রণচতী বা প্রচণ্ড চতীর অবস্থানের কথা আছে।

শ্রী—

## হাওয়া

হাওয়া আঁক ছোঁয়না আমার

করনা এসে মনের কথা,

বেড়ায় ঘুড়ে ফুলের বনে

জাগিয়ে প্রাণে দারুণ ব্যথা।

আঁক বাদিও আঁধার রাত,

লক্ষ তারার লক্ষ বাতি,

পুলক ভরে উঠেছে ফুটে

বিধে ঢালি আকুলতা।

হাওয়া তবু ছোঁয়না কেন,

করনা এসে মনের কথা!

করনা ফুলের গন্ধে তরা

মত্ত যে আঁক বনুছরা,

এমনি রাক্ত স্বপ্নের পাতে

উঠেছে ফুটে কোন ব্যথা—

কইতে যে টাই হাওয়ার কাণে

তুমিবে না সে মনের কথা।

শ্রীজগদীশচন্দ্র রায় গুপ্ত

## মেশার সোভে।

সরাইওয়াল। টিকট বুড়ি ম্যাগলরের গোলাবাড়ীর সবুখে আসিয়া ঘোড়ার লাগাঙ্ক ধরিতা টানিল। বয়স তার প্রায় চল্লিশের কাছাকাছি—বেশ গোল গাল বয়স চেহারার খান—তাল ব্যবসায়ের বলিয়া তার ব্যাভিও যথেষ্ট।

কটকের সবুখে ঘোড়া হইতে নামিয়া সে ঘোড়ারি বাঁধিল; বুড়ির গোলাবাড়ীর সংলগ্ন তার কিছু কবি আছে তাই সে অনেক দিন হইতে বুড়ির কবির উপর ম্যেত

করিতা আসিতেছে, কিন্তু উচিত কৃপা দিয়া গোলাবাড়ী কিনিতে চাহিলেও বুড়ি বরাবর এক কথা কহিতা তাহাকে বিদায় দিয়াছে।

“এইখানে আঁকি কয়েছি এ বয়সে আর এক মরমা হাড়াকে পারি না, যে কটা দিন বাতি এই বাগেই কাট্টিয়ে যেতে চাই।”

সে বেধিল বুড়ি গোলাবাড়ীর সবুখে বসিয়া আঁক বাঁধিতেছে, বুড়ির বয়স প্রায় সত্তর-নাওকোটা—মর



ডেকা যেন দুকড়ে তুকিরে উঠিয়াছে, মাঝার কাছে বেকে ছুইয়ে পড়িয়াছে—কিন্তু এখনও বালিকার মত কর্ণে একটুই রাগি নাই।

চিকট পরমাত্মীর মত তাহার পানে চাহিয়া বলিয়া কহিল—

“মাসী ভাল তো? অনেক দিন পর দেখা।

“আছি এক রকম—এসেছ বেশ, কেমন আছ তুমি?”

“বেশ আছি, মাসী—তবে নাকৈ নাকৈ শুই বাতের ব্যাঘাটা, ও মা থাকলে খুন ভালই ছিলাম।”

“বেশ বেশ!”

বুড়ি আর কিছু না বলিয়া আপন কাছে প্রস্থ হইল। সুরু আলুল শুলো দিয়া আলুর খোসা ছাড়াইয়া চট্টপট্ট জলের টেবের ভিতর ফেলিতেছিল। ছুড়ি থানা যেন কলে চলিতেছিল। হু’তিনটা কষ্ট পুই মোরগ দৌড়াইয়া তাহার কোলের উপর দিয়া চলিয়া গেল।

চিকট উল্খল করিতে লাগিল, কি যেন কথা তাহার জিহবার আগে আসিয়া রহিয়াছে, কিন্তু সে তাহা বাহির করিতে পারিতেছে না।

অবশেষে সে ভাড়াভাড়ি বলিল “আমি বলছি কি মাসী—”

“কি বলছ?”

“গোলাবাড়ী বেচবে না একি একবারে ঠিক?”

“না—নিশ্চয়ই না, এ বিষয়ে তুমি নিশ্চিত হতে পার, একবার বা বলছি, সে বলছিই, ও কথা উৎপানের আর মরকার নাই।”

“ভাল, ভাল,—তবে আমি আপন মনে একটা মতলব ঠাট্টাইছিলাম আর তোমার আবার হু’জনারই সুবিধা হতে পারতো।”

“কি মতলব?”

“তুমি যেমন মাহেক আছ তেমনি থাকবে, আমার বিক্রী করবে এ জমি তোমারই থাকবে। বুঝতে পারছ না বুঝি? ভাল—আমি বা বলছি ভাল করে কোন কবে।”

বুড়ি হাতের ছুড়ি থানা আলুর জপের উপর রাখিয়া সরুইঁড়াকার দিকে চাহিল—চিকট বলিতে লাগিল—

“আমি বুঝিয়ে দিচ্ছি, কি মাসে আমি তোমার ১০০ ফ্রাঙ্ক (প্রায় ছয় পাউণ্ড) করে দেব। মাসে মাসে নিজে এসে টাকা দিয়ে যাব—বাড়ী যেমন তোমার আছে তেমনি থাকবে। কোন দাও দানী নেই তোমার উপর আমার—দাবীর মধ্যে শুধু আমার টাকাটি নিতে হবে তোমার। কেমন এ বন্দোবস্তে পোষাবে তো তোমার?”

বুড়ি আবিষ্কারের দৃষ্টি লইয়া তাহার পানে চাহিয়া এ কোন কাসাদে ফেলিবার আয়োজন সেই সন্ধ্যাইে বলিল—

“আমার পক্ষে তো বন্দোবস্ত সুবিধারই কিছু এতে তো তুমি গোলাবাড়ী পাবে না।”

“সে তেবে না, ভগবানের ইচ্ছায় বতর্দিন তুমি বেচে আছ এই থামেই থাকবে, এ তোমারই বাড়ী। শুধু একজন উকীলের সাক্ষাতে তুমি আমার এই দলিল দেবে যে, তোমার অতীতের পর এ আমার হবে। তোমার ছেলে গেলে নেই, তাহাে ভাগি আছে, তারা তোমার খোঁজও নেয় না। কেমন এতে রাজী তো? জীবন-কাল পর্যন্ত সবই তোমার এর উপর মাসে দেড় শ ফ্রাঙ্ক দেব তোমার পক্ষে এতে শুধু লাভ।”

বুড়ি বিস্মিত হইয়া গেল, সম্মতি দেওয়ার জন্য তাহার সেকার লোভ হইতেছিল বুড়ি বলিল—

“রাজী নই এমন কথা বলছি না, তবে একটু তেবে দেখতে হবে। হুগা থানেকের মধ্যে তুমি এসো একবার তখন এলম্বকে কথা হবে, ঠিক কথা আমি তখন দেব তোমার।”

চিকট একজন সাম্রাজ্যরী রাজার মত গোলাবাড়ীর বাহির হইল।

বুড়ি সমস্ত রাত্রি ভাবিল, একবারও চোখের পাতা একটাই করিতে পারিল না, তাহার মনে হইল এই যে সামিরা টাকা দিতে চাহিতেছে এর ভেতরে নিশ্চয়ই একটা কিছু আছে—হয়তো তাহার লসুবিধার পড়িতে হইবে—আবার মনে মনে লোভ মাসে মাসে এতগুলি টাকা নিকটাই আকাশ হইতে বর্ষ বৃষ্টির মত তাহার হাতে আসিয়া পড়িবে—প্রকৃততেন সে মুগ্ধ হইয়া যেন।



বুড়ি গায়ের মাভবের কাছে গিয়া সমস্ত জানাইল, সে বুড়িকে চিকিটের প্রস্তাবে স্বীকার করিতে বলিল, তবে দেড় শ' 'ভায়গার তিন শ' ফ্রাঙ্ক দাবী করিতে বলিল, কারণ তাহাব পোলাবাড়ীর দূলা কবের পক্ষেও ষাট হাজার কাঙ্কের কম নহে।

মাভবর বলিল “যদি তুমি পোনের বছরও বাঁচ তবেও মাত্র পঁয়তাল্লিশ হাজার ওর কাছ থেকে পাবে।”

মাসে তিনশ ফ্রাঙ্ক পাইবার আনন্দে বুড়ি কাঁপিতে লাগিল—কিন্তু তবু তার মনের সন্দেহ একেবারে ঘোচে নাই, সে অনেকক্ষণ উকীলের সাধেও পরামর্শ করিল অবশেষে দলীল লেখাপড়ার কথা কহিয়া যখন ঘরে ফিরিল তখন তাহার মাথা ঘুরিতেছে—কত বোতল ফ্রাঙ্কসের কোয়ারাই যেন বুড়ির মাঝে নাচাইতেছে।

পরদিন চিকিট যখন বুড়ির কাছে আসিল তখন বুড়ি নানা কারণ দাখিল করিতে লাগিল, অবশেষে চিকিট যখন শেষ কথা শুনিবার জন্য তাড়া দিল তখন বুড়ি তাহাকে নানাকল্প তোষাটয়া দেড়শ' ফ্রাঙ্কের পরিবর্তে তিনশ' ফ্রাঙ্ক দেবার কথা পাইল। চিকিট বিস্মিত ও নিরাস হইয়া স্বীকার করিল।

বুড়ি তখন চিকিটকে প্রলুব্ধ করিবার জন্য তাহার যে আর বেশী দিন বাঁচিবার সম্ভাবনা নাই ইহাট বুঝাইতে লাগিল।

“আমি বড় জোর আর পাঁচ ছ' বছর বাঁচি কিনা সেই সন্দেহ, বয়েস এই তো প্রায় তেরাত্তর পেরিয়ে চলো—শক্তি সামর্থ্যও আর নেই—সে দিন রাজে এমন হয়েছিল ভাবলেন মরলেন বুঝি—বিছানায় উঠে যে শোব সে ক্ষমতা পর্য্যন্ত ছিল না।”

কিন্তু চিকিটকে তুলানও সোজা ব্যাপার নয়।

“কি বা বল মাসী—অন্ততঃ একশ' বছর পর্য্যন্ত যে তোমার কিছু হবে না সে নিঃসন্দেহ। আমার বোধ হয় তোমার আগে আমিই মরবো।”

যেনা পাণ্ডার আলোচনায় সমস্ত দিন অভিযাহিত হইয়া গেল, বুড়ি যখন কোন মতেই তিনশ' ফ্রাঙ্কের কমে রাজী হইল না সরাইওয়াল তাহাতেই রাজী হইল। বুড়ি তখন দেসামী বাবব আরও একশ' কাঙ্কের দাবী করিতে লাগিল।

তিন বৎসর অতীত হইয়াছে। বুড়িকে দেখিয়া কিন্তু মোটেই বোধ হয় না যে, এই তিনটি বছর তাহার দেহের উপর একটু ছাপ রাখিয়া গেছে। চিকিট মহাশয়টিকে পড়িয়া গেল; তাহার বোধ হইতে লাগিল যেন এ বাৎসরিক খাজানা সে পক্ষাৎ বছর হইল দিয়া আসিতেছে—তাহার আর উদ্ধার নাই।

চিকিট মাসে মাসে বুড়িকে দেখিতে বাইত, বুড়ি তাহাকে দেখিয়া আরচোখে চাহিয়া আনন্দের হাসি হাসিত। চিকিটের অস্বস্তি ভাব দেখিয়া সে যেন ভারি খুসী। বুড়ির ভাব দেখিয়া চিকিটের মনাগুণ আরও বাড়িয়া চলিল—চিকিট মনে মনে কহিত “বুড়ি মালি মরবে কবে!”

কি যে করিবে সে ভাবিয়া ঠিক পাইত না—বুড়িকে দেখিলেই তাহার গলা চিপিয়া ধরিতে ইচ্ছা হইত। কাহারও সর্ব্বস্ব জুটিয়া লইলে তাহার উপর যেমন দৃষ্টি বিবেচ্য হয় বুড়ির উপরও তাহার সেই ভাব দাঁড়াইল—সে তাহার হাত হইতে নিস্তাণ পাইবার উপায় চেষ্টা করিতে লাগিল। একদিন সে বুড়িকে দেখিতে আসিয়া নানা কথা কহিয়া পরে বলিল—

“আমাদের জন্মদকে সহর পানে গেলে মাসী তুমি আমার ওখানে ষাওনা কেন? গেলে কি আর আমি তোমায় ছুটী খাইয়ে দিতে পারি না। নানা জনে নানা কথা কয়, বলে যে আমাদের মধ্যে তেমন ভাব নেই, এ কথা শুনে আমার মনে বড় দুঃখ লাগে, আমার ওখানে গেলে তো আর তোমার খাবার খরচ লাগে না, আর কেমন সব ভাল খাবার আমরা সরাইওয়ালরা খাই সেও তুমি জান—যখন তোমার খুসী যেও, বড় খুসী হব আমি তা হলে।”

বুড়িকে এ কথা কি আর ছ'বার বলিতে হয়—দিন দুইপরেই বুড়ি কি কাজে সহরে গেলে চিকিটের অন্ন অঙ্গ করিতে হোটেলের উপস্থিত হইল। হোটেল-ওয়াল তাহাকে একজন মহামাতা মহিলার মত নানা উপচারে ভোজন সামগ্রী সাজাইয়া দিল—কিন্তু বুড়ি খায় বড় কম সামান্য একটু মাংসের বোলেই তার পেট ভরিয়া গেল। চিকিট অস্বরোধ করিয়াও তাহাকে



আর বেশী কিছু খাওয়াইতে পারিল না এমন কি কাকি-  
টুকু পর্য্যন্ত না, তখন সে তাহাকে জিজ্ঞাসা করিল  
“যা হোক ওসব না খেলে, হজমের জন্য একটু ত্রাণ্ডি  
খেতে আপত্তি নেই বোধ হয় তোমার?”

“তা—তা—বল যখন ... ..” এই বলিতে  
চিকিট উচ্চস্বরে হাঁকিল—

“রোশানি ওই খুব ভাল ত্রাণ্ডিটা নিয়ে এস তো—  
পেশাল!”

বেরার আসিয়া একটা লম্বা বোতল হইতে খানি-  
কটা চালিয়া ছ’গ্রাস ভর্তি করিয়া দিল, “খেয়ে দেখ মাসী  
এ খুব ভাল একেবারে ফ্রাষ্টক্লাস”। বুড়ি আস্তে আস্তে  
চোকে চোকে পান করিতে লাগিল—আরাম যত বেশী  
উপভোগ করা যায়,—শেষ চুমুক অনেকক্ষণ সারিয়া  
ধীরে ধীরে বলিল—

“ই—বেশ!”

তাহার এই কথা বলিবার সঙ্গে সঙ্গেই চিকিট তাহাকে  
আর একগ্রাস পূর্ণ করিয়া দিল, বুড়ি আর খাইবে না  
বলিতে ইচ্ছা করিয়াছিল, কিন্তু ঢালা হইয়া গেছে কি  
করা যায় সে ধীরে ধীরে পান করিতে লাগিল। ফুরাইলে  
চিকিট তাহাকে আর এক গ্রাস খাইবার অহুগোধ  
করিল—বুড়ি আপত্তি করিলে চিকিট জেদ করিতে  
লাগিল—

“জান মাসী এ দুধের মত, আমি এর দশ বারটা  
একবারে পান করে দিতে পারি কোন বে-শুণ দেবে  
না এতে, চিনির মত মিষ্টিমাখা, কোনরূপ ক্রিয়া করে  
না, এর মত ভাল জিনিস বুঝি বাজারে পাবে না—  
একেবারে সেরা ডিম্।”

বুড়ি গ্রাসটি হাতে উঠাইয়া লইল। তাহার খাইবার  
খুব ইচ্ছা থাকিলেও অর্ধেকের বেশী খাইতে পারিল না।

চিকিট অভিমাত্রায় উচ্ছ্বসিত ভক্তি দেখাইয়া  
বলিল—

“দেখ মাসী, তুমি এ এত পছন্দ কর, বাড়ী নিয়ে  
বাবার জন্য এই ছোট বোতলটি আমি তোমার উপ-  
হার দিচ্ছি।

বুড়ি গগনদ চিন্তে বোতলটি গ্রহণ করিল। পোকাগী  
নেহার একটু টিলটলারমান অবস্থায় সে রাস্তার বাহির  
হইল।

পরদিন সরাইওয়ারা দুটি বোতল সঙ্গে লইয়া বুড়ির  
গোলাবাড়ীতে উপস্থিত হইল, আগের জিনিস কালকার  
থেকে সুবাস বলিয়া সে বুড়িকে পান করিতে অহু-  
গোধ করিল—ছ’জনের তিন তিন গ্রাস পান করা হইলে  
বিদায় লওয়ার সময় চিকিট বলিল—

“তোমার যত ইচ্ছা খেও মাসী, কিছু মনে কোরো  
না, আমার ঢের আছে। যত খেতে পার ততই আমি  
খুসী হব।”

চারিদিন পরে চিকিট আবার বুড়ির দোরে উপস্থিত,  
বুড়ি তখন ঝোলে খাইবার জন্য কুটি কাটিতেছিল।  
সে বুড়ির নিখাসের পক্ষ পাইবার জন্য তাহার মুখের  
কাছে মুখ লইয়া গেল এবং বুড়ির মুখে মদের পক্ষ  
পাইয়া আনন্দিত হইল।

“একটু খেলে হতো না মাসী—কি বল?” তাহা  
ছ’জনে মিলিয়া খানিক খাইল।

কয়েকদিন মধ্যেই চারিদিকে রাষ্ট্র হইল যে বুড়ি  
বেকার মদ খাওয়া শুরু করিয়াছে। ছ’টার দিন নিজের  
উঠানে রান্না ঘরের পাশে তাহাকে মত্ত অবস্থায় পাওয়া  
গেল—পরে পাড়ার রাস্তার সে অজান হইয়া পড়িত,  
লোকে ধরাধরি করিয়া তাহাকে ঘরে আনিত।

চিকিট আর তাহার বাড়ীর কাছে বসে না।  
লোকে বুড়ির কথা তাহাকে জিজ্ঞাসা করিলে সে বাণিত  
ভাবে বলিত—

“এই বরসে মদ খাওয়া ধরেছে বড়ই দুঃখের বিষয়,  
কিন্তু এ বরসে তো আর শোধরাবার উপায় নেই, দেখবে  
খেতে খেতে কোন দিন মরে যাবে।”

শেষে সেই সত্য হইল।

পরের নীতেই সে মারা গেল। বড়দিনের সময় সে  
বরকের উপর অজান অবস্থায় পড়ে—পরদিন তাহাকে  
মৃত অবস্থায় পাওয়া যায়। চিকিট গোলাবাড়ী দখল  
করিতে আসিয়া বলিল “বুড়ি নিজের দোষেই মারা  
গেল, মদ খাওয়া না ধরলে—আরো দশটি বছর অন্ততঃ  
বেচে বেতে পারতো।”

শ্রীজ্ঞানেন্দ্রনাথ চক্রবর্তী।

•নী, দে, ঘোপালা হইতে।



## সাহিত্যিক পত্র ।

(পৃথিবীর ইতিহাস প্রকৃতি গ্রহ গ্রন্থতা, খ্যাতনামা লেখক ঐযুক্ত দুর্গাদাস লাহিড়ী মহাশয়ের নিকট লিখিত সাহিত্য-মহাশয়ী ৮৭র বাহাছুর কালীপ্রসন্ন ঘোষ, বিভাগাগর, সি-আই-ই, মহোদয়ের পত্র । ৮ঘোষ মহাশয়ের পৌত্র ঐযুক্ত শ্রীশক্তিপ্রসন্ন ঘোষ মহাশয়ের সৌক্যে মুদ্রিত ।

“শ্রীহরি: শরণম্” ।

ঢাকা, বান্ধব-কুটীর,  
২৫ ফাল্গুন, ১৩০৬ ।

চিরশ্রীতিভাজনে—

আপনি ‘সাহিত্য-সন্মিলনের’ পক্ষ হইতে আমাকে আনয়ন করিয়াছেন । প্রত্যুত্তরে আমার শ্রীতিপূর্ণ অভিবাদন ও ধন্যবাদ গ্রহণ করুন । আমি দুর্ভাগ্যবশতঃ তিন মাস অবধি এক প্রকার শয্যাক্রান্ত অবস্থায় অতি ক্লেশে দিনপাত করিতেছি । বহুতে পত্র লিখিব দূরে থাকুক, দু’টি কথা কহিতেও আমার আশ্রয় হয় । আমি এইঃষেতু, “সাহিত্য-সন্মিলনের” সেবার্ধ কোন কার্য্য করিতে না পারিয়া, প্রকৃতই অন্তরে বড় দুঃখিত রহিলাম । বাদলা ভাষা বেধন আপনায়, তেমন আমার এবং সেইরূপ আমাদিগের প্রত্যেকেরই বাড়

বন্ধপা । বিখ্যাত দার্শনিক ‘অগস্ত্য কোব’ সমগ্র মানব জাতিকে একটি বনঃক্লান্ত দেবতা-জ্ঞানে ধান ও আরাধনা করিতে উপদেশ করিয়াছেন । আমার বনঃক্লান্ত দেবতা বাড়ুকগণী বন্ধতা । আমি প্রায় অর্দ্ধ শতাব্দী কাল বন্ধতাবন্ধে মনে মনে বা বলিয়া ডাকিয়াছি—বা বলিয়া ভাল বাসিয়াছি, এবং বাড়ুকজ্ঞানে—আমার এ ক্ষুদ্র জন্মের পরিমাণে পূর্ণা করিয়াছি । আর, বাহারি ভক্তি ও প্রভার সহিত বাদলা ভাষার সেবা করিয়াছেন, তাঁহাদিগকেও আমার অঙ্গতান মনে করিয়া ভ্রাতৃ সম্ভাষণে সম্মান করিয়াছি । ‘সাহিত্য-সন্মিলন’ আমাদিগের সে মায়েরই সেবার একটি অঙ্গতান । বাহারি উদ্যমে যোগদান করিবেন, আপনি তাঁহাদিগকে আমার জন্মের প্রগাঢ় শ্রীতি ও মহাশ্রুতি এবং বধ্যবোধ্য প্রণাম অথবা নমস্কার জ্ঞাপন করিবেন এবং আমি আমার এ ক্লিষ্ট অবস্থায়ও সর্কান্তঃকরণে আপনাদিগের সঙ্গে আছি, সকলকেই ইহা, দয়া করিয়া, আমার হইয়া জানাইবেন ।

ভগবানের রূপায় ‘সাহিত্য-সন্মিলনের’ উদ্দেশ্য ও আকাঙ্ক্ষা সফল হউক ।

একান্ত বশবৎ

শ্রীকালীপ্রসন্ন ঘোষ ।

## ব্যথিত ।

নিষ্ঠুর পীড়নে হিরার বাকারে বেধনা বাজিছে নিতি ;  
বরমে তোমার পশে’ না কি তার, একটি করুণ সীতি ।  
আলোকের লাগি প্রাণ ত্যাগ করিছে নয়ন লোর ;  
কোন সুর দিয়ে বাঁধিব আবার, জীবন বীণাটি মোর ।  
অন্ধ নিরতি—কতি নাহি তার, আশার রয়েছি কবে—  
বেধনার মাঝে মাধুরী তোমার আপনি স্তুতিয়া রবে ।

শ্রীসরোজকুমার সেন ।



## হাসিব কেন ?

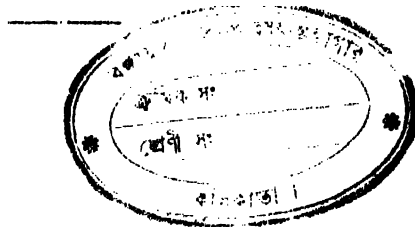
শুক মধ্যাহ্নে যেন                      কাণ্ডন সমীরণ  
 ক্রুদ্ধ মরম ব্যথা ফুকারি কাঁদে ;  
 ভরা ভাদরে যেন                      কাঁদিয়া কুলু কুলু  
 ভটিনী হৃৎপীতি শোনার চাঁদে !  
 সুগাছের অশ্রু যেন                      হেমন্ত আগমনে  
 শিশির বিন্দুরূপে অশ্রাস্ত করে ;  
 জ্বলন্ত তরঙ্গী যেন                      নীরবে কঁদে উঠে  
 দ্বিগন্ত পরিপ্লাবী পকম করে !  
 করুণ ক্রন্দন যৌন                      অব্যক্ত বাতনার  
 বিশাল ভূমণ্ডল ব্যাপিয়া যেন  
 উঠিছে মহাবেগে                      ভেদি' অমর তল  
 আমি হায় তবে হাসিব কেন ?

শ্রীযোগেশচন্দ্র চৌধুরী

## কাঁদিব কেন ?

তুলি পরশে যেন                      উষা মাথারে দেয়  
 হাসির স্বর্ণকাঞ্চি নিসর্গ বননে ;  
 ঘাসে পাতার যেন                      হাসি উথলি উঠে  
 তরুণ জীবন্ত স্নিগ্ধ বসন্ত সনে ।  
 হাসির লহর যেন                      নিদায়ে বয়ে যায়  
 চম্পক চাবেনী বেগী ফুলের দলে ;  
 জমাট হাসি যেন                      শারদ শশধর  
 ভাসিয়া বেড়ায় নীল আকাশ তলে ।  
 চাহি বেদিক পানে                      হাসিছে চরাচর  
 আনন্দ অমৃত-সরে মগন যেন,  
 হৃষ্টির রাজা আমি,                      বরপুত্র প্রকৃতির  
 তর্জনী হেলনে বল কাঁদিব কেন ?

শ্রীযোগেশচন্দ্র চৌধুরী ।









It is requested that all articles intended for publication may be sent to Professor S. N. Bhadra, Nyabazar, Dacca.

All business communications and complaints regarding non-delivery of the Magazine should be addressed to—

*The Manager, "Dacca Review,"*

*5, Nayabazar Road, Dacca.*

*A.B.*—I take this opportunity of expressing our sincere gratitude to the numerous gentlemen of light and leading who have encouraged us in this venture, either by the assurance of their warm and sympathetic support or by offering to contribute to this Magazine. Among other we may mention the names of:—

- |  |   |
|--|---|
| The Hon'ble Mr. P. C. Lyon, C.S.I.                                       |   |
| The Hon'ble Sir Harcourt Butler, K. C. I. E.                             |   |
| The Hon'ble Nawab Syed Sir Shamsul Huda, K. C. I. E., M.A., B.L.         |   |
| The Hon'ble Sir Asutosh Mookerjee, Sastra Vachaspathi Kt., C.S.I., M.A., |   |
| The Hon'ble Mr. H. LeMesurier, C.S.I., C.I.E., I.C.S.                    | Hon'ble Maharaja Bahadur of Dinagpur, K.C.I.E.  |
| " Sir Henry Wheeler, K. C. I. E.   | The Maharaja Bahadur of Cassimbazar, K.C.I.E.   |
| " Mr. R. Nathan, B.A., C.S.I., C.I.E., I.C.S.                            | The Hon. Maharaja Bahadur of Nashipur.          |
| " Mr. H. Sharp, C.S.I., C.I.E., M.A.                                     | The Raja Bahadur of Mymensing.                  |
| Sir N. D. Beaton Bell, C.S.I., C.I.E., I.C.S.                            | Prof. J. N. Das Gupta, M.A., (Oxon).            |
| " Mr. J. Donald, C. I. E., I. C. S.                                      | The Hon'ble Sir Devaprasad Sarvadhicari M. A.   |
| " Mr. W. W. Hornell, C. I. E., M. A.                                     | L. L. D., C. I. E.                              |
| " Mr. W. J. Reid, C.I.E., I.C.S.   | Mr J. H. Kerr, C. S. I., C. I. E., I. C. S      |
| " Mr. J. G. Cumming, C. S. I., C. I. E.                                  | Mr Justice B. B. Newbould, I.C.S.               |
| " F. C. French, C.S.I., I.C.S.   | Nawab Syed Nawab Ali Chowdhuri.                 |
| W. A. Seaton Esq., I. C. S.  | Babu Ananda Chandra Roy.                        |
| D. G. Davies Esq., I. C. S.  | J. T. Rankin Esq. I.C.S.                        |
| Ven'ble Archdeacon W. K. Firminger, M.A.                                 | G. S. Dutt Esq., I.C.S.                         |
| Sir John Woodroffe.  | S. G. Hart, Esq., M.A., I.C.S.                  |
| Sir John Marshall, K.C.I.E., M.A., Litt. D., F.S.A.                      | F. D. Ascoli, Esq., M.A., I.C.S.                |
| The Hon'ble Mr. K. C. De, C.I.E., B.A., I.C.S.                           | J. McSwiney, Esq., M.A., I.C.S.                 |
| " Mr. L. Birley C. I. E., I. C. S.                                       | W. R. Gourlay, Esq., C.I.E., I.C.S.             |
| H. M. Cowan, Esq. I. C. S.   | T. O. D. Dunn Esq., M.A.                        |
| J. N. Gupta Esq., M.A. I.C.S.  | E. N. Blandy Esq., I.C.S.                       |
| W. L. Scott, Esq., I.C.S.  | D. S. Fraser Esq., I.C.S.                       |
| Sir. J. C. Bose, C.S.I., C.I.E.  | Rai Jamini Mohon Mitra Bahadur.                 |
| W. A. J. Archbold, Esq., M.A., L.L.B.                                    | Raja Monmotho Nath Rai Chaudhury of Santosh.    |
| H. E. Stapleton Esq., M.A., B.Sc.  | Khan Bahadur Syed Aulad Hossein.                |
| Dr. P. K. Roy, D.Sc.   | Mahamahopadhyaya Dr. Satish Chandra Vidyabhusan |
| Dr. P. C. Ray, C.I.E. M.A., D.Sc. (London)                               | Kumar Sures Chandra Sinha.                      |
| B. L. Choudhri, Esq. M.A., D.Sc. (Lond.)                                 | Babu Chandra Sekhar Kar, Deputy Magistrate.     |
| Mahamahopadhyaya Pandit Hara Prasad Sastri, C.I.E.                       | " Jatindra M. han Sinha, Deputy Magistrate.     |
| Principal Evan E. Biss, M.A.   | " Hirendra Nath Dutt, M. A., B.L.               |
| " Rai Kunudini Kanta Bannerji Bahadur, M.A.                              | " Rakhal Das Banerjee, Calcutta Museum          |
| " Rai Lalit Mohan Chatterji Bahadur M. A.                                | " Hemendra Prosad Ghose.                        |
| " J. R. Barrow, B. A.  | " Akshoy Kumar Moitra.                          |
| Professor R. B. Rambotham M. A., (Oxon).                                 | " Jagadananda Roy.                              |
| " J. C. Kydd, M. A.  | " Binoy Kumar Sircar.                           |
| " W. Douglas, M. A., B. Phil., B. D.                                     | " Gouranga Nath Banerjee.                       |
| " T. T. Williams M. A., B. Sc.   | " Ram Prun Gupta.                               |
| " Egerton Smith, M. A.   | Dr. D. B. Spooner.                              |
| " G. H. Langley, M. A.   | Kunwar Sain Esq., M.A., Bar-at-Law              |
| Rai B. N. Das Bahadur, M. A. B.S   | Principal, Lahore Law College                   |
| Debendra Prasad Ghose.   | Khan Bahadur Syed Abdul Latif.                  |



## CONTENTS.

---

|    |  |   |     |
|----|--|---|-----|
| 1. | The Puranas and the chronology of the<br>Pre-Mauryan Age ... | ... Prof. Surendra Kisor Chakraborty, M. A.                       | 129 |
| 2. | Buddhism and Buddhist Art in<br>East Bengal ...              | ... Nalini Kanta Bhattasali, M. A.<br>(Curator, Dacca Museum) ... | 136 |

---

## সূচী

| ক্রমিক | বিবরণ                    |  | পৃষ্ঠা |
|--------|--------------------------|--|--------|
| ১।     | প্রাচীন অনন্তের বোলক ... | শ্রীযুক্ত গুরুদাস চক্রবর্তী ...                          | ১৪২    |
| ২।     | আবাহন (কবিতা) ...        | শ্রীযুক্ত সরোজকুমার সেন ...                              | ১৫১    |
| ৩।     | একগোছা চুল (গল্প) ...    | শ্রীযুক্ত শ্রীলকুমার রায় ...                            | ১৫২    |
| ৪।     | শেষ নিশার (কবিতা) ...    | শ্রীযুক্ত কুমুদরঞ্জন বল্লিক বি, এ ...                    | ১৫৬    |
| ৫।     | হাসির সঙ্গীত ...         | ... ..   | ১৫৬    |
| ৬।     | সাহিত্যে স্বাধীনতা ...   | ডাক্তার শ্রীযুক্ত নরেশচন্দ্র সেনগুপ্ত এম, এ, ডি, এল, ... | ১৫৭    |
| ৭।     | অরুণ ...                 | শ্রীযুক্ত প্রেমকুমার চক্রবর্তী ...                       | ১৬৫    |
| ৮।     | শূন্য (কবিতা) ...        | শ্রীযুক্ত বসন্তকুমার চট্টোপাধ্যায় ...                   | ১৭০    |
| ৯।     | মাহুত থেকে গাছ ...       | ... ..   | ১৭১    |
| ১০।    | বাণী উদ্বোধন ...         | শ্রীযুক্ত আভতোষ মুখোপাধ্যায় বি, এ ...                   | ১৭২    |

---





# THE DACCA REVIEW.

VOL. XI.

JANUARY, 1922.

No. 10

## THE PURANAS AND THE CHRONOLOGY OF THE PRE- MAURYAN AGE.

"Historical Criticism, that is, judgment, is practised not for the purpose of disbelieving but of believing. Its object is not to find fault with the author, but to ascertain how much of what he says may be reasonably taken as true". (Dr. Taylor).

The Puranic literature is an important source of Indian History but the dynastic lists have become very much vitiated by the successive revisions that they have gone through. The origin of these accounts must be traced back to the heroic poems that were sung by the bards and minstrels in the Courts of the ancient Kings and Nobles. These were generally composed not in the learned language of the time but in the popular tongue. It has been conclusively proved by Mr. Pargiter that the original account was in some form of Prakrit and it was only in later emenda-

tions that all prakritisms were replaced by Sanskrit forms. These songs were afterwards put to writing and supplied the dynastic materials to the later Puranas that have come down to us and are mainly devoted to the worship of particular gods. The original authority for the dynastic lists is the Bhavishya Purana, but it is practically lost to us, the copies that have been found are in such a corrupted form that they serve no useful purpose at all.

The dynastic materials that we find incorporated in the Puranas are the result of many revisions in successive ages. The original account has been added to repeatedly to bring it up to the contemporary period by the revisers. The innumerable mistakes and incongruities must be ascribed to the successive handlings. The last revision as proved by Mr. Pargiter took place about 330-335 A. D. The Puranas bring the dynastic lists to an end with the Guptas; and their empire is said to have included the territories along the Ganges,



Prayaga, Saketa and Magadha. This is exactly the extent of the Gupta Empire before the conquests of Samudragupta. Another revision must have been effected only few years before, about 320-325 A. D. and this version is found in the Mss. e Vayu of Pargiter. The end of the Andhra dynasty marks a very important epoch in the History of India and the Puranic lists were brought upto date at the end of the reign of Pulomavi about 225 A. D. In all the Puranas we find the chronological and astronomical particulars which come down only to Pulomavi the last Andhra King. It is reasonable to infer that the accounts were brought upto date after the Andhras and an attempt was made to find out the chronology of the earlier Kings. Another revision must have been taken in hand in the reign of the Andhra King Yajnasri (173-202 A. D.) who is spoken of as reigning in his 9th or 10th year in some of the Mss. of the Matsya Purana.

Thus we find that in the course of 150 years or so, the dynastic materials were revised at least four times. That similar revisions were effected previously at short intervals can not be doubted. There were atleast two occasions in earlier times when similar revisions might be suspected. The first and the earliest occasion seems to be in the reign of Adhisimakrsna of the Paurava dynasty, (5th in descent from Pariksit) who is said to be the contemporary of

Divakara of the Aiksvaka and Senajit of the Barhadratha dynasty. The Puranic accounts before these kings are given in the past tense and they are said to be reigning contemporaneously. After them, these 3 dynastic lines are continued but a prophetic turn is given to the whole account. The later Kings are looked upon as future ones from the standpoint of these contemporary Kings. Are we not perfectly justified by that serious break at that particular time, that a very important revision of the lists must have been taken in hand at the time of Adhisimakrsna? Most probably it was at this time that the bardic tales which were so long the exclusive property of the minstrels came to be put down in writing and made accessible to all. The Scholars later on handled these materials and effected a change in the language, in order to make them acceptable to the learned. Another occasion when the lists were brought upto date seems to be towards the end of the Sisunaga dynasty. The Paurava dynasty comes to an end with the 25th King from Adhisimakrsna, the Aiksvakas with the 26th king from Divakara and the Magadha line with the 25th king from Senajit, (the Pradyotas being the contemporaries of the Saisunagas). This leads to a suspicion that just before the beginning of the Nanda dynasty, the dynastic materials were brought upto date; Magadha then came to occupy a pre-



eminent position among the ancient states and greater attention was directed to the Magadha Kings, the Pauravas and the Aiksvakas being left in the cold shade of neglect. That the materials were again and again handled can not be questioned and these repeated revisions led to innumerable discrepancies and mistakes. A careful perusal however may bring out some order out of this chaos.

The Puranas deal with certain chronological particulars based on astronomical calculations which are clearly spurious in their nature and were appended to the Puranas at the end of the Andhra dynasty: It is said that one complete cycle of the Great Bear passed from Pratipa, ancestor of Pariksit in the 7th generation, to Pulamvi the last of the Andhra King *i. e.* 2700 years. According to this calculations Pratipa must have come to the throne in 2475 B. C. (2700-225 A. D. the date of Pulamavi) and Pariksit's date must be about 2320 B. C. allowing 22 years on the average for each generation. Twenty years atleast must be added to Pariksit's time (2320 and 20—2340 B. C.) to get the date of the Great War. These calculations are in direct conflict with the chronological particulars given only a few lines before in the Puranas. The interval from Pariksit to Mahapadma is 1050 years according to Matsya Vayu and Brahmanda and 1015 according to the Visnu and the Bhagavata, while an

interval of 836 years is said to have elapsed from Mahapadma to Pulamavi. This account places Paraksit in the 15th Century B. C. (1050 and 100 and 321 B. C.—1472 B. C) taking the maximum of 100 years for the Nanda dynasty and going back from the accession of Chandragupta in 322 B. C. This figure also seems to be unreliable, being arrived at merely by a Summation of the total figures for the different dynasties as given in the Puranas. Both these dates came to be added to the Puranic accounts in very late revisions, perhaps at the end of the Andhra dynasty. Our starting point in settling the Chronological is the accession of Chandragupta Maurya, 322 B. C. We have to go backwards from this fixed point. Much help is also derived from certain Synchronisms. The first and the earliest is the synchronism of Senajit of the Barhadratha line with Adhisimakrsna, the Paurava, and Divakara, the Aiksvaka. This synchronism makes it possible for us however approximately to determine the dates of Pariksit and the great war. The Puranas as pointed out by Mr. Pargiter were composed in Magadha and always give greater details, chronological and otherwise of the Magadhan dynasty.

The determination of the Chronology of the kings or Magadha will make it possible to put forth a tentative scheme of chronology for the Pauravas and the Aiksvakas. The second synchronism is that of Buddha with his contemporary



Kings Chandra Pradyota of Avanti, Udyana of Vatsa, Pasenadi and his son Vidudabha of Kosala and Bimbisara and his son Ajatasatru of Magadha. This is based upon the Pali Buddhist canon and has been treated at length by Mr. Bhandarkar in his Carmichael Lectures 1918. It is however of great use in checking the Chronological results as obtained for the Saisunaga dynasty and in giving the Pradyota dynasty its proper place as the contemporaries of the Salsunaga kings. At last we reach firmer ground and the accounts of the Greek historians who came to India with Alexander and the foreign travellers like Megasthenes as well as the synchronism of Asoka with the Yavana Kings as mentioned in his inscriptions make it possible for us to reconstruct the Chronology of the Maurya Emperors with an amount of certainty which is rarely secured in the ancient history of this country. For later dynasties, we derive much information from their inscriptions, and the dates, on a comparison with the Puranic materials, can be atleast approximately fixed which are sufficiently accurate for most purposes.

We shall now take the Magadhan dynasties one after another and discuss the reliability of the Chronological materials as given by the Puranas. First of all, we have to take up the Barhadra-thas. The total number of Kings in this dynasty is 32 and the duration is given in round numbers as 1000.

Dva-trimsa ca urpa by etc. bhavitaro Brahadrathah purnam varsa-sahasram vai tesam rayam bhavisyati.

It was founded by Barhadratha and there were ten kings including him before the great battle. Senajit who is spoken of as the reigning king is the 7th one from the great battle and the dynasty comes to an end with the 16th king taking Senajit as the first. We have thus 32 kings; 16 before Senajit and 15 after him, while there were 22 generations of this dynasty after the Kurukshetra War. The total duration of the dynasty 1000 years gives an average of  $32\frac{1}{2}$  for each king, which is however very excessive. As is clearly evident this is given merely in round numbers, the actual duration must be much less than a thousand. The Puranas however profess to give the duration of the individual reigns, the total for the 22 kings of the dynasty from the great battle is 1016 or 1006 if we accept 25 instead of 35 years for the 13th, King Sunetra. We have thus 1000 years for the whole dynasty of 32 kings and 1006 for the 22 kings after the great battle. The whole arrangement is preposterous. Again the average for each of the 22 Kings  $45\frac{1}{2}$  years is too high and must be rejected. So the number of years assigned to the individual Kings must be an after-thought and due to ignorant rehandlings during subsequent revisions, in which attempts were made to bring up the total for the whole dynasty to its



approximate duration as given in round numbers in the Puranic accounts. We have two very valuable lines in Mss. Jmt. of Pargiter.

Sodasaite nrpa jneya Chavitaro  
Brahadrathah trayo-vines-adhikam  
tesam rajyam ca sata-saptakam.

The more reasonable and correct interpretation is surely as follows :—

“These 16 Kings are to be known as the future Barhadhrathas (reckoning from Senajit) and their Kingdom (that is, the Kingdom of the Barhadhrathas) lasts 723 years” (Pargiter). To assign 723 years with an average of  $45\frac{1}{4}$  for each King is utterly untenable and 723 years for the whole dynasty of 32 gives a reasonable average of  $22\frac{1}{4}$  years and must be accepted in preference to other suggestions. The actual duration of the whole dynasty is thus 723 years which is given in round numbers—as 1000 in the majority of the Puranas.

The Puranas place the Pradyota dynasty of Avanti immediately after the Barhadhrathas and before the Saisunagas. But this is evidently a mistake. Pradyota the first king of the dynasty is known from references in the Pali Buddhist canon to be the contemporary of Buddha and Ajatsatru, the 6th Saisunaga king of Magadha. Mr. Bhandarkar gives a detailed account of this dynasty in his Lecture No. 2 (Carmichael Lectures 1918) as collated from the Buddhist and Sanskrit Works. As clearly demonstrated by him the

first king of the dynasty was Pradyota who had two sons Gopala and Palaka, of whom Palaka the younger came to the throne after their father.

Aryaka, son of Gopala who has been identified with Ajaka of the Puranas by Mr. K. P. Jaysawal, naturally did not like the arrangement and succeeded in getting back the throne from his uncle. Visakhayupa is placed in the Puranas between Palaka and Ajaka. Mr. Bhandarkar takes this to be an evident mistake and proposes to place him after Ajaka. Placing the Pradyota Kings side by side with the latter Saisunagas who were their contemporaries, leads to a very important conclusion. We know from the Pali Buddhist Works that Bimbisara and Ajatsatru of the Saisunaga dynasty and Pradyota of Avanti were the contemporaries of Buddha. This is a very important synchronism in Indian History and has been characterised by Mr. Bhandarkar as “the only sheet anchor in the troubled Sea of Chronology” of that early period. The 5th King of Pradyota dynasty, Nandivardhana is referred to as the son of Ajaka in the Puranas. Again the 5th King of the Saisunaga dynasty from Bimbisara is Nandivardhana whose relationship with the previous King is not mentioned. The period ascribed to the 4 Kings from Pradyota to Ajaka is 118 while the 4 Saisunaga Kings from Bimbisara to Udaya reigned for a total period of 111 years. This conclusively proves



that Nandivardhana of the Saisunaga dynasty is the contemporary of Nandivardhana of the Pradyota dynasty. Is it not a reasonable presumption that Nandivardhana of the Saisunaga dynasty is no one else but Nandivardhana, the Pradyota? That two kings of the same name reigned contemporaneously in Avanti and Magadha seems highly improbable though not absolutely impossible. This conclusion is rather strengthened when we find an attempt in the Puranas to keep the origin of the Nanda dynasty in obscurity. This disinclination to refer to the conquest of Magadha by a foreign King may be due to patriotic motives on the part of the Magadhan Chroniclers. That there is a great deal of uncertainty about this dynasty must be acknowledged, specially when we find that the total duration for the ten Kings included in the dynasty is given as 360 years, an average of 36 years for each reign which seems impossible and must be rejected. We have therefore to refer to the other reading which allots 163 for the Saisunaga dynasty which is however fully reasonable and may be accepted.

The first two Kings of the Nanda dynasty figure as the last two of the Saisunaga. Such erroneous insertion is not rare *e. g.* the first 2 kanna kings are introduced in all copies of the Matsya Purana just before Bimbisara of the Saisunaga dynasty but are again repeated in their proper place. The very names of Nandivardhana and

Mahanandin clearly show that they belong to the Nanda dynasty (V. Smith) and their inclusion among the Saisunagas may be due to the low origin of the latter Nandas. Mahapadma Nanda was the son of Mahanandin by a sudra woman and is said to have exterminated all Kshatriyas *i. e.* established an empire in Northern India. It is but natural that the founder of an empire and the greatest prince of the dynasty should figure as the first king of the line, specially when we remember that he was a man of low origin and the Brahmin Chroniclers had a prejudice against him and would not like to place him in the same line with his predecessors who were Kshatriyas and of high origin and came to be naturally included among the high-born Saisunagas who were also Kshatriyas. The conclusion is forced on us that the Saisunaga dynasty was supplanted by Nandivardhana, the Pradyota king of Avanti who became the founder of the Nanda dynasty of Magadha. The United kingdoms of Avanti and Magadha were ruled by Nandivardhana and Mahanandin and came to be much augmented by Mahapadma who became a Chakraborty, a universal monarch, the founder of the greatest Empire of antiquity.

The Saisunaga dynasty as we have already seen lasted for 163 years and not 360; the mistake must have crept in when the Prakrit of the Purana Texts came to be converted into classical



Sanskrit in subsequent revisions. The total for the Nanda dynasty is given in round numbers as 100. Taking the kings one by one we have a total of 123-40 for Nandivardhana, 43 for Mahanandin 28 for Mahapadma and 12 for his sons. In some copies we have 88 for Mahapadma instead of 28 which is apparently an error committed by later revisers, otherwise this would give an average of 46 years for the Nanda kings. So the total of 123 years for the Nanda dynasty must be taken as substantially correct.

The Udayagiri inscription of Khara-vela the King of Kalinga testifies to the correctness of this view. The text was settled in 1917 by R. D. Banerjee and K. P. Jayaswal. This inscription was set up in the 13th year of his reign *i. e.* about 157 or 158 B. C. A Nanda king is said to have dug a canal 300 years before the 5th year of his reign (*i. e.* 300 years before 165 B. C.) which gives us the date of the Nanda king as 465 B. C. There is only a difference of 20 years with the Puranic date of Nandivardhana. But the date of the Nanda king is given in round numbers; so the Puranaic account may be taken to be substantially correct.

With the accession of Chandra Gupta to the throne of Magadha in 322 B. C. we secure a definite date in Indian

History. We have a detailed account of the first three Mauryas, in the contemporary inscriptions, indigeneous records and foreign notices. But after Asoka everything again becomes confused. All the Puranas however agree that the dynasty lasted for full 137 years, but when the individual reigns are added together the total varies from 133 to 160. The number of kings is given as 9, 10 or 12 in the different Puranas but "the best attested number is 10" according to Pargiter, and the total duration is almost certainly 137 years.

Thus going backwards from Chandragupta Maurya, we find that the Barhadhrathas came to the throne of Magadha about 1331 B. C. and as the Great battle was fought in the reign of the 10th king Sahadeva who was killed in it, the approximate date must be 1100 B. C. giving  $22\frac{1}{2}$  years for each of these kings. Thus the Chronology of the early dynasties may be arranged as follows :—

The Barhadhrathas...1331-608 B. C.

The Great Battle...1100 B. C.

The Saisunagas.....608-445 B. C.

The Nandas.....445-322 B. C.

The Mauryas.....322-185 B. C.

Chandragupta Maurya acc. 322 B. C.

SURENDRA KISOR CHAKRABORTY.



## BUDDHISM AND BUDDHIST ART IN EAST BENGAL.\*

So completely has Buddhism disappeared even from Bengal, its last resort in India, that we of the present generation find it hard to realise the immensity of the religious flood that swept the whole country, and left it strewn with innumerable images in stone and metal, when it receded. The Buddhist images described and catalogued in the first part of this book are but an insignificant fraction of the images that actually came out from the workshops of innumerable artists all over the country but even these will be sufficient to give the reader an idea of the extent to which Buddhism flourished in Vanga and Samatata.

The earliest centre of culture in these parts appears to have been the settlement round the magnificent fort of Candra-Varman, the earthen ramparts of which enclose a thickly populated tract of land  $2\frac{1}{2}$  by  $2\frac{1}{2}$  miles in area, and which still rise in places to a height of 30 feet from the surrounding plain. This place is now known as Kotalipada (meaning the settlement formed on the raised ramparts of the fort) and is situated in the southern area of the

modern district of Faridpur. Gupta gold coins have been found in considerable numbers from places close to the south-western corner of the fort, where the settlement appears to have been the thickest. The building of this fort has been ascribed to Candra-Varman in the beginning of the 4th century A. D., the famous Candra of the Meherauli Iron Pillar, who came to Vanga and warred with the chiefs of the place who offered him an united opposition.<sup>1</sup> The copper-plate inscription of Samacara Deva<sup>2</sup> was found in the village of Ghugrahati, close to the south-west corner of the fort, while the three other allied plates of Dharmaditya and Gopacandra were found in the same district, perhaps in the same locality.<sup>3</sup> A gold coin, which

1. Vide author's—"Ghugrahati Grant of Samacara Deva and connected questions of Later Gupta chronology." *Dacca Review*. vol. x. 1920-21. Nos. 2-5.

2. *J. A. S. B.* 1910. P. 429.

3. Mr. Pargiter's—"Three Copper-plate Grants from East Bengal." *Indian Antiquary*, July 1910. Two of the plates mention the village of Silakunda and a sheet of water called Silakunda. Mr. Pargiter remarks—"Kunda means a large pool or pond. Sheets of water, of all kinds and sizes are common in the Ganges delta, being the remains of old water courses or depressions, and have various names according to their formation and size, such as *daha*, *baumr*, *bil*. Silakunda was no doubt such a piece of water and Silakunda *grama* would have been the village adjoining it."

\* Fore-word to the Buddhist section of—*Iconography of Buddhist and Brahmanical Sculpture in the Dacca Museum*—by the author, in the press.



has been identified as that of Samacara Deva<sup>4</sup> was found about 30 miles north of the place in the Jessore district. All these finds of the early period hailing from the same locality unmistakably point to the great antiquity of this particular part of the country.

There is ample evidence to prove that this part of the country suffered in remote antiquity from a general subsidence, due most probably to a great earth-quake. This event can be dated on the evidence of the plates, in the last quarter of the 6th century A. D.<sup>5</sup> The vicinity of Candravarmman's fort began to be water-logged and unfit for habitation. The head-quarters of the locality had to be moved north on more stable land and the people also migrated north-wards.

No image that can safely be attributed to the Gupta period or the period covered by the rule of Dharmmaditya, Gopacandra and Samacara Deva of the Faridpur copper-plates, has yet been discovered from this locality. Only the statuette of Avalokitesvara fished out from the Saildaha river,  $\frac{I. A. (ii) a}{4}$  below, would appear to approach this period

He evidently did not know that the river Madhumati in its lower course south of Kotalipada is still called Saildaha and the village of Saildaha lies on this river about 12 miles south of Kotalipada. This Saildaha village and Saildaha river are evidently the Sila Kunda of the plates.

<sup>4</sup>Op. cit. No. 1, above.

<sup>5</sup>Op. Cit. No. 1, above.

closer than any other relic hitherto found. But that the conservative population of the locality stuck to their homes as best as they could, in spite of the natural calamity referred to above, is evidenced by the discovery of metal statuettes all over this area, reported from to time. The magnificent copper lotus with moveable petals (I. B. (iii) a), the imposing image of Gautama Buddha in black stone ( $\frac{I. A. (iii) a}{1}$ ) and the image of Marici ( $\frac{I. B. (ii) a}{2}$ ) described below hail from the area. None of them, however, appear to be of an earlier period than the 10th century A. D.

The decline of the settlement round Candravarmman's fort was followed, as has already been said, by the removal of the centre of culture northwards, on more stable land. The place selected appears to have been Sabhar in the present district of Dacca, about 15 miles west of the Dacca city. There are some remarkable ruins at Sabhar. Their age can be ascertained with more or less certainty from the frequent discovery in them of light-weight gold coins struck in imitation of the Archer-type of the Gupta gold coins. The Dacca Museum has in its cabinet six such coins from Sabhar. It can be proved that they formed the currency of Eastern India during the 7th century A. D.<sup>6</sup> The ruins at Sabhar have not yet yielded any stone or metallic image, but the number

Op. Cit. No. 1, above.



of terra-cottas stamped with the figure of Buddha and other Buddhist divinities obtained from some of the sites there associated with the name of a king called Hariscandra, is surprisingly large. A very representative number of these terra-cottas is in the Dacca Museum and have been described below. It may be noted here that king Hariscandra is a familiar names in the *Dharmma-mangala* poems of Bengal and the period in which he flourished can be stated with some amount of certainty, to have been the beginning of the 9th century A. D.<sup>7</sup>

The Chinese pilgrim Yuan Chwang visited this part of the country towards the middle of the 7th century A. D. He found Kamarupa till then impervious to Buddhism, but it was flourishing side by side with Brahmanism in the countries of Paundravardhana, Samatata, Tamralipti and Karnasuvarna. Paundravardhana has been satisfactorily identified with Mahasthan in the Bogra district and Karnasuvarna with Rangamati in the Mursidabad district. The author's identification of Samatata with the part of Bengal, east of the Lauhitya or the Brahmaputra river, (roughly, the present districts of Tippera and Noakhali,<sup>8</sup>) is also now generally accepted.

<sup>7</sup> For a discussion of the reading and date of an alleged inscription of Mahendra, son of Harischandra, vide, *Dacca Review*, Vol. X 1920-21 Nos. 6, 7 and 10.

<sup>8</sup> J. A. S. B. January 1915. "A note on the Bad-kamta Nartteswara image Inscription."

The position of Tamralipti in the Midnapur district as Tamluk of the modern days is well-known. So, it will be seen, that the four kingdoms mentioned practically cover the whole of modern Bengal.

It is very curious that the pilgrim does not mention the country of Vanga. It can be specified as the country lying between the Meghna river on the east, the sea on the south and the old Budiganga course of the Ganges on the north. The western boundry of Vanga appears always to have been indefinite. Yuan Chwang must have passed over Vanga in going from Samatata to Tamralipti. The reason of his silence appears to have been the fact that owing to the general subsidence of the country towards the end of the 6th century A. D., it had rapidly sunk very low in geographical and political importance and did not recover from this set-back for some centuries. When the pilgrim passed over this tract by the middle of the 7th century A. D., there was nothing to attract and detain him there.

But Samatata was an important kingdom during this period. There were about 30 Buddhist *sangharamas* with about 2000 priests in the country while the temples of Brahmanical gods also numbered about 100. It is a curious feature, but little noted, that the pilgrim found the Nirgrantha Jaina ascetics in plentiful numbers, everywhere in Bengal.



The Chinese pilgrim Hwui Lun (No. 33. P. XXXVI. Beal's *Life of Hsüen Tsang*. Introduction.) who travelled in India in the 3rd quarter of the 7th century A. D. (*Circa* 650—664 A. D. mentions a king Aditya Sena by name who had just finished a temple about 10 miles east from the Mahabodhi. We know from the Shahpur Image Inscription of Aditya Sena consecrated in 772 A. D. (Fleet C. I. I., P. 210) that no Aditya Sena other than the famous king of that name, of the later Gupta dynasty of Magadha, can be meant by the Chinese pilgrim. A place about 200 miles (40 stages) east of this is said to belong to Devavarma, king of Eastern India. Another Chinese pilgrim Seng-chi by name (Beal's *Life of Hsüen Tsang*, Introduction, page. xl, No. 40) came to Samatata shortly afterwards and found a devout Buddhist king Rajabhatta on the throne of that country.

The Asrafpur copper-plates (Memoirs, A. S. B., Vol. I. No. 6.) brought to light a king of Eastern India called Devakhadga, his queen Maharani Prabhavati and their son, the prince Rajarajabhatta. From the find-spot of these plates, which is 9 miles east from the banks of the Lauhitya, it was surmised that Devakhadga had ruled over Samatata (J. A. S. B. March, 1914. "A forgotten kingdom of East Bengal"). The recent discovery from a place about 22 miles south of Comilla, of an inscribed metallic image of Sarvvani

[3. B (ii) f, below] consecrated by queen Prabhavati, confirms the supposition that the Khadgas were rulers of Samatata.

Unfortunately, there is a difference of opinion as regards the date to which these Khadga inscriptions should be ascribed on paleographical grounds. But any one who compares the two plates of Devakhadga and the new Sarvvani image inscription with the Shahpur and the Apshad inscriptions of Aditya Sena, will find it difficult to escape the conclusion that paleographically, they belong to the same period. The striking coincidence of the names of Chinese pilgrims' Devavarma, king of Eastern India, and his successor Rajabhatta, king of Samatata with the names of Devakhadga and his son Rajarajabhatta of the plates, also reigning in the same locality in the same period, cannot be lightly passed over. To me it appears clear that the Chinese pilgrims referred to the Khadga kings Devakhadga and Rajarajabhatta and the establishment of this synchronism ought to set at rest all controversy regarding the date of the Khadga kings.

The Asrafpur plates were issued from a place called Karmmanta which has been identified with Bad-kamta, 12 miles west of Comilla. Yuan Chwang speaks of a *stupa* not far out of the capital of Samatata. A curious mound, about 25' high and surmounted by a *lingam* stands near an old tank, about a mile to the north-east of Bad-kamta. It is locally known as the Mahamaya mound.



The presence of this single artificial elevation amidst the surrounding plain of level rice fields, is certainly very striking and it may be the remains of the *stupa* seen by Yuan Chwang.

The tract round Bad-kamta undoubtedly appears to have been a strong Buddhist centre. The inscribed image of Avalokitesvara,  $\frac{\text{I. A. (ii) a}}{2}$  below, which was a magnificent piece of sculpture when entire, hails from Belasa, only about a mile west of Bad-kamta. The life-size image of Vajrapani Bodhisattva in black chlorite ( $\frac{\text{I. A. (ii) c}}{1}$ ) hails from Subhapur, about five miles north of Bad-kamta. East of Subhapur is the village of Beharmandal,—a distinctly Buddhist name, in which an image of Jambhala is still worshipped. That the place was Buddhistic is further testified to by the fact that the Hindus of the locality will, even now, never utter the name of Beharmandal in the morning, which act, they believe, will surely spoil their noon-day meal. In the morning, they always take care to denote it by the terms—"East village," "West village," "North village" or "South village" as the case may be! This appears clearly to be an echo of the times when Buddhist *Viharas*, with their unholy Vajrayana practices, were held in very great disrepute and looked down upon by all decent people.

A fine image of Dhyani Buddha [I. A (iii) a. 3] in black stone was discovered in the village of Bagherpar, close

to Beharmandal. This image, with another fine image of the goddess Marici discovered at Pior, about four miles south-east of Bad-kamta, is now receiving worship in the village of Pior as Hindu deities. All these Buddhist images, discovered in the locality by the author in the course of a short tour in 1912, will be sufficient to show the Buddhist character of the tract round Bad-kamta. It should be noted however that none of these images can reasonably be referred to so early a period as that of the Khadgas. The antiquities attributable to that period, are the brass *chaitya*, (2-1) and the statuette of Dhyani Buddha ( $\frac{\text{I. A. (iii) a}}{5}$ ) discovered at Asrapur. The inscribed Sarvani image [3. B. ii. f] consecrated by Prabhavati, queen of Devakhadga, as well as the inscribed *linga* [3. A. (ii) i-1] and the image of the sun-god [3. A (iii) a-1] discovered along with the Sarvani image also belong to this period. The brass statue of the unidentified eight-armed Buddhist goddess [I. B. (iv) a] from Tippera also appears to be not much later.

The testimony of the copper-plate inscriptions and that of the Chinese pilgrims would show that Deva Khadga as well as his son were staunch Buddhists. Yuan Chwang relates that Silabhadra, the chief of the Nalanda Mahavihara, and from whom the pilgrim took his lessons, sprang from the royal family of Samatāta. He therefore appears to



have been a Khadga. It is curious to find a queen of this markedly Buddhist family, who herself also had shown her devotion to the Buddhist Viharas, by dedicating land for their use, venerating at the same time the Brahmanical goddess Sarvani and covering her image with gold-leaf with no less devotion. This awakens us to the real character of religious beliefs in the 6th and the 7th centuries A. D. which is only too often forgotten. There was hardly any antagonism between Buddhism and Brahmanism during this period. Harsavardhana divided his veneration without compunction among Siva, the sun-god and the Buddha. Devakhadga or at least his chief queen Prabhavati, appears in a similar manner to have been devoted to the Buddha, Siva, and the sun-god at the same time.

The decline of the Khadgas of Samatata and the Guptas of Magadha was followed, for about a century, by anarchy in Bengal. The eighth century of the Christian Era appears to be a blank in Bengal's history. It is only after the rise of the Palas in north Bengal towards the beginning of the 9th century A. D., that the thread of the political and the cultural history of the country can be resumed.

The rule of the Palas was undoubtedly the most glorious period of Bengal's history. The earlier kings like Dharmapala and Devapala were not much less than paramount sovereigns of Northern India. Flourishing schools of

sculpture arose all over the country and Taranath has preserved for us the names of two master-sculptors, Dhiman and his son Vltapala. But thousand other sculptors like these two, working in thousand different centres of culture, rapidly covered the country with a multitude of images, the mutilated remains of which still evoke everybody's admiration. Any one who has travelled in the villages of Bengal with open eyes, will be able to support the statement that there was hardly a single settled village in Pre-Muhammadan Bengal that had not its Buddhist and Brahmanical temples, enshrining images of Buddhist and Brahmanical deities in stone and metal. The collections in the Dacca and the Rajsahi Museums and in the Museum of the Bangiya Sahitya Parisat of Calcutta, which mostly belong to this period, are sufficient to give one an idea of the sculptural wealth of Bengal during the Pala period. It is no exaggeration to say that many more museums like these three can be filled without much difficulty, if men and money are forthcoming.

The supremacy of the Palas was contested in East Bengal by a family of kings with *Candra* as their surname. The Tirumalai Inscription of Rajendra Cola (1025 A.D.) shows that Bengal was at this time under three different ruling families. Govinda Candra held sway in Vanga, Mahipala in Varendra and



Uttara Radha and Ranasura in Daksina Radhā. In the Rampal plate of Sri Candra Deva (Epigraphia Indica. Vol. XII. Page 136), we came to know of a branch of the Candras who appear to have had their seat in Samatata. They are called the family of the Candras who had been swaying over the Rohita hill (রোহিতাগিরি ভূখণ্ডে). Rohitagiri, meaning, the *red hill*, appears only to be the Sanskritised name of the Lalmai (iit. red-soil) range which occupies the centre of the Tippera district. It is a low picturesque range of hillocks lying five miles west of Comilla, the chief town of the Tippera district. The average height of the peaks is about 40 feet and the breadth, about a mile; but some of the peaks rise to a height of 100 feet. The range lies north to south and is about 11 miles in length. Many of the hillocks were undoubtedly crowned by temples and *stupas* and the present author personally explored some of the peaks lying on the two sides of the Comilla—Daudkandi road that passes through the range at its northern extremity. There were distinct remains of brick construction on a peak close on the north of the road, with fragments of images in black stone scattered about, while on the south of the road, the remains of what must have been a *stupa* was distinctly traced.

But by far the most important ruins are on a peak by the side of the Comilla—Kalirbazar road that crosses the

range at about its middle. This road evidently follows a very old track, but it was re-opened and made fit for use in 1875 A. D. In opening the line of communication over the hill, an old fort was discovered along with a number of other ruins, some of which yielded several beautiful stone images. The present author visited the site in 1917. It is a beautiful spacious plateau from the top of which the plains on the east and the west are seen spreading like an enchanting panorama. Abundant ruins all over the plateau unmistakably testify to the existence of an ancient town on it, of moderate dimensions. The hill is included in the *pargana* of Patikara, which extends westwards from the range and includes Bad-kamta, already referred to. We know that Patikara or Pattikera was a famous town in Pre-Muhammadan days, situated somewhere in these parts. A copper plate inscription of one Ranavanka Malla, discovered somewhere on this Lalmai range in 1803 and read by Mr. Colebrook in vol. II, P. 241, of his Essays, describes the town of Pattikera, as adorned with forts and *Viharas* :—

হুগৌত্তরোবিহারীকুচিবিরচিতাপটিকেরা

নগর্যাং—\*

This description accords with the ruins of the town on the plateau and we have no hesitation in identifying

---

\* Mr. Colebrook read পটিকেরানগর্যাং, and thus missed the reference to Pattikera.



the ruins as those of the town of Pattikera.

The Candras of Rohitagiri were Buddhists and the first man of note in the family was called Purnacandra. His son was Suvarnnacandra. His son Trailokyacandra appears to have been a great warrior. He is said to have been the main-stay of the king of Harikela, which is only another name for Vanga. He appears finally to have acquired the kingship of Candradvipa which was the tract of land forming the greater part of the modern district of Backerganj.

Trailokya's son Sri Candra Deva appears to have mastered the whole of Vanga. He issued his copper-plates from Sri Vikramapura which town is now heard of for the first time, and which may unhesitatingly be identified with the extensive ruins of a city known at present by the name of Rampal, situated in the heart of the Vikrampur *pargana* of the Dacca district.

The Candras were ousted in the beginning of the 11th century by the Varmanas who in their turn made room for the Senas towards the end of the same century. Lakshmana Sena, as is well-known was ousted from his throne by Muhammad-bin-Bakhtiyar in 1202 A. D. Buddhism had begun to decline in these parts with the fall of the Candras. The Varmanas and the Senas were no friends of Buddhism. With the coming of the Muhammadans,

both Brahmanism and Buddhism suffered a serious set-back. Bengal sculpture went out like a lamp and the art was forgotten within half-a-century. Buddhism gradually, but fast, bled to death. Though the Senas continued to be the master of these parts during the whole of the 13th century, sculpture never again raised its head.

The two illustrated manuscripts of *Astasahasrika Prajnaparamita*, one from the Cambridge University Library (Mss. Add. 1643) and the other from the library of the Asiatic Society of Bengal (Mss. A. 15) contain a number of pictures of the Buddhist deities of India, famous in the 11th century A. D. Dr. Foucher gives a catalogue of the miniatures contained in both the works in the first volume of his *Buddhist Iconography*. The following descriptive list of the deities that belonged to Vanga and Samatata proper, has been compiled from that source. Mr. H. E. Stapleton I. E. S., late Honorary Secretary of the Dacca Museum Committee, procured photographic copies of all these miniatures except two, at his own expense. These photographs are reproduced here through his kind permission.

*Cambridge Mss. No. Add. 1643.*

No 17. Candradvipe Bhagavati Tara Arisasthana.

This image is very much like  $\frac{I. B. (v) a}{2}$  below and appears to have been a Syama Tara of the Khadiravani class. Marici and Ekajata on the two sides are absent



but the eight attendant Taras are there.

No. 19. Campitala Lokanatha Samatate Arisasthana.

There is a village in the Tippera district, Campitala, famous for its learning. This image of Lokanatha appears to have belonged to this village or to a village of similar name.

Lokanatha is seen standing in *abhanga* pose, boon in his right hand and a lotus with a long stalk in the left. Tara stands to his right with similar attributes, while a male figure standing to his right appears to be Hayagriva, though he has not the horse's head. Two Vidyadharas are represented in sky on the two sides of the head of Lokanatha.

No. 51. Pattikere Cundavarabhavane Cunda.

This miniature has been illustrated by Foucher, No. 4, Plate VIII, in the first volume of his Buddhist Iconography. The picture shows the goddess as sitting on the lotus seat in Vajrasana and having 16 arms. The two normal hands perform the *mudra* of *Dharmmacakra-pravartana*. The two lowermost hands appear to be in *Varada* and *Abhaya Mudra*. The remaining twelve hands hold different weapons.

No. 55. Harikeladese Sila-Lokanatha.

Mr. Stapleton omitted to procure a photograph of this miniature. The following is Dr. Foucher's description.

"Bodhisattva white, standing, with six hands, the right hands—1, in charity,

2, holding a lotus, 3, a rosary, The left hands—1 in charity, 2, indistinct, 3, the book. Four assistants; to the right, 1, kneeling, with an enormous belly, long beak-shaped mouth, here yellow *preta*, 2 Bodhisattva green Tara, (the blue colour of the lotus has been forgotten). On the left—1, red, 2, yellow, with 4 hands (Tara)."

No. 59. Samatate Jayatunga-Lokanatha.

The god sits on the lotus-seat with the right leg pendant. The right hand has the *vara mudra*,—the left has the lotus with stalk Tara and Hayagriva sit on the right and the left respectively.

A. S. B. Manuscript No. A. 15.

No. 19. Samatate Buddhaddhi Bhagavati Tara.

The image like No. 17 described above, was a Syama Tara in *lalitasana*, attended by eight other Taras. It is not clear what is meant by the epithet *Buddhardhi*.

No. 21. Campita Lokanatha Bhattarakas.

This appears to be the same image, as Campitala Lokanatha, No. 19 of the Cambridge manuscript. But Tara and Hayagriva on the two sides of the standing figure of Lokanatha are here represented sitting, and not standing, as in the Cambridge manuscript. The miniature is a fine sample of East Indian painting of the 11th century A.D.

N. K. BHATTASALI.



# ঢাকা রিভিউ ও সাম্মিলন

১১শ খণ্ড

ঢাকা—মাঘ, ১৩২৮।

১০ম সংখ্যা।

## প্রার্থনা অনন্তের যোজক

ঈশ্বর আছেন এই কথা সকলেই বিশ্বাস করি। যুক্ত হইবে? ইহার কারণ অবশেষে আর বেশী দূর কিন্তু আজ যদি নাস্তিক দল প্রমাণ ক'রে দেয়,— বাইতে হইবে না। কারণ মাত্র মানি ঈশ্বর তোমাদের ইহা ভুল ধারণা,—ঈশ্বর নাই। ইহাতে আছেন। কিন্তু তাঁহার সঙ্গে পরিচয় নাই। সকলের কাহার ও কি দ্বন্দ্ব, কতি ও বেদনা বোধ হইবে? যনের ভাব এই,—ঈশ্বর বলিয়া কোন ব্যক্তি যদি বিদ্যাসাগর, রুক্মদাস, ম্যাডক্সোন, কি যেটসিনীর মৃত্যুতে থাকেন,—এই স্থিতির পক্ষেতে দূর দেশে তিনি আছেন— কলিকাতা, কি লন্ডন, কি প্যারিসের লোকের বতটা তাঁহার সহিত কোন সম্পর্ক নাই। বরং মাধ্যাকর্ষণ, দুঃখ বোধ হইত,—ততটা কি দুঃখ অনুভূত হইবে? বোগাকর্ষণ, ঝড় বৃষ্টির সহিত অধিক সম্পর্ক। সেই বৃষ্টির আপনার স্বজন আত্মারের মৃত্যুতে বতটা শোক ও দুঃখ পরপারের কোন ব্যক্তি থাকা না থাকাতে শোক দুঃখের করিবে,—ততটা কি হইবে? মোটের উপর যনে অনুভূতি হইতে পারে না। হয় জ্যোতির্বিজ্ঞা, কি ভূতত্ত্বের মধ্যে একটা নূতন সত্য তাহার অপেক্ষা কি লোকের যন অধিক চকল ও বিবাদ

কথার—মতে—আমরা সর্বদা স্বীকার করি ঈশ্বর সর্বদা নিকটে আমাদের সহিত আছেন; আমরা কি তাহাকে দেখি,—তাঁহার কথা কি শুনি? যদি হয়



হইয়া একটুকু চিন্তা করি—এই ঈশ্বর বিহীন হইয়া বাস করিলে কি হয়? ভবিষ্যতের সমুদয় আশা কি শুক হইয়া যায় না? আর বর্তমান ও গত জীবন কি পৌরব ও পবিত্রতা শূন্য হইয়া পড়ে না? এইরূপ ঈশ্বর বিহীন জীবন কেন হইয়া যায়? বিশ্বাস ও উপাসনা এই দুটি এক সঙ্গে থাকিবে। একটা ছাড়া অত্রটা থাকিতে পারে না। যদি বিশ্বাস কর, ঈশ্বর আছেন,—আমার সহিত ও সর্বত্র আছেন,—তবে কথা না বলিয়া,—প্রার্থনা না করিয়া থাকিতে পারিবে না। আর প্রার্থনা আরম্ভ করিলেই পর্জা ছিন্ন হইয়া বাইবে—অদৃশ্যের সহিত সম্পর্ক হইবে। একজন সাধু প্রার্থনার (Definition) সংজ্ঞা দিয়াছেন—প্রার্থনা অনন্তের যোগক (Isthmus of Eternity), তাহা অতীব সত্য কথা। আমি ক্ষুদ্র,—আমি দুর্বল, আমি সামান্ত, কিন্তু এই প্রার্থনা আমাকে অনন্তের সহিত নিত্য যুক্ত করে।

এই প্রার্থনা যোগে যদি আমরা তাহার সঙ্গ করিতে না পারি,—আমরা হৃৎকের সময় যদি প্রাণের কথা বলিতে না পারি,—আর যদি তাহার নিকট হইতে কোন চাহনি,—অন্তরবাণী না পাই, তবে কি জীবন থাকে? যেমন শুধু হাওয়া ধেরে শরীর থাকে না,—তেমনি কেবল ঈশ্বর বিশ্বাস দ্বারাই জীবন ধারণ করে না। কিন্তু প্রার্থনাতে ঈশ্বর-মুখ নিশ্চয় বাণী দ্বারা জীবন ধারণ করি। ছইজন বাবু এক সঙ্গে আছেন—অথচ কোন বিনিময় নাই কোন আদান প্রদান নাই একি হইতে পারে?

কেহ কি জীবনের প্রথমে প্রার্থনা করিতেন? প্রার্থনাতে কি কিছু অমূল্য করিতেন? যদি প্রার্থনা পরিত্যাগ করিয়া থাকেন,—জীবনের মিষ্টতা কি কিছু হারাইয়াছেন? জীবনের পবিত্রতা কি কিছু কমিয়াছে?

আর জীবনের কি এই বিশ্বাস হইয়া গিয়াছে, যে ঈশ্বর প্রার্থনা শুনে না,—তাঁহার সহিত কোন বিনিময় হইতে পারে না? বহু সত্য, বহু প্রার্থনা করিতেন, তখন জীবনের ভারটা লঘু ছিল, না এখন জীবনটা স্রস ও জীবনের ভার লঘু হইয়াছে? আমরা দৈহিক ভাবে এই লক্ষ লগ্নতের সহিত চক্ষু কর্ণাদি দিয়া বিনিময়

করি,—আদান প্রদান করি। কিন্তু আমরা যে আশা, তাহা কি ভুলিয়া গিয়াছি? আমাদের আশা যে পরমাত্মার সহিত বিনিময় করিতে পারে তাহা কি আমরা জামিনা? সত্যই তিনি আমাদের প্রাণের আঁতি গ্রহণ করেন—আমাদের পাপ হৃৎক তাণের অশ্রু ধর্শন করেন। ইহার সহিত তাঁহার অমূল্যদান, নানীকর্য, তিনি প্রদান করেন। আমার সাধ্য কি আপনাত্মা গ্রহণ করিবেন? বহুতে বহুতে বহুপ আদান প্রদান হয়—বিনিময় হয়,—ভগবানের সহিত তেমনি যোগ হয়। সাধুদের সাক্ষ্যিক অগ্রাহ্য করিয়া বলিবেন, ঈশ্বর ঘুরে বাস করেন—আমার প্রার্থনা শুনে না? ঈশ্বর ব্যক্তিরূপে আমার নিকট অথচ তাঁহার সঙ্গে বিনিময় হইতে পারেনা,—এইরূপ মতকে অনেক বৈজ্ঞানিক বুদ্ধি বলেন। আমিই ইহাকে ঘোর কুসংকার বলি। তিনি আমার নিকটে আছেন সত্য, আমাকে ভালবাসেন সত্য, তবে আমার সহিত কথা বলেন না? আমার ক্রন্দন শুনে না? এই প্রার্থনা বিমুখিতার কারণ,সাংসারিকতা,—সার্বৌরিক বিষয়ে সম্পূর্ণ নিমগ্ন হওয়া তিন্ন আর কিছু নহে! আসল কথা আমি কে তাহাই কত সময় ভুলিয়া বাই বলিয়াইত প্রার্থনা বিহীন হই? এই আশ্রিত্য তাব না জন্মিলে মহৎ লোকের মহত্ব, সাধুর সাধুতা, আর পুণ্যময়ের অমূল্যদান কোনটাই অমূল্য করিতে পারি না!

তিনি সর্বদা সঙ্গে। কার্যক্ষেত্রে ঘোর কোলাহলের মধ্যে তাঁহার(Watchful look)অনিমেয় দৃষ্টিরাখিয়াছেন। রাত্রিতে বধন ক্লাস্ত হইয়া শয্যায়াই,—তাঁহার কোমল দৃষ্টি রহিয়াছে। আর যেমন (Quinine) কুইনাইন দিলে উপকার হয়, প্রলোভনে,খোকে তেমনি তাঁহার সঙ্গ জীবনকে কত সাহায্য করে। বধন, কর্তব্যের গুরুত্বের ভেদে পড়ি তখন তাঁহার উৎসাহ পূর্ণ ধনি জীবনে রহিয়াছে। তাই বলি, ঈশ্বর আমি ইহার কোন অর্থ নাই,—ইহার সঙ্গে সঙ্গে যদি প্রার্থনা যোগে তাঁহার সঙ্গ আরম্ভ না হয় তবে সব ধ্বংস। তিনি কি নীরব? আমরা কি পুস্তক পড়িয়া ঈশ্বরের কথা জানিব? আমরা কি বিজ্ঞানের নিকট জানিব ঈশ্বর আছেন? আর যদি বুদ্ধি প্রদান



করে ঈশ্বর নাই—তখন কতি বুদ্ধি নাই বলিয়া চূপ হীন,—তিনি সর্বদা আমাদের কাছে আছেন—অথচ করিয়া থাকিব ? আমরা একটা বার ও তাহার দিকে চাহিব না কথা

প্রতিদিন তাঁহার সহিত সম্পর্কটি অক্ষুণ্ণ করিতে বলিব না ? তাহার আশীর্বাদ দ্বারা লইব না ? তাঁহার সহিত থাকিব—অথচ নীরবে থাকিব,—একদিন নয়, দুই অক্ষুণ্ণ। তিনি শোকে, দুঃখে, সম্পদে, বিপদে, দিন নয়,—বৎসরের পর বৎসর এই ভাবে থাকিব ? ইহলোকে, পরলোকে একমাত্র সত্য। তাঁহার সঙ্গে তবে সাধুর সাধুতা মিথ্যা, ভক্ত প্রাণের সজীত ব্রথা,— কি পরিচয় পত্রের প্রয়োজন আছে ? (He never

comes by ringing the bell.) তিনি বাক্য বাজাইয়া না না—ইহাই জীবন, এই বিনিময় জীবনের মধুরতা দেখা করিতে আসেন না। তাঁহার সহিত কোন প্রাণের শান্তি, ধর্মের মূল। সকলে এই প্রার্থনা যোগে ব্যবধান নাই। আমরা সমগ্র ধর্মের সহিত বলি, তুমি প্রতিদিন ঈশ্বরসঙ্গ যেন করিতে পারি। আর আমি মাঝে কেহ নাই। হায় এই কথাটা কি যুক্তি

শ্রীগুরুদাস চক্রবর্তী ।

## আবাহন ।

ঝঞ্ঝারি' উঠুক বীণে প্রেরণী আমার  
অমরার বত গীতি সুধার আধার,  
মৃদু মন্দ পঙ্কবহ দখিন সমীর  
ধরারে করিয়া আজি পুলকে অধীর  
আনুক পরশ তব। এস তুমি রাণি,  
বাণিত দ্বন্দ্বয়ে মন ; লহ মোরে টানি,  
শত প্রণয়ের ভোরে ; জীবন ভরিয়া  
সোহাগের মধু তব পড়ুক করিয়া।  
তোমারি আশায় প্রিয়ে কত যুগ ধরি'  
বসে' আছি জীবনের পাত্রখানি ভরি ;  
মধুর মঙ্গল রূপে ভরি' দিয়া প্রাণ  
আমারে সকল কাজে করি মহীমান  
এস আজি পরিপূর্ণ আলোকেব সাধে  
উষার উদয় সম তরুণ প্রভাতে ।

শ্রীসরোজকুমার সেন ।



## একগোছা চুল।

( গল্প )

আজ আড়াইশাস পরে বিছানার ওপর আমাকে থরে বসিয়ে দিয়েছে। ছনিয়ার সমস্ত জিনিষ যেন আমার হস্তন ক'রে দেখতে ইচ্ছে করছে।

গোধূলীর জ্ঞান আলোটুকু তখনো পৃথিবীর ওপর জুটিয়ে প'ড়ে বিদায়ের শেষ নমস্কার জানিয়ে বাড়িল। আলমারীতে জোলা, টুর্গেলিত, গোরকো, বাস'সো আরো কত বিদেশী সাহিত্য ঠাণা। সবাই যেন আমার চোকের সামনে একটা নূতন কিছু খুলে ধ'রতে চায়।

"Sweet September," "Passing shadow," ওদিকে "ঝড়ের গাভে", "পুজারী", "সাঁজের পাড়ি" আরো কত চির পরিচিত ছবি; আর ঐ দোরের মাথার উপর নূতন গ্লাসকেসে ওটা কি!

অলা আমার মুখের কাছে হুঁকে প'ড়ে বলে "অমন ক'রে কি দেখছ দাদা? আমি আজুল বাড়িয়ে ছুঁয়ে গ্লাসকেসেরদিকে দেখিয়ে দিলাম। অলাকো আন্তে আন্তে উঠে গিয়ে সেটি পেড়ে এনে আমার হাতে দিয়ে বলে "সরোদিদির যে চুল তোমার পকেটে ছিল সেটি যা এর ভেতর রেখে দিয়েছেন।"

যে ব্যথার স্মৃতিটা অসুখের প্রবল চাপে মুছড়ে গেছিল, সেই আবার তাজা হ'য়ে বুকের সমস্তটা অধিকার ক'রে ব'সল। আমি বললাম "সে কথাতে কেউ জানত না।" অলা এইবার একটু হেসে বলে "বেদ্বিন তুমি বয়সের ছটকুট ক'রছিলে সেইদিন যা বুকে হাত বুলুতে গিয়ে তোমার পকেটে ঐ চুল দেখতে পান। ডাক্তার বাবু নাকি বাবার কাছে বলেছিলেন ঐ চুলই তোমার অসুখের কারণ।"

অলা আমার পায়ে ধীরে ধীরে হাত বুলিয়ে দিতে লাগল।

গ্লাস কেসটা হাতে নিয়ে নাড়তে নাড়তে কতদিনের না চলা, অজানা পথবেরে সরোর শেষ কথাগুলির স্মৃতি আমার বনের মাঝে গভীর দাপ টেনে দিলে। মনে হল

যেন সরিতের আত্মা এই চুলের মধ্যেই আটক হ'য়ে র'য়েছে। অতি ধীরে ধীরে কেসটি ঘুরিয়ে ঘুরিয়ে দেখতে লাগলাম—চুলের আশে পাশে ছোট ছোট নেনপথলিনের গুলি ন'ড়ে চ'ড়ে ফিরতে লাগল,—যেন তারা শেষ বিদায়ের বড় বড় কঁোটা কয়েক অশ্রুবিন্দু—ন'ড়ে চ'ড়ে নিঃশব্দে কত কথাই ব'লতে চায়! কাঁচের ঢাকনিটা খুলতে ইচ্ছে হ'ল না, পাছে জমাট অশ্রুবিন্দু হাতের স্পর্শে গ'লে উপে যায়।

একটা হালকা বাতাস এসে ঘরের প্রত্যেক জিনিষটির ওপর যেন তার কোমল হাত বুলিয়ে দিয়ে গেল। সেই স্পর্শে তাদের ভেতরের আত্মা জেগে শিউরে উঠল বটে কিন্তু একটুও নড়ল না।

আজ আবার পাঁচ বছর আগেকার জীবনটাকে নেড়ে চেড়ে দেখতে ইচ্ছে ক'রছে।

এখনো মাঝার ভেতরকার কসকজা শুলো ঠিক আগেকার মত কাজ ক'রতে না; কোথাও যেন একটু আধটু পরমিল র'য়ে গেছে। সব কথা হয়ত' এখন আর শুছিয়ে ব'লতে পারব না—সে ক্ষমতাও নেই। শুধু আভাস দিয়ে বাবো যাত্রা।—

\* \* \* \*

শিউড়ীতে তখন সব এক বছর হ'ল এসেছি। এই দীর্ঘ সময়টার ভেতর কাকুর সঙ্গে তেমন আলাপ জমাতে পারিনি, কেবল একটি পরিবারে প্রীতির বন্ধনে কেমন আপনা হ'তেই জড়িয়ে গেছিলাম।

সেই বাড়ীর সবটা আনন্দ যেন ছুই তাই বোন, স্নেহ ও স্মৃতি। বেদ্বিন প্রথম গিয়ে তাদের বাড়ী গাড়ালাম, দেখি ছুটি ভাই বোন একটি ফুলগাছ নিয়ে বড়ই ব্যস্ত হ'রে র'য়েছে আর তাদের বা একটি ফুলের সাজি হাতে ক'রে বাড়ীর ভেতর ঢুকছিলেন। আমি লজ্জায় অড়সড় হ'য়ে মাসিমা ব'লে তাঁকে প্রণাম ক'রলাম। তিনি আমার মুখের দিকে চেয়েই বলেন, "দিদি বুঝি সকাল বেলাই তোকে আলাপ পাতাবার



জন্তে পাঠিয়ে দিয়েছেন ? ও সরো এই জাখ্‌ তোর একজন নতুন দাদা এসেছে।” আমি লজ্জায় মাড় ভুলতে পারছিলাম না। তিনি আমাকে কোলের কাছে টেনে এনে মাথার ওপর হাত বুলুতে বুলুতে বলেন, “তুমি ত বাবা এই বয়সে অনেক জায়গায় ঘুরে এসেছ, কত মাসিমা তোমায় কত আদর বর ক’রেছেন ; আমিও তাঁদের মধ্যে আর একজন নতুন মাসিমা।” সরিত ততক্ষণে আমার কাছ ঘেঁসে এসে দাঁড়িয়েছিল। আমি ছাড়া পেতেই সে আমার হাতধরে টানতে টানতে তাদের ছোট বাগানটিতে নিয়ে গিয়ে আমার হাঙ্গির ক’রলে।

সেইদিন থেকেই রোজ তাদের বাড়ী গিয়ে বাগানের ভেতর ভিনজনে মিলে ব’সে মালির কাজ করতাম। আমি গাছের গোড়া খুঁড়ে দিভাম সরিত জল নিয়ে এসে শুকনো মাটি ভিজিয়ে দিত। সূর্যত এসবদিকে ঘেঁসত না। সে বিজের মত বড় কাঁচ নিয়ে পাভা বাহারে গাছের ডালপালা ছেঁটে বেড়াত।

একদিন হঠাৎ মাসিমা বলেন “সরো ত গিন্নাণা কাজ অনেক শিখেছে, একটু লেখাপড়া শেখাতে পারিস বাবা ?” আমিও ঐ প্রকম একটা কিছু খুঁজছিলাম। একলাটি চুপক’রে বাড়ী ব’সে থাক ভাল লাগছিল না। বল্লাম, “বেশ ত ওকে আমি কাল থেকেই পড়াব কিন্তু বেত মেয়ে চোক রাগিয়ে আমার ঘার পড়ান হ’বে না।” সরো বোধ হয় দূরে দাঁড়িয়ে আমাদের কথাবার্তা শুনছিল। এইবার দৌড়ে এসে আমার হাতটা জড়িয়ে ধরে বলে “বেহুদাদা, তুমি আজ থেকেই আমার পড়াও না ? সেবার কিরকম এক বুড়ো মাষ্টার এসেছিল। তার চোকছুটো কেমন লালপানা। আমি একদিন একটা বানান ভুল করেছি, উঃ এমন কটমটিয়ে চেয়ে ধমকে উঠল। সেই থেকেই ত আর পড়ি না।”

মাসিমা সরোরদিকে স্নেহ পূর্ণ দৃষ্টিতে চেয়ে বলেন, “ইয়ারা, তোর বেহুদা কি বারমাস এখানে থাকবে ? যুথুখে মশায় ত কত দেশে বদলি হ’য়ে এইবার আমাদের এখানে এসেছেন। আবার শুনছি আর বছর কল্‌কাতায় বদলি হবেন। তখন তুই কি

করবি ?” সরো আমার মুখের দিকে চেয়ে বলে “তুমিও আমার ছেড়ে যাবে ?” আমি তার কপালের ওপরকার চুলগুলি সরিয়ে দিতে দিতে বল্লাম “মাসিমার কথা কেন শোন তুমি। চলো তোমায় আজ ‘পরিবাহুর’ কথা বলব। আমাতে ও সরিতে পড়বার বয়ে গিয়ে ঢুকে পড়লাম।

আরো দুবছর হাসি গল্পের ভেতর দিয়েই কেটে গেল। সরিতকে ম্যাপ ও ছবি দেখিয়ে, গল্প বলে এক প্রকম চলনসই লিখতে পড়তে শিখিয়েছিলাম ; কিন্তু বেদিন বাবার কল্‌কাতায় বদলি হবার খবর এলো সেদিন সরিত বই ছবি খাতা সব হুচিয়ে ছিঁড়ে ফেল পা ছুটো ছড়িয়ে মুখটি তার করে বসে রইল। মাসিমা মেশোমশায় সূর্যত সকলে মিলে কত বোঝালে কিন্তু কোন কথাই তার কানে ঢুক্‌লো না। আমি বল্লাম সরো, আজই ত’ আর যাচ্ছি না তুমি যদি এমন রাগ ক’রে থাকো তাহ’লে আমি চল্লম।” সরো একটু নড়লও না। আমার মুখের দিকে সে তার ছোট প্রাণের সমস্ত ব্যথা ভরে নিয়ে এমন ভাবে চেয়ে রইল যে আর এক পাও চলা গেল না। সেদিন দেশ বিদেশের আঘাতে গল্প বলে বাড়ী ফিরতে অনেক দেরী হয়ে গেছিল।

\* \* \* \* \*

আজ আমাদের বাবার পালা। বাড়ীর সমস্ত জিনিষ পত্তর আগুইত মালে রঙনা হ’য়ে গেছিল। মাসিমার বাড়ী থেয়ে আমাদের টেসনে বাবার কথা। দুপুর থেকে সরিত মার সঙ্গে কত কাজ ক’রে বেড়াচ্ছে কিন্তু মুখে একটি কথা নেই। আমি ব’সে ব’সে ভাবছিলাম সেই সরিত, থাকে ন’বছরেরটি দেখেছি আজ সে বার বছরের, কিন্তু একটুও কি বদলায় নি ? কাল থেকে আর কতদিন দেখা হবে না, হয়ত এ জীবনে আর নাও হ’তে পারে ! তবে যদি বিয়ের সময় খবর পাই, নিশ্চয়ই আসবো।

ঠিক সন্ধ্যা ছটার সময় বাড়ী থেকে বেরুতে হবে কিন্তু দিনভোর চুপ চাপ থেকে বিকেল বেলায় সরিত মার পা জড়িয়ে এমন কান্না জুড়ে দিলে যে আমাদেরও তার কাছে হার মানতে হ’লো। আটটার গাড়ী কেল হ’য়ে গেল। রাত্রি বারটার সময় শেষ পাড়ী।



সদর দরজার দুখানা ঘোড়ার গাড়ী এসে দাঁড়িয়েছে। সরিত কোন রকমে মাথাটা আমার পায়ের ওপর ঠেকিয়ে উঠে দাঁড়াল বটে, কিন্তু সমস্ত শরীরটা থবু থবু ক'রে কাঁপছিল। আমি দুহাত দিয়ে তার দুখানা জুলে ধরতেই টপ্ টপ্ ক'রে দশ বারো কোঁটা প্রমথল তার চোকের কোণ থেকে হাতের ওপর গড়িয়ে পড়ল। আমার চোকও তখন শুকনো ছিল না। গলাটাকে কোন রকম ক'রে পরিষ্কার ক'রে নিয়ে বজ্রাম “সবো আল তোমার বেণুদাকে বিশ্বাস হচ্ছে না? যতদিন বেঁচে থাকবে। তুমি চিরদিনই আমার ছোট বোনটি। তুমি আমার চিঠি লিখবে ত' ?” সে একটু বাড়ি বৈকিয়েই আমার মুখের দিকে চেয়ে রইল। যেন কত কথা বলি বলি ক'রে বলা হ'ল না।

সুরোর চোকের কি অলস আকর্ষণ! আমার মনও ধীরে ধীরে দুর্বল হ'য়ে আসছিল। আমি সুরোর ছোট মাথাটি বুকের নীচে চেপে ধ'রে প্রাণের সবটা মেহ তার চুলের ফাঁকে ফাঁকে উলোড় ক'রে দিলাম। তারপর আর একবার বিদায়—করুণ দুখানির দিকে চেয়ে তাড়াহুড়া গাড়ীতে গিয়ে উঠে পড়লাম। তখন ফুটন্ত জ্যোৎস্নার রেখা তার ডালিরা। চুলের মত সুন্দর মুখের ওপর এসে বেন মুছিত হ'য়ে পড়েছিল আর চোকের কোণে দুকোঁটা টলটলে অশ্রুবিন্দু!

\* \* \* \*

দেড় বছর হ'ল ক'লকাতার আছি। প্রত্যেক রাত্রেই দশ বারোখানা পত্র সরিতের কাছ থেকে আসে কিন্তু পনেরো দিন কেটে গেল কই তার একখানাও চিঠি ত' এস না! এইবার একটু বেশ অভিমান ক'রেই খুব লম্বা এক পত্র লিখে ডাকে দিলাম। দুদিন কেটে গেল কোন জবাবই এল না। সে দুদিন তার ক'রব ব'লে দোরাত কলম নিয়ে বসেছি এমন সময় শুভ্রতর হাতের লেগা এক পোটকার্ড পেলাম “সরিত টাইফয়েড জরে শয্যাশায়া, তুমি চলে এসো।”

সেইদিনই তার কাছে কিছু টাকা নিয়ে লক্ষ্য

গাড়ীতে রওনা হ'য়ে পড়লাম। ট্রেনে সমরটা যে কি ভাবে কেটেছিল জানি না। ঘোড়ার গাড়ী এসে যখন বাড়ীর কাছে দাঁড়াল তখন দেখি দু তিনখানা আরো গাড়ী দাঁড়িয়ে আছে। তাড়াহুড়া গাড়োয়ানের হাতে একটা টাকা গুলে দিয়ে বাড়ীর ভেতর ঢুকে দেখলাম, চারিদিক নিস্তব্ধ। মাসিমা সরিতের মাথার কাছে দাঁড়িয়ে ধীরে ধীরে বাতাস করছেন, সুত্রত আইসবাগ হাতে দাঁড়িয়ে, আর ডাক্তার বাবু একটি কাঁচি নিয়ে মাথার চুলগুলি গোছা গোছা করে কেটে দিচ্ছেন। দূরে মেশেনশায় বিঘর মুখে দাঁড়িয়ে আছেন। আমার দেবেই মাসিমা ধীরে ধীরে কাছে ডেকে বলেন “জ্ঞান হবার একটু আগেই তোমার খুঁজছিল।” ডাক্তার আমার মুখের দিকে একবার তাকিয়ে আস্তে আস্তে ধর থেকে বেরিয়ে গেলেন। আমার সারা দেহটা তখন ঝিম ঝিম করছিল। অবসাদ ভরে রোগীর মাথার শিরের বসে পড়লাম।

সকলেই রোগীর পরিচর্যায় ব্যস্ত। হঠাৎ আমার নজর পড়ল কালো পশমের মত একগোছা চুল তখন ও মেজের উপর পরে লুটছে। সকলের অলক্ষ্যে অতি ধীরে ধীরে সেই চুল গোছাটি জুলে বুক পকেটের ভেতর রেখে দিলাম। সে যে আমার সুরোর বড় আদরের, বড় গৌরবের জিনিষ।

সমস্ত দিনরাত একভাবে কেটে গেল। পরদিন সকালে নবোর অবস্থা খারাপ হ'য়ে আসতে লাগল,—নাড়ীর গতিও ক্রমে বন্ধ হয়ে এল। নিজেকে আমি আর স্থির রাখতে পারলাম না, বালকের মত কঁদে ফেলে সুরোজের মুখের ওপর কুঁকে পরে বজ্রাম “একবারটি আমার দিকে চাইবিনি, রাগ করিলি বুঝি?” সে তখন একখানা হাত বাড়িয়ে কাকে খুঁজছিল। আমি তার হাতের কাছে নিজেকে সরিয়ে দিয়ে বজ্রাম, “এই যে সুরো তোমার বেগুদা।” তার হাত থানা আমার হাতের উপর এসে পরতেই শক্ত করে আকড়ে ধরলে। ডাক্তার বাবু দূরে বসেছিলেন, বলেন “বেগুদা অধীর হবেন না। Let her die in peace.”

তার ক্ষুদ্র জীবনটুকু ধীরে ধীরে অনন্তের সঙ্গে



নিশে বাচ্ছিল। আমরা তার মুতাসীফ যুথের দিকে  
চেয়ে চুপ করে বসে রইলাম।

\* \* \* \* \*

বুকতরা শ্রুততা নিয়ে সাতদিন হ'ল ক'লকাতার  
কিরে এসেছি। আক আমার বলে কেউকে দাবী  
করবার এছনিকার আর নেই, —সবাই বেন মুতায় কাতের  
ইসারার অপেক্ষার দাঁড়িয়ে আছে। কেউ ছুটেছে, আবার  
কেউ বা আহত পত্তর যত রক্তাক্ত দেহটাকে একপা  
একপা ক'রে টানতে টানতে সেই পথের দিকে  
এগিয়ে দিচ্ছে। ও কি ভীষণ, এই সব অভিশপ্ত  
জীবন! একটা আলোহীন, সীমাহীন গহবরের নীচে  
অসহায় অবস্থায় সবাইকেই ধীরে ধীরে নেবে যেতে  
হবে, আর একটা কালো ক্ষুধা সব গ্রাস করে নেবে!

সরোর একগোড়া চুল এখন ও আমার পকেটে  
আছে। যতদিন জীবন থাকিবে সে আমার চির  
সাবী।

সে দিন সন্ধ্যার সময় ওপরের ঘরে কেউ ছিল না।  
একলাটি জানালার ধারে বসে চুপি চুপি চুলের  
গোছাটি টেনে বার করলাম। বাইরে রূপ রূপ করে  
বুড়ি পরছে। বাদলার ভেজা বাতাসে আমার হাতের  
ওপর চুলের গোছাটা যেন কেঁপে কেঁপে দিউরে  
উঠল। জানালার একটু দূরে অভিমানে ভরা কাতর  
নিখাসের সঙ্গে সরোর চাপা কান্নার আওয়াজ যেন  
শুনতে পেলাম।

এক সপ্তাহ ধ'রে লুকিয়ে লুকিয়ে বেড়িয়ে আজ আর  
নিজেকে সামলাতে পারলাম না। অরের বিঘটা হাড়ের  
ভেতরে যেন চেপে বসেছিল। সমস্ত দিনটা যে কোন্  
দিক দিয়ে গেছে জানি না। বিকেল বেলাটার অল-  
কাকে দেখতে পেয়ে বললাম, "অলাদিদি, একটু মাথাটা

টিপে দিবি? তোকে খুব ভাল ভাল বই দেবো পড়তে।"  
সে কাছে এসে মাথার ওপর হাত রেখেই বলে "উঃ  
দাদা, এবে বড্ড গরম! থাকে লুকিয়ে এসে বৈঠক  
খানায় দিন ভোর আহ বুকি?" তাকে কিছু বলবার  
আগেই সে ছুটে বাড়ীর ভেতর চলে গেল।

রোগ চেপে লুকিয়ে থাকা গেল না। যা এসে  
জোর করে বাড়ীর ভেতর নিয়ে গেলেন। ডাক্তার  
এসে যে রোগের নাম করে গেল শুনে একটু হাসলাম।

চারদিন এক ভাবেই কেটে গেল। আজ মাথার  
বস্ত্রণায় অস্থির হ'য়ে পড়েছি। বুকের ভেতরও কেমন  
ব্যথা ক'রছে। যা ধীরে ধীরে হাত বুঝিয়ে দিতে  
লাগলেন। একটা তন্ত্রার ঘোরে সমস্ত শরীরটা আচ্ছন্ন  
হ'য়ে এল।

আধো জাগা আধো ঘোরের ভেতর দিয়ে আরে  
ছুটো দিন কেটে গেল। মাথার সমস্ত শিরশুলো যেন  
এখন এক একটি ক'রে ছিঁড়ে যাবে। একবার চারি  
দিকে চেয়ে দেখতে গেলাম, সব জিনিষ ভাল দেখা গেল  
না। বুক পকেট থেকে চুলের গোছাটা বার ক'রতে  
গিয়ে দেখি পকেট খালি, কিছুই নেই। বালিশের নীচে,  
বিছানার চারদিকে হাত বাড়িয়ে খুঁজতে লাগলাম,  
কোথাও সেটা পাওয়া গেল না। প্রবল উদ্বেজনার  
মাথার ভেতর কেমন ক'রতে লাগল। দূরে অলা  
বসেছিল; তাকে ডাকতে গিয়ে মাথা তুলতে পারলাম  
না। যুথের ভেতরকার সবটা তখন শুকিয়ে গেছে।  
মনে হ'তে লাগল বিছানা শুদ্ধ আমি যেন ধীরে ধীরে  
নীচের দিকে নেমে যাচ্ছি।.....আর কিছু  
মনে নেই।

শ্রীশশীলকুমার রায়।



## শেষ নিশায় ।

( ১ )

জমিট পালার শেষ নিশায়,  
বাতগীতে “হুম” লেগেছে  
দুখ কেন তার সুর মিশায় ।  
উদাস ধুলুর তমাল শিরে  
খণ্ড শশী ডুবছে ঘোরে,  
বৃক্ষ স্থবার সনে আঁকি  
বৃক ফাটে ঘোর কোন ত্বদায় ?

( ২ )

ভরাট সুরের অঙ্গলি  
পূর্ণাহতির অন্ত ভাতি  
দেয় যে মানস চঞ্চলি ।  
বার নহে বার কাণ্ডন রাতি  
ওট পলে পল গল্ছে বাতি  
সোহাগ পরী বার যে উড়ি  
কনক পাখা সঞ্চালি ।

( ৩ )

মন ভিখারীর খোজ ভারী  
সদা স্থবীর পরিবেশন  
বন্দ হবে ভোজ বাড়ী ।  
মৃদু মধুর এই সে নিশি  
প্রাণের প্রাণে রইবে মিশি  
কুসুম তোলার কাঁটার দাগ  
নয় যে আঁধা মোহ বরাই ।  
শ্রীকুমদরঞ্জন মল্লিক

## হাসির সঙগাত ।

কান্দী গরম পেয়ে কাঁসী ।

এক ব্যক্তির হাত দেখে এক জ্যোতিষ গুণে বলে যে তার কান্দীতে মৃত্যু হবে । এই শুনে ত সে ব্যক্তি ভারি খুসী কারণ শাস্ত্রে আছে কান্দীতে মৃত্যু হ'লে সমস্তই বর্ণপ্রাপ্তি হয় । তার চুটাকা বর্ণনী দেবার কথা ছিল একথা শুনে আর একটি টাকা বেশী দিয়ে সঙ্গে সঙ্গে একটি লম্বা প্রণাম দিয়ে শুধান থেকে বেরিয়ে সোজামুজি বাড়ী চলে গেল ।

অট্টহাস্যে তাঁর খুনের অপরাধে কাঁসীর হুম্ব হয় গেল । সে ত হুম্ব শুনে একেবারে ভয়ে কঁদে কেটে অস্থির । সে কেবল কি করলে কাঁসী থেকে নিজের পাওয়া যায় তাই চিন্তা করিতে লাগল । চিন্তা করিতে করিতে তাঁর জ্যোতিষ ঠাকুরের বাক্য স্মরণ হ'ল । ষড় বাঁধলের ঘোর অন্ধকার রাত্তিরে পথঘাড়া পথিকের পথ খুঁজে গেলে যেন বেরকম আনন্দ হয় এর মনেও ঠিক সেই রকম আনন্দ উপস্থিত হ'ল । তৎক্ষণাৎ সে তার

এক আত্মীয়কে ডেকে বলে অমুক বাগদার এক জ্যোতিষ আছে আমারই নাম করে তাকে বলা তিনি যে আমার বলেছিলেন আমার কান্দীতে মৃত্যু হবে তবে আমি এখন কাঁসীতে মৃত্যুতে বাচ্ছি কেন এবং আরও কেনে এস এর হাত থেকে বাঁচবার কোন উপায় আছে কি না ? সে বেচারী জ্যোতিষ ঠাকুরের কাছে গিয়ে বলে আপনি যে বলেছিলেন—এর কান্দীতে মৃত্যু হবে কিন্তু এখন ত তাঁর কাঁসী হচ্ছে । ( জ্যোতিষ সাম্ভর্ষ্যে বলিল ) কাঁসী হচ্ছে ; বল কি হে ! ( কিছুকণ চিন্তা করিয়া মাথা চুলকাইতে চুলকাইতে ) হা হয়েছে, হয়েছে । একটু গরম বেশী পড়েছে কি না তাই ক হা করে ক হয়ে গিয়েছে । তার আমি কি করব ? এই দেখ ক কেন কএর আত্মীয় “বর্ণ” যে যেখানে আছে সবাই—গরম কালে হা করে থাকে ।



## সাহিত্যে স্বাধীনতা

সাহিত্য সংসদের বার্ষিক উৎসবে সভাপতির পদে বৃত্ত করিয়া আপনারা আমাকে যে সম্মান দিয়াছেন, অবাচিত বিনয়ের আড়ম্বর করিয়া আমি তাহার অবমাননা করিতে চাই না। আমি আপনাদের দেশের লোক, এইখানেই আমি বৌবদের প্রারম্ভে আপনাদেরই অনেকের সঙ্গে মিলিয়া মিশিয়া আনন্দ উৎসব করিয়াছি। তাই আপনাদের স্নেহ যে আপনাদের বিবেচনার ছুই ফুল ছাপাইয়া উঠিবে সে আর বিচিত্র কি? এই সুস্পষ্ট সত্যটা লইয়া যদি আমি বিনয়ের বাগাড়ম্বর করি তবে আপনারা হয়তো এই সন্দেহই করিয়া বসিবেন যে আমি প্রকৃত প্রস্তাবে মনে মনে নিজকে এই সম্মানের বোণাই মনে করি—শুভ কৃষ্ণের অধিক শব্দ সুপরিচিত।

বিনয় করিতে চাই না, তবু এ কথা আমি বলিতে বাধ্য যে আমাকে এই আসনে বসাইয়া আপনারা আমাকে বিপদে ফেলিয়াছেন। আমি সাহিত্য ক্ষেত্রের সামান্য চাষী, আপনারা আমাকে ডাকিয়াছেন একটা সাহিত্যিক অহুষ্ঠানে ঘোড়ী করিতে। ঘোড়ীটা বুকের কাজ, তা সে জানবুছই হউক আর বয়োবুছই হউক। নিজকে বয়োবুছ বলিয়া আমি কিছুতেই স্বীকার করি না। অল্প কোনও প্রকারের বুছ যে আমি কোনও দিন হইতে পারিব এতদসংশয় রাশি না। এমন এক জাতীয় জীব আছে যাহাদের চুল পাকিয়া যায় কিন্তু তাহারা বুড়া হয় না। তাহাদের গুজন কিছুতেই বাড়ে না; তারা চিরদিন বাটখারার দলে থাকিবার সিক্খি পাট্টা লইয়া জগতে আসিয়াছে। আমার খুব বিশ্বাস আমি এই দলে।

আমি আপনাদিগকে এই আসনে বসিয়া যে কি সম্ভাব্য করিব তাবিয়া আকুল হইতেছি। সাহিত্যে সৌষ্ঠবের নিপুণ বিশ্লেষণ, সাহিত্য-সৃষ্টি প্রক্রিয়ার সুললিত ব্যাখ্যা, বা শিক্ষানবিস সাহিত্যিকের প্রতি উপদেশ দেওয়া আমার পক্ষে একান্ত অসম্ভব। দৈববাগুগ্রহে

সাহিত্যক্ষেত্রে আমি ভাল বন্দ ছুই একটা জিনিস সৃষ্টি করিয়াছি এ অভিযোগে আমি কবুল জবাব দিতে বাধ্য। তাই বলিয়া আমি সাহিত্যে তত্ত্ব বলিয়া নিজকে মনে করিব এত বড় স্পর্দ্ধা আমার নাই। ফুল ফোটে—তা সে বেঁটু ফুলই হউক আর বসোরা গোলাপই হউক—তাই বলিয়া সেই ফুলের জন্মকৃতিকে বটানি শাস্ত্রের অধ্যাপক করিয়া দেওয়া চলে না। আমার জন্মের বনে যেমন তেমন ছুই একটা ফুল যদি ফুটিয়াই থাকে, তাই বলিয়া যে আমি ফুল পাছের Morphology or histologyর ব্যাখ্যা করিতে পারিব এমন কোনও কথা নাই।

তাহা ছাড়া আপনাদের কাছে এই আসনে বসিয়া খুব খুলিতে আর এক কারণে খুব বেশী সন্তোষ বোধ করিতেছি। আমার নিজের দেশের লোকের মাঝখানে আপনাদের আপনাদের ভিতর ছুই চারিটা অনধিকার চর্চা না হয় করা যায় কিন্তু আপনাদের তাহা ক্রটিবে কি? আপনারা এই আসনে আমার পূর্বে যে মহারথীকে আনিয়া বসাইয়াছিলেন \* তাহাতে আপনাদের নজর খরাপ হইয়া গিয়াছে। পাক্‌জন্তু খার কণ্ঠে একবার বাজিয়াছে তার কাছে গিয়া গ্রাম্য শিশুর পাতার বাঁশী বাজাইতে খুব বেশী সাহসের প্রয়োজন।

তবে ব্যবসার জোরে আমি একটা কাজে খুব সাহসের সহিত অগ্রসর হইতে পারি। তাই আর অধিক ভূমিকা না করিয়া আমি আপনাদের এবং আমার দেশ বাসীর কাছে বাজালা সাহিত্যের পক্ষে একটা আরজী পেশ করিয়া তাহার উপর দুইটা সওয়াল জবাব করিতে ইচ্ছা করি।

আমার আরজীর প্রথম ও শেষ দফা বাজালা সাহিত্য ও সাহিত্যিকের পক্ষে স্বাধীনতার দাবী। আমরা সকলেই বাজালা সাহিত্যের পুষ্টি দেখিতে চাই—আমরা চাই আমাদের সাহিত্যকে অনূলা সম্পদে ধনী হইয়া বিশ্বের সকল সাহিত্যের পাশে সম্মানের সহিত

\* \* টাঙ্গাইলের সাহিত্য সংসদের বার্ষিক অধিবেশনে সভাপতির অভিভাবক।

\* পূর্বে অধিবেশনের সভাপতি ছিলেন তার প্রিয়জন রায়।



অধিষ্ঠিত করিতে—সংসাহিত্যের সৃষ্টি করিতে। কিন্তু সেই সাহিত্যই সংসাহিত্য বাহা সাহিত্যিকের চিন্তের স্বাভাবিক অস্তিত্ব। যেখানে এই স্বাভাবিক অস্তিত্বই স্বাধীনতা নাই সেখানে সং সাহিত্য থাকিতে পারে না।

সাহিত্য একটা আর্ট। শিল্পির নিষ্ঠার সহিত ইহার সেবা করিতে হয়, দীর্ঘ সাধনার দ্বারা ইহাতে সফলতা অর্জন করিতে হয়। কিন্তু এই সাধনা, এই শিক্ষা, এই অর্জিত শিল্পকুশলতাই সাহিত্যের শ্রেষ্ঠ উপাদান নয়। তাহার বিন্যাস যত কেন সুন্দর হউক না, অলঙ্কারের প্রয়োগ যতই যথেষ্ট হউক না কেন, তাহাতে সাহিত্য হয় না যদি তাহার ভিতর সাহিত্যের প্রকৃত প্রাণ না থাকে, যদি তাহাতে লেখকের বৃহৎ সত্য-শিব-সুন্দরের কোনও নূতন প্রকাশ না পরিস্ফুট হইয়া থাকে।

সাহিত্য সত্য শিব ও সুন্দরের অন্বেষণ। প্রকৃত সাহিত্য-শিল্পীর চোখে এই সত্য-শিব-সুন্দরের কোনও নূতন রূপ ফুটিয়া ওঠে—তাহাই প্রচার করিয়া সাহিত্যিক জগতে প্রতিষ্ঠালাভ করে। প্রত্যেক সাহিত্যিক কেবল সত্য-শিব-সুন্দরের উপাসক বা পুরোহিত নন—তাহার ঋষি বা Prophet, ঋষির চক্ষে যেমন সত্যের আলোক ভাসিয়া উঠে, মুগ্ধ ঋষি তন্ময় হইয়া তাহাকে বস্ত্রে গাঁথিয়া প্রকাশ করিতে চেষ্টা করেন, তেমন সত্য শিব সুন্দরের নিত্য নূতন রূপ সাহিত্য ঋষির চক্ষে ফুটিয়া উঠে—তাহারই প্রকাশের চেষ্টার ফল সাহিত্য।

এটা বড় স্পষ্ট কথা কিন্তু ইহা বঁট সত্য। প্রকৃতির কোনও নূতন ছন্দ বা জীবনের কোনও নূতন প্রকাশে সত্য-শিব-সুন্দরের কোনও নূতন রূপ—কোনও নূতন সত্য যদি আমার চক্ষে ফুটিয়া না উঠিয়া থাকে, আমি যদি বেদের ঋষির মতই স্পর্ধা করিয়া জগৎকে না বলিতে পারি যে “বেদাহং”—আমিরাছি আমি এই নূতন সত্য চিরবহুমুখী প্রকৃতির এক নূতন রহস্য, বৈচিত্র্যময় জীবনের এক নূতন কাহিনী, তবে আমার সাহিত্য সৃষ্টির চেষ্টা নিষ্ফল। নূতন করিয়া কিছু বলিবার যদি আমার না থাকে তবে কথা গাঁথিয়া আমি বতই বাহাহরী লই না কেন, আমি সাহিত্য সৃষ্টির স্পর্ধা করিতে পারি

না। তবে প্রভেদ এই যে বেদের ঋষির সৃষ্টি নিবদ্ধ “ভবসঃ পরমাত্মং”, সমস্ত জীবের, সমস্ত জগতের অন্ধ ভবসের অন্ধরালে যে অদৃষ্ট আলোক তাহার উপর, কিন্তু সাহিত্য ঋষি এই স্বর-জগতের হানি-কার্যের ভিতর, এখানকার ভাবনা চিন্তা খেলা ধুলার ভিতর, মানব জীবনের ভিতর, এই নব প্রকৃতির ভিতর চক্কু ডুবাইয়া তাহার ভিতর যুগপৎ গুপ্ত ও প্রকাশিত সত্য-শিব-সুন্দরের স্বরূপ ধ্যান করেন।

বাহা কিছু লেখা হইয়াছে, বা বাহা কিছু জগতে কোনও না কোনও সময়ে প্রতিপত্তি লাভ করিয়াছে তাহাই সাহিত্য পদবাচ্য নয়। এবং বাহা কিছু সমাজের উপকারী তাই যে সং সাহিত্য তাও নয়। এই হিসাবে যদি সাহিত্যের পরিমাণ করা চলিত তবে শিশুশিক্ষা ও কথাবালা বঙ্গ সাহিত্যে শ্রেষ্ঠ স্থান অধিকার করিত। পরের মুখে শোনা কথা বেশ শুদ্ধাঙ্গীরা উপস্থিত করিলে তাহাতে যে অনেকের উপকার হয় তাহা প্রত্যেক পরীক্ষার্থীই স্বীকার করিবেন। কাণ্ট বা হেগেল বা হার্সার্ট স্পেলার প্রভৃতি মত-প্রবর্তকের গ্রন্থ কখনো পড়িয়া থাকে? আর এই সকল মনোবিদ লোক সত্য বুঝাইয়া মালা গাঁথিয়াছেন যে Mackenzie, Stephen প্রভৃতি তাঁহাদের গ্রন্থ দর্শন শিক্ষার্থীর ঘরে ধরে। কিন্তু এসব গ্রন্থ তাই বলিয়া সাহিত্য নয়।

রস-সাহিত্যে এমন পরস্পরজীবির অভাব নাই। অনেক কবিতাই ভো পরের জীবনের পুনরুৎপাদন—অনেক উপজ্ঞাসই পরের সৃষ্টি চরিত্র ও ঘটনা লইয়া নাড়াচাড়া মাজ। সাহিত্যের ইতিহাসে যে এই রকম অন্ধম সাহিত্যের একেবারে উপকারিতা নাই এমন কথা বলা যায় না। অন্ধম কবি বা উপজ্ঞাসিক অনেক সময় দশ ভ্রমরগা হইতে সংগ্রহ করিয়া এমন একটা অদ্ভুত বিচিত্র সৃষ্টি করেন বাহা আশ্রয় করিয়া প্রকৃত প্রতিভাশালী লেখক পরে অমৃতপ্রাণ রচনা করেন। শেকসপীয়ারের রচনায় এমন বুদ্ধি বুদ্ধি হৃষ্টান্ত দেখিতে পাওয়া যায়। প্রায় প্রত্যেক নাটক রচনায় শেকসপীয়ার তাঁর পূর্ববর্তী বা সমসাময়িক এমন সব লোকদের লেখার কথা ও ভাবা আশ্রয় করিতেছেন বাহা-



দের নাম পর্যন্ত অনেক পুঁথি বাঁটিয়া বাহির করিতে হইয়াছে। এই সব অপদার্ব উপাদান তৈয়ার না থাকিলে যে শেকসপীয়ারের প্রতিভা কোন পথে বিকশিত হইত তাহা লইয়া আলোচনা করা নিষ্ফল। কিন্তু এই অপদার্ব সাহিত্যও যে উচ্চ অঙ্গের সাহিত্য সৃষ্টি সম্ভব করিয়া আপনি সার্থক হইয়াছে ও জগতের হিতসাধন করিয়াছে সে বিষয়ে সন্দেহ নাই।

কাজেই সমাজের উপকার-অপকারের মানদণ্ড লইয়া সাহিত্যের জগৎ বিচার করিলে প্রকৃত সাহিত্য রসের অবমাননা করা হয়। “বিষবৃক্ষ” পড়িয়া কতগুলি মেয়ে বিধবা হইয়াছে, কৃষ্ণকান্তের উইল পড়িয়া কত হিন্দু কুলবধু স্বামী ত্যাগ করিয়াছে আর বিধবা উম্মার্গগামিনী হইয়াছে; “আনন্দ মঠ” পড়িয়া কতগুলি যুবক জাকাজিকি করিতে নামিয়াছে, এ হিসাব সাহিত্যের হিণ্ডাব নয়, ইহাতে সাহিত্যের ভালমন্দ বাচাই করা চলে না। তেমনি বঙ্কিমচন্দ্র হিন্দুর সামাজিক আদর্শ কতখানি অক্ষুণ্ণ রাখিয়াছেন, যে সব অসুষ্ঠানের উপর আমাদের সমাজ প্রতিষ্ঠিত বলিয়া তুমি বা আমি বিশ্বাস করি তার কতটা তিনি ভাঙ্গচুর করিয়াছেন এ সব কথা সাহিত্য সমালোচনার নিত্যন্ত অবাঞ্ছন্য।

অমর গোবিন্দলালের সঙ্গে যে প্রকার ব্যবহার করিয়াছিলেন তাহা শাস্ত্রসঙ্গত কি না এ কথার আলোচনা শুনিয়াছি। ইহা হিন্দু কুলনারীর আচরণের সঙ্গে খাপ খায় না বলিয়া নিন্দা শুনিয়াছি। এ সব সমালোচনা যে অজ্ঞতাগ্রস্ত তাহা জানি, জানি যে বঙ্কিমচন্দ্র আমাদের প্রাচীন সমাজের একটা মূণ্ড আদর্শ মহাভারত হইতে সংগ্রহ করিয়া তাহাই জীবনের ভিতর ফুটাইয়া তুলিতে চেষ্টা করিয়াছিলেন, জানি যে মহাপাতকী স্বাধীন সহবাস পদ্ধতির পক্ষে শাস্ত্রানুসারে অকর্তব্য। কিন্তু এসব সমালোচনা সত্য হইলেও ইহাতে কৃষ্ণকান্তের উইলের “দৌরবেদ” কোনও হ্রাস বৃদ্ধি হইত না। অমর চরিত্র শাস্ত্রীয় হউক বা অশাস্ত্রীয় হউক, ইহা সত্য কিনা, জীবনের প্রত্যেকটি কথা ও কার্য তার চরিত্রের ও অবস্থার সঙ্গে সঙ্গত কি না ইহাই বিবেচ্য। যদি সমস্তটা জীবন চরিত্র সত্য ও সুশোভন হয়—এবং ইহার

ভিতরকার সত্যটা যদি একটা নূতন দৃষ্ট সত্য হয় তবেই এ চরিত্র সাহিত্যে উচ্চপদ লাভের যোগ্য,—তাহাতে হিন্দু সমাজ থাক বা ভাসিয়া যাক।

সমাজ ভাসিয়া যাক এমন ইচ্ছা যে আমি করি না তাহা বলা বাহুল্য। কিন্তু সমাজে যদি এমন কিছু থাকে যাহাকে বাচাইবার জন্য সত্যকে চেলিয়া উদ্ধৃত করিতে হইবে, তবে সে জিনিষটা রাখিবার জন্য আমি ব্যস্ত নই। সমাজেব ভিতর তাই স্থায়ী ও হিতকর বাহ্য সত্যের উপর প্রতিষ্ঠিত। কাজেই সমাজ রক্ষার খাতির সত্যকে ভয় করিবার কোনও প্রয়োজনই নাই। কোনও সাহিত্যিক কোনও সত্যকে উল্লঙ্ঘন করিয়া সমাজের সামনে উপস্থিত করিলে যদি ভয় পাইতে হয় তবে বুঝিতে হইবে যে আমাদের সমাজের ভিতর কোথাও এমন একটা অসত্য আছে যাহা সত্যের ভয়ে কুণ্ঠিত। পক্ষান্তরে এমন থাকিতে পারে যাহাতে সমাজের ভয় পাইবার যথেষ্ট হেতু আছে কিন্তু সে ভয়ের কারণ এই যে এই জাতীয় গ্রন্থ একটা অসত্যকে সত্য বলিয়া চালাইতে চায় Anatole France, Zola র উপজ্ঞাসের তীব্র সমালোচনা করিয়াছেন, কিন্তু তাঁর সমালোচনার মূল সূত্র ইহা নয় যে Zola র গ্রন্থ সমাজের পক্ষে অহিতকর—তিনি দেখাইতে চেষ্টা করিয়াছেন যে Zola করাসী নরনারীর জীবন যে ভাবে দেখিয়াছেন ও চিত্রিত করিয়াছেন তাহা অসত্য এবং অসত্য বলিয়াই তাহা দুঃস্থ। Zola সম্বন্ধে এ অভিযোগের সত্য মিথ্যা আমি বিচার করিতে চাই না, Zola র ভিতর তিনি যে দোষ দেখিয়াছেন France এর নিজের লেখা কি পরিমাণে সেই দোষে কলুষিত তাহাও আলোচনা করিতে চাই না—আমি শুধু এইটুকু বলিতে চাই যে সাহিত্যের বিচারে এই মানদণ্ডই একমাত্র মানদণ্ড—সাহিত্য সত্য কিনা তাহাই বিচার্য। যদি সত্য হয় তবে তাহাতে সমাজের ভয় পাইবার কিছু নাই।

উপজ্ঞাস ও কাব্যকে সত্য বলিলে বিজ্ঞান ও দর্শনের পক্ষ হইতে ঘোরতর আপত্তির সম্ভাবনা আছে। তাঁহাদের মতে সত্য সেইটা যাহাকে পরীক্ষাপারের যন্ত্রের ভিতর দিয়া চুরাইয়া লওয়া যায় বা লজিকের বাটখারার



নাগিয়া লওয়া যায়। কাব্য ও উপভাস করনা। কিন্তু সত্য ও কল্পনার ভিতর এই যে বিরোধ ইহা সম্পূর্ণ কাল্পনিক। সাহিত্যের কল্পনা সত্যের বাহন বাজ, ইহা অসত্য নয়। কবি যখন ফুলের ছাতি দেখিয়া আশ্চর্য্য হন বা নীরব নিশীথে চন্দ্র তারকার নিভৃত প্রেমসম্ভাষণের কথা গান তখন তিনি বাহ্য বলেন তাহা মিছক কল্পনা। কিন্তু এ কথা সেই উপভোগ করিতে পারে যে ইহার ভিতর সত্যের সন্ধান পাইয়াছে—যে নিজের অজান্তসারে কোনও একদিন এই ভাবে ভাবিত হইয়াছে এবং এই কবির ভাষায় সেই ভাবের স্বরূপ দর্শন করিতে পারিয়াছে। ইহার ভিতর যে সত্য তাহা Botany র সত্য নয়, Astronomyতে ইহা অগ্রাহ, Physics এ ইহার স্থান নাই, কিন্তু ইহা সত্য মানবের অন্তরে। প্রকৃতি মানবের প্রাণে যে অপূর্ণ ভাবের সঞ্চার করে এ সব কল্পনা সেই সত্য অমুভূতির একটা "অসম্পূর্ণ প্রকাশ মাত্র। এই সত্য যে কাব্যে আছে তাহাই কাব্য, আর যেখানে ইহা নাই তাহা বতই অলঙ্কৃত হউক না কেন তাহা কেবলি পত্র। তেমনি উপভাসিকের ও প্রধান ও একমাত্র উপকৌব সত্য। উপভাসেব পাত্রপাত্রী, তাহার ঘটনা বিস্তার সবই কাল্পনিক, কিন্তু এ সব কল্পনার সৃষ্টি হয় হৃদয়ের তপ্ত রক্তধারার, কৌব সত্যের ইহা প্রকাশ। Holmes Autocrat বলিয়াছেন, "আমি কখনও উপভাস লিখিব না, কেন না তাহা হইলে আমি আমার নিজের মনের গুপ্ত খবর সব প্রকাশ করিয়া ফেলিব আর না আমি আমার কত বহুবাহুবকে গল্পের ভিতর গাঁথিয়া দিব। এই সভ্যটাই প্রকাশ করিতে Jerome K. Jerome বলিয়াছেন "We write with our heart's blood উপভাসিক নিজের কল্পনা প্রস্তুত পাত্রীর নুখে আপনায় অন্তরে প্রকাশিত সত্য ফুটাইয়া তুলেন, নিজের অমুভূত বেদনা তাহাদের ভাষার মধ্য দিয়া ধ্বনিত করেন। যেখানে আপনায় ভিতর এই অমুভূতি নাই সেখানে উপভাসিকের লেখা অসার ও প্রাপশূত হয়। লেখককে আপনায় সৃষ্টি নরনারীর অন্তরের ভিতর প্রবেশ করিয়া নিয়মক দৃষ্টিতে

তাদের অন্তরের কথা আরম্ভ করিতে হয় এবং এমনি করিয়া লিখিলেই উপভাস সার্থক হয়। Jerome তাঁর নিপুণ রহস্তে ভাষার এই সভ্যটা প্রকাশ করিয়া ছেন। তিনি লিখিয়াছেন যে একদিন শীতের দিনে প্রভুবে তিনি Hyde park এ বেড়াইতে গিয়া তাঁর এক বন্ধুকে দেখিতে পান। বন্ধু অত্যন্ত অগ্রসর ভাবে এদিক ওদিক ঘুরিয়া বেড়াইতেছেন, কে যেন তাঁহাকে নাকে দড়ি দিয়া ঘুরাইতেছে। Jerome বন্ধুকে জিজ্ঞাসা করিলেন ব্যাপার কি? বন্ধু অদৃষ্ট কোনও একজনকে একটা পালি দিয়া বলিলেন, তাঁর অদৃষ্টের ফের, তিনি একখানা নূতন উপভাস লিখিতে বসিয়াছেন। উপভাসের নায়িকা একটি অষ্ট্রেলিয়ার মেঠো মেয়ে। সে হতভাগিনীর অত্যাচারের তিনি অর্জুরিত। আজ শিকারে কাল পাহাড়ে পরও সাগরে এমনি করিয়া সে ছুটিয়া বেড়াইতেছে আর উপভাসিক বেচারিকে পিছু পিছু ছুটিয়া হরণান হইতে হইতেছে। এখন সে মেয়ে আসিয়াছে লণ্ডনে; খেয়াল হইয়াছে প্রভুবে লণ্ডনের শোভা দর্শন করিবে, তাই প্রেয়সকে রাত না পোহাইতে বিছানা ছাড়িয়া ছুটিতে হইয়াছে Hyde Park এর পোশে ঝাড়ে ঘুরিয়া বেড়াইতে।

খেয়ালী পাত্র পাত্রীর হাতে পড়িয়া উপভাসিকের এমন লাঞ্ছনা ঘটিতেই হয়। তিনিই পাত্রপাত্রীর সৃষ্টি করেন সত্য, কিন্তু সৃষ্টি করিবারাত্র তাহার স্বতন্ত্র সত্য হইয়া দাঁড়ায় তখন আর উপভাসিকের তাহাদিগকে লইয়া বাহ্য ইচ্ছা তাই করিবার স্বচ্ছন্দতা থাকে না। তখন প্রত্যেকটি ঘটনার সৃষ্টিতে, প্রত্যেকটি কথার গাঁথুনীতে তাহার এই সব সত্য নরনারীর অন্তরের ভিতর চাহিয়া লিখিতে হয়। যতক্ষণ না তিনি ইহাদের অন্তরের ভিতর প্রবেশ করিয়া নিজেকে ঠিক সেই অবস্থায় ফেলিয়া নিজের ভিতর তাদের স্রু হৃৎকের ভাবনা চিন্তার অমুভূতি লাগাইয়া তুলিতে পারিবেন ততক্ষণ তাহার উপভাস সত্য হইবে না। কিন্তু যদি লেখক তাহার কল্পিত পাত্র পাত্রী সৃষ্টিমাত্র করিয়া তাহাদিগকে স্বচ্ছন্দ পতিতে চলিতে দেন এবং তাহাদেরই প্রাণের ভিতর প্রবেশ করিয়া ঠিক তাদের ভাষার কথা কন তবে তাহার



উপভাস প্রকৃত প্রাণবান উপভাস হয়—কেন না সে উপভাসের উপাদান বিখ্য। নহে সত্য, কল্পিত চরিত্রের ভিতর দিয়া জীবনের যে রহস্য উদ্ঘাটিত হইয়াছে তাহা সত্য, তাদের ভিতর যে অমুক্তি কল্পিত হইয়াছে তাহা সত্য—এই সত্যই উপভাসের প্রাণ। ঔপন্যাসিক যদি অন্তরের সকল সত্তা দিয়া সত্যকে বেদনার মত অনুভব করিয়া প্রাণের ভাবার তাহা প্রকাশ না করিয়া থাকেন তবে তাঁহার উপভাসে যতই কালাকালভার পরিচয় থাকুক না কেন তাহা উপভাস নয়, তাহা সাহিত্যের ভার বৃদ্ধি করে, সম্পদ বাড়ায় না। ঔপন্যাসিকও আর সকল সাহিত্যিকের মতই ঋষির দৃষ্টিতে জীবনের ভিতর সত্যবিশ্বাসকে দর্শন করিয়া লেখার মুখে তার নূতন স্বরূপ পরিষ্কৃত করিয়া তুলেন।

ঔপন্যাসিক যে নিজের হৃৎ পাত্র পাত্রী ও ঘটনাবলীকে কতটা পরাধীন তাহার দৃষ্টান্ত অনেক দেওয়া বাইতে পারে। যে সত্য সত্য আটটিষ্টের ঋষির দৃষ্টি লইয়া জন্মিয়াছে সে যেমন ছবি অকিতে সম্পূর্ণ স্বচ্ছন্দতা অনুভব করে না, উপন্যাসিক ও লেখায় তেমনি অস্বাভাব্য অনুভব করিয়া থাকেন। নিপুণ চিত্রকরের ভাবাবেশে তার চোখের সামনে একটা ছবি ভাসিয়া ওঠে—সেই ছবিকে তিনি পটের উপর ফুটাইয়া তুলিতে গিয়া যে সব রেখা পাত করেন সেগুলি তার নিজের স্বেচ্ছাচারের ফল নয়। তাঁর তুলিকার প্রত্যেকটি স্পর্শ তাঁর স্বপ্নদৃষ্ট এই ছবির দিকে চাহিয়া নিয়মিত করিতে হয়, প্রত্যেকটি রেখা প্রত্যেকটি বিন্দু এমন ভাবে পরখ করিয়া দিতে হয় যাহাতে সে চিত্রটী সেই ভাবের ছবির অনুরূপ হইতে পারে, তার ভিতর যে রেখা শূন্য ভগ্ন ফুটিয়া উঠিয়াছে তাহারই ধা সম্ভব সম্পূর্ণ অভিব্যক্তি হয়। তাই চিত্রকর অনেক সময় এক একটা হাত এক একটা অঙ্গুলী, একটা রেখা কি মুখের কোণের একটা রেখা দশবার দশরকম করিয়া আঁকিয়া ধ্যান মগ্ন হইয়া তাহা নিরীক্ষণ করেন, দশবার মুছিয়া শেষে একটা রূপ তাঁর ধ্যানদৃষ্ট মূর্তির সঙ্গে মিলাইয়া লইয়া তাহাই আঁকিয়া ফেলেন।

উপন্যাসিকের মনেও অনেক সময় সত্যের আভাস

এমনি অস্পষ্ট আলোকের মত জপিয়া উঠে ক্রমে তাহা একটি কাল্পনিক চিত্রে আকারিত হইয়া উঠে। এই চিত্রকে নানা ঘটনার ভিতর দিয়া অসংখ্য খুঁটিনাটির ভিতর দিয়া পরিপূর্ণ রূপে ফুটাইয়া তুলিব্যক্তি চেষ্টায় উপভাস রচনা হয়। এই যে অসংখ্য খুঁটিনাটি ইহার কল্পনা ও নির্মাণে উপন্যাসিক কে ও চিত্রকরেরই মত দশরকম পরিকল্পনা লইয়া তাহার ভাবাবেশে দৃষ্ট সেই চিত্রের সঙ্গে মিলাইয়া লইতে হয়, অনেক সময় গড়িয়া ভাবিতে হয়, লিখিয়া মুছিতে হয়। কতটা ভাবিতে চুরিতে হয় তাহার সামান্য ইঙ্গিত যাত্রা কখনও কখনও বাহিরের জগতে প্রকাশ হইয়া পরে কিন্তু অনেক সময় উপন্যাসিকের প্রাণের সে গোপন কথাটা প্রাণেব নিম্নত কন্দরেই থাকিয়া যায়। এমনি একটা ইঙ্গিত আমার দৃষ্টিতে পাই রবীন্দ্রনাথের “ঘরে বাইরে”তে। ‘সবুজ পত্র’ে এগনের যে আরম্ভ হইয়াছিল গল্পের সন্ধানটি তার সঙ্গে সম্পূর্ণ সঙ্গত নয়, তাই পুস্তকাকারে রবীন্দ্রনাথ আরম্ভটাকে বদলাইয়াছেন। এমন অনেক দৃষ্টান্ত দেখান বাইতে পারে। আমার নিজের ক্ষুদ্র অভিজ্ঞতার কথা এ প্রসঙ্গে উত্থাপন করাটা বড় স্পর্দ্ধার কথা হইবে ; কিন্তু আমি আমার নিজের অভিজ্ঞতার কথাটা যেমন জানি আর কারও কথা তেমন জানিতে পারি না, তাই সে কথার উল্লেখ করিতেছি। তা’ছাড়া শিশু সোণার কার্তিকই হউক আর কাগপে’চাই হউক তাহাকে পৃথিবীতে আনিতে যারের বেদনা সব থানেই সমান।

“সত্য”র, “সেবনাদে” এবং “বিপর্যায়” আশঙ্কের সময় আমি শেষ সম্বন্ধে যে কল্পনা করিয়াছিলাম মধ্যপথে সে কল্পনা আমাকে পরিত্যাগ করিতে হইয়াছে। পাত্র পাত্রীর জীবনকে কল্পিত জগতে স্বচ্ছন্দগতি দিবার জন্য অনেক সময়। এইরূপ করিতে বাধ্য হইয়াছি। ‘সেবনাদ’ সম্বন্ধে বিশেষ করিয়া একথা আপনাদিগকে বলিবার প্রয়োজন আছে। কেন না সে উপভাসের ঘটনামূল টানাইলে। এখন উপভাসখানি যেমন দাঁড়াইয়াছে তাহাতে ইহা টানাইলে না হইয়া বীরভূমে হইলেও কোনও কতি ছিল না, এবং ইহার দ্বারা যে টানাইলের বিশেষ কিছু সমান বাড়িয়াছে এমন নয়।



কিন্তু অনেক দূর পর্যন্ত আবার বাহা করনা ছিল তাহাতে আশাদের এ অকলেস সমাজ ও জীবনের নানা বিশিষ্ট অবস্থার চিত্র ইহাতে থাকিত এবং টাঙ্গাইলের উল্লেখটা সার্থক হইত। কিন্তু যেখনাদ ও যেনোরমার জীবন এমন একটা পথে বৈকিয়া চলিল যে আমি তাহা আর আবার পূর্ব সঙ্কল্পের দিকে ফিরাইতে পারিলাম না। টাঙ্গাইলের নামটা ইতিমধ্যে এমনভাবে গল্পটার ভিতর গাঁথিয়া দিয়াছিল যে ইহা বদলাইতে ইচ্ছা করিলেও শেষে বদলাইতে পারি নাই। আমার পূর্ব কল্পনাকে সংযত না করিয়া যদি আমি অবরুদ্ধতা করিয়া এই দুইটি জীবন সেই পথে টানিয়া লইতাম, তবে আমার গল্প অসত্য ও প্রাণশূন্য হইত বলিয়া আমার বিশ্বাস।

প্রকৃত সাহিত্যিক যাজেই যদি নূতন সত্যের সন্ধান, যদি সত্যশিব সূক্ষ্মের কোনও নূতন রূপ অনুভূতি যুগে লাভ করিয়া লগতে প্রচার করাই তাহার জীবনের ব্রত হয় তবে তাহার স্বাধীনতার অধিকার স্বীকার করিতে হইবে। সত্য বাহার নিকট যেমনভাবে প্রকাশ হইয়াছে, যে রূপ বাহার চোখে যেমন হইয়া উঠিয়াছে সেটা ভেদনি করিয়া প্রকাশ করিলেই না সাহিত্য হইবে। তবেই না তাঁর জীবনের ব্রতের উদ্ভাপন হইবে। অলঙ্কারের অটবন্ধন বা সমাজের বন্ধনাসন দিয়া তাহাকে বাধিতে চেষ্টা করা নিফল। যে পড়িবার শক্তি লইয়া জন্মিয়াছে, সত্যকে যে নূতন করিয়া পাইবার অধিকার পাইয়াছে, এ শাসনে তাহাকে বাধিতে পারিবে না। তাকে জীবন সার্থক করিতে হইলে তার হুঁই আলোক মাত্র শরণ করিয়া অন্ধুর নূতন পথে ছুটিতেই হইবে।

উপভাস সম্বন্ধে একটা প্রচলিত সংস্কার আছে যে ইহার আপা ও গোড়া একসঙ্গে করনা করিয়া তাহার ভিতর একটা সামঞ্জস্য রক্ষা করিতে হয়, সমাপ্তিতে গল্পটার একটা স্বাভাবিক পরিণতি লাভ দরকার। Berrard Shaw তাঁহার সাহিত্যিক জীবনের প্রারম্ভে এই সংস্কারের নিগড় ভাঙ্গিয়া ফেলিয়া এমন দুই একখানি বই লিখিয়া ফেলিলেন বাহার সমাপ্তিটা এ

হিসাবে সমাপ্তিই নয়, গল্পটা যেন জীবনের স্বাভাবিক প্রবাহিয়া গেল। কিন্তু এ উপভাসগুলি জীবনের নানা রহস্য নিপুণভাবে উদ্ঘাটিত করিয়াছে, জীবনের সত্যস্বরূপ আটটিই তুলিকার অঙ্কিত করিয়াছে। গত বৎসর যিনি Nobel Prize পাইয়াছেন সেই Knut Hamsunএর উপভাসগুলি এমন সমালোচকের সংস্কার বিরোধী। চলিত আদর্শের সাপলোথ দিয়া পরিমাপ করিলে এগুলির রুড়ি রুড়ি ধোঁব ধরা পড়ে! কিন্তু তবু হামসুনের বইগুলি আবৃত্ত হইয়াছে। কেন না ইহা জীবনকে জীবন্ত বর্ণে চিত্রিত করিয়াছে, অনাড়ম্বর সরল ভাষার ও সাধারণ সহজ ঘটনার স্বাভাবিক বিস্তারের দ্বারা হামসুন নিজের জীবনে উপলব্ধি ভাব ও বেদনা ফুটাইয়া তুলিয়াছেন বলিয়া তাঁর Growth of the Soil, Mothwise প্রভৃতি গ্রন্থ খ্যাতি লাভ করিয়াছে।

সাহিত্য জগতির এই স্বাধীনতা স্বীকার না করিলে সংসাহিত্যের স্রষ্টি হইবে না। সাহিত্যকে যদি পুটে ও সমুদ্র হইতে হয় তবে তাকে বধেই হাত পা খেলাইবার আশ্রয় দিতে হইবে। সাহিত্যিকের অন্তর বন্ধিরেব সবগুলি দুয়ার জানালা খুলিয়া দিয়া তাঁর ভাবকে খেলিতে দিতে হইবে। সংসাহিত্যের নামে রুড়ি রুড়ি বিধি নিষেধের প্রাচীর তুলিয়া দিয়া, নানা কঠোর শাসনের বাধাবাধির ভিতর একটা করমারয়েসী সাহিত্য পড়িয়া তুলিতে পারা যায়। কিন্তু তাহা জীবন্ত সাহিত্য হইবে না। বাড়ীর ভিতর আটবাট বাঁধিয়া ঘরোয়ান ও বাটার মহাশয়ের চোখের তলায় বন্ধ করে যে ভালো ছেলে পড়িয়া উঠে, জীবন সাগরের উর্ধ্ব সংঘাতে সে কোথায় ভলাইয়া যায় তাহার সন্ধান পাওয়া যায় না। মাঠে মাঠে ছুটিয়া খেলিয়া, লড়াই করিয়া, আহাড় খাইয়া যে মানুষ পড়িয়া উঠে সে পরম আনন্দে চেউয়ের সঙ্গে লড়িয়া যুঝিয়া তাহার চুড়ার চুড়ার ভাসিয়া বেড়াইতে পারে। সংসাহিত্যই আশ্রয় চাই, কিন্তু তাকেই বলি সংসাহিত্য বাহার ভিতর সত্য প্রাণ আছে, বাহা খোলাবারেই আলো হাওয়ার স্বাধীন ভাবে বাঁড়িয়া উঠিয়াছে, বহুর ভিতর বাধা বাড়া



করিয়া রহিয়াছে, সত্যের আলোকে আগাগোড়া উদ্ভাসিত হইয়াছে। এমন সংসাহিত্য সৃষ্টি করিতে হইলে সমাজকে চোখ রাঙ্গাইয়া গুরু মহাশয় সাজিয়া বসিলে চলিবে না, সর্বদাই সনাতন, অতএব পুরাতন আদর্শে নূতনের ভালমন্দ যাচাই করিয়া কলিত অসং সাহিত্যকে গিঘিয়া যারিবার আয়োজন করিলে চলিবে না। পুরাণো বেমানান পোষাক যদি নূতন লোককে পরাইতে হয় তবে সে মাহুকে ছাটিয়া পোষাকের সমান করিবার কল্পনা উদ্ভারিবার দেশেই সম্ভব।

সাহিত্যের গৌরব বিচারে যদি প্রধান কথা এই হয় যে সাহিত্যের প্রাণ আছে কিনা, তাহার ভিতর কোনও নূতন সত্য সজীব হইয়া উঠিয়াছে কিনা তবে আমাদের পুরাতন সংস্কারের উক্ত রোষ দমন করিয়া রাখিয়া প্রথমে বিচার করিতে হইবে এই গোড়ার কথা। পিতামহের আমলে তৈয়ারী গহনা যদি নবজাত শিশুর হাতে না চোকে, তবে শিশুর পক্ষে সেটা বিশেষ নিন্দার কথা নয়। এবং যে পিতামহী সেই আক্রোশে শিশুকে কোলে তুলিতে অস্বীকার করে তাহার স্থান পাশলাগারদে বুদ্ধিমান লোকে প্রাণপূর্ণ সুপুষ্ট শিশুটিকে কোলে করিয়া হঠাৎ স্নেহের স্নেহ ডাকিয়া গহনা ভাজিয়া গড়াইতে দেয়।

স্বাধীনতা সাহিত্যগুণটির জন্ম কতটা দরকার তাহার একটা সামান্য চুটিকা দ্বারা বুঝাইতে চেষ্টা করিব। অনেক স্থল কলেজে ছেলের লেখার সাময়িক পত্র প্রকাশিত হয়। সেই সমস্ত সাময়িক পত্রের লেখার ভিতর এমন একটা আড়ম্বর ও প্রাণ শূন্যতা দেখা যায় বাহা সেই সব লেখকেরই অল্প লেখার দেখা যায় না। তা ছাড়া বাও বা লেখা থাকে তাহাও ছেলের নিকট হইতে সংগ্রহ করা সূকঠিন হয়। ঢাকা কলেজে এমন একটি সাময়িক পত্র পরিচালকদের নিকট গুলিয়াছি যে ঐ কলেজের ছোট্ট ছেলেরা আপনা আপনির ভিতর বেশ নিয়মিত রূপে একখানা হাতের লেখা মাসিকপত্র চালাইত, এবং তাহাতে যে সব লেখা বাহির হইত তাহা অনেক সময়ই বেশ সরস ও প্রাণপূর্ণ। এই প্রভেদের হেতু এই যে কলেজের কাগজের জন্ম লিখিতে গেলেই একটা অস্বাভাবিক আড়ম্বর ছেলের মধ্যে

আসিয়া পড়ে। লেখকের সর্বদাই মনে থাকে যে সে লেখা তার একজন শিক্ষকের হাতে পড়িবে, সুতরাং শিক্ষকের মনের দিকে চাহিয়া নিজেকে সে এমন অস্বাভাবিক রকমে গভীর ও প্রাজ্ঞ করিয়া কেলে যে তার লেখার আশে পাশে তার সহজ প্রাণটা খেলিতে পারি না। এমন অবস্থার ফসল যে কেবল খুব উচ্চবরের হয় না তাই নহে; ফলনও কম হয়।

সাহিত্যের সেবা করিতে গিয়া যদি কেবলি চলিত সংস্কারের দাসত্ব করিতে হয়, পথ চলিতে পারি পারি যদি সনাতন শাস্ত্রের নেতি নেতি গুলিয়া চলিতে হয় তবে প্রতিভার অন্তরায়্য ভয় পাইয়া বিদায় হয়। কাজেই সংসাহিত্য যদি আমরা পাইতে চাই তবে অসং সাহিত্য বা অসাহিত্যের ভয়ে অধীর হইয়া সাহিত্যের সকল পথে কাঁটা ছড়াইয়া রাখিলে চলিবে না। আগাছার ভয়ে জমী কটিয়া পুঙ্খ করিলে চলিবে না। আগাছার সঙ্গে সঙ্গে যে অমৃত ফলের গাছ বাড়িয়া উঠিবে তাহার আশায় জমিতে সার ছড়াইতে হইবে। সাহিত্য কেবল আগাছা কখনও স্থায়ী হইতে পারে না, কেন না তাহার ভিতর জীবনের বীজ যে সত্য তাহা নাই, সুতরাং আগাছা নিড়াইবার তার কালের উপর দিয়া আমরা নিশ্চিন্ত মনে অমৃত ফলের রস সঞ্চার করিতে পারি।

সাহিত্যে স্বাধীনতার পক্ষে ওকালতি করিতেছি বলিয়া কেহ একথা মনে করিবেন না যে সাহিত্য কোনও দিনই নিজের রাজ্যে কোনও নীমা স্বীকার করিয়াছে। সাহিত্যিকের স্বাধীনতা প্রসাদলব্ধ নয় ইহা তাহার ঈশ্বর দত্ত অধিকার। সাহিত্য কোনও দিন কাহারও কাছে ভিক্ষা করিয়া ইহা লাভ করে নাই কোনও দিন এ বিষয়ে বিচার করিবার কোনও জুরিসডিকশন স্বীকার করে নাই। সে তাহার নিজের অধিকারে চিরদিনই নিজের রাজ্যে তত্ত্বের তুলনামূলক হইতে রস সাগরের অতল গভীরতা পর্যন্ত বিচরণ করিয়া সত্য-শিব-সুন্দরকে আপনার ভিতর ফুটাইয়া তুলিয়াছে। সমালোচক চিরদিনই ইহার পিছু পিছু ছুটিয়া কখনও বা রসের প্রসাদে ডুগ হইয়াছে কখনও



বা ইহার উপর আপনার যারার জাল ছাড়াইয়া নেন  
করিয়াছে সাহিত্যকে এবার শাসনে আনিয়াছি, কিন্তু  
প্রতিভা চিরদিনই সকল গভী অস্বীকার করিয়াছে, এ  
যারার বন্ধন তার সম্মুখে চিরদিনই লুপ্ত ভক্তের মত  
অলক্ষ্যে ছিড়িয়া গিয়াছে।

শাসনের রক্ত চক্ষুতে সাহিত্য কোনও দিন ভর  
পায় নাই, পাইবে না, নিগড়েণ বন্ধনা সে চিরদিন  
হাসিয়া উড়াইয়াছে। এ যে বিধাতার প্রসাদপুষ্ট গুরু  
পক্ষী, স্বর্গ হইতে রসাতল পর্য্যন্ত ইহার স্বচ্ছন্দ বিবরণ  
ইহাকে বাঁধিবে কে। সত্যের স্নিগ্ধ ভীত প্রজ্যোতিতে  
যার চক্ষে নিয়ত জলিতেছে, আধার তাহাকে অন্ধ  
করিতে পারে না। সূর্যের রসের অমৃতে যে অক্ষর অমণ

অনাদরের মুহূর্ত্তে তাহাকে মারিবে কে? শিবের  
অধর কবচ তার হিংসার ক্ষীণ শরকে বিধিবে কে? যে  
সাহিত্য ভগ্নতে বিধাতার আহ্বান পাইয়া অগ্রসর হইয়াছে  
অধির দৃষ্টিতে যে শিবসুন্দরকে দেখিতে শিবিয়াছে,  
সত্যের অত্রাক আলোক বাহার হৃদয়ে নিরন্তর জলিতেছে  
সে বাণীর ছলন যে বজ্র লইয়া হাসিয়া খেলিতে পারে  
আশুপের ভিতর নাচিয়া বেড়াইতে পারে। প্রাণি তাহাকে  
স্পর্শ করে না, ক্রন্দ তাহার অন্তর কলঙ্কিত করে না।  
সে স্বরাট! আপনার অবিসম্বাদী রাজ্যে সে সম্রাট,  
বাণীর সর্কটবক্ষে সে হোতা, সে সর্কজিৎ।

শ্রীনরেশচন্দ্র সেন গুপ্ত।





## অরুণ

( প্রভাত )

বৈশাখ মাস,—তখন রোজ বৈশ প্রথর হইয়া উঠি-  
য়াছে। ঢাকা সহরের একটি রাস্তা দিয়া একখানি  
ঘোড়ার গাড়ী দ্রুত চলিতেছিল। হঠাৎ একটি তরুণ  
যুবক গাড়ীর ভিতর হইতে মুখ বাহির করিয়া বলিয়া  
উঠিল—“এগারা বাবু পিয়া জোরসে গাড়ী হাঁকাও।  
কল্‌কাতাকা গাড়ী ছোড় দেগা।”

গাড়ী যখন টেনসনে আসিয়া পৌঁছিল তখন ‘মেল  
ট্রেন’ ছাড়িতে দুই মিনিট যাত্রা বাকি আছে। যুবকটি  
কোন একাধারে গাড়োরানের ভাড়া চুকাইয়া, টিকিট  
কিনিয়া লইল। ‘প্ল্যাটফর্ম’এ প্রবেশ করিয়া বাক্স  
পথে অনেক কষ্টভোগ করিতে হইবে। যাহায্যে  
কোনরূপে জনতা ঠেলিয়া একটি মধ্যম শ্রেণীর গাড়ীতে  
উঠিয়া পড়িল। যুবকটির সহিত একটি ‘স্মট্‌কেস’  
ব্যতীত আর কিছুই ছিল না। কোনরূপে নিজের  
‘স্মট্‌কেস’টির স্থান করিয়া যুবকটি বসিয়া পড়িল।

তরুণ যুবকটির চেহারা দেখিয়া অল্প বয়স্ক বলিয়াই  
বোধ হয়। গায় একটি খদ্দেরের পাক্সাবী; কাপড়-  
খানিও দেশীমিলের বলিয়া বোধ হয়। ইহার মধ্যেও  
তাহার প্রত্যেক চালচলনের ভিতর একটু ‘কবিরানী’  
ভাব প্রতীয়মান হয়। মুখচোখের ভিতরও কবির জায়  
একটি উদাস ভাব সকলের দৃষ্টিতে সহজেই ধরা পড়ে।  
শরীরটি দেখিলে বেশ সুস্থ ও সবল বলিয়া মনে হয়।  
নব বয়সের প্রারম্ভে বা’ কিছু দেখা যায়, সেই  
যুবকটির মুখে চোখে সেই সবই একটু বিশেষভাবে  
সকলের চোখে ধরা পড়িতেছিল।

ট্রেন ক্রমে নারায়ণগঞ্জে আসিয়া পৌঁছিল।  
চারিদিকে কুলি—কুলী রব উঠিয়াছে। যুবকটি  
বিলম্ব না করিয়া বহুতেই ক্ষুদ্র “স্মট্‌কেসটি”  
লইয়া পোরালনন্দের ষ্টামারে বাইরা উঠিল। সিঁড়ি  
দিয়া ষ্টামারের উপরের তলার উঠিতেই হঠাৎ কে  
পিছন হইতে তাহার হৃদে হাত দিয়া বলিয়া উঠিল—“কি

হে অরুণ কোণার চলে, কল্‌কাতায় নাকি”?  
পঞ্চাৎদিকে মুখ ফিরাইয়া অরুণ দেখিল প্রভাত দণ্ডা  
য়মান। অরুণ বলিল,—“তোমরাও কল্‌কাতায় বাচ্ছ  
না কি?” প্রভাত হাসিতে হাসিতে বলিল,—“বেথানে  
অরুণের উদয়, সেইখানেই প্রভাত।” হৃৎকেনেই নানা  
কথাবার্তা বলিতে বলিতে ষ্টামারের এক প্রান্তে রেলিং  
ধরিয়া দাঁড়াইল। ষ্টামার তখন পূর্ণ গতিতে চলিতে  
আরম্ভ করিয়াছে। অরুণ স্থির দৃষ্টিতে নদীর পাড়  
নৌল জলের দিকে তাকাইয়াছিল। হঠাৎ প্রভাত বলিয়া  
উঠিল,—“কিহে কবি, কি ভাবছ? কথা বলতে বলতে  
অল্প মনস্ক হয়ে গেলে যে। নদীর ভিতর কিছু দৃষ্টে  
পেলে নাকি?”

অরুণ বলিয়া উঠিল,—“কি জ্বলন্ত—কি গভীর স্থির  
জল রাশি।—কত দূরে দেখ পার দেখা যাচ্ছে—।”

হঠাৎ প্রভাত বাধা দিয়া বলিল,—“হঁ। তোমার  
কথা মেনে নেওয়া গেল, আপাততঃ একটু চা’য়ের  
চেষ্টা করা যাক্।—দেখ্ না চা’রটে বেজে গেছে।”

চা’ পান করিতে করিতে হঠাৎ প্রভাত বলিয়া  
উঠিল,—“তুমি দেখি খদ্দের পরে’ একেবারে স্বদেশী  
হ’য়েছ! এতক্ষণ ধরে কথা বলছি এত বড় জিনিসটাই  
লক্ষ্য করি নাই!”

অরুণ একটু গভীর হইয়া বলিল,—“এর চেয়েও  
বড় জিনিস যা’ আমি এতক্ষণ লক্ষ্য করি নাই,—তুমি  
এখনও বিলাতি কাপড় ব্যবহার কর।”

প্রভাত বলিল,—“ওসব আমি মানিনে;—চড়কার  
আর খদ্দেরের কি দেশের শব্দহার কোন উন্নতি হবে?  
ও সব কিছু না,—ও হজুগ—হজুগ!”

অরুণ চা’য়ের পেয়ালা শেষ করিয়া গভীরভাবে  
মাথা তুলিয়া বলিল,—“কি রকম?”

প্রভাত বলিল,—“ওতে কি কিছু হবে? চড়কার  
আর তাঁতে কি এতগুলি লোকের কাপড় হয়? যদি



কাপড়ের 'বিল' দেশে অনেকগুলি বাংলা হয়, তা' হ'লে বরং কিছু আশা ছিল।"

অরুণ কিছুকাল স্থির থাকিয়া উত্তর করিল,—“হাঁ, তা' হ'লে দেশে কতকগুলি Capitalist সৃষ্টি হ'ত বটে। কিন্তু তা' দিয়ে কি লক্ষ লক্ষ দুর্ভিক্ষ-পীড়িত লোক বারা হাতে কাজ না পাওয়ার গুস্ত না খেয়ে শুকিয়ে মরছে, তাদের কি কাপড় পরা হ'ত? চরকা দিয়ে যে বার নিজের কাপড় মজে করে নিতে পারে।—আমি তোমার কোন রাজনৈতিক ভাষের কথা বলতে বাচ্ছি না,—তু খু চাই আমার দেশের লোক না খেয়ে মরা হাত থেকে বাঁচুক, তারা হাতে কাজ পাউক। রাজ-নৈতিক ক্ষেত্রে সকলের মতের মিল নাও হইতে পারে, কিন্তু দেশের লোকের খেয়ে বাঁচবার পথ দেখিয়ে দিতে হ'বে। এই বিষয়ে যদি কেউ বলে যে, আমার এতে মতের মিল নাই,—তা' হ'লে আমি বলি, এর চেয়ে বড় ভগ্নাঙ্গি আর কিছু নাই।"

কথা বলিতে বলিতে অরুণ দাঁড়াইয়া উঠিল। কথায় কথায় বেশ রাজি হইয়াছিল, নইলে দেখা বাইত অরুণের সমস্ত মুখমণ্ডল অপূর্ণ জ্যোতিতে তরিয়া উঠিয়াছে। তাহার পর প্রভাত অনেকক্ষণ পর্য্যন্ত স্থির দৃষ্টিতে অরুণের মুখের দিকে তাকাইয়া। কি যেন বলিতে বাইবে এমন সময় সকলে বলিয়া উঠিল,—“ঐ পোয়ালনন্দ দেখা বাইতেছে।"

প্রভাত বাঁধা পাইয়া ধামিয়া বলিল,—“দেখ অরুণ, আপাততঃ এই আলোচনা স্থগিত রাখা বাক।—তোমার এখন একটু সাহায্য ক'রতে হ'বে। একা ভীড় ঠেলে মা'দের সকলকে ট্রেনে উঠিয়ে আবার জিনিসপত্রগুলো ট্রেনে তোলবার ব্যবস্থা করা বড় কষ্টকর। তুমি মা'দের সকলকে নিয়ে আগে চ'লে গিয়ে তাঁদের ট্রেনে উঠিয়ে দাও, আমি জিনিসপত্রগুলো নিয়ে একটু পরে আসছি।

অরুণ বলিল,—“আচ্ছা, আমি তাঁদের নিয়ে যাচ্ছি, নইলে ভারপা পাওয়া মুকিল হবে।"

অরুণ মুখ ফিরাইয়া দেখিল, প্রভাতের মা'রের পার্শ্বে একজন অপরিচিতা তরুণী তাহার দিকে চাহিয়া

রহিয়াছে। অরুণের মন তখন দেশের নানা চিন্তায় পরিপূর্ণ, তাই সেই দৃষ্টি লক্ষ্য করিয়াও ভেমন করিয়া অনুভব করিতে পারিল না। অরুণ বলিয়া উঠিল,—“টিমার বাটে লেগেছে, আপনারা আমার সঙ্গে আসুন।"

এই কথা বলিয়াই অরুণ সমুখের ভীড় ঠেলিয়া তাহারিগকে লইয়া বাইতে লাগিল। টিমার হইতে নামিয়া ট্রেনে একখানি খালি গাড়ী দেখিয়া অরুণ বলিল,—“আপনারা এই গাড়ীতে উঠে পড়ুন।" প্রভাতের মা উঠিয়াই তরুণী কিশোরীকে ডাকিয়া বলিলেন,—“রেখা, উঠে এস।—আর অরুণ দেখত প্রভাত জিনিসগুলো ঠিকমত আনছে কি না।" অরুণ পাশের দিকে মুখ ফিরাইয়া চাহিতেই হঠাৎ তরুণীর সহিত চোখাচোখি হইয়া গেল; অরুণ মনে মনে ভাবিল,—“রেখা—এ নাম তো নিত্যন্ত অপরিচিত বলে মনে হচ্ছে না; আর মুখটিও যেন মনে হয় কোথায় দেখেছি।"

অরুণের মনে আজ যেন কি একটা নূতন চিন্তার উদয় হইল। সে এতদিন কত মাসিক পত্র কত প্রবন্ধ লিখিয়াছে—বৌবনের রজনী বগ্ন কল্পনার কত কাব্যের ছন্দে ছন্দে ফুটাইয়া তুলিয়াছে,—কত গল্প রচনার কত সুন্দরীর জীবন কাহিনী কত সুন্দররূপে দেখাইয়াছে; আবার অন্তরিকে সে দেশের জন্ত কত নিশিদিন চিন্তা করিয়া—দীন দুখীর গৃহে গৃহে ফিরিয়া নিজেকে দেশের সেবার—তাইদের সেবার উপযোগী করিয়া পড়িয়া তুলিয়াছে;—কিন্তু আজকের চিন্তায় কোথায় যেন একটু অসামঞ্জস্য রহিয়াছে—কি যেন একটি অমিল রহিয়াছে! অরুণ কিছুই বুঝিয়া উঠিতে পারিল না। শুধু মনে পড়িতেছিল একখানি বাস্তব জগতের মুখ—আর হরিদ্রাবর্ণের খদরের সাড়ী—। অরুণ হৈনের কাঁকুনিতে আঙে আঙে ঘুরাইয়া পড়িল।

( অধ্যায় )

যখন ট্রেন শিয়ালদহ ষ্টেশনে আসিয়া পৌঁছিল, তখন বেশ ভোর হইয়া গিয়াছে। স্বর্ধ্য পূর্কাকাল লোহিত বর্ণে রঞ্জিত করিয়া ধূলিআল ও কনকোলাহল পরিপূর্ণ নগরীতে ধুমরাশি ভেদ করিয়া সবো



উভার প্রথম আলোক রশ্মি বিস্তার করিয়াছে। অরুণ  
বীরে বীরে টেসনে অবতরণ করিতেই প্রভাত আসিয়া  
তাহাকে লইয়া তাহার মাতার নিকট গমন করিল।  
এমন সময় প্রভাত বলিয়া উঠিল,—“ঐ যে মেঝেদা’  
আমাদের নিতে এসেছে।” বলিতে বলিতেই প্রভাতের  
মেঝেদা’ সত্যেন আসিয়া বলিলেন,—“তোমরা এস,  
আমি ঘোড়ার গাড়ী ঠিক করে এসেছি।”

প্রভাত বলিল—“আচ্ছা তা’ হ’লে তোমরা এগিয়ে  
যাও, আমি ‘লাগেজ’গুলো নিয়ে আসি।”

ইহা বলিয়াই প্রভাত চলিয়া গেল। প্রভাতের  
মেঝেদা’ সকলকে ‘প্র্যাটফরম’এর বাহিরে আনিয়া এক-  
খানি ঘোড়ার গাড়ীতে উঠাইয়া দিলেন। প্রভাতের  
মাতা সত্যেনকে ডাকিয়া কহিলেন,—“দেখ সতু, রেখা  
এখান থেকেই আলাদা গাড়ীতে বাড়ী চ’লে যাক,—  
নইলে আমাদের বাড়ী গিয়ে আবার সেইখান থেকে  
বাড়ী যাওয়া, ওর পক্ষে বোধ হয় খুব অসুবিধা হবে।”

সত্যেন বলিল,—“আচ্ছা, তোমার কিছু ভাবতে  
হ’বে না, আমি সব বন্দোবস্ত করে দিচ্ছি।”

প্রভাত ততক্ষণে জিনিসপত্রগুলি আনিয়া গাড়ীর  
ছাদে তুলিয়াছিল। প্রভাতের মা বলিলেন,—“আমরা  
তবে বাই, তোরা রেখাকে পাঠিয়ে দিস—এই যে  
অরুণ তুমিও আমাদের গাড়ীতে উঠে এস।”

অরুণ গাড়ীতে উঠিলে গাড়ী অনকোলাহল পরিপূর্ণ  
রাজপথে দ্রুত গতিতে ছুটিতে লাগিল। অল্পক্ষণ পরেই  
একটি দ্বিতল অট্টালিকার সম্মুখে আসিয়া গাড়ী দাঁড়া-  
ইল। সকলে গাড়ী হইতে অবতরণ করিয়া গৃহে প্রবেশ  
করিবার অল্প পরেই প্রভাতের মাতা বলিয়া উঠি-  
লেন,—“তোদের উপর একটুও নির্ভর করে থাকবার  
জো নেই,—দেখত আমাদের বিছানাটাই এলো না।  
ও টেসনেই কেলে এসেছি। এতক্ষণে শুটা কি আর  
আছে?”

এইরূপে সকলকে বকিতে বকিতে বাড়ী মাথায়  
তুলিলেন। বিছানা হারাপোর জের এইরূপে তিন  
চারদিন পর্যন্ত চলিল। অরুণ প্রভাতের গৃহেই  
রহিয়া গেল।

সেইদিন রবিবার। সকলেই ব্রাহ্মসমাজ মন্দিরে  
যাইবার জন্য প্রস্তুত হইতেছিল। এমন সময় অরুণ  
বলিল,—“আপনারা প্রভাতের সঙ্গে আসবেন, আমি  
আগে চলে যাই।”

প্রভাতের বাসা হইতে মন্দির অধিক দূর নহে।  
অরুণ বীরে বীরে হাটিতে হাটিতে আসিয়া মন্দিরের  
প্রাঙ্গণে প্রবেশ করিল। প্রায় চারি বৎসর পর  
কলিকাতার আসিয়া অরুণ আজ প্রথম মন্দিরে আগমন  
করিল। অরুণের মন নানারূপ চিন্তায় পরিপূর্ণ হইয়া  
উঠিল। তাহার বালাজীবন এই মন্দির প্রাঙ্গণের ধূলা  
বেলার ভিতর দিয়া গড়িয়া উঠিয়াছিল। তাহার বালা  
বন্ধু প্রসাদের কথা মনে পড়িল। যাহার সহিত  
থাকিয়া অরুণের মনে সর্বপ্রথম বদেখ সেবার প্রসূতি  
জন্মিয়াছিল—যাহার প্রাণ তাহার প্রাণকে সেবার অন্ত  
উষ্ম করিয়াছিল, সে আজ কোথায়? অরুণ এখন  
এইরূপ নানা চিন্তায় মগ্ন হইয়া মন্দির প্রাঙ্গণে দাঁড়া  
ইয়াছিল, ঠিক সেই সময়েই অরুণের সহযোগী সেই তরুণী  
ও তাহার মাতা মন্দিরে প্রবেশ করিলেন। রেখা বীরে  
বীরে আসিয়া অরুণের নিকট দাঁড়াইল। দেখিয়া  
বোধ হইল যেন কিছু বলিতে চায়, কিন্তু কি বলিবে  
ঠিক করিতে পারিতেছে না। হঠাৎ রেখা নিজস্বা  
করিল,—“সেই বিছানাটা কি পাওয়া গেছে?”

অরুণ এইরূপ আকস্মিক প্রশ্নের জন্য মোটেই প্রস্তুত  
ছিল না। চিন্তা হঠাৎ বাধাপ্রাপ্ত হওয়াতে অরুণ মাথা  
তুলিয়া দেখিল রেখা তাহার সামনে দাঁড়াইয়া রহি-  
রাছে। অরুণ একবার তাহাকে ভাল করিয়া দেখিয়া  
লইল। রেখা একখানি খদ্দেরের সাড়ী পরিয়া আসি-  
য়াছিল। অরুণ ইহা দেখিয়া মনে মনে ভাবিল,—“এরও  
কিছু প্রাণ আছে দেখছি।” অরুণ একটু কাশিয়া  
সহজভাবে উত্তর করিল,—“না পাওয়া যায় নি।”

অরুণের শরীরের সমস্ত রক্ত এক অশূর্ষ হৃদয়ে নৃত্য  
করিয়া উঠিল। তাহারই মত দেশকে ভালবাসে এইরূপ  
কাহাকেও দেখিলে যতাবতই অরুণের অত্যন্ত আনন্দ  
হইত। কিন্তু আজকের আনন্দ যেন ঠিক সেইরূপ  
নহে। অরুণ অতমনস্কভাবে মন্দিরে চুকিয়া একটি



বেকের উপর উপবেশন করিল। মন্দিরের উপাসনা বধন শেষ হইল, তখন অরুণ বীয়ে বীয়ে বিচলিত মনে গৃহে প্রত্যাপন করিল। আহার শেষ হইবার পর শয্যায় শয়ন করিয়া নানারূপ চিন্তা করিতে লাগিল। বাতায়ন পথে আগত দক্ষিণ পবন যেন তাহার ক্ষুদ্রে নববোবনের আত্মান আনিয়া তাহাকে আকুল করিয়া তুলিল। এতদিনের কল্পনারাজ্যের স্তম্ভ রজনী নেশা আজ যেন বাস্তব হইয়া তাহার নিকট রূপ ধরিয়া আসিয়া উপস্থিত হইল। তাহার বক্ষঃ এক অজ্ঞাত বেদনার ভরিয়া উঠিল। তাহার জীবনে এইরূপ তার আর কোনদিনও বোধ হয় করে নাই।

পরদিন ভোরে বধন অরুণের ঘুম ভাঙিল, তখন সে তাহার ঘন হইতে সকা চিন্তা কাড়িয়া ফেলিতে চেষ্টা করিল। নিজের মনকে বুঝাইতে চেষ্টা করিল, এই সকল মাহুকের মনের দুর্বলতা। এই সকল দুর্বলতাই মাহুকে জগতের কার্য্য হইতে বিরত করে। কিন্তু মন যেন নিতান্তই অস্থির হইয়া পড়িল। এইগুলিকে যেন সে কিছুই জানিতে চায় না। এই সকল চিন্তা হইতে পরিত্রাণ পাইবার জন্য সে চা' পান সমাপন করিয়া প্রমত্তে বহির্গত হইবার জন্য প্রস্তুত হইল। এমন সময় প্রভাত আসিয়া বলিল,—“চল এক সঙ্গেই যাই।—আমিও বেরুব।”

উভয়ে নানা বিষয়ে কথা বলিতে বলিতে গোল দীঘির ধারে একটি স্থান অনধিকৃত দেখিয়া সেইখানেই সবুজ ঘাসের উপর বসিয়া পড়িল। সেইদিকে লোকের বাতায়ন কিছু অল্প। প্রভাত বসিয়াই বলিল,—“তোমার ঐ কথাটা কিছুতেই মাহুতে পারি না। আমি বলি, মাহুকের শেষ হ'বে শান্তিতে। তুমি কি বলতে চাও, মানব জীবন যখন সবচেয়ে উন্নত হ'বে, তখনই মাহুকের সংগ্রাম সবচেয়ে বড় হ'বে?”

অরুণ বলিল,—“তুমি আমার কথাটা ঠিক ধরতে পারনি।—আমি তা' বলছি না। মাহুকের জীবনের পরিপূর্ণতাই হ'ল শান্তি। কিন্তু, সেই পরিপূর্ণতার ঠিক আগেই মাহুকের জীবনে সবচেয়ে বড় সংগ্রাম আসে। অর্থাৎ—”

প্রভাত বাধা দিয়া বলিল,—“এবার বুঝতে পেরেছি।

কিন্তু, সে ত হ'ল ভিতরের সংগ্রামের কথা। বাইরে যে এত সংগ্রাম চলছে, কত যে বৃদ্ধ বিগ্রহ লেগেই রয়েছে, মাহুখ মাহুকে হিংসা করছে—এর শেষ কোথায়?”

অরুণ—“এই কারণ অনেক।—কিন্তু, আমার মনে হয়, মাহুকে মাহুকে বৈষম্যই হ'ল প্রধান কারণ। আমরা যে জাতিভেদ বলি, সেটা সব সময় বংশগত, কি দেশগত ভেদ নয়—সময় সময় অর্থাগত জাতিভেদটাও দেখা যায়। বর্তমান পর্য্যন্ত না জগতে প্রত্যেক মাহুকের ব্যক্তিগত স্বাধীনতা আসবে আর প্রত্যেক মাহুখ সমান অধিকার পাবে—তনদিন কোন দেশে শান্তি হবে না।

প্রভাত—“তুমি যে আদর্শের কথা বললে, আমি স্বীকার করি, সে আদর্শ খুব বড়, কিন্তু তা' কি জগতের পক্ষে সম্ভবপর?”

অরুণ—“আমি এই কথা বিশ্বাস করি বলগেই বলছি।—জানি না, আমি এই আদর্শ আমার জীবনে কতখানি সম্ভব করে তুলতে পারবে, তবুও আমার বতখানি শক্তি আছে তাই দিয়েই জগতের সেবা করবো।”

কথার কথার অনেক বেলা বাড়িয়া যাওয়াতে তারা গৃহে প্রত্যাপন করিল।

( সন্ধ্যা )

ইহার পর আরও দুই মাস প্রায় চলিয়া গিয়াছে। অরুণের সহিত রেখার প্রায়ই দেখা সাক্ষাৎ হইত। কিন্তু কথাবার্তা যে বিশেষ কিছু হইত—তাহাও নহে। কিন্তু দুই চারিটি বাহা কথা হইত তাহার মধ্যেই যেন কি একটা বিশেষত্ব ছিল। কথা কহিতে কহিতে হঠাৎ নিজের মত তাহার দিকে স্থির দৃষ্টিতে চাহিয়া থাকিত। কেন যে এইরূপ হয় অরুণ নিজেই তাহা বুঝিয়া উঠিতে পারিত না।

তখন বর্ষাকাল আসিয়াছে। প্রবণ মাস। সেদিন বেশ বৃষ্টি পড়িতেছিল। অরুণ বিকাল বেলা আপনার কক্ষে বাতায়নের নিকট দাঁড়াইয়া আপন মনে গাহি-  
ডেছিল।—

“দিন চলে যায় আমি আনমনে

তারি আশা চেয়ে থাকি বাতায়নে,



ভগ্নো প্রাণে মনে আমি তাহার

পরশ পাবার প্রয়াসী ;—

আমি সুদূরের পিয়াসী ।”

অরুণ যে বড় পায়ক ছিল, তাহা নহে : তাহার গলার সুরও অতি সুমিষ্ট নহে। তথাপি, সে এত প্রাণের সহিত গাহিতেছিল যে, তাহার সুর সেই বাড়ী দ্বারের সিক্ত পবনের সহিত মিলিত হইয়া এক করুণ ভাবের সৃষ্টি করিতেছিল। এমন সময় প্রভাত সেই কক্ষে প্রবেশ করিয়া কহিল,—“ক’দিন ধরে যে বৃষ্টি পড়ছে, কোথাও বেরুবার জো নেই।—তবুও, যা হোক আজকের বিকেলটা জ্ঞান বাবুর বাড়ীতে কাটানো যাবে।”

অরুণ বলিল,—“জ্ঞান বাবুর বাড়ীতে যে আজ চায়ের নিমন্ত্রণ সেকথা একেবারেই ভুলে গিয়েছিলুম।”

প্রভাত ও অরুণ যখন জ্ঞান বাবুর গৃহে আসিয়া উপস্থিত হইল, তখন অপরূপ নিমন্ত্রিত বন্ধুবর্গের চা’ পান প্রায় শেষ হইয়া গিয়াছে। সকলেই প্রায় গল্প শুদ্ধবে ব্যস্ত। অরুণ ও প্রভাত হলু কক্ষে প্রবেশ করিতেই রেখার সহিত সাক্ষাৎ হইল। রেখা অরুণকে দেখিয়াই বলিল,—“আমি বাড়ী থেকে ভেবেই এসেছি যে, এখানে আজ আপনার সঙ্গে দেখা হবে।” কিন্তু এই কথাটা বলিয়াই রেখা আবার জিজ্ঞাসা করিল—“আপনারা যে এত দেরীতে এলেন?” প্রভাত কিছু না বলিয়া অরুণের দিকে একবার মাত্র চাহিয়া দূরে সরিয়া দাঁড়াইল।

প্রভাতের সহিত অরুণের বতই বন্ধুত্ব থাকুক না কেন, রেখার সহিত অরুণকে কথা কহিতে দেখিলেই প্রভাতের মনটা কেন জানি অকারণে তিক্ত হইয়া উঠিত। বাহা হউক, যখন তাহার জ্ঞান বাবুর গৃহ হইতে স্বগৃহে প্রত্যাপন করিল, তখন পথি মধ্যে প্রভাত অরুণের সহিত একটিও কথা বলে নাই। অরুণও সেই সময় নানারূপ চিন্তায় বঞ্চিত ছিল বলিয়া কথা বলিতে পারে নাই। অরুণ মনে মনে চিন্তা করিতে লাগিল,—‘রেখা যে তাহার কবিতার প্রশংসা করিয়া বলিয়াছিল যে, তাহার কবিতার ভিতর বৈরাগ্য প্রাণ আছে সেইরূপ অস্ত্র কাহারও লেখার প্রায়ই দেখা যায় না। এই কথা

তাবিরাই তাহার ক্ষম্যে কি এক অজ্ঞাত আনন্দে তন্নিয়া উঠিল।

আরও কিছু দিন গত হইল। একদিন প্রভাত আসিয়া অরুণকে বলিল,—“জ্ঞান, আমাদের সেই বৌরেন বাবুর সঙ্গে রেখার বিয়ে।”

এত বড় তৈয়ারী করা মিথ্যাটা বলিয়াই প্রভাত অত্যন্ত অপ্রতিভ হইয়া পড়িল। তাবিল এখন বলিয়া দিই যে ইহা ঠাট্টার ছলে বলিয়াছে। কিন্তু তখনই তাবিল, অরুণ ত আর ছেলে মানুষ নয়,—সে তাবিলে, তাহার কাছে ঐ ঠাট্টার প্রয়োগজন কি? কাহার বিবাহ হইবে না হইবে, ইহা লইয়া ঠাট্টার স্বরকার কি? নিজের নীচতা ঢাকিবার অস্ত্র আর কোন কথা না বলিয়া অস্ত্র কথা পাড়িল।

ইহার তিন দিন পর প্রভাত সাক্ষাৎ ব্রহ্মের পর গৃহে ফিরিয়া আসিয়া দেখে তাহার টেবিলের উপর একখানি পত্র পড়িয়া রহিয়াছে। খামখানি খুলিয়াই দেখিল অরুণের লেখা। চিঠিখানি এক নিঃশ্বাসে পড়িয়া ফেলিল। তাহাতে লেখা ছিল,—

তোমাদের ছেড়ে চললুম। তোমাদের মনে অনেক কষ্ট দিয়েছি, কিছু মনে করোনা। কি করবো, যখন দেশের দীন দুঃখীর সেবার ভার নিয়েছি তখন ছেড়ে যেতেই হবে।”

সেই পত্রে উল্লেখ যোগ্য আর বিশেষ কিছু লেখা ছিল না।

\* \* \* \*

ইহার পর প্রায় মাসাধিক কাল গত হইয়াছে। সেদিন সকালে যখন প্রভাতদের বাড়ীর সকলে চা’ পান করিতেছিল, সেই সময় সত্যেন্ একখানি খবরের কাগজ হস্তে প্রবেশ করিয়া বলিল,—“আমাদের সেই অরুণ এক কলেরা রোগীর সেবা করছিল, সেই সময় সেও কলেরা রোগে আক্রান্ত হইয়া গত বুধবার মারা গিয়েছে।”

সত্যেনের বন্ধু অতুল চা’ পান করিতে করিতে বলিল,—“লোকটা বেকার sentimental ছিল।”

প্রভাতের সত্যেন বলিল,—“বাই বল না কেন,



অরুণের মত sincere লোক খুব কমই দেখেছি।” দেখা গেল, কোন এক অজান্তে নারী কুমারী তাঁহার  
 প্রভাতের বন্ধু অমির সলিল,—“রবি বাবুর মত না পরীরেয় সমস্ত অলঙ্কার অরুণের স্বতি রক্ষার্থে দেখ-  
 না হ’লেও, অরুণ ক্রমে একজন বিখ্যাত কবি হ’তে হিতে দান করিয়াছেন।  
 পারত।”

উহার কয়েক দিবস পরে এক দৈনিক কাগজে

ত্ৰিপ্রেমকুমার চক্রবর্তী।

## সুখ।

সুখ ? সুখ কার নাম ? ও অলস বাতুল কল্পনা  
 মানবের মনগড়া স্বার্থের আশ্রয় প্রবন্ধনা ;  
 জন্ম যথা মৃত্যু-মধু সহকারে মুক্তল উদ্গম  
 সুখ তথা নিত্য হৃৎক চক্রনেমি নিয়ে পরিক্রম ;  
 না পেয়ে পাণ্ডুর ভাগ, কামনার ত্রাস্তি, কিনোদন  
 হিজিরের দাস্তগুহ, বহু শ্রমে স্বল্প উপার্জন ;  
 প্রবোধ সাধনা মিথ্যা, কিছা হৃৎক অস্বীকার করা  
 অথবা না বোঝা এ যে বড় হৃৎক শিরে এসে পড়া ;  
 বাতকের ক্ষণ ত্রাস্তি, সমুদ্রেতে তুফানের চম  
 শারদ তলদ ছায়ে ক্ষণিকের লুপ্ত রবিকর ;  
 স্বপ্ন, ত্রাস্তি, কিছা বোহা ! সৰ্ব্ব চুক্তি অবস্থার সাথে  
 চোখ বুঁজে ভবিষ্যতে জোর করে ঠেকা যে হ’হাতে ;  
 তাপদক্ষ মরুতরুন্মূলে এ যে সলিল সিঞ্চন  
 হৃৎক হৃৎক দূরে রাখিবাবে সেতুর স্বজন ;  
 নব-অন্ধহস্তী ভ্রায়, পত্র চিত্রে বাস্তবের ভ্রম  
 কীর্ণ দীপে দরিলের অন্ধকার বিনাশ উদ্যম।

ত্ৰিবসন্তকুমার চট্টোপাধ্যায়।



## মানুষখেকো গাছ

আগে গল্প শুনা বাইত যে, মার্কিনে এক প্রকার 'গাছ' আছে, সেগুলি মানুষ খাইতে বড় ভালবাসে। মানুষ কাছে গেলে অতর্কিতে ইহারা তাহাদের আক্রমণ করে এবং তৎক্ষণাৎ নিজেদের উদর পূরনের পুরিয়া দেয় এবং কিছুক্ষণ পরে হাড়গুলি বাহির করিয়া ফেলিয়া দেয়।

ঠিক এই প্রকার না হউক মানুষ অথবা অন্য কোন প্রকার প্রাণীকে নিকটে পাইলেই হত্যা করে এমন গাছের সন্ধান পাওয়া গিয়াছে। কিছুদিন আগে একব্যক্তি দক্ষিণ আমেরিকার এক জঙ্গলের মধ্যে ঘুরিতেছিলেন, এমন সময় হঠাৎ তাহার কুকুরটি চীৎকার করিয়া উঠায় তিনি পিছনে ফিরিয়া দেখেন যে কুকুরটি কতকগুলি শিকড়ে জড়াইয়া রহিয়াছে। এই শিকড়গুলি সরু এবং দেখিতে বেশ ভাল দড়ির মতন। তৎক্ষণাৎ তিনি তাহার কুকুরকে ধরন সেই শিকড়ের কবল হইতে মুক্ত করিতেছিলেন, সেই সময় সেই শিকড় তাহার হাতে জড়াইয়া যাইতে আরম্ভ করে। তিনি বেশ বুঝিতে পারিয়াছিলেন যে শিকড়গুলি ধোর করিয়া তাহার হাত চাপিয়া ধরিতেছে। প্রাণপণ শক্তিতে টানাটানি করিয়া একটা শিকড় হইতে হাত ছাড়াইয়া লইতে না লইতে আর একটা শিকড় হাত চাপিয়া ধরে। এইভাবে কয়েকঘণ্টা চেষ্টার পর তিনি নিজে মুক্ত হন ও তাহার কুকুরকে মুক্ত করেন। গাছের সহিত যুদ্ধে তাহার হাত ছিঁড়িয়া ক্ষত বিক্ষত হইয়া গিয়াছিল। এই সকল শিকড় গাছের গা বাহির নাহিয়াছে এবং তাহার নিকট দিয়া কোন প্রাণী গেলে তাহাকে আঁকড়াইয়া ধরে ও শেবে মারিয়া ফেলে।

অষ্ট্রেলিয়া, "ক্যানিয়ল টি" অর্থাৎ মানুষখেকো গাছ নামে এক রকম গাছ আছে। এই গাছগুলি দেখিতে বড় আনারস গাছের মত। উচ্চতার ইহারা তিন, পাঁচ তিন হাত পর্যন্ত হইয়া থাকে। শুনা যায় যে, ইহারা পাতা দিয়া মানুষ চাপিয়া ধরে। এবং তাহাদের পাতা নাকি এমন শক্ত যে দুইটি পাতার চাপে পড়িয়া মানুষের মৃত্যু হয়। পাতার চাপে মানুষকে নাকি ইহারা একেবারে পিষিয়া ফেলে।

একজন প্রকৃতিবিজ্ঞানবিৎ বলিতেছেন যে, ভারত-বর্ষের এক প্রকার গাছের পাতায় তড়িৎ আছে। এই গাছের তিনটি করিয়া পাতা এক সঙ্গে থাকে। মধ্যের পাতাটি বড় এবং দুই পাশে দুইটি ছোট। দিনের বেলা বড় পাতাটি খোলা থাকে এবং সূর্য্যাস্তের পর সেটি বিন্দাইয়া পড়ে এবং সেই সময় ছোট পাতা দুটি বড় পাতাটির চারিদিকে ধীরে ধীরে ঘুরিতে থাকে।

বৈজ্ঞানিকরা এই গাছের নাম দিয়াছেন "টেলিগ্রাফ প্র্যান্ট"। তাহার কারণ বলেন যে, এই পাতার হাত দিলে শরীরের উপর দিয়া বৈদ্যুতিক প্রবাহ বহিয়া যায়।

বোর্ণিও ও সুমাত্রার লিলি ফুলগাছের মতন এক প্রকার গাছ আছে। এই গাছের এক একটি পাতা তিন চার হাত লম্বা হইয়া থাকে। উচ্চতার তাহার প্রায় তিন হাত। সেখানকার লোকেরা এই গাছকে "ভলচার লিলি" বলে। প্রকাশ, এই গাছ নাকি ছাগল কুকুর প্রভৃতি মারিয়া ফেলে। পরীক্ষার জন্য একবার একটি ছাগল ও একটি কুকুরকে এই গাছের নিকট লইয়া যাওয়া মাত্র তাহারা অসুস্থ হইয়া পড়িল এবং তৎক্ষণাৎ মরিয়া গেল। নিকটে কোন প্রাণী আসিলেই এই গাছগুলি হইতে এক প্রকার উৎকট গন্ধ বাহির হইতে থাকে এবং সেই গন্ধেই তাহার মারা যায়। যে ব্যক্তি ছাগল ও কুকুর সেই গাছের নিকট লইয়া গিয়াছিল সেও সেই গন্ধে অসুস্থ হইয়া পড়ে এবং কোন প্রকারে সেখান হইতে ছুটিয়া পলাইয়া আত্মরক্ষা করিয়াছিল।

গ্রেসন নামক একজন প্রকৃতিতত্ত্ববিৎ এক প্রকার অর্কিড ফুলের কথা বলিয়াছেন, তাহা আরও বিষমরকম। এই ফুল ভেদে জইলা এদেশে নিবিড় অরণ্যের মধ্যে ফুটিয়া থাকে। তিনি পূর্বে এই ফুলের কথা শুনিয়াছিলেন। সেখানে গিয়া তিনি সেই দেশের কয়েকজন লোককে এই ফুল যেখানে কোটে, সেখানে লইয়া বাইতে বলেন। তাহার প্রথমে বাইতে স্বীকৃত হয় নাই, পরে অনেক সাধ্য-সাধনার পর তাহার তাহাকে সেখানে লইয়া যায়। গ্রেসন বলেন যে, ফুল যেখানে ফুটিয়াছে সেখানে হইতে তিন চার মাইল দূর হইতে এক প্রকার



উৎকট গন্ধে তাঁহার বাধা ঘুরিতে লাগিল। এই সকল এইখানেই অজ্ঞান হইয়া পড়েন। তাঁহার সঙ্গীরা তাঁহাকে ফুল হইতে ধোঁয়া উখিত হইতে থাকে, এই ধোঁয়ার সেখান হইতে উঠিয়া লইয়া আসে। সেখান হইতে আফিমের যত গন্ধ। অংশেবে তাহার। এমন এক স্থানে আসিয়াই তিনি গোপে শয্যালারী হইয়াছিলেন এবং সে গিয়া পৌঁছিলেন যেখান হইতে সেই যাবজ্জ্বল ফুল ল্পষ্ট বাজা কোন প্রকারে বাঁচিয়া গিয়াছিলেন। দেখা যায়। ফুলগুলি দেখিতে প্রকৃত এবং সেগুলির রংয়ের বাহার দেখিলে অবাক হইতে হয়। গ্রেসন (হিন্দুস্থান)

## বাণী উদ্বোধন।

(গান)

রাগিণী কল্যাণ—একতাল।

আজি বন্দন-রত নন্দনে তব বন্দিত সদা কর মা।  
বন্দ্য হৃদি-মাধবী-কুঞ্জে বঞ্জল শোভা সুবমা।।  
কঠে তাহার বশ্ত ভারতী নব নব গীতি হৃদ্য,  
তার নাকে যত হৃৎ দৈন্ত বত কিছু বিধা বন্দ,  
নাও মা ডুবাবে করুণা করিয়ে সব কঙ্কণ হর মা।  
আজি অতাবের শ্রাম সজীত সভা মুখর দিবঙ্গ রাত্রি  
তাই বন্দিয়ে তব থাকে গাহিবারে শত শত মুকবাজী,  
ভারা চাহেনা শৌর্য, চাহেনা বীর্য সন্দান পদবিত্ত—  
মুখু তোমার কবল আসন গন্ধে ভুঞ্জ করিঙ্গ চিত্ত  
জড়তা ভাদের নাশ না দানিয়া শান্ততী বাণী  
পরমা।

ত্রিআশুতোষ মুখোপাধ্যায়।





# THE DACCA REVIEW.

VOL. XI.

FEB. & MAR., 1922.

NO. 11 & 12

## AN ANALYSIS OF MORAL CONSCIOUSNESS.\*

The method of this study is empirical. We shall assume that moral consciousness is a feature of some of our experiences and shall endeavour to analyse the phenomenon as accurately as possible. In the course of the investigation some light may be thrown upon certain important topics, such as : (1) the ground of the distinction between morally good acts and neutral or morally bad acts, (2) the way in which moral goodness is objectively determined, (3) the nature of practical reason by which objective goodness can be experienced, (4) the relation between subjective goodness and objective goodness, and (5) the source of the authority by which subjectively good acts are enforced.

### I

Moral consciousness is an experienced fact. The plain man never doubts the distinction between right and wrong conduct. There may be disagreement as to the nature of the conduct which should be considered right or wrong, but that acts of will are either right or wrong is beyond doubt. He is usually unable to give any account of the good ; nevertheless, for him, it is the one thing which matters. Let me then endeavour to explain the ground for this fact.

We will assume the unity of the self. Some modern thinkers reject this view and endeavour to show how all mental experience is built up from sensations.\* I consider, however, that the facts of moral experience can not be explained when the unity of the self is rejected. It is impossible here to give anything like a complete description of this unity, but we may indicate some of its

\* Presidential Address to the Dacca University Philosophical Society. Sessions 1922-23.

\* *Vide*, Russell : "Analysis of Mind."



characteristics which are important for the explanation of moral consciousness. The unity of the self synthesises unconscious and conscious mental processes. I use the term 'mental', not because I am able to explain it precisely, but because I believe there is an essential distinction between 'experiencing' and 'the experienced', and I apply the term mental to experiencing in contradistinction to the experienced. Further, I maintain that the unconscious is mental, although it belongs strictly neither to the experiencing nor to the experienced, for it is contained within the unities which include experiencing and immediately affects the character of the latter.

The self or the mind cannot be described, as it has sometimes been described, as consciousness. It includes much that is not within consciousness and part of this may never become conscious. But consciousness is an essential feature of the mind, and upon it certain powers which become the basis of morality depend. Among these is the power which consciousness confers of delaying the response to a 'situation.' The term 'situation' is used to describe that part of the environment with which anything is in contact, and with which therefore it interacts. Any organism that is not conscious responds immediately to the stimuli received from its situation. But by consciousness the response may be deferred and the results of past experience used to render the response more appropriate.

The reason for this seems to be somewhat as follows. Consciousness is always of something. It implies the apprehension of meaning, and thus the power to discern the universal in the situation. It naturally leads therefore to perception and to thought. When any object is perceived, it is apprehended as embodying a universal which was also present in a past experience or in past experiences. So perception is made possible by memory, and memory means the presence in the mind of universal contents as the results of past experiences. Now when the self apprehends universal contents in its situation it may not respond immediately. The contents enter consciousness as possessing a certain meaning. The subject may have responded to situations pervaded with these universal contents in the past and the effects of the responses are now associated with the contents. Some of these effects may have been desirable and others undesirable, and it may be well to reflect as to the most fitting kind of response. Suppose the subject be a keen swimmer, and the situation include a warm summer afternoon and the shady banks of a delightful river. The occasions when, after a vigorous swim, he has been filled with new energy, and the time also when such exercise was followed by a sharp attack of malaria fever, will be recollected. He longs to plunge but hesitates,



Consciousness then may introduce a vital change into the nature of the response of the self to its situation. The response ceases to be to the situation as particular, and becomes a reaction to the universal content by which this is pervaded. It may thus gain in appropriateness. Further—in thought—the content may become freed from the particulars in which it is first experienced, and the mind may use such content independently so as to expand the environment to which it responds. In other words the situation becomes freed from definite spatial and temporal limitations. By thought I am able to make arrangements for a journey round the world. I conceive of connections of universal contents, and respond to situations wherever these contents are to be found.

By virtue then of the power conferred upon us by consciousness, we inevitably distinguish between appropriate and inappropriate responses; and among other marks of inappropriateness would be the limitation of a self, gifted to respond to a boundless environment to situations restricted by immediate perception.

The germ of moral distinctions is found in the possibility of appropriate and inappropriate responses. We have not yet, however, fully explained the grounds of morality. No one is conscious of his act as right or wrong unless he feels that it was within his power either to have acted thus or to have

refrained from so acting. Morality concerns the will, that is, the power by which the self is able to create changes in its own experience and conditions, and in the environment to which it is related. Now it is impossible to understand the will without relating it to the conative constitution of the self. We pointed out that within the unity of the self there was a vast hinterland of the unconscious. This consists largely of primary instincts and conative tendencies, many of which are due to the intimate relation of the self with its bodily organism, while others are the result of past experiences. These may enter consciousness at any time and they then give rise to desires. Thus the unity of the self is full of strivings towards other conditions which are often regarded as ends. But the ends are not conditions of permanent satisfaction. Some of them, like hunger, are recurring; while others, such as intellectual curiosity, lead by their gratification to further desires. The self cannot be satisfied save by the fulfilment of its ends constantly renewed.

By the power of the will we are able to control the gratification of our desires. Again there are important modern thinkers who hold that the so-called control of the will is imaginary. They maintain that the conventional analysis of desire is illusory.\* It is usual to assume that the end of

---

\* *Vide*, Russell: "Analysis of Mind."



which we] are conscious in desire determines the means by which it is gratified. The will identifies itself with the end and selects the means accordingly. The process is often described as teleological as against natural determination. In the former case a future condition, as yet unexperienced, seems to be the power which leads us to the new condition. But these thinkers tell us that the idea of the end is not the controlling force. They point to experiences in which the self remains unsatisfied although the means for the gratification of the imagined end is attained. The young artist Bernard Longueville in Henry James, who is in love with Angela Vivian for many years without being aware of it, imagines that he desires to travel. He is driven from place to place in ceaseless wandering. The imagined end is attained, but his restlessness continues. Nor is he satisfied until eventually he finds Angela and is united to her in marriage. Bernard, while ever seeking new sights by travel, thought he was moved by the contemplated end; whereas the real power driving him on was the force of his unconscious love. We are told that our own conduct should be similarly explained. When we are convinced that the ideal end is pulling us on from before, it often happens that unconscious conative forces are pushing us from behind. Such thinkers are right in insisting upon the importance of conative tendencies, many of which

are unconscious. It is true also that we make mistakes, and that our conduct is often the effect of unconscious forces, although we are under the impression that it is determined by the 'end' conceived. But it does not follow that teleological determination is an illusion. It is evident from experience that the 'end' towards which our conative tendencies are directed may enter consciousness. When this happens I am convinced that new possibilities are created. The universal significance of the end can be apprehended. It can be viewed in relation to other ends present in the self and to gratifications which other selves may claim. So the satisfying of the particular end may be delayed, and its eventual gratification be made more appropriate to the total situation. Were this not the case, and were all real mental determination due to pressure exerted by already existing conative tendencies, there could be no valid moral distinctions.

The reason for these distinctions should now be apparent. The conative tendencies of the self may be gratified in different ways. Such tendencies are always pressing for satisfaction and so there is the likelihood of immediate response to whatever in the situation may gratify them. On the other hand when we become conscious of our conative tendencies, delay in response is possible, and the ultimate gratification may be made more compatible with the gratification of the whole self and of other selves. Hence the sense of the



value of one way of gratifying a desire as against another, and the feeling of rightness and wrongness respectively

We are now able to define the good and the morally good, and to indicate the relation between them. The good is the gratification of some conative tendency. If the direction of the conative tendency is apprehended, the good is the gratification of desire. There are, however, many such tendencies of which we are unconscious, and whatever satisfies them is good for it promotes the general sense of well-being. But although gratifications of this kind are good they are not necessarily morally good. We may describe them as morally neutral. Moral goodness is limited to the voluntary gratification of desires and to these when they are accompanied with the conviction of rightness. Such conviction is made possible by the alternative modes of gratification above indicated, and by the awareness of certain of these modes as promoting the well-being of the self as a whole as well as the well-being of other selves.

But how are we to account for morally bad acts? We have explained that the gratification of any conative tendency is in itself good. Some such gratifications, however, are accompanied with a sense of wrongness. This happens when the gratification takes place in spite of the fact that at the time there is the consciousness of a more fitting way of finding satisfaction. Then the otherwise

good but morally neutral act becomes morally bad. The good experience at the wrong time, in the wrong place, and under the wrong circumstances, becomes prohibited morally because it precludes the possibility of a greater and more widely pervading good.

## II.

Let us now pass to the second problem which we set ourselves, viz; the way in which moral goodness is objectively determined. We have described the self as a complex unity, embracing conative tendencies and desires, and with the capacity for consciousness whereby it can direct and control its gratifications. Further, it has appeared within the universe which includes the continuum of natural events besides multitudes of other selves fashioned after its pattern. Any particular self is always in contact with some portion of the universe to the stimuli from which it is constantly reacting. This we have named its situation. From the point of view of morality the most important part of the situation is the communities of persons with which any self is united. I refer to groups such as the family, the institutions, the social groups, the nations, and even the international unities, with which any self may be in sympathetic response. Now both the self and its situation have objectively determined qualities. The groups of conative tendencies and desires are existing facts,



and so also are the capacities with which the self is endowed through the possession of consciousness and self-consciousness. The situation also consists of selves with similarly objective characters, as well as the continuum of events determined by such objective qualities as scientists may investigate.

The character of the best type of experience for any self is determined by these two objective facts. Good consists in the satisfying of conative tendencies, and the moral good in voluntarily gratifying these tendencies in the appropriate way. But what is the most appropriate way? This seems to me to be determined by the nature of the groups of conative tendencies embodied in the self and in the other selves included in the situation, the nature of the continuum of events by the aid of which such tendencies are largely satisfied, and by the nature and extent of the powers which the self possesses. These are all facts of the experienced world and they impart to the moral good a truly objective character.

The condition which may determine the objective character of the good may be extremely far reaching. We noticed above the way in which consciousness enabled the self to expand the environment to which it responds. International conferences and the League of Nations represent a sense of almost world wide unities. Usually actions are responses to limited situations, but in these limited responses it is possible to

be aware of world wide effects, and such awareness must contribute towards determining the nature of the action. There is then a real sense in which the objective character of the world as a whole may enter into the determination of the conduct which is best in any situation.

There is still wisdom in the teaching of Plato on the subject of the good. In the Republic he first explains how justice which for him is identical with the whole of good conduct, consists in a harmony between the powers of the individual soul. It is that condition in which reason, the highest power of the human spirit, controls and uses the other powers. But for Plato such goodness cannot be adequately realized until the elect human spirit is, by long discipline, turned from the investigation of mere appearances to the contemplation of the eternal forms. It then apprehends the perfect form of goodness, which is supreme among the ideas and gathers them all within itself; and, through the contemplation of this perfect object, becomes transformed into its likeness. Such was Plato's view. The point I wish to emphasise is that he held the good to be objectively determined in a two-fold way. First, by the constitution and powers of the human spirit; and secondly, by the Real itself, which for him was the supremely good.

We too are convinced of these two types of objective determination, but



advances in speculation do not permit us to retain the doctrine of this ancient thinker unmodified. Goodness consists in the enjoyment of satisfactory experiences. It is dependent upon the conative processes in persons who are ever seeking gratification. Both the self and the situation are characterized by such processes. Thus goodness is not an eternal unchanging reality, but must consist in the continued fulfilment of ever renewed active tendencies and desires. Goodness is never attained but is always being attained, and the process of attaining, or enjoying, is indeed the good. Further moral goodness is an exercise of the will. Now the will is creative. It effects changes both in the self and in its situation. So by the experiencing of moral goodness, that by which it is objectively determined is constantly being changed. Despite this, however, moral goodness is not subjective. The self and the world are facts with objective characters, and they prescribe the form of moral goodness without destroying its character as a process ever being realized in acts of will, and without annulling the creativeness of the self.

Before leaving this subject of the objective determination of moral goodness, I will remark upon a view which finds the essential feature of the good will to be its coherence with other wills\*. In this view the ground for the

objectivity of the moral good is coherence. It is true that when willing the gratification of desires we are brought into partnership with others, and that the possibility of co-operation or rivalry arises. Hence the distinction between wills which generally harmonize with the wills of others, and wills which are at strife with others. As a rule wills that cohere with other wills are good, while those which fail to cohere are evil. It would, I believe, always be true that if the good were enjoyed perfectly by a community of persons, their wills would be in harmony the one with the other. I do not, however, think that the converse is true, so that whenever the wills of persons belonging to a community cohere the good is being perfectly experienced. History proves that this is not the case. Think, for instance of the old feudal system in England. A kind of harmony was possible between the wills of the great barons and their dependents, but one of the conditions of such harmony was that the mental power of the serfs remained largely undeveloped. The development of their powers led inevitably to strife with the barons, nevertheless strife was here the sign of progress towards the possibility of a greater good. The present condition of this country demonstrates the same truth. There is a possible harmony of wills attainable by the rulers keeping the masses of illiterate and ignorant, illiterate and ignorant still. We cannot

\* Vide, Alexander "Space, Time and Deity."



however believe that in this way the good will be perfectly enjoyed. Perfect enjoyment implies also the complete development of human powers. So long as the process of evolution is unfinished, the coherence of wills can not be the only criterion of moral goodness.

### III.

We have seen that every gratification is in itself good, but that every gratification is not necessarily the most appropriate and that it may not contribute to the experience of perfect goodness. Since the latter is determined by the constitution of the self and the objective character of the situation, it can only be enjoyed in so far as the self is competent to apprehend the situation. This brings us to our third topic, viz: the nature of practical reason by which goodness can be experienced.

It was pointed out above that the most important part of the situation in response to which moral action occurs, is the other persons which it includes. It was also stated that persons are complex conative unities. Their conative tendencies express themselves in natures rich with emotions and manifold desires. Now speculative reason is inadequate to grasp the nature of such objects. Purely theoretical knowledge of persons is always incomplete and does not suffice as a guide to conduct. It is not possible to understand

other persons aright unless one possesses what might be described as a widely and deeply experiencing mind. Sympathy is absolutely essential. Where, through kinship of spirit, great intimacy exists between two persons, the one—by a kind of intuition—knows the desires of the other, and their gratification gives him a joy comparable in intensity with the enjoyment of the fulfilling of his own desires. On the other hand incompatibility of temperament and alienation of interest, renders the understanding of another impossible. Practical reason must include speculative insight, but it is a higher power and embraces much besides. It is a kind of divine disinterested love which, because feeling greatly, understands the more perfectly. This is why we so often discriminate between intelligent and good people, and among the latter frequently include many who have lacked opportunity to train their speculative reason. Such may possess genuine sympathy which is perhaps the more important constituent of practical reason. Nevertheless, speculative power is necessary for the attaining of that which is objectively the best. We have seen how this is determined by the character of the situation, and how also the situation may expand until it includes national and international units. The needs of such situations cannot be determined without speculative powers, and these powers can only be perfected by sincere good will. It is not of course



possible to have the same kind of intimate knowledge of the multitudes who compose nations and international groups, that one may possess of the members of his family. In the latter case the particular impulses and desires may be understood. But such knowledge is not necessary. The wider communities to which persons belong are real unities, and persons with their complex natures come into being and develop within these unities. The aspirations then of such communities are the movements of larger unities which include impulses and desires of individual persons; and a knowledge of such aspirations is possible, apart from a detailed knowledge of all the persons belonging to the communities. In this way knowledge of very wide groups including many nations may be attained. Such knowledge, however, is not possible, unless the powers of practical reason possessed include highly developed speculative capacity.

Feeling not only gives practical reason the power to understand its situation; it also enables practical reason to become the dynamic of the will. The forces operating in the self cannot be controlled by mere knowledge. Feeling can only be mastered by stronger feeling. Kant set feeling over against reason, and maintained that the will was only wholly good in so far as it was rationally determined. It may be that he did not intend to exclude feeling from the content of the moral good, but

only to exclude the determination of the good will by feeling. We believe that even this is impossible. The good is accomplished by great enthusiasms and not merely by extensive knowledge. Unless reason is wedded to feeling it never moves the will. By this truth the great rationalist himself was led to the conception of a 'moral feeling' whereby the lifeless principle of rational determination was transformed into a real moral force.

Here arises an apparent contradiction. Feeling seems both to prevent and to aid the attaining of the moral good. It prevents in that it tends to limit action to immediate gratification. The satisfaction of impulses and desires is pleasant, and there is therefore the tendency to enjoy immediate pleasure at the expense of the good. And not only is this the case but intense feeling always tends to limit the good sought. It is impossible, for instance, for the Irish Republican to see the good which the Ulster Protestant seeks. This undoubtedly is the reason which led Kant to exclude sensuous determination entirely from the good will. The solution of the difficulty, however, lies not in the exclusion of feeling, but in its transformation. A father's affection for his own children may blind him to the claims of others whenever his children are affected. Nevertheless this limitation will be removed not by the annulling of his love, but by its expansion and transformation. Such transformation



in moral consciousness comes with increased insight into the situations to which the subject responds, that is, by the expansion of the power of practical reason.

#### IV

The problem of the relation between subjective goodness and objective goodness connects with that of the nature of practical reason. This problem is pressed upon us by present experience. In many parts of the world there is conflict between the wills of persons who are equally conscious of seeking the good. In this country there are groups of persons who possess intense and sincere enthusiasm for certain objects which for them are the good, but which are judged by other groups of persons to be harmful. Conditions which are strikingly similar also exist in many other countries. In so far as a person seeks sincerely what appears to him to be the good, we must judge him to be subjectively good; but in so far as his good is incompatible with that sought by another, it cannot be the objective good. Further the subjectively good is a moral good. It is not the gratification of present desire. But objective goodness cannot include a vast number of incompatible subjectively good experiences. For although objective goodness may be experienced by different individuals in very varied ways, it is *one*, and the wills which enjoy it must harmonize.

This divergence is accounted for by the limitation of the powers of practical reason as the latter is possessed by finite persons. There is an objective character for the good which is determined by the constitution of human nature, the relation of persons to each other, and the structure of the real world. But this possible goodness cannot become a true moral experience until it is enjoyed in the voluntary activity of persons. The experience of such objective goodness is only possible for him who apprehends the situation perfectly, and in whom therefore practical reason has been perfected. Such a condition is rarely found in man, for he seldom possesses the perfect understanding which flows from perfect sympathy. Therefore the moral good which he enjoys is generally less, and sometimes much less, than the objective good.\*

---

\*Another question is here suggested, *vis*; the relation of personal good to the common good. There is the good of a community and the good of an individual. These are not identical, but they are not contradictory. Any man may feel an obligation to seek both at the same time. The distinction follows from the position we have explained. The self which experiences the good is a unity including impulses and desires. The situation in reference to which it acts includes other persons. The good consists in the continuous fulfilment of these conative tendencies, in the way that is compatible with perfect development and complete harmony. It follows then that many moral acts can be viewed in two ways: (1) as fulfilling the impulses and desires of the self, and (2) as fulfilling the impulses and desires of others,



## V.

This brings us to the remaining problem which we indicated at the outset, viz: the source of the authority by which subjectively good acts are enforced. The essential feature of moral consciousness is that it conveys with it the sense of obligation. When a person is conscious of acting rightly he feels compelled so to act. It is as if he had received a command which he dare not disobey. Now this sense of authority would not appear so difficult to explain if it were only present when the good sought is objectively the best. It might then be argued that the ground of the authority can be found in the constitution of the self and the character of the situation, which determine the objectivity of the good. Such a feeling of obligation, however, accompanies every subjectively good act, and these are often condemned as mistaken and not objectively good. Of course the judgment passed by others upon such acts may be wrong, but when the subjective goods of different persons are entirely incompatible, all these goods cannot be objectively the best. The

Naturally also some acts seem to partake more of the first characteristic, and others of the second. So the distinction arises of a personal and a common good, and of acts which contribute rather to the one or to the other. A personal good which prevents the common good would not be morally good, and the seeking of the common good should not be incompatible with the enjoyment of personal good.

problem then is to explain the sense of obligation that frequently accompanies very imperfect conceptions of the good.

In my opinion this authority is derived from a tendency of the mind to idealise its conceptions. The conceptions then obsess the mind, excluding others which compete with them, and compel the will to realize them in every way that is possible. The phenomenon is akin to that of love. The lover idealises the object of his love. For him such an one is perfect and demands absolute devotion. Others may see blemishes in the beloved, but the lover—so long as he remains a lover—can not. In a similar way an idea may possess the mind. The Irishman who loves his country, may be obsessed with the idea of liberty, or of a Republic. Such ideas may so completely occupy his thought about his country as to prevent him from considering others. He then feels compelled to perform all that helps to realize these ideas. When the nations of Europe were at war it was a power of this kind that led citizens to give themselves for their country. A person may be idealised in a similar way, in which case any one who is under the influence of the ideal will feel bound to follow his leadership. The influence of religion upon conduct is an important example of the same kind of phenomenon. In religious experience an idealised conception, or an idealised person, takes possession of the mind,



and the worshipper accepts the ideal as perfect. A mystic relation is established between them by which the ideal gains such power to influence conduct that every act in harmony therewith is experienced as good and as conferring merit, whereas whatever is contrary to the ideal is experienced as evil.

For this reason then sincere conviction as to the absolute rightness of conduct is frequently present, although the power of practical reason is imperfectly developed, and the experience which would be best in the situation is not enjoyed. But it does not follow that there is no chance of progress in the direction of objective goodness. As sympathy, becomes enlarged and knowledge expanded and deepened, the subject becomes aware of defects in his ideals and they lose power to control his acts. Whatever practical reason reveals as being the right kind of experience for the situation is accompanied by the sense of approval. Thus there is likely to be continual progress towards what is objectively best, and ultimate moral authority is founded in the actual constitution of human nature and the structure of the real world.

## VI.

Throughout this essay we have been endeavouring to explain moral goodness as consisting in a rich and harmonious human experience. The good is

not merely the gratifying of man's sensuous nature, nor of his rational nature, but is a complete experience which exercises all his powers. The particular form in which the moral good is enjoyed by any man must be determined by his conative tendencies and desires, for there is no good experience outside the fulfilling of the strivings and aspirations within man. Nevertheless the good has an objective and universal character also, and in its attainment exercises whatever spiritual powers man possesses.\*

---

\* We have made the distinction between the good and the morally good; the good being the gratification of impulses and desires and the morally good the right or appropriate gratification of impulses and desires. It may be of interest here to point out the relation between them. So long as the desires seeking gratification are the higher spiritual desires, such as intellectual curiosity or spiritual aspiration we are generally agreed that there is no contradiction between the good and the morally good. We recognize our universal indebtedness in the things of the mind and the spirit. The more another is able to gratify his desire for knowledge, the greater will be the aid which he is able to render to me. It is often believed however, that a different principle prevails in the sphere of the impulses and desires which seek material satisfaction. In reference to the desire for food, e. g., it may be thought that the more food one man gets the less there will be for another. In other words it may be assumed that the quantity of natural goods is fixed, and that what one gets must be subtracted from what is available for others. In particular cases this is the case and then it may be necessary to sacrifice the good for the morally good. But error is always creeping into our thinking by regarding as fixed or at rest that which is ever in motion. The quantity of material goods is not fixed. It is constantly diminishing and increasing, and the amount available depends chiefly upon the power of people to produce. The condition of Europe to-day is teaching us that the simple rule of subtraction mentioned above does not hold of the economic relations



This analysis of moral consciousness is—I am aware—opposed to a view of the subject which dominates traditional Hinduism. According to this view the highest good consists in the oneness of the Atman with Brahman. Human desire (*kama* or *bashana*) is born of ignorance, implies a sense of need, and is necessarily accompanied by pain (*dukha*); and emancipation is attained by the practice of self discipline, in which desire and the fruits of desire, are gradually eliminated. Further activity (*karma*) is associated with desire, and this also is regarded as an evil. Activity, unaccompanied with desire for the fruits of action, is good; but only because it leads to oneness with the Supreme Being a condition in which activity has disappeared.

Such a conception was natural to the sages of ancient India, who passed lives of seclusion and contemplation. It is not, however, a conception which will dominate the India of the future. India is showing a new interest in her own economic and political conditions. She is eager to apply modern science to her industries, and to control the activities of her own people. Temporal experience is becoming important; and,

between nations. One country suffers because of lack of resources in another, and it is often advantageous for the one to give to the other, in order to increase the productive capacity of the latter and so to enlarge the available supply. Generally speaking I am convinced that the same law holds in respect of man's material needs as is true of the requirements of his mental and spiritual life.

whatever her speculative position, India is struggling towards a fuller experience of the good in which there is no suppression of human desire. Whatever then may be the exact form of the future ethical thinking of this country, the change must be in the direction of discovery of the good in human experiences.

The new life towards which India is progressing is, I believe, richer, fuller and more perfect than that indicated by the old conception. But it is beset with danger. Strong feelings are always restricting influences, and there is a possibility that in passing to the chance of a larger life, India may lose what is of greatest value in the experience represented by the time honoured conception. The old thinkers insisted that the supreme good is a universal experience. It raises man above his limitations to the enjoyment of the Infinite. Such enjoyment does not prevent any other from participating in the same experience, but is compatible with similar enjoyment by all. In this universal experience there is no strife or bitterness, but all who seek it are one in the earnest quest for the truth. Now the good can never be perfectly realized until the essential feature of this condition is experienced. For the moral good is universal in that it is objectively determined, and human enjoyments are harmonious when purified and transformed by practical reason.

Geo. H. LANGLEY.







# ঢাকা রিভিউ সাম্মিলন

১১শ খণ্ড । ঢাকা—ফাল্গুন ও চৈত্র, ১৩২৮ । ১১শ, ১২শ সংখ্যা

মধ্য ভারত !

আদি কথা।

পুরাকালে অবন্তী (পশ্চিম মালব), বিদিশা (পূর্ব মালব), নিষদ, বিদর্ভ, দক্ষিণ কোশল, মহাকোশল প্রভৃতি প্রদেশ মধ্যভারতের অন্তর্ভুক্ত ছিল। সুদূর ঐতিহাসিক যুগের প্রারম্ভকালে দৃষ্টিপাত করিলে এই সকল প্রদেশে আমর্য মগধের আধিপত্য প্রতিষ্ঠিত দেখিতে পাইয়া থাকি। চিরখ্যাত অশোক সিংহাসনা-রোহণের পূর্বে অবন্তীর শাসনকর্তা ছিলেন। মগধা-ধিপতি পুন্ড্রিষের পুত্র অগ্নিমিত্র বিদিশার শাসনপতি ছিলেন। তিনি বিদর্ভ দেশ বিজিত করিয়াছিলেন। এই সকল ঘটনা মধ্যভারতে মগধের আধিপত্য জ্ঞাপন করিতেছে।

মগধে অন্ধ্রবংশের আধিপত্যকালে বিদর্ভ তদধীন ছিল। নাসিকলিপি বিদর্ভ এবং তাহার পার্শ্ববর্তী অজুপদেশে অন্ধ্ররাজ গৌতমী-পুত্র সাতকর্ণির আধি-

পত্য প্রকাশ করিতেছে। কিন্তু মালব স্বাধীনতা অবলম্বন করিয়া স্বতন্ত্র হইয়াছিল। তদেন্দীয় ক্ষত্রিয়গণ আপনাদের স্বাধীনতা ও স্বাভাব্য রক্ষা করিতে সমর্থ হইয়াছিলেন এবং সে গৌরব অরণীয় করিবার অভি-প্রায়ে মালব অস্থির অন্ধ নামে একটি অন্ধ প্রচলিত করিয়াছিলেন। \*

অতঃপর শক ও গ্রীকদের উপর্য উপর হইয়া মহামহোপাধায় হরপ্রসাদ শাক্যের মতে খৃষ্টীয় প্রথম শতকের প্রারম্ভে গ্রীক এবং শকগণ মধ্যভারতে প্রবেষ্ট হইয়াছিল। বিদিশা (ভিল্লা) নগরীর নিকটবর্তী গ্রীক স্তম্ভ, গ্রীক প্রভাবের সাক্ষ্য দিতেছে।

অতঃপর গুপ্তবংশের অভ্যুদয়ে ভারতবর্ষ আলো-

\* মহামহোপাধায় হরপ্রসাদ শাক্যের ইতিহাস।



ড়িত হইয়াছিল। গুপ্তবংশের দ্বিতীয় অধিপতি সমুদ্র গুপ্ত বিপুল ভূখণ্ডে স্বীয় শাসনাধিকার প্রতিষ্ঠিত করিয়া ছিলেন। পূর্নদিকে ভাগীরথী নদী হইতে পশ্চিম দিকে যমুনা ও চম্বল নদী পর্যন্ত এবং উত্তর দিকে হিমালয়ের পাদদেশ হইতে দক্ষিণদিকে নর্মদার তীর ভূমি পর্যন্ত উহার রাজ্য বিস্তার লাভ করিয়াছিল। এই নীমার বহির্ভাগে অনেক প্রদেশ তাঁহা বশত স্বীকার পূর্বক কর প্রদান করিত।

মালব এই সকল প্রদেশের অন্তর্ভুক্ত ছিল। আভীরগণ তথায় গুপ্তর শাসন-প্রণালী প্রতিষ্ঠিত করিয়া শাসন কার্য্য নির্বাহ করিতেন। সমুদ্রগুপ্তের উত্তরাধিকারী বিক্রমাদিত্য চন্দ্রগুপ্ত মালব প্রদেশের কিয়দংশ স্বীয় শাসনাধীন করিয়াছিলেন।

মালবের ভ্রায় মধ্যভারতের অস্ত্রান্ত্র প্রদেশও গুপ্ত-বংশের প্রভুত্বাধীন ছিল। এলাহাবাদের প্রশস্তি অনুসারে সমুদ্রগুপ্ত দক্ষিণ কোশল (বর্তমান ছত্রিশগড়) জয় করিয়া অধিপতি যথেষ্টকৈ বিধ্বস্ত করিয়াছিলেন। তিনি মধ্যভারতের অনেক পার্শ্বভ্য জাতিকৈও বশীভূত করিয়াছিলেন। একজন পার্শ্বভ্য অধিপতির নাম ছিল ব্যাঘ্ররাজ। এই প্রদেশে বিক্রমাদিত্য চন্দ্রগুপ্তের অনেক স্মৃতি আবিষ্কৃত হইয়াছে। \* তৎকালে মধ্যভারত অনেক ক্ষুদ্র রাজ্যে বিভক্ত ছিল। গুপ্ত-বংশের সামন্ত রাজগণ এই সকল রাজ্যের শাসনকার্য্য নির্বাহ করিতেন। আমরা তাৎশ কতিপয় রাজবংশ এবং রাজার পরিচয় প্রদান করিতেছি। ভি, নটেশ আর্ষ্য প্রণীত পুস্তক (A Historical Sketch of the Central Provinces and Berar) আমাদের অবলম্বন। শূরবংশীয়গণ মধ্যভারতের একাংশে রাজত্ব করিতেন। এই বংশীয় রাজা ভীমসেনের তাম্রলিপি আবিষ্কৃত হইয়াছে। এই লিপির সময় খ্রীষ্ট বর্ষ শতাব্দীর শেষ-ভাগ। আমরা পরিব্রাজক মহারাজা উপাধিধারী আর একটি সামন্ত বংশের নাম জানিতে পারি। সুশর্মা নামক পরিব্রাজক এই বংশের প্রতিনিধিত্ব ছিলেন, একত্র ইহা

পরিব্রাজক কুগ নামে খ্যাত হইয়াছিল। এই কুলের ছয়জন রাজার নাম জানিতে পারা গিয়াছে। ধবল (জয়লপুর) নামক স্থানে পরিব্রাজক কুলের রাজত্ব স্থাপিত ছিল। বসন্তবর্ষ ৫২৮ খৃঃ অব্দে অথবা তাহার সমকালে পরিব্রাজকদের রাজত্ব ধ্বংস প্রাপ্ত হইয়াছিল। ইহাদের রাজ্যের পার্শ্বে উচ্চকল্ল নামক রাজবংশীয়দের অধিকার স্থাপিত ছিল। উচ্চকল্ল-বংশীয়গণও গুপ্ত-রাজ্যের প্রাধিকার স্বীকার করিতেন। ছয়জন উচ্চকল্ল নরপতির নাম জানিতে পারা গিয়াছে।

হনু শক্তির আলোড়নে গুপ্তবংশ এবং তাঁহাদের সামন্তগণ ভাদিয়া পড়েন। অতঃপর মালবে মহারাজ যশোধর্মদেবের আবির্ভাব হয়। যশোধর্মদেব প্রবল প্রতাপাশিত ছিলেন। তাঁহার এবং মগধের বালাদিত্যের বাহুবলে এবং অস্ত্রান্ত্র হিন্দুনরপতির সহায়তায় হনুশক্তি পর্যুদন্ত হয়। যশোধর্মের সমকালে মালবের একপার্শ্বে বৃহগুপ্ত এবং ভাঙ্গুগুপ্ত রাজত্ব করিতেন। ইঁহারা হীনপ্রভ ছিলেন। যশোধর্মের পরবর্ত্তিকালে মালবে মহাজানী শিলাদিত্যের রাজত্ব আরম্ভ হয়। মগধ শতাব্দীর আরম্ভে দেবগুপ্ত নামক একজন পরাক্রান্ত পুরুষ মালবে অধিকার স্থাপন করেন। তারপর মালব উত্তরগুপ্তের প্রসিদ্ধ নানা সম্রাট হর্ষবর্দ্ধন শিলাদিত্যের শাসনাধীন হয়। হর্ষের মৃত্যুর পর তদীয় সন্ত্রাজ্য বিচ্ছিন্ন হইয়া যায়। তৎকালে মালবের অবস্থা কি প্রকার দাঁড়াইয়াছিল তাহা নির্দেশ করিবার উপায় নাই। তবে এই মাত্র বলা যাইতে পারে যে, গুর্জর প্রভীহার বংশ এং রাষ্ট্রকূট বংশ মালবের প্রাধিকার লইয়া বিবাদে নিবৃত্ত ছিলেন।

মধ্য ভারতের অস্ত্রান্ত্র প্রদেশের কিকিৎ বিবরণ প্রদত্ত হইতেছে। পূর্বোক্ত ভাঙ্গুগুপ্ত এবং বৃহগুপ্ত প্রভাহীন ছিলেন। তাহা হইলেও তাঁহাদের সামন্ত অধিপতি ছিল। তাঁহারা মধ্য ভারতে রাজত্ব করিতেন। এরূপ নামক স্থানের তত্তলিপি হইতে বৃহগুপ্তের সুরবানী নামক সামন্ত রাজার নাম জানা যায়। এরূপের আর একটি তত্তলিপিতে ভাঙ্গু গুপ্তের গোপরাজ নামক সামন্ত অধিপতি কৃতযুদ্ধের বিবরণ দেখা যায়। মধ্য



ভারতের বিপুল অংশে রাকাতক বংশ নামক রাজকুলের আধিপত্য স্থাপিত হইয়াছিল। চন্দক (চন্দেল) নামক স্থানে তাঁহাদের রাজধানী ছিল। বিজ্ঞানশক্তি নামক একজন অলৌকিক শক্তি সম্পন্ন পুরুষ বাকাতক বংশের আদিপুরুষ ছিলেন। চৈনিক পরিব্রাজক হিউএন্থসঙের পর্যটন কাণ্ডে এই বংশীয়গণ রাজত্ব করিতেছিলেন। চৈনিক পরিব্রাজক তাহাদিগকে বৌদ্ধধর্মাবলম্বীরূপে বর্ণনা করিয়াছেন। বাকাতক বংশের বিলোপ সাধিত হইলে তাহার এক শাখা মহানদীর তীরে এক নূতন রাজ্যের প্রতিষ্ঠা করেন। এই শাখা বংশের শেষ রাজার নাম ছিল শিবগুপ্ত বালার্জুন। ইনি ধর্ম্মকর্ত্তায় সাতিশয় দক্ষ ছিলেন, এজ্ঞা বালার্জুন উপাধি লাভ করেন। তৎকালের আর দুইটি বংশের নাম জানিতে পারা যায়। একটির নাম শৈনবংশী; অন্যটির নাম সোমবংশী। বাকাতকগণ ধ্বংস প্রাপ্ত হইলে রাষ্ট্রকূটগণের আধিপত্য প্রতিষ্ঠা লাভ করে। অতঃপর পশ্চিম চালুক্য বংশীয়েরা প্রসিদ্ধ হন। তাহাদিগকে দূরীভূত করিয়া চোলগণ শাসনাধিকার গ্রহণ করেন।

উত্তরাপথের সার্ক্সভৌম সম্রাট হর্ষবর্দ্ধন শিলাদিত্যের মৃত্যু হইলে সমস্ত ভারতবর্ষ ব্যাপিয়া রাজাবিগ্রহ আরম্ভ হয়। এই বিগ্রহের অবসানে আমরা সমগ্র ভায়তবর্ষে নূতন নূতন রাজবংশ প্রতিষ্ঠিত দেখিতে পাই। তৎকালে মধ্য ভারতে যে সকল রাজবংশ প্রতিষ্ঠিত দেখিতে পাওয়া যায়, তন্মধ্যে জেজাক ভুক্তির চন্দেল, ত্রিপুরীর চেদী এবং মালবের প্রথম প্রধান। এই সকল বংশের পরবর্তী কালেও অনেক রাজবংশের উৎপত্তি হইয়াছিল। আমরা সংক্ষিপ্ত বিবরণ প্রদান করিতে প্রবৃত্ত হইলাম।

### চন্দেল বংশ। (১)

মধ্য ভারতের যমুনা ও নর্মদা নদীর মধ্যবর্তী ভূমির প্রাচীন নাম জেজাক ভুক্তি; আধুনিক নাম বুনেলখণ্ড এই স্থানে খৃষ্টীয় নবম শতাব্দীর মধ্য ভাগে চন্দেলগণ প্রভুত্ব স্থাপন করেন। চন্দেলগণ চন্দ্রবংশীয় রাজপুত

কাজির ছিলেন। মুন্দের জেশার অন্তর্গত গিধোরের রাজবংশ আপনাদিগকে চন্দেল বলিয়া পরিচিত করিয়া থাকেন।

চন্দেলগণ প্রথমতঃ ছত্রপুত্র একটি ক্ষুদ্র রাজ্য প্রতিষ্ঠিত করেন। তারপর ক্রমশঃ উহার সীমা বর্দ্ধিত করিয়া যমুনা পর্য্যন্ত অধিকার বিস্তার করিতে সমর্থ হন। এই স্থানে কণৌজ রাজ্যের সীমা তাঁহাদের গতি বোধ করে।

চন্দেল বংশীয় রাজকুলে হর্ষ একজন প্রধান ছিলেন। রাষ্ট্রকূটাদিধিপতি তৃতীয় ইন্দ্র কণৌজের আধিপত্য মহোপালকে স্বরাজ্য হইতে বহিষ্কৃত করিলে হর্ষ অন্তান্ত রাজার সহিত মিলিত হইয়া মহোপালকে পিতৃসিংহাসনে পুনঃ প্রতিষ্ঠিত করিয়াছিলেন।

হর্ষের পুত্র যশোবর্ম্মা পিতার অপেক্ষাও পরাক্রান্ত ছিলেন। তিনি কালিঙ্গের স্বীয় রাজ্যভুক্ত করিয়া প্রতাপশালী হইয়া উঠেন। তাঁহার রাজত্ব কালে কণৌজে অতি সুন্দর বিষ্ণু মূর্ত্তি প্রতিষ্ঠিত ছিল। কণৌজাদিধিপতি দেবপাল (মহোপালের পুত্র) অনিচ্ছা সত্ত্বেও যশোবর্ম্মার সম্ভাব্য বিধান লব্ধ তাহাকে এই মূর্ত্তি প্রদান করেন। যশোবর্ম্মার সময় হইতে চন্দেল রাজ্যের রাজধানী কালিঙ্গের স্থাপিত হয়।

যশোবর্ম্মা পরলোকগত হইলে তদীয় পুত্র ধন রাজ্যাদিকারী হন। ধন প্রতাপশালী ছিলেন। গজনির সুলতান সনজুগীন গজাব আক্রমণ করিলে ধন গজাবাদিধিপতি জয়পালের সহিত মিলিত হইয়া আন্ততায়ী মোসলমানের বিরুদ্ধে যুদ্ধ করিয়াছিলেন।

মোসলমানের হস্ত হইতে হিন্দুর দেশ রক্ষা করিবার জন্য চন্দেল রাজগণঅতিশয় উৎসাহী ও উত্তেজী ছিলেন। আমরা দুইটি দৃষ্টান্ত দিতেছি। (১) গজনির সুলতান মাহমুদ ভারতবর্ষে আসি হস্তে উপনীত হইলে তাঁহার বিরুদ্ধে যে রাজসম্মিলন হইয়াছিল তাহাতে ধনের পুত্র গন একজন প্রধান পুরুষ ছিলেন। (২) ইহার ১০৭৯সর পরে কণৌজের আধিপতি রাজ্যপাল সুলতান মাহমুদের নিকট মন্তক নত করিয়া অকৌণ্টিকর সন্ধি-স্থাপন করিলে গন ক্রোধোন্মত্ত হইয়া তদীয় রাজ্য আক্রমণ পূর্বক তাহাকে নিহত করেন।

(১) Early History of India. V. A. Smith. Historical Sketch of Central Provinces and Berar.



প্রশ্নের প্রণোক্ত কীর্তিবর্মা চন্দেল বংশের সর্বশ্রেষ্ঠ নরপতি ছিলেন। তিনি পার্শ্ববর্তী চেদি-নরপতি কর্তৃক দেবকে যুদ্ধক্ষেত্রে পরাজিত করিয়া তাঁহার রাজ্যের বিপুল অংশ স্বাধীন ভুক্ত করেন। চেদিগণ হস্তচ্যুত রাজ্যাংশের আর উদ্ধার সাধন করিতে পারেন নাই। মহারাজ কীর্তিবর্মা একাধারে শত্রুজলের ত্রাসস্থল এবং পণ্ডিত মণ্ডলীর আশ্রয়-স্থল ছিলেন। প্রসিদ্ধ প্রবোধ চন্দ্রোদয় নাট্যকার কবি কাকমিশ্র তাঁহার সভাসদ ছিলেন।

কীর্তিবর্মার পর জেলাক ভুক্তি রাজ্যের ভাগ্যচক্র নিয়গামী হইয়া পড়ে। দিল্লী ও আজমীরের অধিপতি পৃথিবীজ চৌহান, নরপতি পরমর্দাদেবের রাজত্বকালে এই রাজ্যের অধিকাংশ গ্রাস করেন। মোসলমান কর্তৃকও পরমর্দাদেবের রাজ্যনাশ সাধিত হইয়াছিল। মহম্মদ ঘোরী ভারতবর্ষ আক্রমণ করেন, পরমর্দাদেব মোসলমান পাঠানের সহিত বারম্বার যুদ্ধে ব্রতী হইয়া ছিলেন। অবশেষে পরমর্দাদেবের পরাজয় ঘটে। তাঁহার সমস্ত রাজ্য মোসলমান সেনাপতি কুতুবুদ্দীনের হস্তগত হয়। একজন মোসলমান ইতিহাস-বেত্তা জেলাকভুক্তিতে মোসলমানের প্রবেশের যে বিবরণ প্রদান করিয়া গিয়াছেন, নিম্নে তাহার অনুবাদ প্রদত্ত হইতেছে।

অভিশপ্ত পরস্য ভয়ঙ্কর যুদ্ধের পর পলায়ন করিয়া দুর্গবধ্যে আশ্রয় গ্রহণ করিলেন। পরে আত্মসমর্পণ পূর্বক গলদেশে পরাধীনতার বস্ত্র চিহ্ন ধারণ করিলেন। তিনি বস্ত্রতা স্বীকার করিলে মাহমুদ সাবক্তগীন কর্তৃক তাঁহার পূর্বপুরুষকে যে প্রকার অত্যাচার প্রদর্শিত হইয়াছিল, তাঁহাকে সেই প্রকার অত্যাচার প্রদর্শিত হইল। রাজা কর এবং হস্তী প্রদানের ব্যবহার প্রবৃত্ত হইলেন, কিন্তু ইহার কোন ব্যবস্থা কার্যে পরিণত করিবার পূর্বেই তাঁহার স্বাভাবিক মৃত্যু হইল। তদীয় মন্ত্রী অজদেব স্বীয় প্রভুর আর ঐরূপ সহজে আত্মসমর্পণ করিতে অনিচ্ছুক হইলেন। তিনি শত্রুকে সাতিশর উপদ্রব করিতে লাগিলেন, কিন্তু অবশেষে ঘোর অমারুটি নিবন্ধন দুর্গস্থিত সমস্ত লগাশর শুষ্ক হইয়া

যাওয়ার আত্মসমর্পণ করিতে বাধ্য হইলেন। হিন্দুসৈন্য একান্ত দুর্বল ও এবং দুর্দশা গ্রস্ত হইয়া দুর্গ হইতে বাহির হইল এবং বর্গপ্রয়োগ বশতঃ লম্বাভূমি পরিত্যাগ করিল। দেবমন্দির মসজিদে এবং পুণ্যবাসে পরিণত হইল। মোসলমান সাধকের আনন্দধ্বনি এবং আজান দাতার উচ্চৈশ্বর গগনমার্গে উত্তীর্ণ হইল; পৌত্তলিকতার নাম পর্যন্ত বিলুপ্ত হইল। পকাশ হাজার নরনারী দাসত্বে আবদ্ধ হইল। \*

কিন্তু মোসলমান অধিপত্য নীড়ই বিলুপ্ত হইয়াছিল। পরমর্দাদ পুত্র ত্রৈলোক্যদেব বাহুবলে পিতৃরাজ্যের উদ্ধার সাধন করিতে সমর্থ হন। কিন্তু রাজ্যের উদ্ধার সাধিত হইলেও পূর্ব সৌরব এবং সমৃদ্ধি আর কিরিয়া আইসে নাই। ত্রৈলোক্য বর্মার বংশধরগণ নানাবিক তিনশত বৎসর কাল কালিঙ্গর রাজত্ব করিয়াছিলেন। কালিঙ্গর দুর্গ অতিশয় সুদৃঢ় ছিল, মোসলমান ইতিহাস বেত্তার মতে উহা আলেকজেন্ডার প্রাচীরের মত অভেদ ছিল। কুতবুদ্দীনের ল্যুনাধিক তিন শত বৎসর পর সেরশাহ এই দুর্গসহ রাজ্য অধিকার করিতে প্রয়াসী হন। যুদ্ধকালে বারুদ হইতে অগ্নি উদ্গম হইয়া তাঁহার প্রাণাশঙ্ক করে। অতঃপর তদীয় পুত্র সেলিমশাহ দুর্গ অধিকার করিয়া রাজা কীর্তিসিংহকে তরবারি মুখে নিক্ষেপ করেন। অতঃপর চন্দেল রাজবংশ বিলুপ্ত হয়। রাজা কীর্তিসিংহ গড়মণ্ডলের সামন্ত দলপতির সহিত স্বীয় কন্যা দুর্গাবতীর বিবাহ দিয়াছিলেন। আকবরশাহের সেনাপতি গড়মণ্ডল আক্রমণ করিয়া উহা যোগগ সাম্রাজ্য ভুক্ত করেন। তৎকালে রাণী দুর্গাবতী প্রচণ্ড তেজে যোগল সৈন্তের বিরুদ্ধে যুদ্ধ করিয়া মৃত্যু মুখে পতিত হন। \*

চন্দেলগণ সৌভবশালী অট্টালিকা নির্মাণে সাতিশর উৎসাহী ছিলেন। তাঁহারা স্বরাজ্যের প্রধান নগর মহোবা, কালিঙ্গর এবং খাজুরাহ বহু সংখ্যক বিচিত্র মন্দির এবং সুনির্মল তড়াগ দ্বারা পরিশোভিত করিয়াছিলেন।

\* History of India (Elliot, Voll II)

Historical Sketch of Central Provinces and Berar History of India ( V. A. Smith ).



## পশ্চিম চৌদীবংশ।

কোঙ্কাক ভূজিরাজ্যের দক্ষিণে আধুনিক মধ্যপ্রদেশে চৌদি রাজ্য স্থাপিত হইয়াছিল। ত্রিপুরী এই রাজ্যের রাজধানী ছিল। চৌদী রাজবংশ একাধিক নামে পরিচিত হইল। কলচুরি এবং হৈহয় চৌদীবংশের অন্য নাম ছিল। হৈহয় অহিরয়ের অপভ্রংশ বলিয়া কথিত হইয়াছে। এই নাম তাহাদের পৌরাণিক অঙ্কিত কাহিনী প্রকাশ করিতেছে। সর্প এবং অশ্বিনীর যোগে চৌদী বংশের আদি পুরুষ আবির্ভূত হইয়াছিলেন। ইহা উপকথারূপে পরিচ্যক্ত হইবে। কিন্তু ত্রিপুরীতে চৌদীরাজ্য সংস্থাপনের বহু পূর্বে হৈহয়গণ দেশমধ্যে সুপ্রতিষ্ঠিত এবং সম্ভ্রান্ত ছিলেন। খৃষ্টীয় ষষ্ঠ শতাব্দীতে তাহারা ক্ষুদ্ররাজ্যের আধিপতি ছিলেন। চালুক্য বংশের সংশ্লেবে তাহাদের কিঞ্চিৎ বিপরণ জানিতে পারা যায়। চালুক্যরাজ মঙ্গলেশ তাহাদের সংশ্লেবে আদিয়াছিলেন, বিনয়াদিত্য তাহাদিগকে পরাজিত করিয়াছিলেন। দ্বিতীয় বিক্রমাদিত্য তাহাদের বংশের দুই ভগিনীকে একসঙ্গে বিবাহ করিয়াছিল। রাষ্ট্রকূট বংশীয়গণও তাহাদের সহিত বৈবাহিক সম্পর্ক স্থাপন করিতেন।

মহারাজা কোঙ্কলদেব চৌদীরাজ্যের প্রতিষ্ঠা করেন। কোঙ্কলদেব ৮৭৫ খৃষ্টাব্দ হইতে ৯০০ খৃষ্টাব্দ পর্য্যন্ত রাজত্ব করেন। এই বংশের যে সমস্ত লিপি আবিষ্কৃত হইয়াছে, তাহা হইতে অনেক রাজার নাম জানিতে পারা গিয়াছে। আমরা এখানে সেই সকল রাজার নাম প্রদান করিতেছি। মুন্ডভুজ, (প্রথম) যুবরাজদেব, লক্ষণ রাজা, (দ্বিতীয়) যুবরাজদেব, দ্বিতীয়। কোঙ্কলদেব, গাঙ্গেরদেব, কর্ণদেব, যশোবকদেব (যশোকর্ণদেবের মাতা, আবল্লদেবী হনবংশ সত্ত্বতা ছিলেন), পদ্মাকর্ণদেব, নরসিংহদেব, জয়সিংহদেব, বিজয়সিংহদেব।

এই রাজত্বকালে গাঙ্গেরদেব এবং তদীয় পুত্র কর্ণদেব শান্তিশয় প্রসিদ্ধ ছিলেন। গাঙ্গেরদেব উচ্চাভিলাষী ছিলেন এবং সমগ্র উত্তরাংশে প্রাধান্য স্থাপন জন্য ত্রুটি হইয়াছিলেন। তাহার সাধনা অনেক পরিমাণে সাফল্য

লাভ করে। সুদূর ত্রিহতে তাহার আধিপত্য বীকৃত হইয়াছিল। তাহার মৃত্যুরপর তদীয় পুত্র কর্ণদেব তাহার আরক্ত বিজয় কার্যে ত্রুটি হন। তিনি ক্ষুদ্ররাজ্যের নরপতির সহিত মিলিত হইয়া মালবরাজ ভোজদেবকে আক্রমণ করেন। পালরাজের বিরুদ্ধেও তাহার বিজয় বাহু উত্তীর্ণ হইয়াছিল। কিন্তু চন্দেলরাজ কীর্তি বর্মার আক্রমণে তাহার শক্তি পর্য্যায়ান্ত হয় এবং তাহার বিজয় গতি বন্ধ হইয়া যায়।

বিজয় সিংহ চৌদীরাজ্যের শেষ আধিপতি ছিলেন। কিন্তু কখনও তিনি রাজ্যাধিকারী হইয়াছিলেন কিনা সন্দেহ। ১১৮১ খৃঃ অব্দে তাহার সমকালে চৌদীরাজ্যের ধ্বংস সাধিত হইয়াছিল। যে সকল ভেতুতে ত্রিপুরীর চৌদীবংশ বিনষ্ট হইয়াছিল, তাহা নিশ্চিত রূপে নির্দেশ করা যাইতে পারে না। তবে এই মাত্র নির্দেশ করা যাইতে পারে যে, ত্রিপুরীর পার্শ্বে রেওয়ারে বাবেল রাজশক্তি এবং গড়মণ্ডলে গন্দরাজ শক্তির অভ্যুদয় উক্ত বংশের ধ্বংস মুখে পতিত হইবার কারণ রূপে নির্দিষ্ট হইতে পারে।

## পূর্ব চৌদীবংশ। \*

ত্রিপুরীর রাজ্য ধ্বংসের ন্যূনাধিক পঞ্চাশ বৎসর পূর্বে চৌদীবংশ কর্তৃক আর একটি রাজ্য স্থাপিত হইয়াছিল। আমরা এতৎ সম্বন্ধে একখানি উৎকর্ণ লিপি হইতে কিঞ্চিৎ উদ্ধৃত করিতেছি। “এই (হৈহয়) রাজবংশে চৌদীরাজ কোঙ্কল জন্ম গ্রহণ করেন। তাহার আবাস অথবা দেশ ত্রিত্রিশৌর্ধ্যনামে কথিত হইত। কোঙ্কলের আঠার পুত্র ছিল তন্মধ্যে প্রথম পুত্র ত্রিপুরীতে রাজত্ব করিতেন। অন্যান্য কুমারগণ মণ্ডলের আধিপত্য লাভ করিয়াছিলেন। এই সকল কুমারের একজনের উত্তরাধিকারীর নাম কলিঙ্গরাজা ছিল। তিনি ত্রিত্রিশৌর্ধ্য পরিত্যাগ পূর্বক দক্ষিণ কোশল আধিকার করেন। তদীয় পুত্র কমলরাজ এবং কমলরাজের পুত্র রত্নরাজ রত্নপুরের প্রতিষ্ঠা করেন।” এই তাহাৎ রত্নপুরে

\* Historical sketch of central Provinces and Berars.



একটি ক্ষুদ্র সংস্থান প্রতিষ্ঠিত হয়; অতঃপর ১১১৪ খৃষ্টাব্দে রত্নপুত্রের পৌত্র জামলদেব এই সংস্থানকে রাজ্যে পরিণত করেন। রত্নপুত্রের রাজ্যের অধিকাংশ গন্দবল নামক অরণ্য স্থানে বিস্তৃত ছিল। রত্নপুত্রের চৌদাগিণ বোগল রাজ্যের প্রারম্ভে স্বাধীন ছিলেন। রত্নপুত্রের অধিবাসী কল্যাণ রাজা আকবর শাহের সঙ্গে সন্ধি স্থাপন পূর্বক স্বরাজ্যের স্বাভাব্যতা করেন। ১৭৪০ খৃষ্টাব্দে নাগপুরের মহারাষ্ট্রাধিপতি রঘুজি ভোনশালা রত্নপুর রাজ্য স্বরাজ্যভুক্তকরিয়াছিলেন।

### অন্যান্য রাজ্য। \*

রাইপুর নামক আর একটি শাখা চৌদী রাজ্য ছিল। এই রাজ্যও নাগপুরের মহারাষ্ট্রাদের তাণ্ডবে বিনাশ প্রাপ্ত হইয়াছিল।

রাইপুর রাজ্যের পার্শ্বেই কাকইরাই একটি ক্ষুদ্র সংস্থান বিদ্যমান ছিল। ইহার অধিপতিবৃন্দ রত্নপুরের সামন্তরাজরূপে শাসনকার্য্য নিৰ্ব্বাহ করিতেন।

সাহসপুর নামক আর একটি ক্ষুদ্র সংস্থানের নাম দেখিতে পাওয়া যায়। সাহসপুরের অধিপতিগণও রত্নপুরের সামন্ত ছিলেন।

বস্তুর নামক স্থানে একটি রাজ্য স্থাপিত ছিল। প্রথমতঃ নাগাবংশীয়গণ এইস্থানে রাজত্ব করিতেন। তাঁহাদের পতন হইলে কাকতীয়গণ প্রভুত্ব স্থাপন করেন।

পশ্চিমচৌদী রাজ্যের পতন উপলক্ষে আমরা বাবেল ও গন্দ রাজবংশের উল্লেখ করিয়াছি।

### প্রমর বংশ।

প্রমরগণ মালবে শাসিত করিতেন উপেন্দ্র অথবা কুজরাজা এই বংশের প্রতিষ্ঠাতা ছিলেন। চম্পাবতী এবং অচলগড়ে তাহার আদি নিবাস ছিল। খৃষ্টীয় নবম শতাব্দীর প্রারম্ভে এই রাজবংশের অভ্যুদয় হইয়াছিল। ধারনগরে তাহার রাজধানী ছিল। \*

এই বংশের পঞ্চম রাজার নাম হর্ষ। হর্ষদেব

শক্তিশালী বীর পুরুষ ছিলেন তিনি দক্ষিণাপথের রাজশক্তির বিরুদ্ধে বহুবুদ্ধ করিয়া স্বরাজ্যের অস্তিত্ব রক্ষা করিতে সমর্থ হইয়াছিলেন। (১)

হর্ষদেবের মৃত্যুর পর তাঁহার জ্যেষ্ঠ পুত্র সিদ্ধরাজ রাজ্যাধিকারী হন। তারপর দ্বিতীয় পুত্র যুজু রাজত্ব করেন। যুজু পিতার মত শক্তিশালী বীরপুরুষ ছিলেন। তিনি অনেক সময় যুদ্ধক্ষেত্রে বাগন করিতেন। তিনি চালুক্য রাজ দ্বিতীয় তৈলপকে ক্রমাগত বোড়শ বার যুদ্ধক্ষেত্রে পরাজিত করেন। কিন্তু অবশেষে তিনি পরাজিত হইয়া শত্রু কর্তৃক বন্দী হন এবং অশেষ লাঞ্ছনা ভোগ করিয়া বাতক হস্তে প্রাণ পরিত্যাগ করেন। \* যুজুর অসির স্ত্রীর লেখনীও শক্তিশালিনী ছিল। তিনি অনেক প্রসিদ্ধ গ্রন্থের প্রণেতা বলিয়া খ্যাত রহিয়াছেন। তাঁহার সভায় ধনিক, ধনঞ্জয়, হলান্থ প্রভৃতি প্রধান প্রধান গ্রন্থকার বিদ্যমান ছিলেন। (১)

মহারাজ যুজুর পরবর্ত্তীকালে তদীয় ভ্রাতুষ্পুত্র ভোজরাজা সিংহাসনে আরোহণ করেন। ভোজরাজা ভারতবর্ষের অন্ততম প্রসিদ্ধ নরপতি; তাঁহার আলোক সম্মানে ভারতবর্ষ উজ্জ্বল হইয়াছিল। তাঁহার সম্বন্ধে অনেক উপাখ্যান প্রচলিত আছে। পরমভট্টারক মহারাজাধিরাজ পরমেশ্বর, তাঁহার উপাধি ছিল। (২)

ভোজদেব অসাধারণ বী-শক্তিশালী ছিলেন; তিনি পণ্ডিত মণ্ডলীর উৎসাহদাতা ছিলেন, তাঁহার রাজসভা সর্বদা বিদ্বজ্জন পূর্ণ থাকিত। ভোজদেব নিজে গ্রন্থ রচনার পারদর্শী ছিলেন। তাঁহার রচনাবলী সংকলিত সাহিত্যের সম্পদরূপে গণ্য হইয়াছে। ভোজদেব চম্পু-রামায়ণ, স্বরস্বতী কথ্য ভরণ, অমর টীকা এবং রাজ-বার্ত্তিক, পাতঞ্জলী টীকা এবং চারুচর্য্যের রচয়িতা রূপে প্রসিদ্ধ রহিয়াছেন। ভোজ-প্রবন্ধ নামক গ্রন্থে ভোজদেবের সভাপণ্ডিতগণের নাম প্রদত্ত হইয়াছে। যথা, কালিদাস, কর্পূর, কলিঙ্গ, কামদেব, কোকিল, ত্রিচন্দ্র,

(১) History of India (Sastri)  
Vincent A. Smith.

(২) মহাবাহোপাধ্যায় হরপ্রসাদ শাস্ত্রীর ইতিহাস।

(২) Indian Antiquary 1912.

\* Historical Sketch of central Provinces  
(S. N. Aiger.)

\* Vicant A. Smith.



গোপাল দেব, জয়দেব, তাঁরেন্দ্র, দামোদর, সোমনাথ, ধনপাল, বাণ, ভবভূতি, ভাস্কর, ময়ূর, মল্লিনাথ, মহেশ্বর, মাধব, মূচকন্দ, রামচন্দ্র, রামেশ্বর ভক্ত, হবিবংশ বিজ্ঞা বিনোদ, বিশ্ববান্ধু, বিষ্ণু কবিশঙ্কর সম্বাদেব, শুক, সীতা, সীমন্ত, সুবন্ধু ইত্যাদি। (১) এই কবিকুলের সফলকেই ভোজের সভাকবি রূপ গ্রহণ করা অসম্ভব।

ভোজদেবের উজ্জয়িনী তাম্রশাসন ৩২ খৃষ্টাব্দে উৎকীর্ণ হইয়াছিল। (২) বল্লাল সেন কর্তৃক ভোজ প্রবন্ধ ১২০০ খৃষ্টাব্দে রচিত হইয়াছিল। ভোজের মৃত্যুর বহু পরে ভোজ প্রবন্ধ রচিত হয়। ইহাতে গোথ হয় যে বল্লাল সেন ভোজরাজ বিদ্যোৎসাহী বলিয়া কেবল অসুখান করিয়াই তাহার সম্মান ও গৌরবের অসুরূপ সভাসদ স্থির করিয়াছেন। (৩) কালিদাস খৃষ্টীয় একাদশ শতাব্দীর বহু পূর্বে আবির্ভূত হইয়াছিলেন। কালিদাস ভবভূতি এক সময়ে বর্তমান ছিলেন না। ভোজদেব তাঁহার কোন রচনার কালিদাস ভবভূতির নাম উল্লেখ করেন নাই। \* ভোজ প্রবন্ধ প্রণেতা বল্লাল সেন ভোজদেবের সভাসদ রূপে ইহাদের নাম উল্লেখ করাতে তদীয় গ্রন্থের প্রামাণিকতা স্বীকার করিবার উপায় নাই।

আমরা ভোজপ্রবন্ধ অবলম্বনে ভোজদেবের প্রথম জীবনের কথা স্ফুলন করিয়া দিতেছি। ভোজ প্রবন্ধ প্রণেতা কর্তৃক প্রদত্ত তদীয় পিতৃপরিচয় মধুকগড় লিপিবদ্ধাও সমর্থিত হইয়াছে। (১) একজন্মই ভোজ প্রবন্ধের মূলে কিঞ্চিৎ সত্য আছে বিবেচনার আমরা তাহার সফলনে প্রবৃত্ত হইলাম।

ভোজ, সিদ্ধুলের পুত্র এবং মুঞ্জুর ভ্রাতৃপুত্র। শৈশবাবস্থায় পিতৃ বিয়োগ হওয়াতে তাঁহার পিতৃব্য মুঞ্জু রাজপদে প্রতিষ্ঠিত হয়েন এবং ভোজ তাঁহার কর্তৃত্বাধীনে থাকিয়া বহু বিজ্ঞা অর্জন করেন। ভোজ ক্রমে বিখ্যাত

হওয়াতে তাঁহার খুল্লভাত ভদ্রারা সিংহাসনচ্যুত হইবার আশঙ্কা করিতে লাগিলেন এবং কি প্রকারে তাহার ঐশ্য বিনাশ করিবেন এই ভয়ানক চিন্তা তাঁহার হৃদয় কন্ডরে ক্রমে বদ্ধমূল হইতে লাগিল। স্বীয় করদ-সুপতি বৎসরাজকে আহ্বান করিয়া খানাইয়া আপন দুরভিসন্ধি জানাইয়া ভোজকে অচিরে অরণ্য মধ্যে বিনাশ করিতে অসুরোধ করিলেন। কিন্তু তিনি ভোজকে গোপন রাখিয়া পশুশোণিতে লোহিতবর্ণ অসি মুঞ্জুভূপকে উপহার দিলেন। তদ্বৃষ্টিে তিনি সানন্দচিত্তে জিজ্ঞাসা করিলেন ভোজ মানবলীলা সম্বরণ করিয়াছে? বৎসরাজ তৎশ্রবণে একটি পত্রোপরি লিখিয়াদিলেন মাক্কাতা যিনি ক্রতযুগে নৃপকুলের শিরোমণি স্বরূপ ছিলেন তাহার মৃত্যু হইয়াছে। রাবণারি রামচন্দ্র যিনি সমুদ্রে সেতুনির্মাণ করেন, তিনি কোথায়? এবং অজাত মহোদয়গণ এবং রাজা মুষ্টিগির স্বর্গারোহণ করিয়াছেন। কিন্তু পৃথিবী কাহারও সহিত গমন করেন নাই। এবারে তিনি রসাতলগামী হইবেন। ইহা পাঠ করিবামাত্র মুঞ্জুর শত্রুর গোমাক্ত হইল এবং ভোজের নিমিত্ত অভ্যস্ত ব্যাকুল হইলেন। তৎপর তিনি জীবিত আছেন শ্রবণে বৎসরাজ দ্বারা কাহাকে আনাইয়া, দ্বারারাজ্য প্রদান করণান্তর ঈশ্বরার্থনা নিমিত্ত অরণ্যে প্রবেশ করিলেন। \*

ভোজ রাজ্যলাভ করিয়া প্রবল প্রতাপে ৫৫ বৎসর রাজত্ব করিয়াছিলেন। তৎকালে মালব দেশ উন্নত ও ধনবান্ধে পূর্ণ ছিল। (১) তাহার রাজত্বকালে প্রধান ঘটনা চালুক্যরাজের সহিত যুদ্ধ। বিশ্ববারা তাম্রশাসনে দেখা যায়,—ভোজদেব সম্ভবতঃ ১০১৯ খৃঃ অব্দের কিঞ্চিৎ পূর্বে কোঙ্কল বিজয় উৎসব উপলক্ষে স্নানান্তে ব্রাহ্মণকে ভূমিদান করিয়াছিলেন। চালুক্য রাজা জয়সিংহের তাম্রশাসনে তাঁহাকে ভোজরূপী পদ্মের চন্দ্ররূপে বর্ণনা করা হইয়াছে। একজন্ম অসুখিত হয় যে পিতৃব্য মুঞ্জুর হত্যার প্রতিশোধ লইবার জন্য উত্তোগী হইয়া প্রথমে কোঙ্কল প্রদেশ আক্রমণ করিয়াছিলেন এবং তাহাতে

(১) বঙ্গদর্শন ১ম বর্ষ।

(২) Indian Antiquary.

(৩) বঙ্গদর্শন ১ম বর্ষ।

\* বঙ্গদর্শন, ১ম বর্ষ।

(১) India Aryans Vol II.

\* ১ম বর্ষের বঙ্গদর্শন হইতে উদ্ধৃত।

(১) Indo Aryans Vol. II.



কৃতকার্য হইরাছিলেন। কিন্তু পরবর্তীকালে জয়সিংহ সামন্ত ছিলেন। প্রথম বংশের শেষ নরপতির উত্ত-  
মালব সেনা বিক্ষত করিতে সমর্থ হন। ভোজদেব স্বীয় রাধিকারী রাজ্য পরিচালনের ক্ষমতা অধোগ্রা বিবেচিত  
লক্ষ্য সাধন করিতে পারেন নাই। \* উপরন্তু চালুক্য হওয়াতে সামন্ত জিতপালের মালবের সিংহাসন আরো-  
সৈন্ত মালব সীমায় উপস্থিত হয়। এই দুঃসময়ে ভোজদেবের মৃত্যু ঘটে।

ভোজ পুত্র উদয়াদিত্য স্বরাজ্যের নষ্ট গৌরব উদ্ধার করিতে সমর্থ হন এবং শত্রুদিগকে মালব রাজ্যের সীমা হইতে বহিষ্কৃত করিয়া দেন। উদয়াদিত্যের পুত্র লক্ষ্মণদেব ত্রিপুরার চন্দ্রদ্বীপকে বুদ্ধ করিয়া ব্যতি-  
ব্যক্ত করিয়া তুলিয়াছিলেন। (১) অতঃপর প্রথম বংশের গৌরব অক্ষত হয় এবং তৎবংশীয়গণ প্রাদেশিক নরপতিরূপে স্থায়ী ষাটশ শতাব্দীর শেষ পর্য্যন্ত মালবে রাজত্ব করেন।

এই সময় তোমর বংশীয় রাজপুত্রগণ মালবের আধিপত্য অধিকার করেন। তোমর বংশের প্রতি-  
ষ্ঠাতার নাম জিতপাল। জিতপাল মালবের একজন

অধিকার করিতে \* সমর্থ হন। চৌহানবংশের চতুর্থ অধিপতি বাসুদেব মহারাষ্ট্রাধিপতির উপাধি প্রাপ্ত করেন। তাঁহার রাজত্বকালে মালব রাজ্যের খ্যাতি ও সমৃদ্ধি বৃদ্ধি প্রাপ্ত হইয়াছিল। চৌহানবংশের শেষ নরপতির নাম মালদেব। তাঁহার রাজত্বকালে আনন্দ নামক একজন বৈষ্ণব সামন্ত বলপূর্ব্বক মালবের ক্রিয়-  
দংশ অধিকার করেন। \* এই সময়ে মোসলমানগণ মালবে প্রবেশ পূর্ব্বক ক্ষত্রিয় এবং বৈষ্ণব দুইজনেরই আধিপত্য ধ্বংস করেন। মালবদেশ মোসলমানের শাসনাধীন হয়। (১)

ত্রিরাশপ্রাণ গুপ্ত।

\* Indian Antiquary 1912.

(১) History of India ( Sastri ).

\* Malcolem's Central India vol I.

(১) History of India (Vincent. A. Smith)



## কাণ্ডনে ।

ললিত লালিমা-মাথা আজি যধু কাণ্ডনে—  
 পিয়া বিনা হিয়া দহে পিয়াসার আগুনে ।  
 কাতরে পাশিয়া ডাকে, 'পিউ' 'পিউ' পিয়া রে,  
 চকিতে চমকি চিত ঘোঁজে কোথা পিয়ারে ।  
 বঁধু আজ পরবাস,—বেদনার গলিয়া,  
 উদাস পবন-বুকে পড়ে শ্বাস ঢলিয়া ।  
 ললিত লালিমা-মাথা আজি যধু-কাণ্ডনে,—  
 পিয়া বিনা হিয়া দহে পিয়াসার আগুনে ।

কাণ্ড 'চোখ পেল' বলে বুঝা পাখী ডাকিছে,  
 আবারে আতীত-বালা অহুগ্নে মাতিছে ।  
 ফুল দেখে ফুল হয় একি ফুলশায়া ?  
 কার লাগি অভিসার—এত সাঙ্গসজ্জা ?  
 বিরহী বঁধুরা কোন্ চুপনে রাঙিয়ে,—  
 ধরায় প্রথম-লিপি দিল গুণো পাঠিয়ে ।  
 ললিত লালিমা-মাথা আজি যধু-কাণ্ডনে,—  
 পিয়া বিনা হিয়া দহে পিয়াসার আগুনে ।

ত্রিশ্রীপতিপ্রসন্ন ঘোষ ।

## দুইটি পরমা ।

কথাটা এমন কিছুই নয়, খুবই সামান্য । কিন্তু  
 এই সামান্য—অতি তুচ্ছ ঘটনাটির ভিতর দিয়ে, সংসারের  
 রীতি-নীতির যে গোপন কথাটা আমার অন্ততঃ একটু  
 নূতন আলো দিয়ে গেল—যার সাহায্যে হয়তো এমনি  
 আরও ছোটখাট রহস্যের সমাধান ক'রতে পারব—  
 সেই হিসেবে গুরু মূল্য কোন বড় ঘটনার চেয়ে কম  
 বলে আমার মনে হয় না । কারণ, এই সুদীর্ঘ না  
 হ'লেও, দীর্ঘ ত্রিশ বছরের অভিজ্ঞতার এতদিন জানতে  
 পারি নি যে শিশুর সারল্যও অনেক সময় আত্মীয়  
 পরিজনদের নিকট শাসনের লাহুনাঁঝারাই অতিনন্দিত  
 হয় । কথাটা এই—

বি, এ, পরীক্ষার তিনমাস আগে আত্মীয়স্বজ্বদের  
 বিস্ময় বাড়িয়ে হঠাৎ বখন চাকরি নিয়ে সুদূর আসামের  
 একটা ক্ষুদ্র পরগণাতে চলে' এলাম, তখন শ্বশুরালয় হ'তে  
 একখনা পত্র এল—গৌহাটিতে আমার এক মামা-  
 স্বস্তর আছেন তার সঙ্গে যেন পরিচিত হই,—এই আদেশ  
 নিয়ে । বাঙ্গালীর জীবনটাকে ঐ একটা বাড়ীর সম্প-  
 র্কীয় আত্মীয়স্বজন বেধন তাক করে দেয় এখন বোধ  
 হয় আর কেউ পারে না । মনটা এই নির্জন নিঃসহায়

প্রবাসের ভবিষ্যত কল্পনার যে আঁধারে ডুবে যাচ্ছিল,—  
 সেটা যেন মস্ত বড় একটা আশা ও আনন্দের আলোর  
 উজ্জ্বল হয়ে উঠলো ।

পরিচিত হ'তে বেলীদীন লাগলো না । দশ বায়ে  
 দিনের ভেতর বোধ হয় দুই তিনবার গিয়ে মামা-মামীর  
 সমস্ত বস্ত্র উপভোগ করে ফেললাম, তখন আর নূতনের  
 লজ্জা থাকল না ; আলাপ ও ব্যবহারটা বেশ একটু  
 সহজ হ'য়ে এল ।

কি কাজে মনে পড়ছে না ঠিক,—সে দিন প্রাতে  
 গৌহাটি গিয়াছিলাম । কাজ শেষে ফিরতে দুপুর হ'ল  
 দেখে সে দিনের দক্ষিণ হস্তের জিরাটা আমার ওখানেই  
 সম্পন্ন করে' ফেললাম ।

রোদ পড়ে' এলে কিরুবো মনে করে' নির্দিষ্ট  
 ধৰ্ম্মবে বিছানার পড়ে' একটা মাসিক পত্রের পাতা  
 উল্টিয়ে যাচ্ছিলাম । মাথার কাছে পরদাটা হঠাৎ নড়ে'  
 উঠতেই দেখি' একখানি কচিমুখ ও উৎসুক এককোড়া  
 বড় বড় চোখ ফুটে উঠলো, তার দিকে চেয়ে চিন্তে  
 পারলাম, সে আমার পাঁচ বছরের মেয়ে বীণাপাণি ।  
 হ'হাতে পরদাটার উপর দেহের ভর রেখে হাঁটের



কোণে ও চোখের পাতায় কৌতুহল ফুটিয়ে সে জিজ্ঞাসা করে' ফেললো—“তুমি নাকি—জামাই বাবু?”—বাঃ অস্বাভাবিক করার এই যে আড়ম্বর শূন্য অতি পরিচিতের মত প্রশ্ন, যা ঐ ছোট ঘেরের ফুলের মত কোমল মুখখানির পেছনে ঐক্লপই সুন্দর একটি মন আমার চোখের সামনে মেল' ধরলো—এতো কোন দিন জানা ছিল না। হাসি চেপে, ঐ নামধারী ভাবই বটে এমনি সম্মতি জানিয়ে উঠে' বসে' ডাকলাম—“হাঁ, এদিকে এসো তো পোন!”

হঠাৎ উঠে' বসার দরুণট হোক বা অপরিচিত জীবনবিশেষের সাদর আহ্বানে বিশেষ আস্থা স্থাপন করতে না পেয়েই হোক, মাথার একগ্রাশ চুলের বোকাটাকে বার দুই সংবেগে আন্দোলিত করে' পরস্পর আড়ালে অদৃশ্য হয়ে গেল। হাতের চুড়ি ক'গাছির টুটাং ও জুতোর টকটক শব্দের সঙ্গে তাল রেখে' পরদা ভেদ করে' তার হাসির লহর ছুটে এল—“হাঃ—হাঃ—হাঃ—হা—আ—আ—”

ভিতর থেকে মামী-মার কথা শোনা গেল “অমন করে' হেসো না বীণু!”

এমনি প্রাণখোলা উচ্চ হাসির আর একটা লহর সুদূর বাংলাদেশের একটা বাড়ী হ'তে পাগড় বন নদী ডিঙিয়ে আমার ক'নের কাছে ছুটে এল। আমার ছোট বোন পাঁচ বছরের বীণুও কারণে অকারণে এমনি হাসির গড়ড়া তুলে মা'র কাছে ধমক খেতো। এক নিমিষে এই দুটি বীণুর হাস্তোজ্জ্বল সরস কচিমুখ দুটি পাশাপাশি আমার চোখের সামনে ফুটে' উঠলো। হৃৎকনের চেহারা'র কোন সাধুশ্রু পেলেন না, কিন্তু যে নামটায় এই অপরিচিত ঘেরের ওপর আমার বিচ্ছেদ-কাতর মনের ভগ্ন-স্নেহটাকে উদ্গুণ করে' দিল, তাকেও তো বাদ দিলে চলে না! রাত্তা বেয়ে গরু গাড়ীর ও ছ'টার জন পথিকের ধুলো উড়িয়ে যাওয়া আসার পানে চেয়ে চেয়ে কোন্ এক সময় গভীর ব্যথার বাড়ীর সেই ছোট বোনটার চিন্তার মাঝে একেবারে হারিয়ে গেলাম!

কোন সময় যে আবার বীণু পরদা সরিয়ে অতি সতর্কপণে পা টিপে টিপে ঠিক আমার কাছটতে এসে

দাঁড়িয়ে আমার মুখের ভাবেননের কথা পাঠ করবার হয়তো বুধা চেষ্টা করছিল তা টের পাইনি। বাস্তবতায় কিরে এলাম তার দ্বিতীয় কথায় “উ—উ—এই যে আমি এদেছি,—দেখ না!”

আমার মুখে সে কি পেরেছিল জানিনা, কিন্তু তার এবারকার সম্ভাষণটা যেন বলতে চাচ্ছিল “ওগো আমি ধরা দিতেই এসেছি, আর অমন করে' পালিয়ে যাব না।”

হেসে হাত বাড়িয়ে দিতেই এবার সে ধরা দিল। তারপর ঘটাবধি' সে কত কথা, কত হাসি, কত রাগ অভিমানের পালা! যেন আজ নুতন নয়—এমনি সে বরাবরই আমার কাছটতে বসে' অনর্গল বকে' এসেছে, কোনকালে নিরুৎসাহ হয়নি এতে। তার বাবা তাকে ক'টা টেনিস বল এনে দিয়েছেন; মা ক'টা পুতুল দিয়েছেন; তার ক'টা জামা, ক'খানা কাপড়; পুতুলের কি কি গয়না—কার কত বয়স; ওবাড়ীর সইয়ের ছেলের সঙ্গে শীগগীরই তার বড় মেয়ের যে বিয়ে আসছে তাতে আমি বর কনেকে কি বৌতুক দেব; ভৃত্য সুরেশ একটা নিরেট বোকা, তার ছেলে মেয়ের কাজে বাজার থেকে দুধ আনতে ভুলে গিয়ে বলে ‘ওগুলো তো মাটির চিৰি’; ইত্যাদি হতে শুরু করে' আমি কোথায় থাকি, আমার ছোট বোন আছে কি না, তার ক'টা পুতুল, আমি কোন গয়না তার পুতলকে দিয়েছি কি না, ইত্যাদি হাজার রকম কথা সে অবিরাম বকে' যাচ্ছিল। সব কথার উত্তর পাওয়ারও সে প্রয়োজন মনে করতে পারছিল না। এমনি সময় রাত্তায় কেরিওয়ালার হাঁক শোনা গেল—কি যে সে হেঁকে গেল আমার ঠিক মনে পড়ছে না। কিন্তু বীণুর একুনি যে তাতে একেবারে থেমে গিয়েছিল সেটা আজও বেশ মনে পড়ছে।

আমি মিনিটকাল চুপ করে' থেকে বীণু নির্জি-কারচিন্তে বলে' বসলো—“ছোটো পরদা দাও না, জামাইবাবু?”

কেন জানিনা আমার কুটি আপনা হোতেই পেছনের পরদাটার আড়ালে কেউ ছিল কি না তার সন্ধান



সম্বন্ধিত হয়ে যুরে এল। কেউ নেই অসুস্থত্ব করে যেন' একটা আরামের নিশ্বাসও আপনা হোতেই বেরিয়ে এল। জামার পকেটে হাত দিয়ে একটু নীচু গলায় জিজ্ঞাসা করল্যাম—“কি করবে বীণু, পয়সা দিয়ে?”

কৃত্রিম বিরজিত ক্র কৃষ্ণিত করে' বীণু বলে উঠলো “আঃ—তুমি দাওই না”—

কথা তার শেষ হওয়ার আগেই আমি দুটি পয়সা তার হাতে গুজে' দিয়েছিলাম—পয়সার প্রয়োজনীয়তা সম্বন্ধে কোন ভাবাব দেওয়ারই সে দরকার মনে করলে না। পয়সা হাতে করে উঠে' গিয়ে দরজায় দাঁড়িয়ে, বাইরে এদিক ওদিক একটু দেখেই ছুটে ভিতরে চলে' গেল। আমি মনে মনে মহা লজ্জিত হয়ে উঠছিলাম—হয় তো একুণি গিয়ে সে তার মাকে ঐ পয়সা দুটো পাওয়ার ইতিহাসটা বলে বসবে। কিন্তু যুগ দুটে বীণুকে ডেকে কাউকে একথা বলতে যে বারণ করে' দেবো তাও পারলাম না। অগত্যা হতাশ ভাবে দেহটাকে বিছানায় ঢেলে দিয়ে চোখ বুজে উৎকর্ষ হয়ে পড়ে' রইলাম। কোন কথাই কিন্তু আর শুনিতে পেলাম না।

শিঁড়িতে জুতার শব্দ শোনা গেল এবং সঙ্গে সঙ্গে মাঝা ঘরে ঢুকলেন। চোখ বুঁজেই পড়ে' ছিলাম। ঘুমিয়ে আছি মনে করে' তিনি আমায় ডাক দিলেন না, সরাসর ভিতরে চলে' গেলেন। শুয়ে শুয়ে বুঝতে পারলাম, বীণু তার বাবার কাছে ছুটে এল। পয়সার কথা কিছু বোলো কিনা বোঝা গেল না। তার পর ধীরে ধীরে কোন এক সময় তজ্রায় চোখ দুটো বুঁজে এল, তা' মনে নেই।

ঘুমের ঘোরে যেন দেখতে লাগলাম বীণু পয়সা দুটো হাতে নিয়ে নেচে বেড়াচ্ছে—আর চোৎকারে বাড়ী মাধায় করে বলছে—“এই দেখ, জামাই বাবু আমার দুটো পয়সা দিয়েছে! কেমন মজা রে—রে” হঠাৎ ভেতর থেকে গভীর গলায় ডাক এল—“বীণু, এই বীণু, —চুপুর বেলা অন্ত চৌচিও না—ঘুমুবে এগো।” নাচতে নাচতে ও এক হাতে অব্যাহ্য চুলের গোছা সরিয়ে দিতে দিতে সে ভেতরে চলে' গেল। মনে হ'ল যেন কার চাপাগলার দুটো তিরকার শুনতে পেলাম—আর সঙ্গে

সঙ্গে দুটো পয়সা কনকনিয়ে শানের ওপর আছড়ে পড়ে গেল।

আবার সব নিস্তরু। কণেক পরে মনে হোলো যেন আঁত স্তম্ভপণে কে পরদা ঠেলে আমার বিছানার কাছে চলে' এল এবং আমার মাধার কাছে কি রেখে তৈমনি সতর্কতার সহিত ফিরে গেল। ঘুমের ভেতরও কিসের একটা বাধার আমার দেহটা আলোড়িত হয়ে উঠছিল।

ঘুম ভেঙ্গে যখন উঠেছি তখন স্বপ্নটার কথা ভেবে নিদাক্ষণ লজ্জায় ও মর্যাস্তিক ক্রোড়ে মনটা সঙ্কুচিত হয়ে উঠছিল। ছিঃ—দুটো পয়সা চাইলে,—আর এমন অধু দুটো পয়সাই দেওয়ার মত দুর্বলি আমার কেন হয়েছিল! এ যে নিতান্তই অকিঞ্চিৎকর, নিতান্তই অশোভন হয়েছে, মনে মনে তা বেশ অসুস্থত্ব করতে পারলাম। কিন্তু উপায় তখন আর ছিল না,—এদিক সেদিক তাকিয়েও নিকটে কোণাও বীণুর অস্তিত্বের টের পেলাম না।

বেলায় দিকে চেয়ে স্বস্থানে ফেরবার উদ্দেশ্যে উঠে বসে' মাধার কাছের জামাটায় হাত দিতে গিয়ে দেখি বিছানার ওপর দুটো পয়সা পড়ে'। একটা অজানা আতঙ্কে শিউরে উঠে অবাক-বিশ্বয়ে সেই দিকে চেয়ে রইলাম। বেশ বুঝতে পারলাম পরদার আড়ালে কেউ আমার বিষত যুগের দিকে চেয়ে আছে। লজ্জা স্বণা ও অভিমানের সংমিশ্রণে আমার যুগের ভাব কেমন হয়েছিল তা জানি না, কিন্তু আমার মনে হচ্ছিল এর পর আর এ যুগ কেমন করে' ম'দের কাছে দেবো! ক্রমান্বয়ে কয়েক দিনের সাওয়া আসায় যে আত্মীয়তাটা বেশ নিকট হ'য়েই উঠেছিল, ঐ পয়সা দুটো যেন সেটাকে হাজার মাইল দূরে ছুড়ে ফেলে দিয়ে এসেছে।

একবার ভাবলাম ও দুটাকে বাইরে ছুড়ে ফেলে দিই—বতদূর হাতে যায়! আবার মনে হোলো—না, আমি ও ছোঁবো না; ওতো আমার নয়—কে চুরতো ভুলে ফেলে' গিয়ে থাকবে। মন কিন্তু এ বিষয়া চোখ-ঠার মান্তে চাচ্ছিল না! খুব হয়েছে—তোর কান্নাল নল্লর এমনি স্তাবেই তোর বুকে ফিরে এসে বিধেছে। চোখ দুটো জালা করে এলো!—মনে ভাবলাম, না



জানি সরলা সংসার-অনভিজ্ঞ। বালিকা বীণু এ অপরাধের  
জন্ত কত গল্পনা সহ্য করেছে !

কমালের কোণে পরসা হুটোকে সবসে বেঁধে রেখে,  
মাঝা মাঝীর কাছে ছুটি নিয়ে চলে' এলাম।

ইন্ডুল-ফেরত ছেলেমেয়েরা তখন দলে দলে হাসি  
ও গল্পে দুই পাশের বাড়ীগুলো কাঁপিয়ে বাসার ফিরছিল।  
পথে বেরিয়ে সামনের অশ্বখ গাছটার লাঠিটা হেলান  
দিয়ে রেখে যে অন্ধ ভিক্ষুকটা বসে' পথিকের কল্পণা  
উদ্রেক করার জন্য ক্রমাগত চীৎকারে গলা ফাটাচ্ছিল,  
সে দিন কি মনে করে' পকেট থেকে হুটো পরসা বের  
করে' তার হাতে দিতে গিয়ে,—অশ্বখ গাছ, ভিক্ষুক,  
পথের ছেলেমেয়ের দল, হুথারের বাড়ীর সার,—সব

আমার চোখের সামনে কাগলা, একাকার হ'য়ে গেল !  
পথে ছোট ছোট আহব বালকেরা অস্বস্তি দিন পরসা  
চেয়ে বার কাছে বিষম বকুনি ছাড়া আর কিছুই পেত  
না, সে দিন তারা সেই আমার মুক্তহস্তের দানে অতি  
মাত্রার বিম্বিত হ'য়ে কামাখ্যা মায়ের সকাশে “বাবুটোর”  
কল্যাণে অল্প কল্পিত গুণ-ইচ্ছা জ্ঞাপন করে'ও যেন  
তৃপ্তি পাচ্ছিল না। বাসায় ফিরে দেখি—পকেট উল্লার  
করে' এসেছি।

কিন্তু সেই কমালে বাঁধা পরসা হুটো আজও আমার  
বাঁজের তলায় একটা ব্যথার স্মৃতির সৌরভ নিয়ে পড়ে'  
আছে।

শ্রীজ্ঞানেন্দ্রনাথ ঘোষ।

## প্রার্থনা।

চাহিনা গুরুকুলোঁক কিরুর নগর  
চাহিনা অলকাপুরে কোষাধ্যক্ষপদ,  
চাহিনা মন্দির বনে হ'তে মালাকর  
নাহি চাহি ইজলোকে হ'তে সভাসদ।

চাহিনা প্রভুঘ, জ্ঞানীশ্বরীর চরণে  
জীবন বাপিব শিরে চিরদাস্য লয়ে  
না চাই প্রকট হ'তে সবার নয়নে  
এরঙের বনে গুহ্ম-বনস্পতি হয়ে।

এই বঙ্গ স্বর্ণভূমে তোমার মন্দিরে  
যথায় অমৃত ভক্ত করিছে অর্চনা  
চাহি তথা তবগুণ কীর্তনের ভিড়ে  
সবার সেবার মাঝে হারা'তে আপনা।  
পাতালেও যেতে চাই, জ্ঞানীশ্বরীসহ।  
নরকে প্রভুঘ ঘোর হয়েছ হুর্সহ।

শ্রীকালিদাস রায়।



## ভবানন্দের মহাকাব্য হরিবংশ ।

প্রায় দুই বৎসর গত হইল, বিশেষ কোন প্রয়োজনে পাবনায় গিয়াছিলাম। সেখানে প্রজ্ঞানন্দ সরকারী উকিল শ্রীযুক্ত রায় প্রসন্ননারায়ণ চৌধুরী বাহাদুরের সহিত সাক্ষাৎ হওয়া মাত্র তিনি হান্তবদনে জানাইলেন যে, তিনি তথাকার একজন স্বর্ণ-গত ব্রাহ্মণ-পণ্ডিতের বাড়ীতে অনেকগুলি হস্ত-লিখিত প্রাচীন পুথির খোঁজ পাইয়া, বহু চেষ্টায় সেগুলিকে হস্তগত করিয়া উহাদের পরিচয় লইতে যাইয়া সেগুলির মধ্যে ভবানন্দের রচিত হরিবংশ নামে একখানা অসংখ্য বাংলা পুথি পাইয়াছেন এবং কোড়ুল বশতঃ উহার কিয়দংশ পাঠ করিয়াই বুঝিতে পারিয়াছেন যে এই অজ্ঞাত-নামা পুথিখানা বাংলা সাহিত্যের একটি অমূল্য রত্ন। রায় বাহাদুর নিজে সুপণ্ডিত ও কাব্য-রসজ্ঞ। উকাল সরকারের গুরুতর কর্ম-ভার স্বন্ধে বহন করিয়াও তিনি সাহিত্য-সেবা হইতে বিরত নহেন; সময়ে সময়ে সূচিন্তা ও গবেষণা-পূর্ণ নানা প্রবন্ধাদিও লিখিয়া থাকেন; কিন্তু “বলবদপি শিক্ষিতানামান্ময়ংপ্রত্যয়ং চেতঃ। মহাকবির এই সদগুণের অত্যন্ত দৃষ্টান্ত-স্বরূপ তিনি সাহিত্য-ক্ষেত্রে আত্মপ্রকাশ করিতে বড় একটা ইচ্ছুক নহেন। তাই, রায় বাহাদুর আমাদের সঙ্গে দেখা হওয়া মাত্রই সাগ্রহে জানাইলেন যে, তিনি আমাদের সঙ্গেই উক্ত পুথিখানি সযত্নে সংগ্রহ করিয়া রাখিয়াছেন; আমরা পুথিখানির সদ্যবহার করিলেই তাঁহার উদ্দেশ্য সিদ্ধ হইবে। প্রাচীন পুথির বাতিকগ্ৰস্ত লোকের পক্ষে এক্ষণ একখানি পুথি পাওয়া একটা খুব সৌভাগ্যের বিষয়; তাই পুথিখানির সদ্যবহার করা আমাদের ক্ষুদ্র শক্তিতে কুলাইবে কিনা সে বিষয়ে বেষ্টে সন্দেহ থাকিলেও—আমরা সাধ্যানুসারে পুথিখানির সদ্যবহার করিতে কুষ্ঠিত হইব না প্রতিশ্রুত হইয়াই উহা গ্রহণ করিলাম। পুথিখানি খুঁ প্রাচীন ও একাধিক ব্যক্তির হস্ত-লিখিত। উহার এক স্থানে পত্রের শেষে লিখিত আছে—“সরস্বতী মিদং শ্রীকৃষ্ণ মঙ্গল চন্দ্র সন ১১৭৮ পরগণা সরহ মাহে ফান্তন ৩ তারিখ সোমবার অর্দ্ধ প্রহর রাত্রিকালে এই পাতাটি লিখিলাম

ইতি।” পুথিখানির বেশীর ভাগই কৃষ্ণমঙ্গলের হস্ত-লিখিত; সুতরাং উহার অধিকাংশই যে বাংলা ১১৭৮ সালে লিখিত হইয়াছিল তাহা নিঃসন্দেহে জানা যাইতেছে। ইহারই অনেক পূর্বে আর একটি পত্রের শেষে লিখিত আছে—“মাহে মাঘ ২৭ তারিখ মঙ্গলবার ভৈরবদশির (ভৈরবী একাদশীর?) উপবাস” বাংলা একাদশীর উপবাস হইয়াছিল, তাহা জ্যোতিষিক গণনা দ্বারা নির্ণয় করিতে যাইয়া দেখা গিয়াছে যে, বাংলা ১১৭৮ সালের ২৭শে মাঘ তারিখেই মঙ্গলবার ও একাদশী তিথির সংযোগ ঘটিয়াছিল। সুতরাং পুথিখানি যে, বেশীর ভাগই বাংলা ১১৭৮ সালের লিপিত অর্থাৎ ১৫০ বৎসরের প্রাচীন তাহা পূর্বোক্ত প্রমাণদ্বয় হইতে নিশ্চিত জানা গিয়াছে। আমরা পুথিখানি পাঠ করিতে গিয়া দেখিতে পাইলাম যে, উহার কয়েকটি পত্রের পরেই কিয়দংশ বর্ণিত; তৎপরে কয়েকটি পত্রে যে শ্রীকৃষ্ণের গোপীদম্পতির সহিত হান্ত-পরিবাসপূর্ণ ‘দান-বণ্ড’ ও ‘নৌকা বণ্ড’ বর্ণিত হইয়াছে, উহাতে ভবানন্দের পরিবর্তে ভবানী দাসের নাম ভণিতায় দৃষ্ট হয়। ইহা দেখিয়া আমাদের প্রথমে মনে হইল, বোধ হয় ইহা লিপিকরের ভ্রম; অথবা ভবানী দাস ভবানন্দেরই নামান্তর হইবে; কিন্তু আরও কিছু দূর অগ্রসর হইয়া দেখিতে পাইলাম যে, ভবানী দাসের ভণিতায়ুক্ত ঐ দান বণ্ড ও নৌকা বণ্ডের সহিত ভবানন্দে হরিবংশের বর্ণনার কোন সামঞ্জস্য নাই; সুতরাং উহা এক্ষিপ্ত বলিয়াই সন্দেহ জন্মিল। আরও দুই এক খানা ‘হরিবংশ’ পুথি সংগ্রহ করিয়া পরস্পর না মিসাইলে এই সন্দেহ বিদূরিত হইবে না এবং প্রাপ্ত পুথিখানির বর্ণিত ও সন্দিক্ত স্থলগুলিও প্রকৃত পাঠোক্তার করা যাইবে না বলিয়া, তখন হরিবংশের আরও দুই এক খানা হস্ত-লিখিত পুথি সংগ্রহ করার প্রয়োজন হইল। প্রথমেই দীনেশ বাবুর ‘একতাষা ও সাহিত্য’ গ্রন্থের ৩য় সংস্করণের অন্তর্ভুক্তিকার ‘ভবানন্দ বিজ’ ও ‘ভবানী দাস’ নাম



পাইয়া, ৪৮৯ পৃষ্ঠার দেখিলাম দীনেশ বাবু লিখিয়াছেন—  
 “হরিবংশ—বিদ্য ভবানন্দ কর্তৃক অমুবাদিত, শ্লোক-  
 সংখ্যা ৩১৬৮; লেখক ত্রিভাগ্যবদ্ধ ধূপী, হস্তলিপি  
 (বাং ১১২০ সন) ১৭৮৩ খৃঃ অব্দ।” দীনেশ বাবু  
 ইহাও লিখিয়াছেন যে, ৪৮৮, ৪৮৯ পৃষ্ঠায় উল্লিখিত  
 ‘প্রহ্লাদ চরিত্র’ প্রকৃতি অপর সাতখানা পুথির ভ্রায়  
 এই ‘হরিবংশ’ পুথিখানিও তাঁহার নিকট আছে। সে  
 বাহা হউক, আমরা দীনেশ বাবু, বসন্ত বাবু প্রকৃতি  
 বাংলা প্রাচীন-পুথির বিশেষজ্ঞ কয়েক জনের নিকট  
 এ সম্বন্ধে পত্র লিখিয়া কেবল বসন্ত বাবু ও ত্রিপুরা  
 শাখা-পরিষদের সম্পাদক শ্রীযুক্ত অমুকুলচন্দ্র রায় বি, এ  
 মহাশয়ের নিকট হইতে উত্তর পাইলাম। বসন্ত বাবু  
 লিখিলেন, ভবানন্দের ‘হরিবংশ’ পুথিখানি বঙ্গীয় সাহিত্য  
 পরিষদের কিংবা কলিকাতা বিশ্ববিদ্যালয়ের পুথি-শালায়  
 নাই। তিনি এই পুথির সম্বন্ধে কিছু জানেন না।  
 অমুকুল বাবু লিখিলেন যে, ত্রিপুরার শাখা-পরিষদে  
 ভবানন্দের ‘হরিবংশ’ পুথির এক খণ্ড প্রতিলিপি আছে;  
 উহার আরম্ভের দিকের কিয়দংশ ছিন্ন ও তৎপরে  
 কয়েকখানা পত্র খুব জীর্ণ হইলেও তিনি উহা আমার  
 সাহায্যের জন্য পাঠাইয়া দিবেন। যথা সময়ে রেজিষ্টারী  
 ডাকে এই পুথিখানি প্রাপ্ত হইলাম। অতঃপর আমরা  
 সংক্ষেপের জন্য পাবনার পুথিখানিকে ‘ক’ পুথি ও  
 ত্রিপুরার পুথিখানিকে ‘খ’ পুথি নামে উল্লেখ করিব।  
 ‘ক’ পুথির আগের দিকে খানিকটা ছিন্ন হইলেও ‘ক’  
 পুথির যে স্থলে পূর্বাপর-সামঞ্জস্যপূর্ণ ভবানীদাসের  
 ভণিতায়ুক্ত পূর্বোক্ত দান-খণ্ড ও নৌকা-খণ্ডের বর্ণনা  
 আছে, ‘খ’ পুথির সে স্থলে উহা নাই; উহাতে ভবানন্দের  
 ভণিতায়ুক্ত পূর্বাপর-সামঞ্জস্যগণিষ্ট শ্রীকৃষ্ণের জন্ম ও  
 বালা-শেষে কৈশোরে যমুনা তীরে শ্রীরাধার সহিত  
 সাক্ষাৎকার, উভয়ের প্রতি উভয়ের অমুরাগোৎপত্তি,  
 মিলনোৎকর্ষ ও বড়োইর চেষ্টায় শ্রীরাধার সহিত  
 শ্রীকৃষ্ণের প্রথম মিলন সবিস্তারে বর্ণিত হইয়াছে। অতঃপর  
 বহাঙ্গুলে ‘ক’ ও ‘খ’ উভয় পুথিতেই দান-খণ্ড ও নৌকা  
 খণ্ডের বর্ণনা দৃষ্ট হয়; সূত্ররূপে আমরা ‘ক’ পুথি দেখিয়া  
 ভবানীদাসের ভণিতায়ুক্ত দান-খণ্ড ও নৌকা-খণ্ড যে

ভবানন্দের হরিবংশে প্রদত্ত হইয়াছে বলিয়া অনুমান  
 করিয়াছিলাম, ‘খ’ পুথি দর্শনে আমাদের সেই অনু-  
 মানই স্বার্থ স্বির হইল। ‘ক’ পুথির এই প্রদত্ত  
 অংশের শ্লোকসংখ্যা ২২৪। ইহার পরিবর্তে ‘খ’  
 পুথিতে ভবানন্দের ভণিতায়ুক্ত শ্রীকৃষ্ণের জন্ম প্রকৃতি  
 পূর্বোক্ত বিষয়ের যে বর্ণনা আছে, উহার শ্লোক-সংখ্যা  
 ২২৬। সূত্ররূপে ‘খ’ পুথিখানি না পাইলে এই ২২৬টি  
 শ্লোকের স্থান অপর্যাপ্ত থাকিত এবং শ্রীরাধা-কৃষ্ণের প্রেম-  
 লীলার বর্ণনার তাঁহাদিগের পূর্ব-রাগ ও প্রথম মিলনের  
 বর্ণনার অভাবে পুথিখানির উপাদেয়তাও অনেক  
 পরিমাণে নষ্ট হইত। ভবানন্দের হরিবংশের প্রথমেই  
 জন্মের ব্যাসদেবকে জিজ্ঞাসা করিতেছেন—

“ই বড় বিশ্বর মুনি জিজ্ঞাসিব তোমা।

কৃষ্ণ-অঙ্গে লীন কেনে হৈল তিলোত্তমা॥

কৃষ্ণনৌ গাঙ্গবতী সিদ্ধা ভদ্রা বামা।

নন্দালতা লক্ষণা কালিন্দী সত্যভামা॥

অপরে যথেক আর কৃষ্ণের রমণী।

সমাকে তেজিয়া কৃষ্ণ লৈলা গোয়ালিনী॥

ই বড় অদ্বত মুনি বিশ্বর আমার।

বিস্তারিয়া কহিবা যে পূর্ব সমাচার॥”

“তিলোত্তমা” নামী শ্রীরাধা শ্রীকৃষ্ণের সহিত বৃন্দাবনে  
 নানা প্রেম-লীলার অমুষ্ঠান করিয়া শ্রীকৃষ্ণের মাথুর-  
 লীলার অবসানে ঘরকায় কল্পে শ্রীকৃষ্ণের সঙ্গে  
 লীন হইয়াছিলেন—ভবানন্দের মহাকাব্যে সবিস্তার  
 বৃন্দাবন-লীলার সহিত ইহাই বর্ণিত হইয়াছে; সূত্ররূপে  
 ঘরকায় শ্রীকৃষ্ণ-অঙ্গে শ্রীরাধার অন্তর্ধানের বর্ণনা ঘরাই  
 গ্রন্থ-সমাপ্তি সঙ্গত ও গ্রন্থকারের অভিপ্রেত বাধ হয়।  
 ‘ক’ পুথিতে কিন্তু :হার পরে আবার শ্রীকৃষ্ণ কর্তৃক  
 তুলসীর প্রবন্ধনা ও শব্দ-বধ প্রসঙ্গে তুলসীর সাহায্য  
 সবিস্তারে বর্ণিত হইয়াছে; কিন্তু এই তুলসীর উপা-  
 খ্যানের শেষ পাওয়া যায় নাই। উহার ২২৫টি শ্লোকের  
 পরেই পুথি বন্ধিত। ‘খ’ পুথিতে এই তুলসীর উপা-  
 খ্যানটি নাই। ইহাও ‘ক’ পুথিতে প্রদত্ত বলিয়াই  
 অনুমান হয়। হরিবংশ মহাকাব্যে প্রদত্ত হইলেও  
 এই তুলসী-উপাখ্যানের বর্ণনা অতি সুন্দর, ও সর্বত্রই



ভবানন্দের রচনার লক্ষণাক্রান্ত; আমরা সম্বাস্তরে ভবানন্দের এই ভুলসী-উপাখ্যানের সম্বন্ধে আলোচনা করিব ।

দীনেশ বাবুর সংগৃহীত 'হরিবংশ, পুথির অপেক্ষা 'ক' পুথিখানির হস্তলিপি ১২ বৎসরের পূর্ববর্তী ও 'খ' পুথির হস্তলিপি ২৮ বৎসরের পরবর্তী । দীনেশ বাবুর পুথির শ্লোক সংখ্যা ৩১৬৮; কিন্তু 'ক' পুথি: শ্লোক সংখ্যা ৪৪০২ । 'খ' পুথির শ্লোক সংখ্যা ৩৭০০ । আমরা হরিবংশের গীতগুলির প্রত্যেকটি দালি (stanza) এক একটি শ্লোক-রূপে গণনা করিয়াছি । 'ক' পুথিতে মোটে ১২৮টি গীত বা পদ আছে ; সেই পদগুলির কলির সংখ্যা ৭২৫ । জানি না দীনেশ বাবু তাঁহার পুথির পদগুলি কিভাবে গণনা করিয়াছেন । তিনি যদি এক একটি পদকে এক একটি শ্লোক বলিয়া গণনা করিয়া থাকেন, তাহা হইলে তাঁহার পুথির শ্লোক-সংখ্যার সহিত 'খ' পুথির পূর্বোক্ত শ্লোক-সংখ্যার বেশী অনৈক্য থাকে না ; কিন্তু তাহা হইলেও 'ক' পুথির শ্লোক-সংখ্যা অনেক বেশী দেখা যায় । দীনেশ বাবুর পুথির সহিত 'ক' ও 'খ' পুথির আর একটি গুরুতর পার্থক্য ভণিতায় । দীনেশ বাবু তাঁহার সংগৃহীত পুথিখানি দ্বিজ ভবানন্দের রচিত বলিয়া উল্লেখ করিয়াছেন । আমরা কিন্তু 'ক' ও 'খ' পুথির অনুান ৩।৪ শত ভণিতার মধ্যে কুজাপি 'দ্বীন ভবানন্দ' ব্যতীত 'দ্বিজ ভবানন্দ' নাম পাই নাই । আশ্চর্যের বিষয় এই যে, দীনেশ বাবু ভবানন্দের হরিবংশের পরিচয় দিতে বাইয়া 'হরিবংশ—দ্বিজ ভবানন্দকর্তৃক অঙ্কুবাদিত'—ওষু ইহা বলিয়াই ক্ষান্ত হইয়াছেন । ভবানন্দের এই অপূর্ণ মহাকাব্যের বর্ণনীর বিষয়ের কথা উহার বিশেষত্বের কোনই উল্লেখ করেন নাই । বস্তুতঃ ইহা হরিবংশ বা অজ্ঞ কোন পুরাণেরই অঙ্কুবাদ নহে । মূল হরিবংশে ঐরাধার নাম গন্ধও নাই ; কিন্তু ভবানন্দের হরিবংশে ঐরাধা-কৃষ্ণের ব্রজ-লীলা অপূর্ণ কবি-কল্পনা সহকারে সবিস্তারে বর্ণিত হইয়াছে । চণ্ডীদাসের 'ঐকৃষ্ণ কীর্তন' কিম্বা বৈষ্ণব পদ-কর্তাদিগের পদাবলীর বিষয়ও প্রধানতঃ তাহাই বটে । কিন্তু

আশ্চর্য্যে বিষয় এই যে, ভবানন্দের বর্ণিত ঐরাধা-কৃষ্ণের ব্রজ-লীলার সহিত ঐকৃষ্ণকীর্তনের বা পরবর্তী বৈষ্ণব পদাবলীর বিশেষ কোন সাদৃশ্যই দেখা যায় না । চণ্ডীদাসের ঐকৃষ্ণ কীর্তনে 'ললিতা' 'বিশাখা' প্রভৃতি সখীদিগের কোন উল্লেখ নাই ; কেবল দোতা-কার্য্যে স্মৃতিপুণা বড়াই বুড়ীর বহু প্রশঙ্গ আছে । ভবানন্দের হরিবংশেও সেইরূপ ললিতাদি সখীদিগের প্রশঙ্গ নাই, কিন্তু বড়াই বুড়ীর দোতা-কার্য্যের বর্ণনা আছে । বৈষ্ণব-কবিদিগের 'ললিতা' ও 'বিশাখা' সখী-বয়ের স্থান ভবানন্দের হরিবংশে 'মহোদা' ও 'শ্রীমতী' অধিকার করিয়াছে । হরিবংশে দেখিতে পাই 'মহোদা' আয়ান ও মা যশোদার কনিষ্ঠা সহোদরা । বৈষ্ণব-পদাবলীতে ইহারই নাম 'কুটীলা' এবং ননদী কুটীলা চির-কালই রাধা-কৃষ্ণের প্রেম-লীলার দারুণ বিরোধী । কিন্তু ভবানন্দের হরিবংশে চতুর-চূড়ামণি চণ্ডী ঐকৃষ্ণের কোশলে ননদী মহোদাকে লীলার প্রায় আরম্ভেই পরাজিতা ও ঐরাধার প্রিয়-সখীর পদে প্রতিষ্ঠিতা দেখিতে পাই । বৈষ্ণব পদাবলীতে শ্রীমতী ঐরাধারই নামান্তর, কিন্তু হরিবংশে 'শ্রীমতী' যদুসেন নামক গোপের পত্নী ও প্রপমাবধি ঐরাধার প্রিয়তমা সখী । ভাগবত পুরাণে ঐরাধার নামোল্লেখই নাই—ঐরাধার জায় ঐকৃষ্ণের প্রিয়তমা একজন গোপীর প্রশঙ্গ আছে । 'ব্রজ'-বৈবর্ত পুরাণে এই কৃষ্ণ-প্রিয়তমাই রাধা । নামে বর্ণিত হইয়াছেন ; কিন্তু সেখানেও 'ললিতা' 'বিশাখা' 'চন্দ্রাবলী' প্রভৃতি সখীদিগের কোন উল্লেখ নাই । শুনিয়াছি পাণ্ড-পুরাণের উত্তর-খণ্ডে না কি ললিতাদি অষ্ট সখীরই নামোল্লেখ আছে ! বর্তমান পাণ্ড-পুরাণ কোন শতাব্দীর সঞ্চলিত হিন্দীকৃত হয় নাই । চণ্ডীদাসের সময়ে উহা বর্তমান আকারে প্রচারিত ছিল না অথবা উহার বিরল-প্রচার হেতু সখীদিগের নাম চণ্ডীদাসের অজ্ঞাত ছিল—এই রূপে স্বীকার করিলে তাঁহার ঐকৃষ্ণকীর্তনে সখীদিগের নাম ও প্রশঙ্গ না থাকার কারণ অজ্ঞান করা যাইতে পারে ; কিন্তু ভবানন্দ যে চণ্ডীদাসের জায় প্রাচীন ছিলেন—ইহার অঙ্কুবল কোন প্রমাণ আমরা পাই নাই ; সুতরাং ভবানন্দ তাঁহার



কাব্যে বৈষ্ণব পদাবলী-মূলত ললিতাদি সখীগণের পৃথিবীতে জন্ম লইতে অনিচ্ছা প্রকাশ করিলেন। এসন্দের অবতারণা না করার যে 'ক বিশিষ্ট কারণ গ্রীহরি তদুত্তরে সভা-রূপে হিরণ্য-কশিপুর বধকালে। তাঁহার নর-সিংহ বৃষ্টির বিকট হকার-শব্দে একটি ব্রাহ্মণ-পত্নীর গর্ভ-পাত হওয়ার তাঁহার স্বামীর অতি-সম্পাতেই ত্রেতা-রূপে তাঁহার শোচনীয় আত্ম-বিস্মৃতি জন্মিয়াছিল—সবিস্তারে বর্ণন করিয়া কহিলেন—

“হেন হেতু রাম-রূপে বৃদ্ধি হৈল হীন।  
না জানি তোমারে হৃৎখিল যে প্রবীণ।  
রাবণ কুন্তকর্ণ ছই মারিল হৃৎক।  
অখনে জন্মিছে শিশুপাল বক্রদন্ত।  
তুমি ছই সঙ্গে গেলে সারিয়ু নিশ্চয়।  
ভিনে জন্মে মুক্ত হবৈ অর বিজয়।  
খেদ পরিহার প্রিয়া চিন্ত কর স্থির।  
লীন করি লৈয়ু তোমা আপন শরীর।  
ভিলোভ্যমা-রূপে যম হইবা আমাত।  
রাধা হেন নাম হৈঃ জগত-বিখ্যাত।  
পঞ্চদশ কলা জন্মিব গোপ-ঘরে।  
তুগর \* উরসে বিমলার † উদরে।  
এক কলা জন্ম হৈব বিদর্ভের ঘর।  
কাম-দেব জন্ম হৈব তোমার উদর।”

কাম-দেবের কথা বলাতেই তাঁহার কিরূপে জন্ম ও মৃত্যু ঘটে সবিস্তারে শুনিবার জন্য লক্ষ্মীর কোড়ুহল জন্মিল;—গ্রীহরিও সেই পুরাণ-কথা বর্ণন করিতে লাগিলেন। তারক নামে এক অশ্বর ইন্দ্রকে বৃদ্ধে পরাজিত করিয়া তাঁহার পুরী দখল করিয়া লয়। তখন ইন্দ্র ব্রহ্মার নিকটে যাইয়া তারকাস্বরের বিরুদ্ধে মালিশ করেন।

প্রথমেই দেখিতে পাই—

“ব্রহ্মা-আদি দেব যদি করিল ভবন।

দানব-অশুর-দুষ্ট-মাণের কারণ।

অনুমতি কৈলা হরি ‘জন্মিল’ পৃথিবীতে।

বসুদেব-উরসে দৈবকী-উদরেতে।

সংহারিব দুষ্ট বত গুন দেবগণ।

অবিলম্বে নিজ স্থানে করহ গমন।

প্রণাম করিয়া দেব গেলা নিজ স্থান।

কমলা সারদারে জিজ্ঞাসে ভগবান।

দেবের স্তভিয়ে আমি জন্মিব পৃথিবীতে।

কোম রূপে যাইবা তুমি আমার সহিত।”

লক্ষী ও সরস্বতী নিজ-রূপে গ্রীহরির সহিত যাইবার ইচ্ছা প্রকাশ করিলেন। কিন্তু উহা নিতান্তই অসম্ভব, তাই গ্রীহরি ঈষৎ হাস্য করিয়া মধুর বাক্যে বুঝাইলেন—

“গর্ভ-বাণ-কারণে করিহু অবতার।

বিনে গর্ভ-বাণে জন্ম নহিবেক তোমার।”

লক্ষী সীতা-রূপে ইহারই পূর্ব-রূপে পৃথিবীতে জন্মিয়া-ছিলেন—তিনি তখন অবোনি-সন্তবা হইয়া থাকিলেও তাঁহাকে বম-বাণ প্রকৃতি নানা দারুণ রূপে সহ্য করিতে হইয়াছিল—গ্রীহরিকে সেই সকল হৃৎখের কাহিনী সংক্ষেপে শুনাইয়া, তাই তিনি দেহান্তর গ্রহণ করিয়া

কাম-দেবের কথা বলাতেই তাঁহার কিরূপে জন্ম ও মৃত্যু ঘটে সবিস্তারে শুনিবার জন্য লক্ষ্মীর কোড়ুহল জন্মিল;—গ্রীহরিও সেই পুরাণ-কথা বর্ণন করিতে লাগিলেন। তারক নামে এক অশ্বর ইন্দ্রকে বৃদ্ধে পরাজিত করিয়া তাঁহার পুরী দখল করিয়া লয়। তখন ইন্দ্র ব্রহ্মার নিকটে যাইয়া তারকাস্বরের বিরুদ্ধে মালিশ করেন।

“ব্রহ্মা বোলে—আমি তার চিহ্নিছি প্রতিকার।

হর-গৌরীর পুত্র হৈতে মৃত্যু হৈব তার।”

তখন ব্রহ্মা ক্ষীরোদ-সাগরের তীরে যাইয়া প্রকৃতি-বরুণা চতীকে নানরূপে ভাব করিয়া প্রার্থনা করিলেন—

\* ‘বৃক’, (ব) তাহ’ নামের অপভ্রংশ-সংক্ষেপ ‘বৃক’ই এখানে ‘বৃক’ লিখিত হইয়াছে। † ঈরাবীর নামের প্রসিদ্ধ গৌরাণিক নাম—কীর্ত্তিবা (অপভ্রংশে—, কৃত্তিকা); ঈরুক-কীর্ত্তনে কিন্তু কীর্ত্তিবার পরিবর্তে ‘পদ্মা’ দেখিতে পাই। তবামলের ‘বিমলা’ নামের মূল কি—জানি না।



“সুন্দর রূপ এড়ি যাও সুন্দর রূপ ধরি ।

হিমালয়-সুতা হৈয়া বর জিপুরারি ॥”

চণ্ডী আকাশ-বাণীতে কহিলেন—

“শুন শুন প্রজাপতি না করিহ ভয় ।

মন-হিত পূর্ণ অক্ষি করিহু নিশ্চয় ॥”

ব্রহ্মা দেবীকে প্রণাম করিয়া স্ব-স্থানে গমন করিলেন, দেবীও বাইয়া মেনকার গর্ভে অধিষ্ঠান করিলেন । অতঃপর ভবানন্দ তাঁহার কাব্যে কুমার-সম্ভবের বর্ণিত বিষয়েরই সংক্ষেপে বর্ণন করিয়াছেন । পাঠকমাত্রেয়ই সুবিদিত বলিয়া আমরা এস্থলে উহার পুনরুল্লেখ করিব না । তবে ভবানন্দের রচনার নমুন দেখাইবার জন্য আমরা এখানে কাম-দেব কর্তৃক হর-দ্ব্যান-ভঙ্গের উপ-ক্রমটি উদ্ধৃত করিব ।

( বসন্ত-রাগেণ গীততে )

“ভুবন-মোহন বেশে চলিলা অনঙ্গ ।

মহাদেবের যোগ-নিজ্ঞা করিবারে ভঙ্গ ॥

কুসুমের বেষ্টিত চাপ কুসুমের রচিত ।

কুসুমের রচিত তুণ পুষ্পে বিভূষিত ॥

কুসুমের মালা গলে আয়োদিত গন্ধ ।

শতে শতে অলি পান করে মকরন্দ ॥

কোকিলার কল-রব নাহি তার অন্ত ।

মউরে চাতকে নাদ অকালে বসন্ত ॥

মন্দ মলয়া-বায়ু বয় ঘন ঘন ।

অকালেত ঋতু-রাজে পুষ্পিত কানন ॥

অশোক গরুড়ী যুগী চম্পক মালতী ।

লবঙ্গ কেতকী গন্ধরাজ গন্ধ অতি ॥

কুসুম-কুণ্ডল কর্ণে মালা কুসুমিত ।

কুসুম-বলয়া ভাড় কুসুমের রচিত ॥

কুসুম-নুপুর পায়ে পরিল সামন্দে ।

সাজিল মদন বোলে দীন ভবানন্দে ॥”

কামদেব রতির নিকট বিদায় লইতে গেলেন ;

রতি চরণে ধরিয়া তাঁহাকে নিবেশ করিয়া কহিলেন—

“শিব বিভুমান্যে যাও মনে ভয় বাশি ।

দরশন হৈতে মাত্র হৈবা ভয়-রাশি ॥”

“কামে বোলে—বিদায় দেও যোর প্রাণেশ্বরী ।

বিধাতা-নির্জঙ্ক কিছু খণ্ডাতে না পারি ॥

জন্মিলে অবশ্য মৃত্যু মৈলে জন্ম পুনি ।

এহা জানি শোক পরিহর সুবদনি ॥”

তারপরে যখন মহেশ্বরের কোপে কাম ভস্মীভূত হইলেন—তখন ভাটিয়াল-রাগে দীর্ঘ বা লাচাড়ী-ছন্দে ভবানন্দ রতির দ্বারা যে বিলাপ করাইয়াছেন তাহা । মায়ুলী বলিয়া আমরা এখানে উদ্ধৃত করিলাম না । পতি-শোকাতুঃ প্রতি মহাদেবকে সতর্ক অঙ্গুযোগ দিলেন । রতি সতীর সম্পর্কে মহাদেবের শ্রীলী হয়েন— তাই মহাদেব এ স্থলেও শ্রীলীর সহিত একটু সেই প্রাচীনকালের বদ্ব্যভাস করিতে ছাড়িলেন না । ঐ রসিকতার প্রভাবেরে কিন্তু রতির নিকট হইতে মহাদেব এবার অতি ভীত ভৎসনা প্রাপ্ত হইলেন, যথা—

“সহজে ভাঙ্গড় তুমি কিবা আছে জ্ঞান ।

অহঙ্কারে আপনে আপনা জান স্থান ॥

ললাটে ( আশুন তব ? ) অনেক শক্তি ।

লজিববারে চাহ তুমি পরের সুবতি ॥”

তখন মহাদেবও রহস্ত ছাড়িয়া রতিকের বর দিলেন যে—

“ভারাবতরণে জন্মিব ত্রিভুগত-পতি ॥

ক্লিষ্টনী মাষে লক্ষ্মী বাইব তান সনে ।

তাহান উদরে জন্ম হইব মদনে ॥”

শ্রীহারির নিকট পুরাণ-কাহিনী শ্রবণ করিয়া পৃথিবীর ভারাবতরণে জন্ম শ্রীহারির জন্ম-ধারণ একান্ত আবশ্যক জানিয়া অগত্যা লক্ষ্মীও জন্ম-ধারণ করিতে স্বীকার করিলেন ।

“তবে প্রভু নায়ায়ণ শরীর ছাড়িয়া ।

দৈবকী-উদরে জন্ম লভিলেক গিয়া ॥

গোকুলে লইয়া বসুদেবে থুইল তানে ।

মহা মহা অম্বর মারিল বন্দাবনে ॥

তার পাছে লক্ষ্মী হৈল পঞ্চদশ কলা ।

বৃথভানুর ঘরে জন্ম হইল কমলা ॥

এক কলা জনমিল সুগন্ধা-উদরে ।

বৈকুণ্ঠ ছাড়িয়া লক্ষ্মী হৈল অবতারে ॥



আনন্দে আছরে লক্ষী নন্দবোবালায়।  
 সৰ্ব্ব-লোকে বোলে হরি যশোদা-ভনয় ॥  
 ( করিয়া বিবিধ কার্য ) দেবের দুকর।  
 হরিষে গোবিন্দে বৈসে দেব গদাধর ॥  
 সুখভাঙ্গ-সুখা রাধা লক্ষী-অবতার।  
 শৈশব-কালে তাহান যৌবন-বিস্তার ॥  
 ( অমুদিন ভক্তি ) করি পূজে নারায়ণ।  
 হরির চরণ বিনে আর নাহি মন ॥  
 যৌবন দেখিয়া বাপে চিন্তিল উপায়।  
 ব্রজে আইহন \* আনি ( বিভা দিতে চায় ) ॥  
 যশোদার ভ্রাতা সে পরম রূপবান।  
 নন্দের গৌরবে তারে কভা দিল দান ॥  
 রাধার ভক্তিয়ে আর সত্যের কারণ।  
 করিল। কপট ভাতে দেণ নারায়ণ ॥  
 রাধার বিবাহ গোপে কৈল যেহি দিন।  
 ( সেই দিন হৈতে হৈল ) পুরুষ হীন ॥  
 নপুংসক হৈল যদি ব্রজে আইহন।  
 রাধিকার সত্য-রক্ষা পাইল সে কারণ ॥

চণ্ডীদাসের শ্রীকৃষ্ণ কীর্তনের আর শ্রীকৃষ্ণের দৈত্য-বধ  
 প্রকৃতি অবদান-পূর্ণ বালা-লীলা দুই চারি কথায় শেষ  
 করিয়া তাঁহার সুমধুর প্রেম-লীলা অতি-সাঁবস্তারে বর্ণিত  
 করাই ভবানন্দের অভিপ্রায় ছিল, তাই তিনি অল্প  
 কথায় এ ভাবে শ্রীকৃষ্ণের বালা-লীলার উল্লেখ করিয়া  
 নিম্নলিখিতরূপে একবারেই কাব্যের প্রধান বর্ণনীয়  
 বিষয়ের অবতারণা করিয়াছেন, যথা—

“জল আনিবারে রাধা করিল গমন।  
 ( দেখিল যমুনা )-তীরে শ্রীমধুসূদন ॥  
 বলিয়াছে কান্দ-আদি বালক সকল।  
 হেনকালে রাধিকা ভরিতে যায় জল ॥  
 রাধার যৌবন দেখি ( দেণ হৃদকেশ )।  
 \* \* \* সবিশেষ ॥  
 সকল বালক এড়ি গেল রাধার কাছে।  
 যমুর কোমল বাক্যে স্তম্ভগীতে পুছে ॥

\* স্তম্ভত ‘অভিযত’ হইতে অপভ্রংশ ‘অভিযর’, ‘অভিযন’  
 ‘আইহন’ ও অবশেষে ‘আয়ান’ নিপাদ হইয়াছে।

শুন সুবদনি তুমি যৌর নিবেদন।  
 জিজ্ঞাসিলে উত্তর না দেহ কি কারণ ॥  
 কাহার কুমারী তুমি কাহার বসিতা।  
 কোন্ দেশে বৈস তুমি কেনে আইলা এথা ॥  
 তোর রূপ \* \* \* \*।  
 আলিঙ্গন দিয়া যৌর প্রাণ রক্ষা কর ॥  
 তোর সম রূপবতী নাই ক্ষিত্তি-তলে।  
 বিধা-মিলাইল যৌর পূর্ব-জন্মের ফলে ॥  
 ( দেখিয়া তোমার মুখ- ) কমল মনোহর।  
 আকাশে থাকিয়া তপ কৈল শশধর ॥  
 পুনঃ পুনঃ জন্মে চক্রে সমান হইতে।  
 না পারিয়া সাগরেত গেল দুঃখ-চিত্তে ॥  
 কমল-(বদনে শোভে কিবা) মুখ হাস।  
 সরোবর মধ্যে যেন কমল প্রকাশ ॥  
 দিন-রাত্রি মিত্রতাতে \* না হৈল সমান।  
 নিশিতে থাকিতে হৈল পাইল অপমান ॥  
 সিন্দূর-( মাণ্ডিত যেন দন্ত ) পংক্তি সাজে।  
 মৃত্যুর ( ? ) গজ-মুক্তা সেহ গেল লাজে ॥”

ইত্যাদি।

এইরূপে শ্রীরাধার গুণ, অধর, শ্রবণ, নাসিকা, বদন,  
 কাঁচলী ইত্যাদির সালঙ্কার বর্ণনা করিয়া অবশেষে  
 শ্রীকৃষ্ণ শ্রীরাধার কাঁচলীর গায়ে নানাবর্ণের পট্ট-সুত্রে  
 উৎকর্ষ চিত্রাংগির প্রতি লক্ষ্য করিয়া কহিলেন—

\* \* \* \*।  
 কে দিছে তোমারে হেন বিচিত্র কাঁচলী ॥  
 করিছে বিচিত্র চিত্র তাহে নাহি কোপ।  
 কে বা লিখিয়াছে যৌর নিজ দশ রূপ ॥  
 ( সিদ্ধ ) প্রবেশিয়া বেদ করিহু উদ্ধার।  
 সেহি রূপ কাঁচলিতে দেখিয়ে তোমার ॥”

কেবল মৎস্তাবতারের নহে—শ্রীরাধার কাঁচলীতে শ্রীকৃষ্ণের  
 দশটি অবতারের চিত্রই অঙ্কিত ছিল। শ্রীকৃষ্ণ একটি  
 একটি করিয়া উহার সকলগুলির বর্ণনা করিয়া, তাহা  
 অপূর্ব বহিরাবর্ণের মধ্যস্থিত অধিকতর অপূর্ব বস্ত্র-  
 \* ‘একক্লিগ্ন ভবেৎ মিত্রং’—এই বৃত্তি-অনুসারে ‘মিত্রতা’  
 শব্দের অর্থ ‘সাদৃশ্য’ বা ‘সাদৃশ্য’।



টির শোভা-দর্শনের বাসনা প্রকাশ করিলেন এবং প্রেমো-  
চ্ছাসিত কণ্ঠে শতযুগে ত্রিরাধার সোভনীয় কণ্ঠ-হার  
লোহিত পট্টাঙ্কর ও মুষ্টিমেয় ক্লশ কন্টি-দেশের সান্তিলাষ  
বর্ণনা করিতে লাগিলেন। ধূর্ত ত্রীকৃষ্ণ ত্রিরাধার সরল-  
স্বভাব পতিটির প্রতি তাঁহার অবজ্ঞা জ্ঞানাইবার অভি-  
সন্ধিতে এই প্রসঙ্গে স্নেহকোশলে তাহাকে এক আঘটুক  
নিষ্পা করিতেও ভুলিলেন না, যথা—

“মতি-হীন সেই জন অবাধ কেবল।

হেন যুবতীরে দিছে ভরি নিতে জল ॥”

কিন্তু—

“যতেক মধুর বোলে নন্দের কৌয়র।

শুনিয়া স্নানরী রাধা না দিল উত্তর ॥”

তথাপি “ভাব-স্থিরাগি জননাত্মর-সৌহৃদ্যানি” লজ্জন  
করিতে কার সাধ্য আছে? এই প্রথম দর্শন ও প্রথম  
সম্ভাষণেই ত্রিরাধার প্রেমময় চিত্তটি ত্রীকৃষ্ণের প্রেমাবধীন  
হইল। তাই যুগে কিছু না বলিলেও “স্রোণামাত্মং প্রণয়-  
বচনং বিভ্রমোহি প্রিয়েষু”—মেঘদূতের মহাকবির এই  
অমূল্য বাক্যটির যথার্থতার প্রমাণ করিয়াই, তখন—

“কাঁখে কুন্ত ( আঁধি ঠারে ) জানাইয়া সখী।

বদনে বসন ঢাকি হাসে চন্দ্রমুখী ॥

• কটাক্ষে লাবণ্য ভাসে ফিরি ফিরি চায়।

বুঝিয়া তাহান মন কাহ্ন পাঁছে যায় ॥

রাধা আগে আগে যায় কাহ্ন যায় পাঁছে।

লক্ষ দিয়া ধরে কৃষ্ণ রাধিকার কেশে ॥

‘এড়’ ‘এড়’ \* করি রাধা মাগে পরিহার।

কোন্ বিপরীত কর নন্দের কৌয়র

ত্রীকৃষ্ণের প্রগল্ভতা ও হৃৎসাহসে এখন ত্রিরাধার মুখ  
খুলিল; তিনি কৃত্রিম কোপ দেখাইয়া করিতে  
লাগিলেন—

( গান ছন্দ রাগ মাউর বসন্ত )

“না বোল না বোল কানাই নহে ত উচিত।

ছাণ্ডাল হইয়া কেনে বোল বিপরীত ॥ ক্র ॥

বাটোয়ারি কর তুমি ষাটের কুলে বসি।

কেশ হৈতে এড় হাত ভাঙিবে কলসী ॥

\* এড়—হাড়। দান—গুচ্ছ কর।

বনে থাক ধেমু রাখ কিবা জান আর।

জদয়ে ( না দিও ) হাত ছিড়িবে গলার হার ॥

সব সখী ঘরে গেল রৈলু একেশ্বর।

শাশুড়ী-মনদী আগে কি দিব উত্তর ॥

মাতুল-বনিভা তোর গুন রে ( কানাই )।

পথ হৈতে ছাড়ি দেও জল লৈয়া যাই ॥

কাহ্ন বোলে কার্য্য নাই সে সব সম্বন্ধে।

দান \* দিয়া ঘরে ষাও বোলে ভবানন্দে ॥

কৃত্রিম কোপ-ভাব কতক্ষণ স্থায়ী হয়? তাই—

“হাসিয়া বোলেয়ে রাধা কাহ্নর গোচর।

উচিত পাঠবা শান্ত নন্দের কৌয়র ॥

কেশ হৈতে হস্ত এড় কেহ নাহি দেখে।

জল নিতে ( আসে যত ) পোকুলের লোকে ॥

যত বিপরীত তোর ক্ষেমিলু সকল।

কেশ এড় পথ দেও লই যাই জল ॥

বিবোধ না কর সাগ নন্দের তনয়।

\* \* \* \* \*

শিশু সন্তে দেখে তুমি আমার বিদিত।

হীন-জন + হই আমি আর পরবিত + ॥

বিলম্বে হইব কার্য্য কিছু নহে বাধা।

( দুই হাতে ) ধারে কেবা বদ লাগে ক্ষুধা ॥

মজিল আমার মন তোমার হৃদয়ে।

আঘাতে তোমার মন মজিল নিশ্চয়ে ॥

কোকিলার স্বরে রাধা বোলে হাসি হাসি।

ই রূপ-যৌবনে মুঞ্জে হৈলু তোর দাসী ॥”

এই প্রণয়-বাক্যে প্রোৎসাহিত হইয়া ত্রীকৃষ্ণ কিছু  
বাড়াবাড়ি করিতে উদ্ভত হইলে ত্রিরাধা তাঁহাকে পুনশ্চ  
মিষ্ট ভৎসনা করিলেন—তখন ত্রীকৃষ্ণ প্রগল্ভতার লজ্জা  
ক্ষমা প্রার্থনা করিয়া কাতর-ভাবে নৈলের মনোবাসনা  
ব্যক্ত করিলেন। তখন—

“কাহ্নর চরিত্রে রাধা শঙ্কিত হৈয়া বড়

মনে মন-কলা ধায় † যুগে বোলে দড় ॥”

† হীন-জন—স্রোণ-জাতি ও পরাধীন, তাই ক্ষুধ। † পরবিত—  
পৌরষযুক্ত অর্থাৎ সম্বন্ধে পুণ্য।

। মনে মন-কলা ধায়—মনে মনে অতীত যুগ আখ্যান করে।  
ভুলনা কল্প—কলেত কলে না বঁধু—মন-কলা ষাও মনে মনে  
দাশরথির পাঁচালী।



শ্রীরাধার ব্যালার্ধ-পূর্ণ ভৎসনার একটু নমুনা দেখুন—

“অরে নন্দ-সুত তুমি না বুজিছ তাল !  
গৌরব না রাখ তুমি সহজে ছাওয়ায় ।  
পাকাত্তে ভাগিনা তুমি অন্তর নাহিক ।  
পথে বাটোরারি কর বোল বিকাধিক ।  
কমল-কলিক। আমি একাকিনী নারী ।  
পুরুষ ভ্রমর তুমি কি বোলিতে পারি ।  
যদি ( বা আমাতে ) তোমার মন হৈছে মন ।  
কেনে লজ্জা দিলা দেখাইয়া সখাগণ ।  
সুন্দর-সম্বাদে ঙ্গ হৈত মন-হিত কাজ ।  
না বুঝায় হেন স্থানে দিতে যোরে লাগ ।  
এই কথা কৈমু নন্দ-বশোদার ঠাই ।  
তবে কি উত্তর দিবা শুন রে কানাই ।  
যোর নিজ-পতি-জন কেবল দুর্বল ।  
• কহিব তাহার ঠাই আবারে কর বল ॥  
শান্তভী নন্দী যোরে বোলিব পরিবাদ ।  
বন্দাবন ছাড়ি যাইব রহিতে নাহি সাধ ॥  
মাও বাপে বোলিবেক রাধা ( কলিকিনী ) ।  
যোগিনী হইয়া যাইব গায়ের আগুনি ॥  
এড়িয়া দেও রে কালা খাও যোর মাথা ।  
নিশা-কালে গেলে মন পুরাইমু সর্বধা ॥  
আজি হৈতে ( এ রাধারে ) না বাসিবা ভিন ।  
রাধার সম্বাদ কহে ভবানন্দ দীন ।”

শ্রীরাধার সপ্রেম বচনে উল্লসিত শ্রীকৃষ্ণ তখন শ্রীরাধাকে

ছাড়িয়া সখাদিগের নিকটে চলিলেন । এ দিকে—

“( জল লৈয়া তবে ) রাধা নিজ ঘরে যায় ।  
খঞ্জন জিনিয়া গতি ফিরি ফিরি চায় ॥  
চরণ না চলে যাইতে পরিহারি কাছ ।  
সুর-গিরি হৈতে যেন বেস্ত ( . ) ॥  
মন্দ মন্দ গতি যায় রাধিকা স্তম্ভরী ।  
কাছুর বিরহে চাহে ঘন ঘন ফিরি ॥  
এহি যতে কত দূর গেল শনি-মুখী ।  
উলটিয়া চাহে দেখি কাছ হৈল ( মুখী ) ॥

§ সুকৃত্তমের সম্বাদ অর্থাৎ দৌত্য-কার্য্য ব্যাখ্যা ।

ডাক দিয়া বোলিলেক নন্দের কৌরর ।

যোর বাক্য শ্রবণনি অবধান কর ॥

দেখিয়া ভোমার রূপ প্রাণ শান্ত করি ।

এরেক ফিরিয়া ( বাক্য শুন ল স্তম্ভরী ) ॥

এ ভাবে প্রতি-পদে পথে ধামিলে আর গৃহে বাওয়া  
ঘটে না—তাই শ্রীকৃষ্ণের ডাক না শুনিয়া শ্রীরাধা গৃহে  
গেলেন, গৃহে বাইয়া কিস্ত—

“তেজিয়া জলের কুন্ত চিত্তিত-অন্তরে ।

( জ্বরের ) উৎকর্ষা সহিতে না পারে ॥

কামে অর্জুরিত তমু হই ধন্ধাকার ।

কাছু বিনে সব শূন্য হৈল রাধিকার ॥”

কিয়ৎকাল পরেই যদুসেন গোপের পত্নী শ্রীরাধার  
“প্রেম-সখী” শ্রীমতী প্রিয়সখীকে দেখিতে আসিলেন ।

“আসিয়া বিস্মিত হৈল দেখি ধন্ধাকার ।

ধরিয়া সখীর গলে লাগে কহিবার ॥

কহ কহ প্রাণ-সখি কহ বিবরণ ।

সম্বাদিত হৈছ তুমি কিসের কারণ ॥

কোন জন তোমারে দিয়াছে অপমান,

কহ চাহি প্রাণ-সখি যোর বিস্তমান ॥

শান্তভী নন্দী কিবা বোলিছে কুৎসিত ।

সেই অপমানে কিবা হইছ কুপিত ॥

নিজ-পতি মন্দ কিবা বোলিছে কোন কাজে ।

( সেহি সে কারণে ) ছুৎ হৈছে সখি লাজে ॥

নহে যদি গুপ্ত থাকে কহ সখি কথা ।

না কর কপট সখি খাও যোর মাথা ॥”

শ্রীরাধা তখন ধীরে ধীরে সত্যতরে সখীর নিকট  
বলিতে লাগিলেন—

( বরাড়ী ছন্দ )

অরে পরাণ-সই

হের কথা শুন আল যোর ।

সকল সখীর সঙ্গে যমুনা গেছিলু রদে

জল ভরিয়া আসি ঘর ॥ ৫ ॥

আচম্বিত হেনকালে যালতীর মালা গলে

চুড়ায় মউর পুচ্ছ শোভে ।



মোতি-মালতীর মূল শোভা করে (অতি ভাল)  
ভ্রমরা না ছাড়ে মধু-লোভে ॥

সুরঙ্গ অধরে বাঁশী \* • ইষভ মধুর হাসি  
তাহে ভাংহান শোভমান ।

যমুনা উজান ধরে (পবন স্থগিত করে ?)  
বহু রাগ ধরিছে যে গান ॥

আমার নিকটে আসি বোলিল কটাক্ষে হাসি  
রতি দান দেও ত সুন্দরি ।

বৌবন না দিলু ভালি পাঞ্জর করিয়া খালি  
প্রাণ মোর লৈয়া গেল হরি ॥

যদি না দেখিমু কাহ্ন সহজে ছাড়িমু তহু  
পর্যাপ রাখিলে নাহি কাজ ।

( ললাটে আছিল লেখা ? ) ভাগ্যে সে পাইলু দেখা  
ভিলেক না কৈলু মুঞি লাজ ॥”

পুনশ্চ—

“ও কালার লাগি—

সদায়ে আকুল মোর হিয়া ।

( যমুনার ঘাটে যায়া ? ) বজ্রের সমুখে থুয়া  
দোষ রূপ নয়ান ভরিয়া ॥ ৫ ॥

যে বোলে বজ্র লোকে যার মনে যেবা দেখে  
ননদিনী বলুক হুস্মতি ।

( গুরু ) গরবিত-জনে কুপিত হইয়া মনে  
ছাড়ে ছাড়ুক নিজ-পতি ॥

অবশে কুণ্ডল দিয়া যোগিনীর বেশ লৈয়া  
বধা তথা যাইব ( মন-স্থখে ) ।

কাহ্নর বিরহে মোর তহু হৈল অর অর  
কি করিব গোকুলের লোকে ॥

মুঞি যদি এমনত জাহ্ন যমুনার ঘাটে কাহ্ন  
তবে নি ভরিতে আইমু জল ।

( কিছু না ) মানিয়া বাধা ঘাটে পেলু কলঙ্কী রাধা  
পাইলু ভাংহার প্রতিকল ॥”

পুনশ্চ—

“সই জানি গ

কেমতে রহিব বোল ধরে ।

বজ্র চরণ—আঁধি ( ভরিয়া সদায় দেখি )

হেন মোর মনে সাধ করে ॥ ৬ ॥

যে জন দেখ্যাছে তারে সে কি পারিতে পারে  
দেখি তার বিনোদ সন্ধানে ।

কেমতে ( নয়নে দেখি ) কুল শীল জাতি রাখি  
ধরে যাইব কাহার পরাণে ॥

হেন করে মনে সাধ শুনিতে বাঁশীর নাদ  
সেইক্ষেণে প্রাণ কাড়ি নিব ।

\* • • •

জাতি কুল নিয়া সে এড়িব ॥

মুৎতীর নাদ শুনি সমাপি তেজয়ে মূনি  
মরুত-চলন মন্দ-গতি ।

( দাঁউর \* ) পাষণ দ্রবে যমুনা উজান বেগে  
কুলবতী ছাড়ে নিজ-পতি ॥”

শ্রীরাধার ভাবোচ্ছ্বাস কিঞ্চিৎ লঘু হইলে তিনি লজ্জা  
ত্যাগ করিয়া বলিলেন—

“চল সাধি আনি দেহ নন্দ্যের ভনয় ।

তবে সে বাঁচিব প্রাণে মোর মনে লয় ॥

তুমি সে সুহৃৎ মোর আর কেহ নাই ।

বিরহ-চুঃখের কথা কৈলু তোর ঠাই ॥”

শ্রীরাধার চিন্তের এইরূপ বিসদৃশ ভাবান্তর দেখিয়া—

“তুমিরা রাধার কথা ব্যথা পাইলা মনে ।

( তবে সখা বোলিতে ) লাগিলা রাধা-স্থানে ॥

না কর কপট সহি ধরিলু চরণে ।

কপট বচন ছাড়ি কহ মোর স্থানে ॥”

“রাধা বোলে—প্রাণ-সই কহি বিবরণ ।

আনিয়া বিলাও মোরে নন্দ্যের নন্দন ॥

তুমি বিনে হেন কর্ম কে করিব মোর ।

( মদন- ) বিশিখে তহু হইল অঙ্গুর ॥

চন্দন সন্দেশে দিলে না হয় শীতল ।

মুচু হৈলে তোর শ্রম হইব বিফল ॥

অবিলম্বে আন সাধি না করিহ ব্যাজ ।

চরণে ধরিয়া কৈও না বাসিও লাজ ॥”

তখন—

“রাধার কাকূতি শুনি শ্রীমতী সুন্দরী ।

কহিতে লাগিল তবে রাধার করে ধরি ॥”

\* দাঁউর সংস্কৃত ‘দাঁড়’ । ভুবানন্দের হরিবংশে বহু  
অপভ্রংশ ‘দাঁউর’ শব্দ ব্যবহৃত হইয়াছে ।



তুমি তুমি প্রাণ-সখি আমার উত্তর।  
 পরিহর খেদ জানি না তাব অন্তর।  
 তনিত্তে তোমার দুঃখ গাও পোড়ে বোর।  
 আনিব নন্দের স্নাত শোক কেমা কর।  
 আশ্রমেহ জান তুমি কান্ন-রূপ-বেশ।  
 কহিলে নাকি আমি জানি ইসব বিশেষ।  
 সে যে নন্দের স্নাত কমল-বদন।  
 কন্দর্প জিনিয়া রূপ কামিনী-মোহন।  
 নহে ত সামান্য জন চিত্ত ভ্রমাইতে।  
 বাক্য-বশ নহে যদি আনিমু কেমতে।  
 গোহুলে বা কে না আনে বমুনার লল।  
 ( কহিবারে ) নন্দের স্নাতে করিয়াছে বল।

বার বার ঘরে সমাই লগ্ন লৈয়া আসি।  
 এক খানি কথা সে ( যে ) না কহিছে হাসি।  
 শিশু হৈতে খেদু রাখে বমুনার কুলে।  
 ( ) না কহিয়াছে পরিহাস ছলে।  
 যদি আমি-সবে তারে বলি পরিহাস।  
 তনিয়া নন্দের স্নাত হয়ে এক-পাশ।  
 হেন-জন সনে প্রেম বাড়িও ছুড়র।  
 ( তোমার চরিত্রে দেখি ) ভয় লাগে যোর।  
 যদি বা তোমার ভাগ্যে আইসেন কানাই।  
 তোর সম ভাগ্যবতী আর কেহ নাই।”  
 কার্যটি তেমন সহজ নহে জানিয়াও প্রিয়-সখীর দিকে  
 চাহিয়া শ্রীমতী সখীর গুণ দ্বীতীর কার্যে সঙ্গত হইলেন।

( ক্রমশঃ )

শ্রীমতীশচন্দ্র রায়।

## “মৃৎসল্য লাঠ্যোষধি”

( Dean Swift এর কবিতার ভাবাংশদ্বয়ে )

পশু পানী বুঝতে পারে  
 শক্তি তাদের কতটুকু,  
 মানুষ কেবল বুঝতে পারে,  
 তাই বরাতে এত দুঃখ।  
 চায়না ভালুক আকাশ পথে,  
 উড়ে যেতে কোন দিন,  
 উঠতে ডাকায় কোন মতে  
 চায়না তো সে জলের মীন;  
 চায়না শেরাল ঘুরে ঘুরে  
 গাছের ডালে—ধাক্তে,  
 চায়না বানর রাত ছপুরে  
 “হুকা হুয়া”—ডাকতে;  
 চায়না পাখি ছুটে “কবু”,  
 টানতে লাঙ্গল—মেঘটা,

চাইলে পরে লক্ষ্য বেদন  
 জানে পাবে—মেঘটা।  
 মানুষ কেবল শুধোর তরে  
 পায়না ওজন—যোগ্যতার,  
 বা কিছু তার চোখে পরে  
 ভাবে সবই ভোগ্য তার।  
 ঐতিহাসিক ছিলেন যিনি  
 হঠাৎ যে তাঁর ধম্মো বাই  
 লিখবেন উপভাসই তিনি  
 না হয় লোকে বম্মো ছাই;  
 প্রকৃত পদার্থে  
 কেটেছে দিনগুলি বার,  
 চাপলো খেরাল হঠাৎ মাথার  
 রাতারাতি—নাট্যকার;



ছন্দ আর মিল' জোটেনি কাল  
 লিখতে গিয়ে পড়—বার,  
 সমালোচক সেজে গাল,  
 কবির প্রতি অজ্ঞ—ভাঁর ;  
 যুব দিয়ে সব বীণাপাণির  
 কুঞ্জ বনের রক্ষীদের,  
 পুণ্ডি যারা লক্ষ্মীরাগীর—  
 জাহির করে নাম তাদের ;  
 বাদের আঁকা ছবির গায়—  
 কোনটা মানুষ কোনটা ঘর,  
 না লিখলে তা বোঝা দায়  
 —নাম নিতে চায়—চিত্রকর ;

বেজার দা বার লাগে আঁতে ;  
 কল্লি গিরি মুখটা ভার—  
 বেদান্তের বক্তৃতাতে  
 খই ফোটে যে মুখে তার ।  
 হয়ে সকল জাতির প্রভু—  
 এই ছনিয়ার বড় জাত—  
 সাজেনা বার যেটা কতু  
 দেবে মানুষ সেটার হাত,  
 “সব হাঁড়িতেই দেবে কাঠি”  
 থাক বা না থাক অধিকার,  
 ( কারণ ) “মুখস্থ ঔষধি লাগি”  
 আইনে নেই এখন আর ।

শ্রীপ্রমথনাথ সান্যাল

## পুস্তক-পরিচয়

মণিমালাক । শ্রীঅক্ষরচন্দ্র শর প্রণীত । ডবল ক্রাউন  
 ১৬ পেজী, ৪৫ পৃষ্ঠা । মূল্য আট আনা । ‘সাধনা-কুটার’,  
 শিমুলিয়া, ঢাকা, গ্রন্থকারের নিকট প্রাপ্তব্য ।

এখানি কবিতার বই । আজকাল সচরাচর বাজারে  
 যে সকল কবিতা পুস্তক দেখিতে পাওয়া যায়, এখানি  
 সে শ্রেণীর নহে । কবিতাগুলি পাঠ করিয়া আমরা  
 মুগ্ধ হইয়াছি । বিচিত্র ছন্দে কবির অন্তরের ভাবরাশি  
 বিচিত্র রূপ গ্রহণ করিয়াছে, ভাব ও ছন্দের এই অপরূপ  
 সামঞ্জস্য নবীন কবির পক্ষে যথেষ্ট গৌরবের বিষয় ।  
 আমাদের দৈনন্দিন জীবনের ছোট-খাট সুখ দুঃখের  
 আলোচ্য, পল্লী জীবনের অপরিজ্ঞাত করুণ মাধুর্য্য-  
 সিক্ত ইতিহাস, কবির অন্তরের মহামুগ্ধতাতে পরম  
 রমণীয় হইয়া উঠিয়াছে । এই ক্ষুদ্র গ্রন্থের প্রত্যেক  
 কবিতা লেখকের গভীর সহানুভূতি ও আন্তরিকতার  
 পরিচয় প্রদান করিতেছে । ইহাই প্রকৃত কবির  
 বিশেষত্ব ।

“চাষার দাবী”, “শ্রমদৈন”, “হৃদ্যৈন”, “গৃহলক্ষ্মীর  
 অন্তর্ধান” প্রভৃতি কবিতায় সরল গ্রাম্য চিত্রগুলি অতি  
 সুন্দর হইয়া ফুটিয়াছে । এগুলি শুধু সৌখীন শিল্পীর  
 রেখা-চিত্রের বর্ণসম্পাত নহে, ইহা দরদীর অন্তরের  
 সক্রমণ ব্যঞ্জনা,—প্রতি ছন্দে মুগ্ধ ও বেদনাতুর কবির  
 চোখের জল যেন টলমল করিতেছে । “নববধূ” ও  
 “গৃহদেবী” শীর্ষক কবিতায় বাংলার নারীপ্রকৃতির অপকল্প  
 মাধুর্য্য ও গৌরব সাবলীল ছন্দে সুন্দর প্রকাশ পাইয়াছে ।  
 “অনুষ্ঠানের পরিহাস” ও “কিরে আর” নামক দুইটি  
 কবিতায় সন্তানহারী জননীর করুণ হাহাকার অন্তর  
 স্পর্শ করে ।

গভীর ভাবপ্রকাশেও লেখকের কবিত্ব অসাধারণ ।  
 গ্রন্থের প্রথম কবিতায় লেখক “কবিতা সুন্দরী”কে  
 বলিতেছেন—

“তুমি দেবী, দিব্যাবিভা বিভাসিত ঋষি-হৃদয়ের  
 অন্তর সাধনার কল ;



আদি কবি বাজিকীর তপোদীপ্ত তুণ্ড নয়নের  
এক বিন্দু শান্তি-অশ্রু জল।

তুমি হৃদ্যবনচক্রে বিলাসিনী আভীর বালায়

কটিভটে হেম অলঙ্কার ;

তুমি চির মানবরী ত্রীরাধার মান ভাঙিবার  
দিশীধের বাঁশরী-ঝঙ্কার।”

“ব্রাহ্মণ” দীর্ঘক প্রথম কবিতায় অতীত ব্রাহ্মণ্য-গৌরব  
ব্যাখ্যা করিয়া নতমস্তকে কবি বলিতেছেন—

“রাণ্য বিত্তব তুচ্ছ করিয়া সজ্জিত তুমি সন্ন্যাসী,  
অন্তরে করে বিলায়ে বিস্ত অয়ের তরে অত্যাশী,  
তুণ্ডের মতন ছিন্ন করিলে ক্ষৌর্যোতে মায়াবন্ধন,  
ব্রাহ্মণ ওহে ব্রাহ্মণ তুমি জগজনগণ-বন্দন।”

দ্বিতীয় কবিতায় ব্রাহ্মণের বর্তমান অবনতিতে ব্যথিত  
হইয়া কবি বলিতেছেন,—

• “কন্দের আঁখি কোণে শঙ্কার দাগ,  
চন্দন-পুত বেহে কর্দম-রাগ,  
উজ্জল বরবপু কঙ্কালসার,  
ব্রাহ্মণ আজ নহে ব্রাহ্মণ আর।”

অন্তরে—

“নির্জীব আশীবিষ দণ্ডবিহীন,  
নিজ্জল ধরতর ভাস্কর দীন,  
অন্তরে নাহি কিছু ; ধর্মের সাজ,  
ব্রাহ্মণ নাহি জানে ব্রহ্মেরে আজ।”

লেখকের হৃদয়ের উপর যে অসামান্য অধিকার, তাহা  
তিনটি বৃষ্টান্ত হইতেই বোধগম্য হইবে।—

১। “ওগো বিলাসিনী প্রেম-পাগলিনী বনবিলাসিনীধূতরা !  
আছ অহরহঃ কার তরে কহ এমন বিষয়-আতুরা ?  
বনবিলাসিনী ধূতরা।” (ধূতরা।)

২। “মন্দনপুরী সন্ধান করি চন্দন চাক্র গন্ধ ভার,  
জুড়িয়া এনে নান্দিত চিতে মর্ত্যে করছে দান ;—  
হে চিরবন্দ্য পরমামন্য পদারবিন্দে নমস্কার,  
ধন্য ধন্য লোকবরেণ্য ধন্য তোমার প্রাণ।”

( মহাকবি জয়দেব । )

৩ “বৈশাখে তরুশাখে সুদীর্ঘা আঁখি,  
নির্জলে আনমনে আঁড়ালে থাকি  
ভাকে—কানন-পাখী ;  
কিপি কিপি রিক্‌পি, কিপিকি কিপি  
কিলিকি রাতদিন ভাজে রাপিলী  
কিপি—কিপিকি কিপি।”

( বৈশাখ মধ্যাহ্ন । )

লেখক সাহিত্যজগতে এখনও অপরিচিত, কিন্তু  
এ গ্রন্থ পাঠ করিয়া আমাদের বিশ্বাস জন্মিয়াছে তাঁহার  
কবিত্বভিত্তি অসুস্থ হইবে। অবশ্য এ গ্রন্থে অপরিপক  
রচনার অভাব নাই, স্থানে স্থানে ছন্দোভঙ্গ, যাত্রা দোষ ও  
প্রাশাস্ত্য বর্তমান। তবে আমাদের বিশ্বাস, নবীন ত্রতীর  
পক্ষে এসকল দোষ অপরিহার্য। সাধনায় নিরত থাকিলে  
ভবিষ্যতে তিনি সফলকাম হইতে পারিবেন, এ বিষয়ে  
আমাদের কিছুমাত্র সন্দেহ নাই।



















